भी कठिनाई से देख सकते हैं, ऐसे सर्वदर्शी, अविनाशी निरञ्जन, अतीन्द्रिय-ज्ञान रूपी नेत्र के धारण जिनेन्द्र परमात्मा के वचनों के लिये हमारा बारम्बार नमस्कार है। यह सरस्वती माता की स्तुति है।

जिन श्री गणधरादि, कुन्दकुन्दादि गुरुओं ने अपनी आतमा का यथार्थ रूप जानकर, दूसरों को भी उसके स्वरूप का प्रति-बोध दिया है। मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य-भक्षण, मूढ़ता एवम् भ्रांति आदि को सर्वथा नष्ट कर अपना-पराया प्रयोजन सिद्ध किया उन गुरु महाराजों के लिये हमारा मन-वचन काय से सविनय नमस्कार है।

जिस प्रकार नदी को स्वयं तैरने की सामर्थ्य रखने वाला मनुष्य, दूसरे को नदी के तैरने का उपदेश दे सकता है। (नदी तैरने के अभिलाषी जीव उसी के उपदेश पर विश्वास करते हैं।) उसी भांति आत्म-स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाला मनुष्य ही आत्म-स्वरूप का उपदेश दे सकता है। जो स्वय तिर गया है वही तारने की सामर्थ्य रखता है जो स्वयं अन्धा है वह दूसरे को मार्ग सुझायेगा। आतमदर्शी का ही उपदेश प्रामाणिक माना जाता है। उसी पर सबका विश्वास होता और उसी का उपदेश फलदायी होता है अतएव जो मनुष्य आत्म-स्वरूप का ज्ञान दूसरों को कराना चाहते हैं, उन्हें पहल स्वयं उसका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

हे आत्मन् ? यदि तू भली प्रकार आत्म-स्वरूप का जानकार होगा, तो दूसरों को भी उसका ज्ञाता बना सकेगा। अतएव पहले आत्म-स्वरूप का जानकार बन, पीछे दूसरों को उसका ज्ञाता बनाने का प्रयत्न कर। अन्यथा तू तो डूबेगा ही साथ में अन्य जनों को भी ले डूबेगा।

यहां आत्म-प्रबोध को प्राप्त हुए भव्य जनों ने आत्मा के बोध में जीव का यथार्थ स्वरूप उसकी पहिचान के चिन्ह, अहित का त्याग, हित में प्रवृत्ति और हित-अहित दोनों का फल ये पांच स्थान कारण बतलाए हैं। इन पर अवश्य ध्यान देना चाहिये।

निर्वाण-वादी मनुष्य मोक्ष-तत्व को पूर्ण रूप से मानते हैं। साथ ही आत्मा का अस्तित्व भी युक्ति पूर्व स्वीकार करते हैं। नैयायिक, वैशेषिक, वेदान्ती आदि जितने दर्शन हैं, वे सब जड़ पदार्थों से भिन्न कोई आत्म-तत्व है इस बात को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं। वे उसका मोक्ष तथा स्वर्ग में जाना भी मानते हैं। कहते भी हैं कि आत्मा नित्य, अविनाशी, परिणामनशील और अनन्त गुणों का भण्डार है। वह विद्वानों के द्वारा जाना या अनुभव किया जाता है। शरीर प्रमाण ज्ञान-दर्शन स्वरूप उपयोग मय है। वह अनन्त सुख का भण्डार, स्व-पर का ज्ञाता दृष्टा, कर्त्ता और कर्म के फल का भोक्ता है।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा आत्मा का कभी नाश नहीं हो सकता, इसलिये वह नित्य और अविनाशी है। इसके सम्यग्ज्ञानादि गुण कभी नष्ट नहीं होते, इसलिये नित्य गुणों का भंडार है। यह सम्पूर्ण पदार्थों को स्पष्ट रूप से देखता और जानता है, इस लए ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोगमय है। स्व और पर पदार्थों को जानने के कारण, स्वपर का ज्ञाता है। स्वय कर्मों का उपार्जन करता है, अतएव कर्मों का कर्ता है। कर्मों के फल को स्वयं भोगने वाला होने से वह भोक्ता है। निराकुलतामय होने के कारण अनन्त सुख का भंडार है।

यह अपनी पर्यायों को सदैव पल्टा करता है तथा उसी पर्याय के प्रमाण रहता है। छोटा-बड़ा शरीर धारण करना संसारी दशा है। यदि शुद्ध नय से देखा जाय, तो यह आत्मा

शुद्ध निष्कलंक है। कर्मों के घनिष्ट सम्पर्क से मलिन (अशुद्ध) हो रहा है। यह जिस समय तप रूपी अग्नि से कर्मों को भस्म कर देता है तब ज्यों का त्यों शुद्ध और प्रत्यत्त हो जाता है। इसके चारों ओर अप्रतिहत रूप से प्रकाश फैल जाता है, अर्थात् अपने केवलज्ञान और केवलदर्शन रूपी सूर्य की सहायता से समस्त संसार के छोटे बड़े पदार्थों को स्पष्ट देखने जानने लगता है।

आत्मा का स्वरूप अतीन्द्रिय है। इन्द्रियाँ इसे विषय नहीं कर सकतीं। अप्रतिरोध प्रकाश का धारक अत्यन्त निर्मल, एक मात्र आत्मा की सहायता से विकसित, अविनाशी, परमानन्द दायक, मुक्ति रूपी लता का मूल, अनुपम केवलज्ञान से समस्त लोकालोक के समस्त पदार्थों एवम् उनकी त्रैकालिक पर्यायों को एक समय में देखने जानने वाले श्री सर्वज्ञ देव ही आत्म-स्वरूप को स्पष्ट और यथार्थ रूप से जानते हैं। उन्हें ही इसका पूर्णतया साक्षात्कार हुआ है।

सर्वज्ञ देव ने प्रथम तो अपने अनुभव से आत्मा को जाना था। पश्चात् कल्याणेच्छुक उत्तम जीवों के सामने अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा उसका यथार्थ निरूपण किया। रागद्वेषादि दोषों से रहित सर्वज्ञ के वचन प्रामाणिक हैं। वीतराग भगवान मेरु-पर्वतादि सु-दूरवर्ती, नारायण बलभद्रादि कालान्तरित परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, पृथ्वी आकाश, धर्म-अधर्म द्रव्य, पुण्य-पाप इत्यादि सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का यथार्थ वर्णन करने वाले हैं। उनके वचन आदि, अन्त और मध्य में विरोध रहित हैं। पदार्थ जैसे थे और हैं उन्हें उसी तरह भली प्रकार जानने वाले और

वर्णन करने वाले हैं। वे राग द्वेष रूप परणति से सर्वथा रहित हैं। अब सच्चे हेतु संयुक्त, आत्म-स्वरूप को अनुमान ज्ञान से मण्डित (वर्णन) करते हैं।

प्रथम परिच्छेद

इस शरीर के भीतर एक ऐसा पदार्थ है जो शरीर में विद्यमान रहकर पदार्थों को ग्रहण करता है, दान देता, आता-जाता, अनुवाद करता, पर शब्दों को सुनता, स्वयं बोलता, अवलोकन करता एवम् सुख दुख का अनुभव करता है। वह जिस समय शरीर त्याग करता है, उस समय शरीर ज्यों का त्यों पड़ा रह जाता है। शरीर के भीतर विद्यमान उस पदार्थ के सम्बन्ध से विविध चेष्टाओं का होना एवम् उस पदार्थ के अभाव में बुद्धि पूर्वक विविध चेष्टाओं का न होना इत्यादि व्याप्ति से शरीर के भीतर शरीर से भिन्न पदार्थ की सत्ता का अनुमान होता है। इससे भली प्रकार निश्चय होता है कि वह पदार्थ एक मात्र आत्मा ही है।

आत्मा ज्ञान, दर्शन रूप निर्दोष लक्षण संयुक्त है तथा स्पर्शन, रसना, चक्षु, घ्राण आदि इन्द्रियों के अगोचर है। इसे विद्वान आगम, अनुमान आदि प्रमाणों से जान लेते हैं पश्चात् "अहं-अहं" इस प्रत्यक्षानुभव से उसका निश्चय कर लेते हैं। इतना ही नहीं अपितु उसका पूर्णतया साक्षात्कार भी कर लेते हैं। जिससे उन्हें शीघ्र ही मोक्ष-सुख की प्राप्ति हो जाती है। योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित हुआ शुद्ध भूमि में न अधिक ऊँचा और न अधिक

नीचा दृढ़ आसन स्थिर कर मन सुदृढ़ और एकाग्र कर, मन्द श्वासोच्छ्वास से इन्द्रियों की क्रियाओं को वश करता हुआ अन्तःकरण की शुद्धि के लिये इस प्रकार योगाभ्यास करे :—

शरीर, सिर एवम् ग्रीवा को समान निश्चल कर दृढ़ पद्मासन, अर्द्धपद्मासन, पर्यंकासन, कायोत्सर्ग अथवा अन्य निराकुल आसन अचल धारण करे। सब ओर से दृष्टि हटाकर नासिका के अग्र भाग पर ठहरावे। अनुपम ब्रह्मचर्य व्रत से मडित और स्थित रहता हुआ भय शोक का त्याग कर दे। भली प्रकार समता-शान्ति रूप परिणाम का अन्तःकरण की शुद्धि से सावधान होकर निद्रा को जीत, मन को वश में कर आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाय। इस प्रकार निरन्तर आत्मा को निज-स्वरूप में संलग्न करता हुआ स्वाधीन मन योगी परमानन्द पीयूष पान कर आत्मा में शान्ति स्वभाव को प्राप्त करता है।

यह अनुपम योग न तो बहुत खाने वाले मानव को प्राप्त होता है और न बिलकुल न खाने वाले को ही सिद्ध होता है। न अधिक शयन करने वाले को और न अत्यन्त जागने वाले को सिद्ध होता है। यह भव के दुःखों का नाशक यथा योग्य शुद्ध-पवित्र आचरण करने वाले को निज में ही निज को प्राप्त होता है। वह अपने यथार्थ स्वरूप को ही अन्तरङ्ग में पुरुषाकार देखता है। यही आनन्दमय सुख का कारण है।

संसार में आत्मा के स्वरूप का जानकार होना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह जीव रात-दिन अपनी इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति करने में लगा रहता है। यही कारण है कि वह विषयों से विमुख होकर पदार्थों की खोज भी करता है और इसी सन्देह में उलझ जाता है कि किस पदार्थ को आत्मा समझूं? उसका स्वरूप कैसे निश्चित करूँ? इसमें सन्देह को दूर कर

योग्य देश, काल प्राप्त होने पर उसका स्वरूप जान भी जावे तो उसके स्वरूप के ज्ञान से उत्पन्न हुये आनन्द से आनन्दित होता है और उसकी ओर सर्वथा उन्मुख होने पर दो या तीन अथवा अधिक से अधिक चार पांच भय में ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

हे आत्मन् ! इस संसार में धर्म की ध्वजा धारण किये हुये अपने को महान् योगी मानने वाले अत्यन्त धूर्त और मायाचारी बगुले के सदृश अथवा भयभीत वन्दर के समान आंखों को खोलने बन्द करने वाले मिथ्या जप को जपने वाले, आत्म-तत्त की ओर तनिक भी दृष्टि न करने वाले के साथ तू किंचित मात्र सहवास न कर। यदि तू सहवास करेगा तो अगाध संसार सिन्ध में सदैव गोता खाता रहेगा। जिस तरह नाटक में नट अथवा बाजीगर इन्द्र-जाल के वल से नाना प्रकार के स्वांग (भेष) धारण करते हैं। ऐसे तो तू अनेकों वार सिर मुड़ा कर साधु बनो, कभी दन्डी कभी वेषी सन्यासी हुआ अनेकों वार शिखा जटाधारी हुआ, कई वार नग्न दिगम्बर वेष धारण किये। अनेक वार कषाय वश चर्म, मृग-छाला, कम्बल, चटाई, तूवां, चमीटा और कमण्डल धारण किये इस प्रकार अपनी आत्मा की खूब ही विडम्बना की, परन्तु हाय, बड़े खेद और दुख की बात है कि कभी तूने अपने आत्म-स्वरूप के जानने का प्रयत्न नहीं किया। अपनी आत्मा को निराकुलतामय सुख से सदैव वञ्चित रखा।

तूने जो वेष रक्खा वह अपनी वाह-वाही के लिये अथवा दूसरों को रञ्जायमान करने के लिए ही रक्खा। आत्म-ज्ञान प्राप्ति के हेतु कोई प्रयत्न नहीं किया तथा कभी निराकुलता मय सुख का लाभ न होने दिया। यदि तू आत्म-स्वरूप में लवलीन न होगा तो चाहे कैसा भी प्रचण्ड संताप देने वाला तप करो, उग्रतम परीषहों को जीतो, भले प्रकार मनोयोग धारण करो,

मुनि-मुद्रा, मासोपवास धारण करो परन्तु कोरे इस कायक्लेश से शरीर ही कृश होगा। कर्मपुञ्ज तनिक भी कम न होगा। हां, यदि तू तपश्चरण करता हुआ अपनी आत्मा में लीन रहेगा तो तेरे ये किए हुए तप आदि कार्य कर्मों के नाशक हो जाएँगे। आत्मा में लीनता के साथ किए हुए सम्पूर्ण कार्य सफल हो जाएँगे।

आत्मा-स्वरूप में लीनता ही मुख्य है। तप आदि तो वाह्य गौण कारण हैं। यदि मात्र तपश्चरण ही किया जाय तो उससे एक पुद्गल परमाणु मात्र भी कर्म कम न होंगे उल्टा शरीर ही कृश होता चला जायगा। भले ही तुम ग्रीषम-काल में पर्वत की अत्यन्त तापायमान् शिला पर बैठकर उग्र तप तपो, वर्षा-काल में विकराल मेघों की मूसलाधार वर्षा का कष्ट सहन करो, शीत-काल में तुषार के सम्बन्ध से तीक्ष्ण ठण्डी प्रचण्ड पवन के झकोरे सहो, परन्तु अंतरङ्ग में बोध के बिना (आत्म-ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयत्न किये बिना) यह सब व्यर्थ और निष्फल है। खाली कष्ट सहना है।

हे आत्मन्! तू आत्म-प्रबोध से शून्य अपने को प्रकांड पंडित मानने वाला, महा गर्विष्ठ और अहंकारी होकर जो सज्जनों के साथ उत्ताल शब्दों से युद्ध करता है सो ऐसा जान पड़ता है कि तू महा भयङ्कर गर्वरूपी ग्राह से ग्रसा हुआ अहंकाररूपी महा प्रलय-काल की प्रचण्ड पवन से पीड़ित है अथवा तुझे कोई राक्षस, भूत-पिशाच लग रहा है। यदि तुझे सच्चा आत्मज्ञान है तो अत्यन्त सरल परिणामी, समता-रसस्वादी श्री महा जैन धर्म से अनुराग रखने वाले भव्य जीवों को उपदेश दे उनमें आत्मस्वरूप का ज्ञान प्रगट कर। प्रचन्ड दुष्ट परिणामी विवादियों के साथ विवाद मतकर क्योंकि इससे तेरी हानि होगी।

हे आत्मन् ! यदि तू निजानन्द (आत्म-प्रबोध) प्राप्त करना चाहता है तो तू समस्त वादविवादों
को तिलांजलि दे अपनी आत्मा के स्वरूप का भली प्रकार ज्ञाता, दृष्टा बन । तुझे व्यर्थ वितण्डावाद तथा
जल्प कथा से क्या प्रयोजन है भौंहें मटका या अंगुली घुमा-घुमा कर विचार-चर्चा करने से कोई लाभ
नहीं है, क्योंकि यह सब वाह्य तर्क हैं । ऐसा करने से तू अज्ञान, पशु सदृश, आत्मज्ञान से शून्य समझा
जायगा । तू तो अन्तरंग तर्क का आश्रय ले । अपनी दृष्टि अन्तरङ्ग की ओर रख । जिससे तुझे
आत्म-बोध लाभ हो तथा अपने स्वरूप को भली प्रकार समझ जाय । आत्म-प्रबोध आत्मा की ओर दृष्टि
रखने से ही होता है । यही सार है ।

जब तक इस आत्मा में अहंकार रूपी पिशाच का प्रकोप रहेगा, तब तक यह आत्मा अपने
आनन्द मय स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता । अतएव तू ऐसे परम पवित्र, बीजाक्षर महामन्त्र का
आराधन कर जिससे अहंकार रूपी पिशाच नष्ट हो जाय । तू अपनी महिमा या दूसरों को रंजायमान
करने का अथवा भूत पिशाच, जीव-जन्तु आदि की बाधाओं को दूर करने के लिए हूँ, फ़टकार, वषट् आदि
मन्त्रो के प्रयोग का अभ्यास मत कर । स्मरण रख, ऐसे अभ्यास से तेरी जाग्रत आत्मा-ज्योति मन्द पड़
जायगी जिससे आत्म-कल्याण न हो सकेगा । आत्मा का कल्याण तो आत्म-स्वरूप में ही लीन होना है ।
वह अचिन्त्य, अविनाशी आत्मा, सम्यग्ज्ञानादि गुणों का पूर्ण भण्डार है ।

जब तुझे अपनी आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जायगा, तब तू इन बाह्य पदार्थों का काव्यों
द्वारा व्यर्थ वर्णन कदापि न करेगा तथा तुम्हारा जो नूतन, रसीले काव्यों के रचने का भावोद्रेकपन है
यह भी एक ओर किनारा कर जायगा । एक मात्र सत्य स्वरूप में ठहर जायगा । जो जीव रङ्ग-बिरंगे
वाह्याडम्बर पूर्ण पदार्थों के रङ्ग में रङ्ग रहे हैं तथा निज आत्मा के यथार्थ ज्ञान से सर्वथा विमुख हैं यदि

अविद्या के सम्बन्ध से विवेक और चारित्र दोनों नष्ट हो जाते हैं। अथवा जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री कामोन्माद से उन्मत्त हो निष्कलंक कुलों को कलंकित कर मानवों को नरक कुराड में डाल देती है। उसी प्रकार अविद्या (मिथ्यात्व) भी जीवों को अधोगति के असह्य दुखों को भुगताती है। इस अविद्या रूपी रानी का मोह रूपी राजा पति तथा अहंकार और ममकार ये दो पुत्र हैं क्रमशः ममता और बांछा अहंकार की स्त्री तथा रति, अरति ममकार की स्त्रियां हैं। सुख और दुःख उनके दो पुत्र हैं। इस प्रकार अविद्या का विशाल परिवार है। जैसा जैसा अहंकार और ममकार का वंश बढ़ता जाता है। वैसा-वैसा अविद्या महारानी का प्रताप बढ़ता जाता है। जो भव्य जन ऐसी अविद्या को हटाकर अध्यात्म-विद्या (निजात्म-ज्ञान) का यथा-शक्ति अवलम्बन करते हैं तथा आत्मा के लक्षणों को जानकर निज स्वरूप को पहिचान लेते हैं। उन्हें अनुपम मोक्ष-सुख की प्राप्ति हो जाती है।

शास्त्र पढ़ना स्वाध्याय और अस्वाध्याय के भेद से दो प्रकार का बतलाया है। धर्म तथा मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले अध्यात्म आगमों का प्रौढ़ रूप से अभ्यास करना स्वाध्याय कहलाता है और अन्तरङ्ग तप की कोटि में गिना जाता है। इससे स्वर्ग तथा मोक्ष की सिद्धि होती है। दूसरे लौकिक शास्त्र जैसे-अर्थ शास्त्र. काम शास्त्र आदि शास्त्रों का अभ्यास करना अस्वाध्याय है। इनके अध्ययन का परिणाम कार्यकारी न होकर निन्द ही होता है। मुनिगण तो स्वाध्याय का ही आचरण करते हैं।

जो मनुष्य श्री जिनेन्द्र देव के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा कर रख मन को आत्म-ज्ञान की ओर लगाते हुये शरीर को विनयी बनाकर, इन्द्रियों को नियमित कर, जैन-सिद्धान्त-शास्त्रों का पूर्ण रूपसे स्वाध्याय करता है, वह शीघ्र ही समस्त कर्मों को विध्वंस कर देता है यह भी एक प्रकार की दूसरी उत्तम समाधि है। क्योंकि

है और संसारी कार्यों में रमता है वह आरम्भिक
से रहित सन्त, निष्पन्न योगी नाम का ध्याता कहा जाता है। यही शुद्धोपयोग की प्रथम सीढ़ी है।
ध्याता कहा जाता है जीव का स्वभाव समता-रस का पान करना है। केवलदर्शन गुण स्वरूप शुद्धोपयोगमय है। इसे
वह केवल आत्मा में ही उत्पन्न होती है और केवलज्ञान, धर्म के स्थान पंचपरमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य,
धारण करने वाले अनन्त गुणों के भण्डार एवम् अपनी आत्मा में अनुभव कर निज स्वरूप का चिन्तवन
उपाध्याय और साधु) हैं। इनके गुणों को जो योगी कर्मों के चिन्ह, स्वभाव, कारण, शक्ति एवम् प्रारम्भ
करना धर्म-ध्यान है यही सम्यग्दर्शन है। जान उन्हें मूल से उन्मूलन कर नष्ट कर देता है, उसी
को भली प्रकार समझ कर तज्जनित विकारों को भगवान का ध्यान करते हैं, वे 'रूपस्थ' ध्यानी कहलाते हैं।
साधु के धर्म-ध्यान होता है। जो श्री जिनेन्द्र
उनका ध्यान रूपस्थ ध्यान है।

महा पुन्यवान् मनुष्य अपनी योग्य-दृष्टि से चन्द्रकान्ति मणि के समान निर्मल शरीर धारी,
मन्दराचलवत् निश्चल, नासाग्र दृष्टि, पर्यंकासन में परम योगीन्द्र अर्हन्त भगवान् को अपने हृदय के
भीतर स्पष्ट रूप से देख लेते हैं। यह व्यवहार ध्यान है। इस ध्यान से निश्चय ध्यान में पहुँच जाता है।

रूपातीत ध्यान में रूप, रस, कला, शरीरादि से रहित शुद्ध सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान रहता है।
यह निरावलम्ब ध्यान है। इस ध्यान को 'निष्कलध्यान' भी कहते हैं। अध्यात्म-विद्या द्वारा अवलोकित
निकल सिद्ध परमात्मा न किसी दूसरे पदार्थ से उत्पन्न हुआ न किसी दूसरे पदार्थ को उत्पन्न करने वाला
है न कर्त्ता है न कार्य है न अन्य पदार्थों का अनुभव करता है और न अन्य (पर पदार्थ) के द्वारा
अनुभव किया जाता है। वह पुन्य पाप से सर्वथा पृथक है। ऐसे निकल परमात्मा सदा सिद्धि प्रदान
करो। ऐसा सिद्ध परमात्मा अनन्त चतुष्टय का स्वामी, आदि-अन्त रहित, अनुपम, अनन्त सिद्धों सहित

विभूषित है। समस्त प्रकार के शरीरों और कलङ्को से मुक्त, सदा शास्वत सिद्ध परमात्मा तीनों लोकों में जयवन्त रहो।

अनन्तानन्त ज्ञान-गुण धारी परमात्मा, कर्म-मल से रहित होने के कारण वर्पण में दर्पण के सदृश अपने अन्तरङ्ग में प्रतिबिम्बित, स्फुरायमान अनन्तानन्त आकाश के समान है। वह निष्कलंकात्मा परमात्मा, अपनी आत्मा से ही निश्चल ध्यान करने योग्य है। य. सुनिश्त है कि वह परमात्मा अपने में ही अपने द्वारा ज्ञात होता है। अन्य (पर) पदार्थ उसका अनुभव नहीं करा सकते। जो जानता है, सोही जानता है अन्य दूसरा नहीं। भारी, हल्का, मध्यम, बालक, युवा, वृद्ध, छेद्य, भेद्य, रूखा, चिकना, काला-पीला, सुगन्धित-दुर्गन्धित, सुन्दर-कुरूप, स्त्री-पुरुष, सुखी-दुखी इत्यादि असंख्यात पर्यायें शरीर की हैं। परमात्मा शरीर से रहित है इसलिये वह हल्का, भारी, बालक, बृद्ध, आदि उपरोक्त पौद्गलिक गुणों से रहित है। वह स्वभाव से सरस-नीरस, संवृत-विवृत. विरत-अविरत, खुला-ढँका, रागी-विरागी आदि द्वन्दों से रहित है। वह किसी का रक्षक-संहारक नहीं करते हैं। वह तो मोहान्धकार नाशक, शुद्ध, चैतन्य केवलज्ञान मात्र है तथा आत्मिक गुणों से सम्पन्न है अपने स्वभाव में लीन है।

कितने हो मनुष्य परमात्मा के तीन भेद ब्रह्मा, विष्णु और महेश नाम से मानते हैं। ब्रह्मा को जगत बनाने वाला विष्णु को पालक और महेश को प्रलय-काल मे संहार करने वाला मानते हैं परन्तु परमात्मा राग, द्वेष, मोहादि से रहित होने के कारण किसी का कर्ता, हर्ता और रक्षक (पालक) नहीं हैं। उसने तो इच्छाओं को जीतकर निर्मूल कर दिया है। किसी भी प्रकार का अज्ञानमल उसके पास नहीं फटकने पाता। वह पर पदार्थों के गुणों से रहित निर्दोष निजात्मीक गुणों से सम्पन्न है। वह न कारण है न उसके द्वारा कोई काम होता है किसी क्रिया को भी वह नहीं करता। स्वयं भी दूसरों के

जब तक मन-वचन काय और इन्द्रियाँ वश में न होंगी, तव तक कभी स्वाध्याय नहीं हो सकता। विना
स्वाध्याय के कर्मों का क्षय और अनुपम मोक्ष-सुख का प्राप्त होना अथवा स्वर्गादिक की प्राप्ति असम्भव
है। अतएव प्रथम तो मन को ज्ञान की ओर झुकावे। फिर शरीर को विनयी बनाकर वचन को स्वाध्याय
में लीन करे तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में कर स्वाध्याय करने का प्रयत्न करे यह उत्तम कार्य है।

जो ऋषिराज विधिविधान पूर्वक अध्यात्म आगमों का अभ्यास करते हैं त्रिगुप्तियां (मनोगुप्ति,
वचनगुप्ति, कायगुप्ति) भले प्रकार उनके वश में आ जाती हैं तथा माया, मिथ्या और निदान नामक
तीनों शल्य मूल से उखड़ जाती हैं। उनसे पंच समितियों का भी पालन भली प्रकार होता है। गुप्ति
समितियां मोक्षमार्ग की प्राप्ति में प्रधान कारण हैं। अतएव सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित आगम का अभ्यास
मनन आदर की दृष्टि से मान्यता पूर्वक करे। सभा के योग्य प्रिय, हित, मित (मिष्ट तथा स्पष्ट) वचनों
से उसका व्याख्यान करे। ऐसा करने से थोड़े ही समय में 'केवल ज्ञान' की अवश्य प्राप्ति हो जायगी।
'कैवल्य' प्राप्त होने पर तीनों लोक के समस्त प्राणियों को प्रबोधने वाली निरक्षरी दिव्य ध्वनि खिरने
लग जायगी जिससे जीवों को कल्याणकारी महा धर्मोपदेश मिलेगा। उस महोपदेश के प्रभाव से समस्त
प्राणियों को स्वपर ज्ञान का अमित लाभ होयगा। ऐसा स्वाध्याय का प्रसाद है।

जो ऋषिराज काम सुभट का तिरस्कार कर मुनिमुद्रा धारण कर निश्चल मन से बार बार
स्वाध्याय करते हैं सो समझ लेना चाहिये कि उन्होंने व्रत, नियम, शील संयमादि दुर्द्धर तपों का पूर्ण
आचरण कर लिया है। उन्होंने मुक्तावलि, कनकावलि, रत्नत्रयादिक (१०८ प्रकार के) व्रतों की
परीषह भली प्रकार जीत ली अर्थात् उनका परिपूर्ण आचरण कर लिया। इस स्वाध्याय तप से ही आत्मा
को शांति रसरूपी अनुपम अमृत सुख की प्राप्ति होती है। स्वाध्याय के बिना चाहे नग्न मुद्रा धारण

करो या जीवन पर्यन्त काय-क्लेश सहन करो सभी निष्फल हो जाते हैं। हे तपस्वी मुनिराज! यदि तू प्रतिदिन लगातार स्वाध्याय के करने से थक गया है तो तुझे ध्यान करना उचित है। ध्यान से आत्मा में शान्तिमय प्रधान सुख की प्राप्ति होती है और निजानन्द रस का पान होता है।

ध्यान के चार भेद हैं यथा—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। प्रथम दो ध्यान हेय तथा अन्तिम दो ध्यान उपादेय हैं। ध्याता या ध्यान करने वालों के मुख्य तीन भेद हैं यथा—आरम्भक, तन्निष्ठ और निष्पन्न। जो महानुभाव बन्दर सदृश चंचल मन को रोकने या स्थिर करने के लिये स्वभाव से समताभाव पर आरूढ़ हो पद्मासनादि किसी आसन में एकान्त स्थान में स्थिर हो विधिपूर्वक दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर लगा अन्तरङ्ग में प्रविष्ट हो अपने (आत्मा) स्वरूप का अवलोकन करते तथा निराकुलता मय सुख का अनुभव करते हैं उन्हें तन्निष्ठ ध्याता कहते हैं। ऐसे योगी मन, इन्द्रिय, काम, क्षुधा, तृषा, तृष्णा एवम् निद्रा जीतते हैं। शब्द-जाल को बाहर प्रकाशित नहीं करते। वे तो भीतर ही भीतर अन्तरङ्ग में तत्व-चिन्तन का अभ्यास करते हैं। वही उत्तम पुरुष है जो संसार के समस्त प्राणियों से प्रमोद करता, दुखित जीवों पर दया करता और सब पर मैत्री-भाव रखता है यह तन्निष्ठ ध्यान है।

इस तन्निष्ठ योगी के ध्यानाध्ययन दोनों क्रियायें तुरङ्ग के सवार के समान हैं। उसका ध्यानाध्ययन मोक्ष सुख प्रदान करने वाला है। वह ध्यानी पवन रूपी तेज तुरङ्गों से सन्नद्ध श्रद्धारूपी रथ पर वह धीर वीर योगी आरूढ़ हो महान गहन संसाररूपी विषम मार्ग को तय कर लेता है वह आत्मा में लीन होकर निराकुलतामय अविलय निलय एवम् अविनाशी अनुपम पूर्ण सुखद स्थान मोक्ष में जा विराजते हैं तथा बाह्याभ्यन्तर जल्परूपी तरङ्गों से रहित होकर परमशान्त, देदीप्यमान केवलज्ञान रूपी कमलिनी पुन्ज से संयुक्त अपनी आत्मारूपी मानसरोवर में निरन्तर अवगाहन चिन्तवन अवलोकन करता कर्म कलङ्क पङ्क

द्वारा नहीं होता। ऐसा शुभाशुभ कर्ता, कर्म, करण और क्रिया रहित, एकमात्र शुद्ध चैतन्य, ज्ञातादृष्टा परमात्मा रत्नत्रय स्वरूप है। कर्मजनित उपाधि से रहित सबका स्वामी है। ऐसे परमकल्याण का भाजन परमात्मा के स्वरूप का सर्वोत्कृष्ट निरूपण करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि अकृत्रिम, निरुपम अविकल्प स्वरूप का प्रतिपादन करना एक प्रकार से असम्भव ही है।

आत्मज्ञान के कराने में न तो तेल का दीपक सहायक है और न घट पटादिक को प्रकाशित करने वाले ज्योतिस्वरूप पदार्थ सहायता दे सकते हैं। क्योंकि ये सब रूपी पदार्थों को प्रकाशित करने वाले हैं। आत्मा तो अरूपी द्रव्य है। उसका तो उसी आत्मा की ज्योति ही ज्ञान कराने में समर्थ है अर्थात् आत्मा से ही आत्मा का ज्ञान होता है। हे भव्यो ! यदि आत्म-कल्याण करना चाहते हो तो मन को स्थिर कर परमात्मा के ध्यान मे शुद्ध निजात्मा का ध्यान करो। विमल ज्ञान धारक, सकल परमात्मा के ध्यान से समस्त कर्मों को जलाकर निष्कलंक हो शुद्धात्मा की प्रकृति को प्राप्त करो जब तक यह चित्त परमात्मा के ध्यान से शुद्ध न होगा तब तक कर्मों का नाश अर्थात् कलंक का परिहार नहीं हो सकता और न शुद्धात्मा का स्वभाव ही प्राप्त होगा। जो शुद्धात्मा के स्वरूप के अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे परमात्मा के स्वरूप को भली प्रकार समझ कर अपने आत्मस्वरूप को अपनी आत्मा में विराजमान कर कर्म कलंक को नाश करें यही उत्तम कार्य है।

यद्यपि संसार में सूर्य, चन्द्र, विद्युत, रत्न, मणि आदि अनेक तेजस्वी पदार्थ हैं परन्तु ये सब स्वल्प प्रदेश में ही प्रकाश करते हैं और नाशवान् हैं। उनमें ऐसा एक भी तेज नहीं जो मोहरूपी निबिड़ तम को दूर कर सके। एक अविनाशी, अनुपम, पूर्णता सम्पन्न और सर्व व्यापी आत्मतेज ही ऐसा है जिसके प्रकट होते ही मोहरूपी अन्धकार पाप का नाश हो जाता है। यह आत्मतेज जिस प्रकार चन्द्रमा

से कला, अग्नि से उष्णता, सूर्य से प्रकाश, समुद्र से तरंगें, तिल से तेल जुदा नहीं है उसी प्रकार ज्ञान तेज भी आत्मा से पृथक नहीं है। गुण गुणी सदृश आत्मा और ज्ञान एक हैं।

योगियों को अपनी आत्मा का स्वरूप अपनी आत्मा से ज्ञानशक्ति का लाभ अवश्य लेना चाहिये। आत्मा चैतन्य और रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) स्वरूप है। मुनीन्द्र भी समस्त विकल्पों से रहित अपनी आत्मा में सम्यग्दर्शनादि स्वरूप अविनाशी परमात्मा का निश्चल रूप से ध्यान करते हैं और अन्त मे सिद्धों के अनुगण, अनुपम एवम् अनुभव गम्य सुख को अनन्तकाल पर्यन्त भोगते हैं। इस प्रकार य: प्रथम परिच्छेदपूर्ण हुआ।

दूसरा परिच्छेद

दोहा—दर्शायो निज तत्व यह, सब तत्वन कौ सार।
ऐसे श्री सर्वज्ञ को, वन्दौं बारम्बार ॥

जिसने अनुभव गम्य शुद्ध आत्म-तत्व का यथार्थ स्वरूप समझ लिया है, उसे पुनः समझाने की आवश्यकता नहीं है। जिन्हें शुद्धात्मा का बोध नहीं, उन्हें समझाने की अत्यन्त आवश्यकता है। उनको अभेद्य वस्तु के भीतर गुणगुणी का भेद कर बोध कराने वाला व्यवहार नय आलम्बन रूप है। बिना व्यवहार नय का आश्रय लिये वस्तु स्वरूप का कथन नहीं हो सकता, क्योंकि विकल्पों के अन्तर्गत आत्मानुभव नहीं। इसलिए निजानन्द के कथन में व्यवहार नय का आलम्बन लेना ही पड़ता है।

आत्म-हित तो एकमात्र शुद्ध स्वरूप के अनुभव में है। यह अनुभव जिनवाणी द्वारा तत्व चिंतन करते हुये अकस्मात् आत्मा के यथार्थ स्वरूप को लक्ष्य में बारबार उसका चिन्तवन करते हुये अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व मोहनीय का उपशम होने से (आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव) होता है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पांच लब्धियां कारण हैं। इनमें करण लब्धि ही मुख्य है। जिन विशुद्ध भावों से मिथ्यात्वादि प्रकृतियों का अन्तर्मुहूर्त के भीतर उपशम होकर सम्यक्त्व हो जाता है, उन परिणामों की प्राप्ति को ही करण लब्धि कहते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति में देशना लब्धि मुख्य कारण है। इसका मनन करने में साधारण रूप से चार उपाय बड़े ही हितकारी हैं—(१) अर्हन्त, सिद्ध परमात्मा की भक्ति (२) आत्म-ज्ञानी गुरुओं की सेवा कर आत्म-बोध लाभ (३) जिन-वाणी का पठन, मनन और धारणा (४) और चार वार अर्थात् प्रातः, मध्यान्ह, सन्ध्या-काल तथा अर्द्धरात्रि में एकान्त और निराकुल स्थान में पद्मासन से बैठकर कुछ देर तक स्वोन्मुख हो सामायिक करना, समता-भाव को भजना, भेद—विज्ञान करना। यही हमारा पुरुषार्थ है और इसी पुरुषार्थ से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है परन्तु वह समय तभी आवेगा जब संसार-सागर-तट निकट होगा। यदि अर्द्ध पुद्गल परावर्तन से अधिक काल मोक्ष जाने को होगा तो सम्यक्त्व नहीं होगा। इसी को काल लब्धि कहते हैं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रति पक्षी कर्मों का उपशम हुए बिना कदापि सम्यक्त्व नहीं होगा। कर्मों का उपशम तत्व–विचार से ही होता है। तत्व–विचार स्वतः या किसी निमित्त से होगा। जैसे—धन प्राप्ति के लिए आजीविका, रोग–शमन हेतु औषधि, परन्तु सफलता अन्तराय कर्म के हटने

या सातावेदनी के उदय में ही प्राप्त होती है। अतएव जिन-वाणी द्वारा स्व-पर तत्वों का विचार करना चाहिए जिससे शुद्धात्मा का अनुभव हो सके। यह अनुभव होना ही निश्चय सम्यग्दर्शन है। यह आत्मा का निज गुण आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में व्याप्त है। जब शुद्धात्मा का यथार्थ स्वरूप अनुभव होता है, तब आत्मा का सम्यक्त्व गुण प्रकाशित हो जाता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे पंचामृत का कौर उपलब्ध हुआ हो अथवा घर में कामधेनु उत्पन्न हुई हो।

अब व्यवहार सम्यग्दर्शन का वर्णन करते हैं। वीतराग सर्वज्ञ ने छै द्रव्य, पञ्चास्तिकाय तथा नव पदार्थों का जैसा स्वरूप बतलाया है तदनुसार ही उनका श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। दर्शन मोहनीय कर्म के क्षीण होने पर जो आत्मा में निर्मल श्रद्धान होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते है। इसकी प्रतिपक्षी कर्म प्रकृतियां अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व' सम्यग्यमिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति हैं। इनके क्षय से ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है। इन सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षीण हो जाने पर 'दर्शन' गुण की अत्यन्त निर्मल अवस्था हो जाती है। इसकी प्रतिपक्षी कर्म प्रकृति इसमे एक देश भी अवशिष्ठ नहीं रहती है। इसलिये क्षायिक सम्यक्त्व अन्य सम्यक्त्वों के समान सान्त (अन्त सहित) नहीं है। इसकी प्रकटता में असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है इसीलिये यह सम्यक्त्व कर्मक्षय का हेतु है। दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय होने पर उसी भव या तीसरे-चौथे भव में जीव सिद्ध-पद को प्राप्त कर लेता है। चौथे भव का उल्लंघन नहीं करता। अन्यसम्यक्तों के समान यह सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता। क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर या तो उस ही भव में अथवा यदि देवायु या नरकायु का बन्ध हो गया है तो तीसरे भव में 'सिद्ध' पद की प्राप्ति हो जाती है। यदि सम्यग्दर्शन होने के पूर्व मिथ्यात्व अवस्था में मनुष्य या तिर्यंचायु का बन्ध हो गया हो तो चौथे भव में अवश्य ही सिद्धावस्था

को प्राप्त कर लेता है। यह क्षायिक सम्यक्त्व 'साद्यनन्त' है।

यह श्रद्धान को भ्रष्ट करने वाले वचनों या कारणों से, इन्द्रियों को भय उत्पन्न करने वाले आकारों से, यद्वा ग्लानि कारक पदार्थों को देखकर उत्पन्न होने वाली ग्लानि से अधिक क्या! तीन लोक के सम्पूर्ण पदार्थों से भी क्षायिक सम्यक्त्व चलायमान नहीं होता। यह इतना दृढ़तर होता है कि तर्क तथा आगम–विरुद्ध वचनों से भी भ्रष्ट नहीं होता।

अब यहां क्षायिक सम्यक्–दर्शन किसे और कहां उत्पन्न होता है उसे लिखते हैं—दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय का प्रारम्भकर्म भूमि में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों को ही 'केवली' या श्रुत–केवली के पाद-मूल में होता है। निष्ठापन सर्वत्र होता है। कदाचित् पूर्ण क्षय होने के पूर्व ही मरण हो जाय तो क्षपणा की समाप्ति चारों गतियों में हो सकती है। तात्पर्य यह है कि दर्शन मोहनीय के क्षय का प्रारम्भ तो केवली श्रुत केवली के पाद मूल में और उसकी पूर्ति चारों गतियों में हो सकती है। यह सादि अनन्त है।

अब वेदक सम्यक्त्व का स्वरूप लिखते हैं:— मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय, आगामी काल में उदय में आने वाले निषेकों का सद्वस्था रूप उपशम, तथा सम्यक्त्व प्रकृति नामक देश घाती प्रकृति का उदय होने पर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्दर्शन कहते हैं। सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहने से इसमें चल-मलिन अगाढ़ दोष लगते हैं। ६६ सागर रह सकता है।

अब उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप और उसकी सामग्री का वर्णन करते हैं:—सम्यक्त्व विरोधिनी सात प्रकृतियों अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व

प्रकृति इनके उपशम से होने वाले आत्मा के गुण को उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। निर्मली आदि पदार्थों के निमित्त से जिस प्रकार जल की कीचड़ आदि मल नीचे बैठ जाता है तथा वह निर्मल हो जाता है इसी प्रकार उपशम सम्यक्त्व निर्मल होता है। इसमें और क्षायिक सम्यक्त्व में निर्मलता की अपेक्षा समानता है परन्तु विशेषता यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी कर्मों का सर्वथा पूर्ण अभाव हो जाता है पर उपशम सम्यक्त्व में प्रतिपक्षी कर्मों की सत्ता विद्यमान रहती है। जैसे—निर्मली के निमित्त से जल की कीचड़ तली में बैठ गई और जल स्वच्छ हो गया। दूसरा वह जल जिसकी तली में कीचड़ बिल्कुल ही नहीं हैं। सार यह कि जिस जल की तली में कीचड़ नहीं वह क्षायिक सम्यक्त्वस दृश है तथा जिस जल की तली में कीचड़ बैठी है परन्तु वह निर्मल है वह उपशम सम्यक्त्व के समान है। अब पंचलब्धियों के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

लब्धि का अर्थ प्राप्ति का है। ये पाँच है–(१) तत्व विचार होने के योग्य कर्मों का क्षयोपशम होना क्षायोपशामक लब्धि है (२) विशेष निर्मलता को विशुद्धि लब्धि कहते हैं। (३) योग्य उपदेश को देशना लब्धि कहा गया है। (४) पन्चेन्द्रियादि स्वरूप योग्यता की प्राप्ति को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। (५) अधःकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों को करणलब्धि बतलाया है। इनमें अन्तिम 'करणलब्धि' असाधारण है। इसके सद्भाव में नियम से सम्यक्त्व या चारित्र होता है। जब तक यह लब्धि नहीं होती तव तक सम्यक्त्व नहीं होता। अन्य चार लब्धियां साधारण हैं और भव्य-अभव्य जीवों के होती र ती हैं। करण लब्धि चारों गतिवाला, अनादि या सादि मिथ्यादृष्टि, मनसहित पर्याप्तक त्रस जन्म वाला मन्द कषायरूप विशुद्धता का धारक, गुण-दोष विचार रूप साकार ज्ञानोपयोग वाला, जागृत अवस्था में विद्यमान तथा अनिवृत्ति करण के अन्त समय में वर्तमान जो जीव है वही प्राप्त कर

सकता है। अन्तर मुहूर्त स्थिति है।

अब जो जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं वे कौन हैं ? इसका निरूपण करते हैं:— मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पांच लब्धियां होती हैं। जीव के कर्मों में मैल रूप अशुभ ज्ञानावरणादिक के समूह का अनुभाग जिस काल मे समय-समय अनन्तगुणा क्रम से घटता हुवा उदय को प्राप्त होता है उस काल में क्षायोपशमिक लब्धि होती है। इस लब्धि का धारक प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हो अथवा न हो। जीव के साता आदि शुभ प्रकृतियों के बन्ध में कारण भूत परिणाम की जो प्राप्ति है, वह विशुद्धि लब्धि है। अशुभ कर्म का अनुभाग घटने से संक्लेश की हानि और विशुद्धपन की बृद्धि होना विशुद्धि लब्धि है। श्रेष्ठ गुरु या आचार्य द्वारा छह द्रव्य और नव पदार्थों के यथार्थ उपदेश का लाभ होना तथा उनकी धारणा की शक्ति प्राप्त होना देशना लब्धि है। विशेषता यह है कि जहाँ उपदेशक न हों वहां जीवों को पूर्व-भव में धारण किए तत्वों के संस्कार-बल से सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हो जाती है।

उपरोक्त तीन लब्धियों (क्षायोपशमिक, विशुद्ध और देशना) वाला जीव प्रति समय उत्तरोत्तर परिणामों की विशुद्धता बढ़ने से आयु-कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति को क्रम-क्रम से घटाता हुआ अन्तः कोड़ा कोड़ी सागर मात्र कर देता है तथा कर्मों की फल-दान शक्ति को भी क्रम से कमज़ोर कर देता है। ऐसा कार्य करने की योग्यता की प्राप्ति को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं।

बात यह है कि संक्लेश परिणाम वाले पर्याप्तक संज्ञी पंचेन्द्रिय के सम्भव उत्कृष्ट स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बन्ध तथा विशुद्ध क्षपक श्रेणी वाले के सम्भव जो जघन्य स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बन्ध, इन तीनों की सत्ता होने पर जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण नहीं करता। वह इस सम्यक्त्व के सन्मुख हुआ विशुद्धता की वृद्धि से प्रायोग्य लब्धि के पहिले समय से लेकर पूर्व स्थिति बन्ध के

सख्यातवें भाग अन्तःकोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण आयु-कर्म को छोड़ सात कर्मों की स्थिति बांधता है।

अब असाधारण करण लब्धि का वर्णन करते हैं—करण का अर्थ परिणाम है। वे तीन प्रकार के हैं। (१) अधः प्रवृत्ति करण, (२) अपूर्व करण, (३) अनिवृत्ति करण इनमें प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त है परन्तु उत्तरोत्तर स्तोक (कम) होता गया है। अनिवृत्ति करण का काल सबसे कम है। अधः प्रवृत्ति करण में प्रति समय परिणामों की अनन्त गुणी विशुद्धता होती है। साता वेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों का प्रति समय अनन्तगुणा चतुःस्थान रूप अनुभाग-बन्ध है तथा असाता वेदनीय आदि अप्रशस्त प्रकृतियों का प्रति समय अनन्तवाँ भाग मात्र अनुभाग-बंध होता है। इस प्रकार एक एक अन्तर्मुहूर्त में पल्य का असंख्यातवां भाग मात्र काल में स्थितिबन्धापसरण होता है। वे वन्धापसरण ३४ (चौंतीस) हैं तथा असंख्यात हजार बार होते हैं। यह सब होने पर इस करणलब्धि के आदि समय में जो स्थिति बन्ध अंतः कोड़ा कोड़ी प्रमाण वह उसके अन्त समय में असंख्यात गुणा घाट होने लगता है।

इसके पश्चात् अपूर्व करण होता है उसमें गुण संक्रमण तो नहीं होता. परन्तु और तीन आवश्यक अवश्य होते हैं। समय-समय असंख्यात असंख्यात गुणी कर्म की निर्जरा होती है। तदनन्तर अनिवृत्ति करण होता है। वहां पल्य का संख्यातवां भाग मात्र स्थिति काण्ड घात होता है। संख्यात हजार स्थिति बन्धापसरण हो चुकने पर उपशम करण होता है। उसमें जीव, सत्ता में स्थित चार अनन्तानुबन्धी कषाय तथा मिथ्यात्व प्रकृति के द्रव्य को समय-समय असंख्यात गुणा उपशमाता तथा उदीरणा करता है। इस प्रकार अन्त समय पर्यन्त जब सर्व मिथ्यात्व द्रव्य को उपशमा चुकता है, तब मिथ्यात्व के उदय से रहित हो जाता है तभी जीव उपशम सम्यग्दृष्टि अविरत गुण-स्थान वर्ती हो जाता

सप्त २ भय विसनहत भवतन भोग विरक्त, वसुगुणयुत जिनभक्ति है आतम श्रद्धायुक्त ।

अब यहाँ पंचम गुण-स्थान का विवेचन करते हैं—श्री जिनेन्द्र के परमागम में पंचव्रतों का धारण, पंच समितियों का पालन, चार कषायों का निग्रह, अनर्थ दण्डों का त्याग, तीन गुप्ति तथा इन्द्रियों पर विजय, संयम कहा है जो कि आत्मा को बहुत दुर्लभ है। जिन जीवों ने पूर्व में अशुभ कर्मों का अत्यन्त मन्द बन्ध किया है, उन्हें यहां उत्तम संगति जिनेन्द्र कथित आगम का सेवन, सुगुरुओं का संयोग और उनकी सेवा-उपासना, सम्यग्दर्शनादि अनेक दुर्लभ सामग्रियों की प्राप्ति इत्यादि सुनिमित्त मिलते हैं। इन निमित्तों के मिलने से संसार, देह और भोगों से अत्यन्त विरक्तता होती है। विरक्त जीवों को ही अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का क्षयोपशम तथा 'देश-संयम' होता है।

देश-संयम देव और नारकियों को होता ही नहीं है। तिर्यंचों को अपनी पर्यायानुसार होता है। सो भी, कदाचित् किञ्चित ही होता है। मनुष्य पर्याय में नीच-कुल, अधम देश, इन्द्रियों की विकलता (अपूर्णता) अज्ञानत्व, रोगी, अन्यायमार्गी, विषयानुरागी, तीव्र कषायी, निन्द्य-कर्मी, भंडवचनी एवम् मिथ्यादृष्टि की संगति करनेवालों को देश-संयम कदापि नहीं होता। जो पुरुष श्रावक के व्रत अर्थात् देशसंयम को ग्रहण कर फिर उसे छोड़ देता है वह मानो हाथ आए चिन्ता-मणि रत्न को एक कौड़ी में बेच देता है या ईंधन के अर्थ चन्दन का वृक्ष काट कर जलाता है या घर के आंगन में लगे मनवांछित फल दाता कल्पवृक्षों को समूल उखाड़ उनके स्थान में धतूरे के वृक्ष लगाता है अथवा श्रेष्ठ अमृतरस को पाद-प्रक्षालन में डालता है। अतएव हे प्राणियो ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित उत्तम चारित्र को ग्रहण करो यही मोक्ष-मार्ग है।

आत्म-प्रबोध सहित इसका आचरण करो। यह आत्म-प्रबोध ही संसार के कारण शुभाशुभ कर्मों

को नष्ट करने तथा मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति का कारण जो विशुद्धि है, उसे बढ़ाने वाला है। परम कल्याणकारी पवित्र आत्म-प्रबोध ज्ञायिक स्वभाव है। यह द्रव्यकर्म, भावकर्म और नो कर्मों से रहित है।

परनिमित्त से जो आत्मा में राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं उन्हें भाव कर्म कहते हैं। एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों सहित ज्ञानावरणादि अष्ट-कर्म द्रव्य कर्म हैं। औदारिकादि शरीर को नो कर्म कहा गया है। भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कर्मोदय से आत्मा में राग-द्वेषादि रूप परिणाम होते जिससे नवीन कर्मों का सञ्चय होता है। पूर्व-कर्म का उदय और नवीन कर्म के बंध का कार्य एक ही समय में होता है। यह जीव कर्मोदय-काल में नो कर्म (बाह्य निमित्तों) में इष्टानिष्ट बुद्धि करके संसार-भ्रमण का भाजन बन जाता है। यदि ऐसी बुद्धि न करे तो कोई भी नो कर्म आत्मा के साथ जबरदस्ती कर्म-बन्ध नहीं करा सकता। जिस प्रकार जीव पुद्गल के गमन में धर्मास्तिकाय (धर्म द्रव्य) उदासीन निमित्त है उसी प्रकार नो कर्म, कर्म-बंध में उदासीन निमित्त है।

निमित्त दो प्रकार के होते हैं—पहला प्रेरक निमित्त और दूसरा उदासीन निमित्त। यह वस्तु का स्वभाव है। जहां उपादान की पूर्ण तैयारी होगी वहां ही निमित्त उपस्थित हो जायगा। यदि निमित्त उपस्थित न हो, तो उपादन को उसकी राह देखना पड़ेगा। द्रव्य कर्म का उदय सब प्रेरक निमित्त है। उपस्थित न हो, तो उपादान को उसकी राह देखना पड़ेगी। जिस प्रकार महावीर भगवान की वाणी गौतम गणधर के तिमित्त से खरी ऐसे द्रव्य कर्म का उदय सब प्रेरक निमित्त है। ज्ञानी-अज्ञानी के देखने की रीति भिन्न है। ज्ञानी पदार्थों को पर्याय-दृष्टि से न देखकर स्थायी स्वभाव की दृष्टि से अवलोकन करता है इस कारण उन्हें पर्याय-बुद्धि के फल स्वरूप रागद्वेष नहीं होता है। जो जीव ज्ञान परिणाम से शून्य हैं वे अपने मन के संकल्प-विकल्पों का निग्रह करने में असमर्थ रहते हैं।

जो निमित्त प्रेरणा देकर कार्य करता है, वह प्रेरक निमित्त है। जो स्वयं होते हुये कार्य में सहायक बन जाता है, वह उदासी निमित्त है। ज्ञान-रत्न, मन को जीतने में उत्तम साधन है। यह हाथी, बन्दर, पिशाच अथवा सर्प सदृश मन ज्ञान-रूपी रत्न के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं जीता जा सकता है। जैसे—जंगल में स्वच्छन्दता पूर्वक भ्रमण करता हुआ मदोन्मत्त गजराज तीक्ष्ण अंकुश या भालों की मार से वश कर दृढ़ सांकल से जकड़ कर बांध लिया जाता है। जिस प्रकार कपिराज क्षण भर के लिए चञ्चलता नहीं तजता, उसी प्रकार चित्त (मन) भी विषयों के विना स्थिर नहीं रहता है। यद्यपि अत्यन्त काला सर्प महा विष संयुक्त है तथापि विधि पूर्वक मंत्र सिद्ध किया गारुड़ी उसे वश में कर लेता है। इसी प्रकार भूत-पिशाच भी मंत्र द्वारा आधीन हो जाता है। मन मर्कट वश में करने के लिये ज्ञानाभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है। सब बात यह है कि पताका बांस पर स्थिर रहती है, कितनी भी प्रचण्ड पवन चले पर वह बांस पर ही स्थिर रहेगी, नीचे नहीं आयेगी। इसी प्रकार विशुद्ध परिणामी जीव के हृदय-समुद्र में कितनी ही चञ्चल प्रचण्ड लहरें उछलें परन्तु वे सब उसी हृदय-समुद्र के जल में ही शान्त हो जायेंगी। बाहिर न जायेंगीं।

ज्ञानी के हृदय-स्थान में जो ज्ञान रूपी दीपक प्रकाशमान है, वह उत्कृष्ट प्रकाश है। वायु आदि कोई भी द्रव्य उसका विनाश नहीं कर सकता। सूर्य-प्रकाश तो राहु गम्य है वह आकाश में मेघ-मालाओं से आच्छादित हो जाता है, परन्तु ज्ञान-सूर्य सदैव प्रकाशमान रहता है।

आत्मा सदैव अपने भावों को ग्रहण करता और छोड़ता है। जड़ कर्म को न तो आत्मा ग्रहण करती और न छोड़ती है जड़ की अवस्था जड़ के कारण ही होती है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र हैं। यह जीव पर पदार्थों में इष्ट—अनिष्ट बुद्धि कर रागी—द्वेषी बनता है और उसके फल स्वरूप नाना प्रकार

के कर्म—बन्ध करता है। आत्मा की अवस्थाओं कर्त्ता स्वयं आत्मा ही है। यह आत्मा अनादि काल से ही वही का वही है। कभी इसने अपने स्वाधीन स्वभाव को जानकर आश्रय नहीं लिया। सदैव पर का ही आश्रय लेकर पर को ही अपनाता रहा है। इस पराश्रय से कभी भी इसे शान्ति नहीं मिली। आत्मा का सुख 'पर' में न होने से वह पराश्रय से कैसे सुखी हो सकता है?

चिदानन्द का स्वभाव तो ज्ञानानन्द से भर पूर है यदि उसका आश्रय लिया जाय, तो अपूर्व सुख शांति मिले। जिस प्रकार सूखा काष्ठ समुद्र में तैरता रहता है; उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य, मल—विकार रहित होकर विश्व से तिर जाता है अर्थात मोक्ष पा लेता है। आत्मा अनादि निधन सदा काल ज्ञान-मूर्ति है। जो वह है, सो ही मैं हूँ। वर्तमान अवस्था में जो राग—परणाति हो रही है, वह मेरा वहिर्भाव है स्थायी स्वरूप नहीं है। अन्य कोई राग-द्वेष नहीं करते। यह तो मेरे ही पुरुषार्थ की कमी है जिससे यह चिन्ह प्रकट हो रहा है। मेरे स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है। धर्मात्मा जन इस प्रकार अपने स्वभाव के आश्रय से किसी को भी अपना शत्रु—मित्र नहीं मानते। स्वभाव दृष्टि से सभी आत्माओं को अपने ही समान परिपूर्ण ज्ञानानन्द, अविनाशी, चैतन्य मूर्ति मानते हैं। समस्त जीवों के प्रति उनका समभाव रहता है। यथार्थ में ज्ञानी को राग—द्वेष होता ही नहीं है। निज स्वभाव की एकता ही प्राप्त होती है। इसी कारण ज्ञानी सुखी हैं। सम्पूर्ण जीव ज्ञान से परिपूर्ण, सिद्ध समान सदा निर्दोष हैं। ऐसी दृष्टि से देखने वाले को दूसरों का भला—बुरा करने में मान्यता कहां रही? उसे किसी का हिताहित करने का अभिप्राय में तो अनन्तगुणा समभाव प्रकट हुआ। त्रिकाल और त्रिलोक में कोई किसी का अच्छा—बुरा करने को समर्थ नहीं है।

जब तक जीव को, "स्वभाव से सभी आत्मा समान हैं" ऐसी प्रतीति नहीं होती, तब तक

समभाव प्रकट नहीं होता है। "कोई जीव इस शरीर के खराड-खराड कर दे; सब भगवान की इच्छानुसार होता है।" ऐसा मानकर क्रोध नहीं करे तो भी उसके समभाव पना नहीं है तथा न क्षमा गुण है। "ईश्वर ने मुझे समभाव दिया है।" ऐसी मान्यता करने वाले को निजानन्द की प्रतीति नहीं है। कोई जीव परमात्मा को कर्ता नहीं मानता, परन्तु "उसके साथ मेरा संयोग होने से लाभ या हानि होती हैं" ऐसा माने तो समझना चाहिये कि उसके भी समभाव नहीं है। समभाव तो त्रैकालिक ज्ञानानन्द मूर्ति है। वही मेरा स्वरूप है। जो ज्ञानी ऐसी भेद-ज्ञान रूपी पैनी छैनी से शरीर, जीवन-मरण, हानि-लाभ, सुख-दुख में सदैव समभाव रखता है, उसी के यथार्थ समभाव है। दूसरे से मुझे कोई लाभ-हानि नहीं होती। पर की क्रिया मेरी नहीं जो मेरी अवस्था में पर वस्तु से राग होता है, वह समय मात्र ही है। त्रैकालिक स्वभाव में मेरे वह राग नहीं हैं। मैं तो ज्ञान-स्वभाव से भरपूर एक रूप हूँ। इस मान्यता से आत्मा में एकता रूप स्वभाव-दृष्टि बलपूर्वक बढ़ती जाती है। इस कारण ज्ञानीजनों के सदैव सम्पूर्ण पदार्थों पर समभाव रहता है।

शरीरादि तो पर-पदार्थ और अजीव हैं। उनमें दया-भक्ति परिणाम होता है, वह पुराय-पदार्थ है। जो हिंसादि पंच परिणाम होते हैं सो पाप-पदार्थ है। पुराय-पाप ये दोनों 'आश्रव-तत्व' संसार के कारण हैं। यह जीव तत्व इन सबसे भिन्न अखराड और ज्ञानदर्शन स्वभावी है। ऐसी दृढ़ श्रद्धा ही द्रव्य-बुद्धि का स्वीकार है। त्रैकालिक स्वभाव की मति से आत्मा को मानने वाले ही सम्यग्दृष्टि होते हैं। उनकी अखराड, ज्ञानदर्शन स्वभावी दृष्टि कभी पृथक न होकर उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। इसीसे उन्हीं के सदा समभाव रहता है। आत्मा को पर्याय बुद्धि से मानने वाले जीव तो मिथ्यादृष्टि हैं।

जब स्वभाव की एकता रूप समभाव प्रकट होकर रागादि विकार नष्ट हो जाते हैं, तब 'देशविरत'

रूप सामायिक होता है। इसके पश्चात् निज से निज में अधिकांश स्वभाव–स्थिरता रूप प्रकट होने से सर्व संग का परित्याग होकर मुनि–दशा प्रकट हो जाती है। वही 'सर्व विरति' रूप सामायिक है। "करेमिभन्ते सामाइयं" ऐसी भाषा में सामायिक नहीं है जो जीव "मैं सामायिक करता हूँ।" यह जल्पता है वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा तो वचन अगोचर, विकल्प रहित ज्ञान स्वभाव है। सो ही मैं हूँ। ऐसी श्रद्धा "दर्शनज्ञान" सामायिक है।

ऐसे जीवों के विश्व में कोई शत्रु मित्र नहीं। वे सबको समान जानते हैं। पर–वस्तु के देखने जानने से जो राग–द्वेष होता था, वह उनसे दूर हो गया। सभी पर समभाव की स्थापना हो गई। यही धर्म है। यही मुक्ति का उपाय है। ज्ञानी ऐसा जानता है कि–जैसे सम्राट भरतेश्वर, श्री शान्तिनाथ कुन्थुनाथ, अरहनाथ और बलभद्र श्री रामचन्द्र आदि क्षायिक सम्यक्दर्शन के धारक छह खण्ड पृथ्वी के अधिपति थे। उन्हें छियानवे हजार रानियों का संयोग था। उनमें अच्छा प्रेम भी था। पर इस सब संयोग–विभूति में उनकी 'हेय' बुद्धि थी। अंशमात्र भी पर्याय एकता बुद्धि नहीं थी। स्वभाव–दृष्टि से समभाव ही था। उन्हें पर्याय के राग का ज्ञान था। राज–पाठ के जानकार और संचालक थे। परन्तु स्वभाव की एकता (समभाव) नहीं छूटती थी। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'भरत जी घर में ही वैरागी।'

एक दिन भरत जी संसार, देह और भोगों से विरक्त हो वन में जा, समस्त वस्त्राभूषण शरीर से पृथक कर सिद्धासन बैंठ केश–लौंच कर स्वयं ही दीक्षित हो गये। इसका कारण यह था कि उनकी आत्मा में शरीरादि पर-वस्तुओं से मोह-बुद्धि नहीं थी। जो आत्मा अन्तरङ्ग में पवित्र होता है उसे देखकर बड़े बड़े मानियों का मान, लोभियों का लोभ, मायावियों की माया और क्रोधियों का क्रोध अवश्य छूट जाता है। ये समस्त चेष्टायें अन्तरङ्ग के निर्मल होने की हैं।

जो मनोनिग्रह में समर्थ है उसे मोक्ष-महल समीप है। सब आत्मायें एक समान, पर्याय—दृष्टि से ही तो भेद है। ऐसा समझ कर कि मेरे लिये कोई गुरु नहीं है, आत्मा का गुरु आत्मा ही है मुझे तो मैं ही गुरु हू, कोटि सूर्य-चन्द्र जैसा प्रकाश सर्वाङ्ग में मेरी आत्मा का है इत्यादि। इन विचारों से ही वे स्वयं ही दीक्षित हुए। सर्व परिग्रह का त्यागकर केश-लौंच के साथ ही मन के समस्त संक्लेशों का भी लौंच किया। शूर वीर, योगी भरत ने ज्यों ही नेत्र बन्द कर अपनी आत्मा की ओर देखा, त्यों ही उन्हें अत्यन्त प्रकाश युक्त मनःपर्यय-ज्ञान की प्राप्ति हुई।

मुनिराज भरत, सिद्ध—बिम्ब सदृश निश्चल आसन से विराजमान, अचल ध्यान, निज स्वभाव में स्थिर बाह्य—साधन—शुद्धि से अन्तरङ्ग में आत्मा को शरीर से भिन्न तथा स्व द्रव्यों से पूर्ण संपन्न अपनी आत्मा का निरीक्षण कर रहे हैं। उन्हें ऐसा अनुभव कराने वाला अन्तरङ्ग साधन परिशुद्ध रूप से प्राप्त है। अतएव वे अष्टाङ्ग योग में रत होकर भंगुर कर्मों को भंग कर रहे हैं। यद्यपि योगीन्द्र अपने आपको देख रहे हैं तथापि भीरू कर्म-पुन्ज अत्यन्त भयभीत हो द्रुतगति से इधर उधर भाग रहे हैं और आत्मा में सु-ज्ञानसूर्य का निर्मल प्रकाश उदित होता जा रहा है। ज्यों ज्यों कर्म-रेणु प्रथक होते जाते हैं, त्यों त्यों आत्मदर्शन इस प्रकार होता जा रहा है जैसे—पृथ्वी के अन्दर में ढ़की हुई रत्न-प्रतिमा मिट्टी को खोदने पर मिल रही है।

कल्पना कीजिए कि मेघ—माला मूसलाधार वृष्टि कर मिट्टी का पहाड़ गला गलाकर बहा रही है। अथवा जैसे जलती हुई लकड़ी को अग्नि में डालने से वहै तीव्ररूप से प्रज्वलित हो उठती और उससे सांनिध्य प्राप्त काष्ठ को भस्मसात कर देती है वैसे ही ध्यानाग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो शरीर रूपी होम-कुण्ड में कर्म—काष्ठ को भस्मसात कर रही है।

इस दीक्षित धीर-वीर साधु ने आत्मयज्ञ के द्वारा संसार रूपी शत्रु को नाश करने का उद्यम किया है। युग नेत्रों को बन्द कर सु-ज्ञान रूपी बड़ा नेत्र खोल लिया है वह चक्षु ही अग्नि स्वरूप है। उसके द्वारा कर्म काष्ठ के निवासउस्थान भूत तीन शरीर रूपी तीन देशों को जलाने का कार्य हो रहा है। जिस प्रकार प्रलय-काल की अग्नि से विश्व के समस्त नश्वर पदार्थ जल कर खाक हो जाते हैं उसी भांति तपधन ऋषिराज भरत के प्रचण्ड ध्यानाग्नि द्वारा समस्त कर्म-पुञ्ज जलकर खाक हो रहे तथा अपना स्थान छोड़ रहे हैं।

गृहस्थावस्था में जिस प्रकार दिग्वजय करते हुये तुरङ्ग पर चढ़ विजयार्द्ध-गिरि के वज्र कपाटों को अपने वज्र की चोट से खोल भीतर से निकली अग्नि-ज्वाला को देख रहे थे। अब उसी भांति देह रूपी गिरि की गुफा में कर्म रूपी वज्र पटलों को शुद्ध भाव रूपी तुरङ्ग पर चढ़ पुरुषार्थ रूपी वज्र की चोट से तोड़ अन्तरङ्ग से निकली कर्मों को जलाने वाली ध्यानाग्नि को अवलोकन कर रहे हैं। उनके प्रभावरूपी काँकणी रत्न से देह रूपी गुफा में सु-ज्ञान रूपी अत्यन्त देदीप्यमान महा प्रकाश व्याप्त हो रहा है। उन्होंने विरक्त होने पर 'चक्र' रत्न परित्याग किया था। अब महा धर्म-चक्र का उदय हुआ। प्रथम अनेक-मुकुट-बन्ध राजा सेवा करते थे अब स्वर्गों से सुरेन्द्र आकर सेवा करेंगे।

कर्मरूपी मेघ—पटल का विध्वंस होना तथा आत्मारूपी सूर्यान्शु का प्रकट होना, वे दोनों कार्य एक ही काल में होते हैं। जिस प्रकार सरोवर का पानी पाड़ से घिरा रुका हुआ जल उसके फूटने से एकदम द्रुतगति से वहकर चला जाता है, उसी प्रकार स्थिति रूपी पाड़ से रुका बँधा कर्मसमूह रूपी जल बन्ध को तोड़ने पर अत्यन्त वेग से चारों ओर वहने लगता है अथवा जिस भांति परदे की ओट मे रखा प्रकाशमान दीपक परदे के हटते ही समस्त जगह प्रकाशित कर देता है। उसी भांति जो 'केवलज्ञान'

रूपी सूर्य कर्म रूपी आवरण से ढँका है वह कर्मावरण के हटते ही संसार के समस्त त्रैकालिक पदार्थ आत्मा में प्रतिबिम्बित होने लगते हैं। केवल आत्मकला का ही दर्शन प्रकट रूप से होता है। सूर्य के समान यह शुक्ल ध्यान है।

आत्मानुभव में मग्न इस ध्यान के समय ध्यान, ध्याता, ध्येय एवम् ध्यान के फल का वचनों द्वारा वर्णन नहीं कर सकते; क्योंकि वचन तो जड़ (पुद्गल) हैं और आत्मा ज्ञानरूप चैतन्य द्रव्य है। इस कारण आत्मा से ही आत्मा का जानना अनुभव होता है। आत्मा को ही आत्मसिद्धि होती है। मस्तक से लेकर पादमूल के अंगुष्ठ तक निर्मल ज्ञान प्राप्त रहता है। बारहवें गुणस्थान तक अन्तर आत्मा है। ये ही अन्तरआत्मा तेरहवें गुण स्थान को प्राप्त कर परमात्मा हो जाते हैं।

जब इस प्रकार भरत ऋषिराज को 'केवलज्ञान' की प्राप्ति हुई, तब इन्द्र महाराज ने स्वर्ग से आकर उनकी 'गन्धकुटी' की वर्णनातीत की अत्यन्त सुन्दर रचना की। फिर प्रश्न किया कि हे स्वामिन्! इस आत्मा में आत्मा की सिद्धि कैसे होती है? कृपा कर निरूपण कीजिये। तब सर्वज्ञ भगवान भरत ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा वर्णन किया कि—

हे देवेन्द्र! आत्मसिद्धि करना कोई कठिन नहीं है। आत्मा शरीर से भिन्न है। इसे इसी रूप देखने से आत्मसिद्धि होती है। पंचास्तिकाय, षटद्रव्य, सप्ततत्व, नवपदार्थों में आत्मा ही उपादेय है। चेतन, अचेतन मिश्रित पदार्थों में केवल पवित्र आत्मा ही उत्तम स्वपदार्थ है। (आप्त, आगम और गुरुओं की उपासना करने से शरीर सुख अर्थात् इन्द्र अहमिन्द्रादि देवों का शरीर प्राप्त होता है।)

ध्यान के अभ्यास के समय पर वस्तुओं के अवलम्बन से काम लेना चाहिये, परन्तु जो पर वस्तु में ही रत हैं वे पर समयी हैं। पर वस्तु के अवलम्ब से बंध और अपनी आत्मा के अवलम्ब से मोक्ष है।

यही इसका गूढ़ रहस्य है। आत्मानुभव के बढ़ने से आत्मा आत्मा में ही मग्न हो जाती है। उसी समय कर्मों की निर्जरा होती है और शरीर आत्मा से भिन्न हो जाता है। अतएव हे भव्यो! सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ग्रहण करो यही मोक्ष मार्ग है।

विज्ञान के दो भेद हैं—प्रथम बाह्य विज्ञान और दूसरा अन्तरङ्ग विज्ञान। बाह्य पदार्थों को जानना बाह्य विज्ञान तथा अन्तरङ्ग अर्थात् निज स्वरूप को जानना अन्तरङ्ग विज्ञान है। जैसे संसार में रत्न परीक्षा हस्ती तुरङ्गादि की परीक्षा करना या इस कला को सीखना इत्यादि यह सब बाह्य विज्ञान है। आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) स्वरूप है। इन दुर्लभ रत्नों की परीक्षा कर पहिचानना धारण करना अत्यन्त कठिन है। येही अन्तरङ्ग विज्ञान है। आत्मा का इससे ही कल्याण होता है। कामशास्त्र, आयुर्वेद, मंत्रतन्त्र, गणित, संगीत, साइन्स, ज्योतिष आदि सब बाह्य विज्ञान हैं क्योंकि इनके ज्ञान से मनुष्यों के शरीर, इच्छाओं और विनोद का पोषण करने का उपाय ज्ञात होता है।

आत्मा का स्वभाव निर्मल है। उसमें तथा उसके निर्मल गुणों में कोई भिन्नता नहीं है, अतएव उसी का विचार या मनन करना अन्तरङ्ग विज्ञान है यही ग्राह्य है। छन्द, अलंकार, नाटक, पूजापाठ आदि बाह्य ज्ञान के साधक हैं। इनसे अल्प समय के लिये मनोरंजन होता है और आत्मा अपनी यथार्थता को भूल जाता है। इन सब विकल्पों को छोड़कर आत्मतत्व का ही स्मरण करना अन्तरङ्ग विज्ञान है इस प्रकार लोक में और भी जितनी कलाएँ हैं जो कि आत्मपोषण में सहकारी न होकर शरीर पोषण में निमित्त हैं तथा भौतिक उन्नति के साधक हैं। ये सब बाह्य विज्ञान हैं।

इस जीव ने अनेक भावों में अनेक बार बाह्य विज्ञान प्राप्त किया और खोया परन्तु अन्तरङ्ग विज्ञान की प्राप्ति कभी नहीं हुई। यह सामान्य ज्ञान नहीं है। इसकी समानता कल्पवृक्ष, कामधेनु,

चिन्तामणिरत्न, नौनिधि, चौदह रत्न, पारस पाषाण, कल्प वेली आदि नहीं कर सकती। जिन भव्यजीवों को यह अलौकिक अनुपम विज्ञान प्राप्त हो जाता है; उनके विषय में तो कहना ही क्या है ? अभी इस भूमण्डल के सम्राट हैं तो कल स्वर्ग में इन्द्र होंगे फिर मुक्ति साम्राज्य के अधिपति होंगे।

वह आत्म–ज्ञानी इतना सम्पत्ति वैभव होने पर भी मदोन्मत्त नहीं होता। वह मेरु पर्वत के समान अचल, गंभीर एवम् सन्तुष्ट रहता है। वह इन्द्रिय जनित सुख आसक्त नहीं होता है। उसकी दृष्टि में देवेन्द्र की विपुल सम्पत्ति भी तुच्छ है। वह सदैव विषयों से विरक्त रहता है। योगीन्द्र वृत्ति की तरफ झुका रहता है। वह आत्मदर्शी सांसारिक अनेक सुखों के बीच रहकर भी आत्मानुभव रूपी अमृत के स्वाद से सदैव अपने को अत्यन्त सुखी मानता है। बार बार आत्म चिन्तवन करने से उसके कर्मों की सदैव निर्जरा होती रहती है। उसका यह दृढ़ निश्चय रहता है कि मैं किसी भी तरह इन दुष्ट कर्मों को आत्मा से दूर कर अवश्य मुक्ति लाभ करूँगा। सच बात तो यह है कि जो व्यक्ति बार बार शरीर और आत्मा की भिन्नता का अनुभव करता हुआ, स्व–स्वरूप को भोगता है उसे कर्म बन्ध नहीं होता। वह तो भोगी होते हुए भी पदार्थ में योगी है। जंग लोहे में ही लगती है, स्वर्ण में नहीं लगता। इसी भांति अज्ञानी जीवों को भोग भोगते समय कर्म वन्ध होता है, पर विज्ञानी जीवों को भोग भोगते हुये भी कर्म बन्ध नहीं होता, अपितु निर्जरा ही होती है।

भोगी दो तरह के होते हैं। पहला सकाम भोगी दूसरा निष्काम भोगी। सकाम भोगी कर्मों से बन्द होता रहता है, परन्तु निष्काम भोगी कर्म से नहीं बंधता। जैसे—दग्ध बीज अङ्कुरोत्पत्ति करने में सर्वथा असमर्थ होता है क्योंकि उसकी वह शक्ति नष्ट हो चुकी है। इसी प्रकार जब निष्काम भोगी ने कर्म रूपी बीजों के राग रूपी अंकुर प्रथम ही नष्ट कर दिए तब उसकी उत्पत्ति कैसे होगी ? विकार

मय संसार में रहते हुये भी उस पर विकारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे—गरुड़ को नाग लोक में वास करने पर सर्पों की बाधा नहीं होती है अथवा जैसे—गारुड़ी मंत्र सिद्ध किए जीव का विष कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता संसार के जीवों को इन्द्रिय-जनित सुख अत्यन्त दुख देता है। वह विज्ञानी जनों का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता योगीजन बाह्य परिग्रह का त्याग कर अन्तरङ्ग में निर्मल आत्मा का दर्शन करते हैं परन्तु सम्यक्दृष्टि अतुल ऐश्वर्य रखते हुए भी अकिञ्चन तुल्य निर्मोही होकर सदैव आत्मानुभव में रत रहते हैं। जैसे-नर्तकी सिर पर कलश रख जब नृत्य करती है और गायन वादन के ताल, स्वर आदि को भंग न होने देने के हेतु हाथ, पैर आदि के संचालन की विविध चेष्टायें करती है, परन्तु उसका मुख्य लक्ष्य कलश पर ही रहता है कि कलश नीचे न गिर पड़े। ऐसे ही दुग्धारी की छटा—दृष्टि सदैव निजत्व में ही रहती है। जैसे पतंग आकाश में चाहे जिस तरफ मुड़ती रहती है परन्तु बालक डोर (धागा) अपने हाथ में रखता है। इसी भांति सम्यक् दृष्टि की आत्मा विचलित नहीं होने पाती। अथवा घटी—यन्त्र जल में तैर रहा है और पण्डित दूसरों से वार्तालाप कर रहा है परन्तु उसका मन उसी घटी—यन्त्र की ओर है कि वह पानी में डूब न जाय। ऐसे ही आत्म विज्ञानी समस्त व्यवहार कार्य करता है परन्तु अपने मुख्य लक्ष्य से च्युत नहीं होता। अपनी आत्मा में स्थिर रहता है।

यदि कोई मनुष्य मन्दिर में प्रवेश कर श्री जिनेन्द्रदेव का अवलोकन न कर केवल दीवालों पर बने चित्र या अन्य कारीगरी, चंवर, छत्र, कलश, सिंहासन आदि को ही देखता रहे तो वह मूर्खों में शिरोमणि समझा जायगा। ऐसे ही यदि कोई अपने भीतर आत्मा को न देख जानकर अपने ही शरीर को आत्मा समझे और अपनी प्रशंसा करे तो वह मूर्ख ही है। आत्म अनुभूति वैं फिर भी इसे कोमल प्रीति कहा जाता है ऐसा कहना-समझना ठीक नहीं है। कल्प—वृक्ष, चिन्ता-मणि रत्न या काम धेनु से आत्मा

की समानता करना योग्य नहीं, क्योंकि वे तो क्रमशः जड़, पाषाण और

की समानता करना योग्य नहीं, क्योंकि ये तो क्रमशः जड़, पाषाण और तिर्यंच हैं। आत्मा अनुपमेय है। विश्व में उसकी तुलना करने वाला कोई पदार्थ नहीं है। ऐसे ही ज्ञान को सूर्य या दर्पण की उपमा देना भी ठीक नहीं है क्योंकि सूर्य से तो अन्धकार का नाश होता है अज्ञान का नहीं। दर्पण में पदार्थ का जैसा प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसा प्रतिबिम्ब ज्ञान में नहीं पड़ता। अतएव ज्ञान अथवा आत्मा का अनुपम स्वरूप है।

हे सुरेन्द्र ! यह शरीर ही जिनेन्द्र मन्दिर है मन रूपी सिंहासन पर निर्मल आत्मा–रूपी जिनेन्द्र भगवान विराजमान हैं। यदि समस्त वाह्य विकल्पों को छोड़ नेत्रों को वन्द कर, मन को दवा और श्वासोच्छ्वास को अत्यन्त मन्द करके देखो तो जिन देव अपने ही भीतर दर्शन देते हैं। विवेकी मनुष्य मन स्थिर कर उसकी एकाग्रता को आत्म-स्वरूप की ओर लगता है। वह विचारता है कि ज्ञान, दर्शन ही मेरा निज स्वरूप है। जब शरीर के भीतर ऐसी बार-बार चिंतना होती है, तब आत्माका दर्शन होता है। जैसे विद्यार्थी भूला हुआ पाठ अध्यापक के पूछे जाने पर दत्त–चित्त होकर विचार करता है। ऐसे ही शरीर के भीतर चित्त को लगाने से आत्म-स्वरूप का दर्शन हो जाता है। जिस प्रकार छाया मूर्ति का रूप है, उसी तरह आत्मा का भी निज रूप है। ऐसा स्मरण करते हुये; नेत्र वन्द कर आत्मा को देखे तो अवश्य आत्म–दर्शन होगा।

प्राभृत शास्त्रों का भले प्रकार अध्ययन–मनन कर शरीरस्थ वायु को भृत्य के सदृश वश में कर एकाग्र चित्त में त्रिलोकी नाथ का स्मरण करने से आत्म–दर्शन हो जाता। यदि कोई प्रयत्न करके एक ही दिन में सहसा आत्म-दर्शन करना चाहते तो नहीं कर सकता। जब आत्मा से जटिल कर्म दूर हो जाते हैं तब आत्मा प्रत्यक्ष हो जाता है। आत्मा बिजली की मूर्ति, चांदनी में सना चित्राम या प्रकाश-पुञ्ज

का पुतला नहीं जो इस प्रकार विचार करने पर छिन्न जाय। आत्मानुभवी ही उसका अनुभव कर सकता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं ज्योतिर्लोक में शीतल ज्योति के बीच खड़ा हूँ। इस प्रकार के अभ्यास से वह अपने को तनुवात वलय में रहने वाले सिद्ध परमेष्ठी के समान अनुभव करने लगता है।

शरीर, मन तथा इन्द्रिय रहित आत्मा अनन्त सुख केवलदर्शन, केवलज्ञान और अनन्त वीर्य स्वरूप आत्मा शरीर में विद्यमान है। जब वह अपने स्वरूप का विचार करता है तब भवान्तरों के बँधे कर्म अपने आप भाग जाते हैं। उस समय ऐसा सुख प्राप्त होता है जो कभी अनुभव नहीं किया था। आत्मा जिस देह को धारण करता है, उसमें सर्वाङ्ग व्याप्त हो जाता है। वह सु-ज्ञान, सु-दर्शन, सुख और शक्ति से युक्त है। निराकार होने पर भी साकार शरीर में प्रविष्ट है। यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं है। ये सब संकेत शरीर की अपेक्षा हैं। आत्मा गृहस्थ, योगी, त्यागी, भोगी, श्रमण, सन्यासी, पुरुष, स्त्री, नपुन्सक इत्यादि रूप नहीं है ये सब संज्ञायें कर्मों की अपेक्षा हैं। वह मीमांसक, सांख्य, नैयायिक, सनातन और बौद्ध भी नहीं। ये सब मायाचारके खेल हैं। वह तो शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरञ्जन, जिन, शिव, शङ्कर, सिद्ध और शुद्धभाव से सहजगोचर है। वह तो वीतराग, ज्ञान और ज्योति स्वरूप है। मन-वचन-काय के अगोचर आत्मा जन्म, जरा, मरण से रहित, शरीर से मिश्रित न होकर शरीर में ही निवास करती है। कर्म-संधान रहने पर भी अत्यन्त विमल है। इस स्वसंवेदन-गम्य की महिमा विचित्र है ज्ञानी जन ज्ञान से इसका स्वसंवेदन करते हैं। इसका अनुभव अवक्तव्य है।

हे सुरेश! आत्मा शरीर रूपी घट में भरे हुए दूध के समान दर्शाता है। अथवा शरीर रूपी गृह में निर्मल उदय रूप सूर्य-प्रकाश के समान जान पड़ता है। दूध और सूर्य-प्रकाश तो इन्द्रियगम्य हैं परन्तु आत्मा इन्द्रिय गम्य नहीं है। स्वानुभव गम्य आत्म दर्शन लगातार अभ्यास करने से क्रम-क्रम से

साध्य होता है। एक साथ उदित अनेक सूर्य-चन्द्र के प्रकाश के समान उज्वल दर्शाता है। मन की चञ्चलता से वह प्रकाश मन्द हो जाता फिर स्थिरता आने पर उज्वल हो जाता है। कभी सर्वाङ्ग में दिखता, फिर हृदय, मुख और गर्भ में प्रकाशित होता है। तदनन्तर निराकार होकर शरीर से सर्वज्ञ प्रकाश ही प्रकाश दिखता है ध्यानावस्था में जो प्रकाश दिखता है वही रत्नत्रय है। उसी समय कर्म-पुञ्ज झड़ने लगते और आत्मा में निराकुल सुख की वृद्धि होने लगती है। उसी समय शरीर वचन रहित हो कर अकम्प, श्वासोछ्वास रहित निर्विकल्प हो जाता है और उज्वल आत्मा पुरुषाकार प्रकाशमान दिखने लगता है। किंचित् मात्र शरीर के हिलने पर तदनुरूप आत्मा भी हिल जाता है।

अभ्यास—काल में थोड़ी चञ्चलता रहती है, परन्तु दृढ़ अभ्यास होने पर गम्भीर निश्चलता आ जाती है। उस समुज्वल, कांति युक्त, निश्चल, पुरुषाकार आत्मा का कौन वर्णन कर सकता है मानो, वह प्रकाश का पुतला, प्रभा की मूर्ति, चमक का बिम्ब अथवा कान्ति का पुरुष है। उस समय ध्यानी को आश्चर्य होता है कि क्षोभ रहित पूर्ण प्रकाशवान् यह विजली की या अत्यन्त निर्मल स्फटिक मणि की प्रतिमा कहां से कैसे प्राप्त हुई ? फिर उस साँसारिक मोह और क्षोभ रहित निर्मल आत्मा ठहर जाता है। तभी उसको अनुभव होने लगता है कि समस्त जगत को प्रकाशित करने मे समर्थ यह महाप्रकाश इस छोटे से स्थान में कैसे समा गया। इसमें सम्पूर्ण आकाश प्रदेश में व्याप्त होने योग्य निर्मलता या ज्ञान है। इसके महा प्रभाव से एक समय मात्र में कर्म-रेणु झर-झर करते झड़ जाते हैं और ज्ञान—कला धग-धग करती प्रकाशित हो उठती है। यह सब ध्यानी के ही अनुभव गम्य है।

जिस भांति ग्रीष्मकाल की अत्यन्त तप्त धूप से चारों ओर का वर्फ पिगल-पिगल कर बहने लगता है, उसी भाँति निर्मल आत्मप्रकाश से तैजस और कार्माण शरीर पिघल कर पृथक होने लगते

है। जब आत्मा ध्यान केवल से स्वयं अपने आप को देखने लगता है तब शरीर भी मिट जाता है। यही मुक्ति है। जो स्व-स्वरूपी है। त्रैलोक्य की त्रैकालिक वस्तु-पर्यायों को एक ही समय में देखने जानने वाला यही आत्मा है। गुरुदेव तो केवल मुक्ति-मार्ग को बतला सकते हैं। कर्मों का नाश तो स्वयं आत्मा से ही करना पड़ता है। अतएव आत्मानुभव करने में स्वयं प्रयत्न-पुरुषार्थ करना चाहिये।

अर्हन्त-दर्शन तो अपने शरीर के ही भीतर है। जो जीव अपनी आत्मा को ही परमात्मा समझ बन्दना करने का श्रद्धान करते हैं वे ही सम्यग्दृष्टि हैं।

इस बात को समस्त भव्य गण स्वीकार करते हैं कि आज तक जो अनन्त सिद्ध हुए हैं, वे सब अपनी आत्म-साधना से कर्मों का क्षय कर मोक्ष गये हैं। आत्मानुभव विवेकियों को ही हो सकता है अन्य को नहीं। जब किसी से आत्मा में स्थिर होने कहा जाता है, तब वह कोई न कोई बहाना कर बात को टाल देता है तथा कहता है कि ध्यान के लिये घोर तपश्चरण एवम् अनेक शास्त्रों के ज्ञान की आवश्यकता है एक तो स्वयं आत्मा को देखना नहीं जानते, तथा जो आत्मानुभवी हैं उन्हें देखकर सन्तुष्ट नहीं होते। ऐसे अनेक बहाने कर ध्यान का अपलाप करते हैं। यद्यपि आप तप तथा अनेक शास्त्रों का पठन भी करते हैं तथापि ध्यान से रहित रहते हैं कभी सन्तुष्ट नहीं होते।

हे देवेन्द्र! यह आत्मज्ञान आसन्नभव्य गृहस्थों, योगियों, आर्यिकाओं और गृहणियों को हो सकता है। उत्कृष्ट धर्म-ध्यान सभी को हो सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। ध्यान के स्वरूप को भली प्रकार समझ कर चिन्तवन करना धर्म-ध्यान है तथा स्वयं आत्मा को आत्मा से अवलोकन कर चिन्तवन करे, अपने अन्तरङ्ग को जाने कर्म-समूह का विध्वंस करे यही निश्चय धर्म-ध्यान है। इसके चार भेद हैं यथा—आज्ञाविचय, विपाकविचय, अपायविचय और संस्थान विचय।

निश्चय धर्म-ध्यान परम ध्यानी के ही होता है। वह भव भ्रमण से छूट, मुक्ति-स्थान में स्व

निश्चय धर्म-ध्यान परम ध्यानी के ही होता है। वह भव भ्रमण से छूट, मुक्ति-स्थान में स्वयं सिद्ध हो निकल परमात्मा हो जाता है और अनन्तकाल पर्यन्त परमानन्द-पीयूष पान कर मग्न रहता है। ज्ञानी को कर्म-क्षय करने में कोई विलम्ब नहीं लगता। यही अवस्था मेरी है। श्रेणी-आरोहण के लिये अन्तमुहूर्त काल शेष रहे तब भी दीक्षा लेते और तत्काल केवलज्ञान प्राप्त कर परमब्रह्म हो जाते हैं। विशेष क्या? यह आत्मा ही परमब्रह्म, सम्पूर्ण परमागम का सार तथा दिव्य तीर्थ है। इसलिये हे सुरेन्द्र! चिदानन्द, चैतन्य, चिन्मूर्ति, चिद्रूप परमात्मा में मग्न होकर अपने अनन्त सुख का अनुभव करो। जो परमौदारिक शरीर धारी आत्मा स्थित है, सदैव शुद्धात्मा को देखता है वह केवलज्ञानी सकल परमात्मा है। आत्मा का श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन, उसको उसी रूप जानना निश्चय सम्यक्ज्ञान और उसी में स्थिर हो जाना निश्चय सम्यक्चारित्र है। यही प्रशस्त मोक्षमार्ग है। इस प्रकार सर्वज्ञ भरत जिनेन्द्र ने देवेन्द्र के समक्ष सारभूत आत्मतत्व का प्रतिपादन किया।

तीसरा परिच्छेद

दोहा—वीतराग के वर-वचन, परम शान्ति रस पान।
पीवे प्रेम बढ़ाय के, पावे केवल ज्ञान॥

जिन प्राणियों का चित्त कषाय के पुत्र राग द्वेषादि आताप से तप्तायमान है। जिनका आत्मा इन्द्रिय-विषय रूपी रोगों से घिरा हुआ है, मन इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग से मूर्छित है तथा जिनका

शरीर पूर्ण परिश्रम से खेदखिन्न हो रहा है, उन समस्त प्राणियों को उत्तम सम्यग्दर्शन, हितकारी ज्ञान, परम पवित्र चारित्र (आचरण) अद्भुत और उत्तम रामबाण महौषधि हैं।

इस जीव के जब तक रत्नत्रय की पूर्णता नहीं होती, तबतक ही निरन्तर कर्मबन्ध होता रहता है। इसमें रत्नत्रय का कोई दोष नहीं है, बल्कि रत्नत्रय भाव का विरोधी जो रागांश है, वही बन्ध का कारण है। इस आत्मा में जितने अंश में सम्यग्दर्शन है उतने अंश तक बन्ध नहीं होता। आत्मा को ज्ञातादृष्टा समझने से ही सम्यग्दर्शन होता है। देखो महामण्डलेश्वर राजा श्रेणिक अव्रती थे। त्याग भी नहीं था, परन्तु सम्यग्दर्शन के प्रताप से तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया। वे भविष्य-कालीन चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर-पद प्राप्त करेंगे। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का निजगुण है। पुण्य पाप से रहित है। जिस प्रकार शुद्ध-स्वर्ण कीट-कालिमा रहित है उसी प्रकार आत्मा राग, द्वेष और मोहादि से रहित है। जो राग, द्वेष, मोहरूप आत्मा की परिणति हो रही है वह उसका स्वभाव नहीं है। वे तो उससे पृथक हो जाते हैं, जैसे गन्ने में रस और छिलका पृथक है, अथवा तिल में तेल तथा खली का भाग पृथक है।

शरीर तो गन्ने के छिलके के समान है उसके भीतर चैतन्य-रस पृथक है। यदि यह जीव क्षणमात्र को भी ऐसा विचार करे तो भवसागर से तर जावे। सम्यग्दृष्टि जीव राग-द्वेष को अपना स्वरूप नहीं मानता। वह तो नरक में निवास करते हुये भी आत्मा को शरीर पृथक, पुण्य-पाप से परे, राग रहित ज्ञानानन्द स्वरूप समझता है। अनन्त काल व्यतीत हो गया परन्तु इस जीव ने एक क्षण-मात्र को भी चौथे गुणस्थान प्राप्त नहीं किया। सदैव चतुर्गति स्वरूप संसार में जन्म-मरण करता रहा। अनन्त काल में महा दुर्लभ यह मनुष्य भव मिला है। यदि एक क्षण मात्र भी आत्म-दर्शन कर उसको आप समझे तो भव-सागर से पार हो जावे, क्योंकि आत्म-ज्ञान से ही मुक्ति होती है।

ज्ञान स्वरूपी आत्मा मन के अगोचर है। उस चैतन्य के साथ राग-द्वेषादि की परिणति नहीं है। आत्मा के आश्रय से ही आत्मा का ज्ञान होता है। जैसे विष-पान करने से कभी अमृत की डकार नहीं आ सकती, वैसे ही पुण्य-पाप के विकार से आत्मा प्रकट नहीं होने पाती है जब मन का अवलम्बन छोड़ ज्ञान स्वभाव आत्मा को देखे जाने तब कल्याण होता है। जैसे-बालक मिष्ठान्न के टुकड़े के बदले में सोने का कंकण दे देता है, वैसे ही अज्ञानी जीव पुण्य के मधुर मिठास में आत्म तत्व को भूल जाता है। प्रत्येक जीव मे परिपूर्ण ज्ञान शक्ति भरी है। उसे जानकर उसमें एकाग्र होने पर निज स्वरूप में केवल-ज्ञान प्रकट हो जाता है। जो पुरुष अन्तरंग स्वभाव का विश्वास करके उसमें एकाग्र होता है, वह भले ही आठ वर्ष का बालक हो उसे ज्ञान प्रकट हो जाता है। राग-द्वेष से रहित होकर निज स्वरूप में सम्पूर्ण रूप से जागृत रहना मोक्ष प्राप्ति का उपाय है। स्वाश्रय स्वभाव से अभेद होना ही सम्यक्चारित्र है।

यदि जीव अपने उपयोग को आत्म स्वरूप से बाहर घुमावे तो शुद्ध आत्मा का अनुभव चला जाता है जैसे बड़े शहरों में जेब के कटने से रुपया, नोट आदि चोरी चले जाते हैं। घूमने वाले को सदा जागृत रहना पड़ता है। इस लिये जीव को रागद्वेष दूर कर स्व-स्वरूप में सदैव जागृत रहना चाहिये। यह सब शुद्धोपयोग की महिमा है। सन्त-जनों को चाहिये कि शुद्धोपयोग को जागृत कर मोह का अभाव करें, ताकि श्री अर्हन्त जैसा शुद्ध आत्मानुभव हो तथा शुभोपयोग के अंश को छोड़ने के लिये तीव्र पुरुषार्थ करें, क्योंकि हमारे शुद्ध स्वभाव की पूर्ण स्थिरता को शुभोपयोग लूट लेता है। इसलिए प्रमाद, योग से दूर रह सदा अपने स्वरूप में जागृत रहना चाहिए। यही पुरुषार्थ है। जब शुद्धोपयोग प्राप्त हो जाता है तब दर्शन-मोह दूर होकर सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है।

और शुद्धात्मा की स्वानुभूति स्वरूप वीतराग चारित्र का प्रतिबन्धक रागद्वेष दूर होता है और अभेद रत्नत्रय, केवल एक शुद्ध ज्ञान-स्वभाव आत्मा प्राप्त हो जाती है। यही तो मुक्ति है। सम्यग्दर्शन के पश्चात आत्मा यदि स्वरूपानुभव मे ही अपने उपयोग को लीन करता है तो उसे पुनः पुनः रागादि नहीं होता क्योंकि वह जीव अभेद रत्नत्रय रूप परिणत हो गया है। रागद्वेष मोह रूप समस्त विकल्प दूर अभेदत्व हो गया है। यही स्वयं मे रत्नत्रय की एकता है। यही शुद्ध निजात्मा को प्राप्त कर केवलज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश मे मुक्ति पा जाता है। अनन्तकाल में निजात्मा के स्वभाव में लीनता के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्ष मार्ग नहीं है। शुद्ध स्वभावी वस्तु के आश्रय से ही मोक्ष-मार्ग है।

आत्मा 'पर' से भिन्न, ज्ञान स्वरूप और पूर्ण सुख स्वरूप है। जब आत्म-स्वरूप की ऐसी महिमा ज्ञान-गुण मे आती है तब ज्ञान-राज अपने स्वभाव मे सु-स्थिर होकर परम शान्ति-रस का पान करते हैं। यही स्वानुभव धर्म है। आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं है। यदि कोई जीव स्वलक्ष्य से सम्यग्ज्ञान प्रकट किये बिना कषाय-परिणामों को मन्द करता है; तो वह पापानुबन्धी पुण्य का ही बन्ध करता है। वह मिथ्यात्व से अनन्त संसार को ही बढ़ाता है। अतएव ज्ञानचारित्र और तप को उज्वल करने वाली सम्यक्—आराधना, प्रधान आराधना है। हे भव्यो! अनन्तानन्त दुःख-रूप अनादि संसार से निवृत्ति पाने के अर्थ* परम पवित्र कल्याण स्वरूप सम्यक् आराधना को भक्ति पूर्वक अङ्गीकार करो। यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुख का भण्डार कल्याण का बीज और अपार संसार—समुद्र पार करने के लिए श्रेष्ठ जहाज है। यह समस्त तीर्थों मे उत्तम तीर्थ है। तथा पाप—रूपी वृक्ष-जाल को काटने के लिये तीक्ष्ण कुठार है। इससे आत्मा की शुद्ध अवस्था उपलब्ध होती है। यही पुरुष मोक्ष मार्ग में गमन कर सकता है, जिसके हृदय-कमल में सम्यग्दर्शन अंकित है।

वही अलिप्त है, राग—द्वेष हर्ष—विषाद से भिन्न; भक्ति का पात्र है।

वही प्रसिद्ध है, राग—द्वेष, हर्ष—विषाद से भिन्न; मुक्ति का पात्र है। मुनि पद में सम्यग्दर्शन सहित व्यवहार रत्नत्रय से अनुराग, आत्मा के शुद्धोपयोग रूप उत्तम चारित्र को रोकने वाला है। इसलिये उस राग—रस को पृथक कर आत्मा को निज-निधि निश्चय रत्नत्रय रूप अनुभूति में तल्लीन होना चाहिये। यही मोक्ष-मार्ग है। समस्त अरिहन्त-तीर्थंकर इसी निश्चय रत्नत्रय मार्ग से मुक्त हुये हैं, हो रहे हैं और भविष्य में होंगे। किसी भी काल में मोक्ष का अन्य कोई मार्ग नहीं है। अतएव राग द्वेष मोह को मन्द कर निज शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने के लिये अपने स्वरूप की सावधानी रखना चाहिये। अन्तः करण में स्थिरतारूप सावधानी से यह जीव सम्पूर्ण शुद्ध दशा को प्रकट होने में कारण भूत 'केवलज्ञान' को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। यह सब क्षायिक सम्यग्दर्शन सहित क्षपक श्रेणी का माहात्म्य है।

यदि जीव सम्पूर्ण राग द्वेष और मोह न छोड़ सके तो सम्यग्दर्शन को अविछिन्न धारा-रूप स्थिर रख एक भव स्वर्ग—सम्पदा, सुख भोगकर पश्चात मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है। यही परम पुरुषार्थ है। जितने अरिहन्त हुये हैं और होंगे, वे सब सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्मा के द्रव्य गुण पर्याय का निर्णय कर, शुद्ध, अभेद आत्मा की प्रतीति सहित स्थिर हो मोह का क्षय कर, केवल ज्ञान प्रकट करते हैं। जगत के प्राणियों को दिव्य ध्वनि द्वारा उपदेश देकर निवृत्त होते हैं। आत्मा टंकोत्कीर्ण चैतन्य स्वभाव रूप है। यही वस्तु स्वभाव है वही स्व समय है। समय उसे कहते हैं जो जानने और बदलने की क्रिया एक साथ करे। जब आत्मा का आत्मा में सीधा अनुभव होता है तभी अपूर्व विज्ञान-ज्योति प्रकट होती है और तब ही जीव पुरुषार्थ कर सकता है। अपने को सम्पूर्ण पर पदार्थों से भिन्न जानने लगता है। मैं मन वचन काय, पुण्य-पाप रूप नहीं हूँ। सब से निराला, निर्भय शुद्ध, चैतन्य स्वरूप ज्ञायक हूँ। अन्तरंग से

यह दृढ़ता आ जाती है कि मेरा हित मुझ मे ही होगा अन्य मे नहीं । ऐसा विचारने से ही स्वभाव की स्थिरता होती तथा साम्यभाव आ जाता है । यह मर्म समझने पर भेद-विज्ञान हो जाता है । मैं राग-द्वेष पुद्गल परमाणुओं से भिन्न पूर्ण परमात्मा हूँ ऐसी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन, ऐसा ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान और ऐसे दर्शन, ज्ञान से जाने स्वरूप मे स्थिरता रूप क्रिया सम्यक् चारित्र है ।

भेद-विज्ञान स्वरूप के द्वार एक बार भी सत्य श्रद्धान करने से समस्त पर-भावों से मुक्त हो जाता है तथा स्वतन्त्र स्व समय को जान लेता है । संसार में जन्म मरण करने का अभाव कर देता है । यह जीव अनादि काल से मोह तथा अज्ञान के वश हो कदली स्तम्भ के समान असार संसार को अपना मान रहा है । निज को भूल रहा है । जिससे अनन्त संसार बढ़ रहा है । इसको रत्नत्रय के द्वारा त्यागने से सहज ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है । आत्मा अन्य द्रव्य के साथ एक क्षेत्र मे रहने पर भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता और न अन्य द्रव्य को ग्रहण करता है । इसलिये एकावतारी होने का उपाय वर्तमान काल मे भी है और वही स्वसमय है । उसे स्वयं अनुभव किये बिना कुछ भी नहीं कहा जा सकता । जैसे :-घृत की प्रशंसा सुन अथवा घृत के खाने वाले को देख घृत का स्वाद नहीं आ जाता । जब तक स्वयं घृत का स्कंध मुंह में डालकर उसके स्वाद का अनुभव न करे । ठीक इसी भांति अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप आत्मा की कथा सुनने या उस आत्मा के अनुभव करने वाले को देखने मात्र से कोई लाभ नहीं किन्तु उसको जान स्व-स्वरूप मे लीन हो स्वयं अनुभव करे तभी आनन्द, धन, निज रस के स्वाद का अनुभव प्राप्त होता है ।

यह जीव द्रव्य अरूपी, चैतन्य स्वरूप है । देखना जानना इसका लक्षण है । ऐसी जीव-राशियां अनन्त हैं । प्रत्येक जीव एक सम्पूर्ण द्रव्य है अतएव सम्पूर्ण ज्ञान उसका स्वभाव है जिसे वह प्रकट कर सकता है । ज्ञान जगत भर मे

सकता है। ज्ञान जगत भर में जितने पदार्थ हैं उन सबको एक समय में जानने की सामर्थ्य रखता है। वह ज्ञान चैतन्य, पर-पदार्थ के लक्षण से भिन्न है आत्मा का स्वभाव अरूपी तथा ज्ञान, दर्शन, सुख स्वरूप है। इस से भिन्न सब पुद्गल हैं। उनमें रूप, रस, वर्ण, गंध, स्पर्श आदि गुण हैं। अरूपी द्रव्यों में नहीं है। आत्मा के अतिरिक्त धर्म, अधर्म, काल, आकाश ये चार पदार्थ अरूपी हैं। इनमें चैतन्य गुण नहीं है तथा ये सुख-दुख का अनुभव नहीं करते। इनमें भी उनके आधार से अनन्त शक्ति है। प्रत्येक वस्तु की पृथक सत्ता है। आत्मा पुन्य-पाप से रहित स्वयं धर्म-स्वरूप है। इसलिये पुन्य से आत्मा का धर्म नहीं होता है। पाप पुन्य पर-वस्तु हैं अरूपी आत्मा के पुन्य रूपी शुभ भाव नहीं होता। राग रहित धर्म-भाव, पुन्य-पाप से भिन्न है। चैतन्य स्वभाव आत्मा में रागद्वेष रूप परिणति नहीं है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं। उनमें से किसी भी धर्म की कभी कमी नहीं होती।

प्रत्येक वस्तु पर की अपेक्षा नास्ति तथा अपनी अपेक्षा से अस्तित्व मय हैं। इस प्रकार समस्त पदार्थ पर की सहायता रहित स्वतन्त्र रूप से सदा स्थिर रहते हैं इस जीव ने कभी पुद्गलों से भिन्न आत्मा का अनुभव नहीं किया, जिससे संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अर्थात मोह से पागल हो, पंचपरावर्तन रूप चक्र में फंस, रागद्वेष रूपी दण्ड से घुमाए हुये कुम्हार के चाक सदृश भ्रमण कर रहा है। स्वात्म-लक्षण छोड़कर अपने को पुण्य-पाप रूप समस्त बाह्य पदार्थों में इष्टानिष्ट रूप प्रवृति करता रहा। विषय तृष्णारूपी दाह से पीड़ित हो काम-भोग रूपी विषयों की ओर सदैव दौड़ा। स्वलक्ष्य में स्थिर (निराकुल) परमानन्द मय निजात्म-स्वभाव को भूल गया। यह स्व स्वामित्व का उपदेश विरले ही जानते हैं। परावलम्ब रहित शुद्ध दर्शन, ज्ञान और उसमें स्थिरता रूप आत्म-भाव स्व विषय है। पुन्य-पाप की प्रवृति का भाव पर विषय है। ऐसी पर से भिन्न यथार्थ रूप वार्ता आज तक नहीं सुनी

और न ऐसे धर्मात्मा की संगति की; जिसके वचनों से आत्म-ज्ञान हो।

किसी ने कहा कि "जवाहरात का व्यापार करने से अधिक धन का लाभ होता है।" परन्तु क्या ऐसा कहने और सुनने मात्र से धन–लाभ हो जाता है? परीक्षा–बुद्धि के बिना व्यवसाय नहीं आता। ऐसे ही आत्मा के विरुद्धाविरुद्ध क्या है? बिना इस भेद विज्ञान के कोई लाभ नहीं है। विकल्पों तथा निमित्तों से शुभाशुभ रूप भावों के होने से आत्मा का अकल्याण ही होता है। शुभाशुभ तो पर-मात्र हैं इनसे आत्मा का सम्बन्ध नहीं है। ऐसी सम्यग-वार्ता का सुनना भी इस काल में अत्यन्त दुर्लभ है।

इस आत्मा ने पूर्वकाल में अनन्तबार तीर्थंकरों को देखा, परन्तु शुभ राग-विषय बनाकर पुण्य बन्ध ही किया। स्वभाव-दृष्टि से कभी नहीं देखा, इसलिये वह भी पर-विषय ही रहा। यहां अशुभ भावों से बचने हेतु देव, शास्त्र, गुरु की विनय भक्ति रूप शुभ भाव करने का निषेध नहीं है। वह शुभभाव तो पुण्य-बन्ध है परन्तु आत्म-धर्म तो इन पुण्य–पाप रूप बन्धों से भिन्न है। स्वात्म लक्ष्य के बिना सब पर–लक्ष्य ही है। इस जीव की अनादि-काल से पर के ऊपर दृष्टि रही। उसकी यही मान्यता रही कि दूसरा मेरी सदा सहायता करेगा। उसने अपने को सदैव निर्माल्य माना है। सदैव यही कहता रहा कि हे भगवान! कृपा करो। अब तो भव से तारो। यह कर्त्ता-भोक्ता का वार्तालाप सदैव सुनाई पड़ा।

यह कर्तृत्व भाव हर्ष, विषाद और सुख, दुख का अनुभव भोगत्व–भाव इत्यादि सब बन्धकथा है। यह विकारी भाव की कथा निर्विकारी, चैतन्यमूर्ति, आत्माराम के विरुद्ध है। आत्मा पर-विकारों से रहित, अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप, सर्वथा सबसे भिन्न, अनन्त गुणों का स्वामी, अविनाशी और

निष्कलंक है। इसका मुक्त स्वभाव है परन्तु इस जीव ने चतुर्गति के भवों की बात अनन्त बार सुनी, स्वयं अनुभव की है। इस प्रबल संस्कार के कारण आत्मा की बात रुचती नहीं है और मिथ्यात्वावस्था में ही पुन्य-पाप के दुभाव में घूमा करता है।

संसार चक्र परिवर्तन पांच प्रकार का है—प्रथम द्रव्य परावर्तन है अर्थात् प्रत्येक प्राणी के प्रत्येक परमाणु देह रूप संयोग रूप से आए और गए। मन, वचन, काय, कर्म वर्गणा रूप से समस्त परमाणुओं का अनन्त बार संयोग किया तथा पुन्य-पाप के संयोग से इस जीव ने अनन्त प्रकार के आकारों वाले शरीर अनन्त बार धारण किये और छोड़े; परन्तु असंयोगी आत्मा की वार्ता कभी न सुनो। दूसरा क्षेत्र परावर्तन है। समस्त लोकाकाश का ऐसा कोई क्षेत्र शेष नहा रहा जहां इस जीव ने अनन्तवार जन्म मरण न किया हो। वहां भी पुण्य-पाप रूप विकारी भाव रहे। आनन्द घन पर से भिन्न आत्मा को नहीं जाना। जिससे उनके भोग्य स्थान रूप असंख्यात क्षेत्रों में अनन्त जन्म-मरण किए। तीसरा काल परावर्तन है। बीस कोड़ा कोड़ी सागर के जितने समय हैं (लौकिक गणित के बाहर) उनको एक एक समय में परिभ्रमण करके अनन्त बार जन्म-मरण किए; परन्तु आत्मज्ञान से शून्य रहा। चौथा भव-परावर्तन किया। इसमें नारकी, तिर्यंच मनुष्य और देव के अनन्त भव धारण किये। कभी खजिया—सड़ा कुत्ता या बिल्ली हुआ, कभी राजा, मन्त्री, मण्डलेश्वर हुआ और मर कर नरक गया। वहां से निकलकर सिंह, शूकर, मगरमच्छ अथवा एकेन्द्रिय पर्याय पाई। शुभ—बन्ध के फलस्वरूप देव-पद भी पाया। परन्तु इस जीव ने निर्विकल्प, पर से पृथक्, आत्मतत्व की वार्ता कभी न सुनी। अब पाँचवां भाव परावर्तन है। इस जीव ने अनन्त बार शुभ-अशुभ भाव किए। प्रत्येक समय में विपुल सम्पत्ति दान की। कभी तीव्र कषाय वश कृष्णादि अशुभ लेश्या रूप भावों से महा पाप-बन्ध कर नरक में उत्पन्न हुआ और अपार कष्ट

भोगे, कभी शुभ लेश्या भावों से अधिक पुन्य संचय कर स्वर्ग–सम्पदा के सुख भोगे। इस प्रकार अनादि से सम्पूर्ण विश्व में परिभ्रमण किया परन्तु चेतन अचेतन का कभी भेद–ज्ञान नहीं किया। इसने अपने को अपने आप कोल्हू का वृषभ बना लिया। संसार भार का वाहक बना रहा। यदि इस जीवको सच्ची समझ आती तो तृष्णा रूपी नागिन को स्ववश कर, संसार को जलांजुलि दे अपना सुधार कर लेता। संसार का सयाना नहीं होता। निज-स्वरूप की भूल, पर वस्तु के मोह से तृष्णा ज्वाला रूपी ज्वर का विषम कष्ट भोगना ही पड़ता है।

यह आत्मा स्वयं असावधानी से मोह में मग्न हो जाता है। आत्मा के चिदानन्द स्वरूप का विचार नहीं करता। आपकी भूल आप में ही है और आपही उसे दूर कर सकता है। ये जड़ कर्म आत्मा को भूला नहीं करते। अपनी भूल की सम्हाल आप करे तो आत्मा का कल्याण स्वतन्त्रता या एकत्व प्राप्त हो जाय। आत्मा के अखण्ड चिदानन्द, ज्ञायकमात्र और ध्रुव स्वभाव के आश्रय से स्पष्ट निराला अनुभव में आता है। कारण, कार्य, फल व इसी प्रकार साधन साध्यता आत्मा में ही है। यह आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, परन्तु पराधीन-भावों के वश श्री अरिहन्त भगवान के पास से भी अनन्त बार कोरा का कोरा लौट आया। कुछ भी हित नहीं किया। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि एक बार भी बाह्य–दृष्टि के आग्रह को छोड़ सरलता संयुक्त हो ज्ञानी का महोपदेश सुने तो हृदय-कपाट खुलकर प्रकाश सम्पन्न निर्मल दशा प्राप्त हो जाय। शास्त्र–सिद्धान्त का तात्पर्य यही है।

यह उत्तम सम्यग्दृष्टि आत्मा अखण्ड स्वभाव को दृष्टि में ले, भेदों को भी स्वीकार नहीं करता। आत्म-स्वभाव अलौकिक है। उनकी परम गम्भीर महिमा में अपना लक्ष्य लगाना चाहिये। वस्तु-श्रद्धा के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नहीं हो सकता। यह आत्मा अनादि से अनभ्यासी है, इसलिये

इसे आत्म-ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है, परन्तु यह आत्मा का ही विषय है अतएव कभी न कभी समझ में आ ही जाता। जैसे:—स्थूल दृष्टि से स्वर्ण, कड़े की अवस्था में कड़े के आकार में दिखाई देता है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने से प्रतीत होता है कि स्वर्ण में रहने वाले अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु प्रति समय अपनी अवस्था बदलते रहते हैं और सोना एक रूप ध्रुव बना है।

इसी प्रकार ज्ञायकथन से आत्म-द्रव्य वर्तमान में एक रूप और पूर्ण है। यह ध्रुव स्वभाव की दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है अर्थात् वर्तमान में अखण्ड पूर्णता की दृष्टि द्रव्य-दृष्टि है। आत्मा की अभेद-गुण दृष्टि द्वारा जानने पर वर्तमान पर्याय गौण हो जाती है और भेद रूप लक्ष्य भूल जाता है। जो सम्पूर्ण द्रव्य-स्वभाव को लक्ष्य में लेता है, वही सम्यग्दृष्टि है। तात्पर्य यह है कि जब इस जीव के सर्व गुण साक्षात पूरी तरह शुद्ध हो जाते हैं तभी सम्यक् नाम पाता है। जब जीव की पुद्गल-द्रव्य रूप पर-पदार्थ पर अटकी दृष्टि हट जाती है तब उसका सम्यक् गुण जो मिथ्यात्व-रूप हो रहा था स्वभाव-रूप प्रकट हो जाता है और चेतन अचेतन द्रव्य की प्रतीति जुदी २ होने लगती है। स्व-स्वभाव का अनुभव होने लगता तथा परिणाम अपने उपयोग में ठहर जाता है। यही चैतन्य स्वरूप, अखण्डित, अनन्त-गुण पिण्ड शुद्धात्मा का अनुभव में प्रकट होना है।

जीव ऐसे अनुभव से ही स्व-स्वरूप वेत्ता होते हैं तथा उनका समस्त ज्ञान समीचीन हो जाता है। इसे ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके प्राप्त होने पर भेद-विज्ञान के अभ्यास से परम पद प्राप्त होता है। यह जीव अनादि काल से राग-द्वेष-मोह के फन्दे में फंस कर-विकार से आत्मा को मलिन कर केवलज्ञान रूप निज स्वरूप को भूल रहा है। जिसके फल स्वरूप चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण कर रहा है और कष्ट भोग रहा है। इस प्रकार अपनी भूल अपनेको ही दुखदायी हो रही है। सार यह है कि

पर-वस्तु से अपना पन त्याग दे तो स्व-स्वरूप शुद्धोपयोग को प्राप्त कर ले । यही अनुभव परम कल्याण का मूल है । अपनी चेतना द्रव्य में लीनता ही अनाकुल सुख उत्पन्न करने वाली है । आप का लक्ष्य और लक्षण का प्रकाश आप ही में प्राप्त होता है । जैसा तत्व है तैसा प्रत्यक्ष देख जाने । यह तो अपना ही स्वभाव है । अपनी भूल स्वयं सुधारने में क्या दोष ? जैसे कोई मगल विद्याधारी इन्द्रजाली अपनी विद्या से हाथ में मिट्टी अथवा कंकर को हीरा मोती आदि के रूप में दिखा देता है अथवा रस्सी को सर्पादि दिखा देता है , यद्यपि मनुष्यों को यह करामात सत्य ही दिखती है । परन्तु वह मगल विद्या सत्य नहीं है । इसी भांति पर-वस्तु को अपनी मानने की कल्पना झूठ है । अतएव शुद्ध निजानन्द स्वरूप आत्मा की पहिचान. उत्तम भेद-विज्ञानामृत पान कर, अनन्त शक्ति शाली बनो । जैसे-मन्दिर में दीपक प्रकाशमान है वैसे ज्ञान-ज्योति (आत्मा) इस शरीर में प्रकाशमान है । उसे अपने ज्ञान द्वारा शरीर से भिन्न और निर्मल उपयोग मय जाने । यदि शुद्ध निश्चय नय से विचार किया जाय तो प्रत्येक आत्मा शुद्ध निर्विकार है । वह अपने ही स्वभाव का कर्ता और अपने ही स्वाभाविक आनन्द का भोक्ता है । इस दृष्टि में न तो संसार और न मोक्ष ही है । जो देख जाने वही आत्म-तत्व है । इसलिए अनादि, अस्थिर, स्थान, पद के प्रवेश को त्याग कर, अखण्ड, अविनाशी, चैतन्य, तीन भवन में सार साक्षात मोक्ष-मार्ग स्वरूप अनुभव, कल्याण रूप अनन्त चतुष्टय युक्त, स्वसंवेदन पूर्ण अतिशय युत, सर्व स्वरसास्वाद, निर्मल अचल-ज्योति स्वरूप, समस्त तत्व प्रकटित, पंच परम गुरु पदधारी, अनन्त गुणात्मक, जिनेन्द्र मय, निर्ग्रन्थ-पद और अनुभव पन्थ तुम भी अनुभव करो । यह आत्मा-तत्व हृदय प्रकाशक और मुक्ति का साधन है, उसकी पहिचान करो । यही परम पूज्य अनुभव उत्कृष्ट धर्म, सम्पूर्ण पदार्थों का सार, चतुर्गति रूप भव से पार करने वाला है । यही आत्म-प्रबोध है । इसकी महिमा अपार है ।

करने वाला है। यही आत्म-प्रबोध है। इसकी महिमा अपार है।

हे भव्य जीवो! इस अनुभव को निरन्तर जागृत करो। जब यह जीव रत्नत्रय-स्वरूप में स्थिर हो जाता है तब आचार्य उसे स्व समय कहते हैं। इसके विपरीत जब वह पुद्गल कर्म के प्रदेशों में तिष्ठता है तब पर-समय कहलाता है। सभी जीवों को काम, भोग-विषय सम्बन्धी द्वन्द्व कथा अनुभव, परिचय में अनन्त काल से आई है जिससे वह रुचिकर और सुलभ है। पर-से भिन्न, आत्मा का एकत्व न कभी सुना न परिचय में आया और न अनुभव किया इसलिए अरुचि कर और दुर्लभ जान पड़ता है। आचार्य तो यहां तक कहते हैं कि ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन भाव व्यवहार नय से कहे जाते हैं। निश्चयनय से ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी नहीं है। वह तो एक ज्ञायकभाव ही है, इसीलिये वह शुद्ध कहा गया है। जो जीव श्रुत-ज्ञान पूर्वक निश्चयनय के अनुभव से एक शुद्ध आत्मा-जानता है, उसे श्रुत केवली कहते हैं।

जो जीव शुद्ध—नय के आश्रित रहते हैं वे निश्चय पूर्वक सम्यग्दृष्टि हैं। निश्चय नय की अपेक्षा से जाने हुए जीवादि समस्त पदार्थों से समत्व बुद्धि हटा, एक अपने शुद्ध जीव को उपादेय मानना निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। जब निश्चयनय से आत्मा को पर के स्पर्श रहित, चलाचल रहित, विशेषरहित, पर संयोग रहित और बन्ध रहित कहा जाता है तब शुद्ध नय कहलाता है। व्यवहार नय से जीवादि तत्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। निश्चयनय से तो अपना आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। पर-द्रव्य में प्रीति करने से संसार बढ़ता है। यह शुद्ध आत्मा ही "मैं" हूं ऐसा जान, पर द्रव्य से विरक्त हो 'स्व' द्रव्य से ही प्रेम करो।

जो जीव पर-द्रव्य से मोह हटा, इन्द्रियों के विषयों को जीत, राग-द्वेष-परणति को त्याग,

ही मोक्ष का मूल कारण है। योगी अशुद्ध चेतना के अनुभव से हट (राग, द्वेष, मोह को त्याग) शुद्ध चेतना का अनुभव करता हुआ, जितने अंश वीतरागता बढ़ाता है उतने अंश मोक्षमार्ग का प्रकाश फैलाता है। यही वीतरागता बढ़ती-बढ़ती मोक्ष-मार्ग की पूर्णता कर देती है। समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं और वह जैसा का तैसा निजात्म स्वरूप में लीन हो जाता है। योगी की यही अवस्था मोक्ष है।

स्वर्ण अग्नि के ताव से मल रहित होकर उज्वल और शुद्ध हो जाता है। ताव देने से स्वर्ण की शुद्धता अंशों में प्रकट होती है परन्तु जब पौ ताव दिये जाते हैं तब स्वर्ण पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाता है और वही स्वर्ण शुद्ध और उत्तम कहलाता है। इसी प्रकार वीतराग भाव रूपी आंच की पूर्णता से यह आत्मा रूपी स्वर्ण निर्मल होकर एकमात्र शुद्ध सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है। यही वीतराग भावों की पूर्णता मोक्ष-मार्ग की पूर्णता है। यही आत्म बोध का झलकाव है। शुद्ध आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान और निज शुद्धता में स्थित होना सम्यक्चारित्र है। रत्नत्रय सहित निजात्मा का अनुभव ही मोक्ष का उपाय है यही परमोत्तम पवित्र तीर्थ है।

जब यह आत्मा परम समाधि रूप मानसरोवर में प्रवेश कर संसार-रूपी कर्म-मल को धो डालता है तब आत्मा परम शुद्ध (निर्मल) हो अनुभव में आती है। यही अरहन्त भगवान ने कहा है। सिद्धान्त शास्त्रों का सार यही है कि जब यह आत्मा पर-भावों का त्याग अपनी आत्मा से आत्मा का अनुभव करता है, तब केवल ज्ञान स्वरूप आत्मा का दर्शन कर लेता है और संसार सागर से पार हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव भेद विज्ञान बल से अपने आत्मस्वरूप को समस्त द्रव्य-कर्म नो कर्म और भाव कर्मों से भिन्न, आत्मा की प्रतीति कर एक निज स्वरूप को ग्रहण कर लेता है। तभी वह संसार रूपी वास को जलांजलि देकर मोक्ष-धरा में पहुँच जाता है और वहां अनन्त काल

पर्यन्त निराकुल सुख में मग्न रहता है। इस प्रकार यह तृतीय परिच्छेद समाप्त हुआ।

चौथा परिच्छेद

दोहा—आतम लीन, अनन्त गुण, शोभित आतम राम।
दश-लक्षण धारें सदा, शाश्वत नवाय प्रणाम॥

आत्म के कल्याण कारी दश धर्म निज स्वभाव हैं। (१) उत्तम क्षमा (२) उत्तम मार्दव (३) उत्तम आर्जव (४) उत्तम शौच (५) उत्तम सत्य (६) उत्तम संयम (७) उत्तम तप (८) उत्तम त्याग (९) उत्तम आकिंचन (१) उत्तम ब्रह्मचर्य ये आत्मा के निज गुण प्रकट होने पर राग-द्वेष मोहादिक कषायों का निग्रह हो जाता है। आत्मा में संवर प्राप्त होता है। तत्व-ज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट या अनिष्ट रूप प्रदर्शित नहीं होता। यही आत्म-धर्म है। इसके प्रकट होने पर राग-द्वेष, निन्दा स्तुति, गाली, हास्य, रति-अरति, आदर-अनादर, मार-पीट, शरीर घात, प्राण-हरण, आदि प्रसङ्ग उपस्थित होने पर जिन भावों मे मलिनता नहीं होती। ऐसे प्रसंगों पर भावों को मलिन न होने देना उन्हें निर्मल बनाये रखना यही उत्तम क्षमा-धर्म है।

इस उत्तम क्षमा को प्रकट करने के लिये प्रथम उपयोग स्वरूप आत्मा को राग-द्वेष, मोहादि भावों से भिन्न कर, चैतन्य स्वरूप स्वात्मा की रुचि उत्पन्न करे। फिर शुभाशुभ भावों की रुचि हटा, वीतराग-भावों की परणति प्राप्त कर, सम्यग्दर्शनादि गुणों में युक्त हो कल्प वृक्ष के समान श्रेष्ठ उत्तम क्षमा को धारण करना चाहिये। यही निवृत्ति-मार्ग है। प्रवृत्ति मार्ग से सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय गुणों

भाव से अपने स्वभाव में स्थिर रहता हूं, मुझ में पूर्ण ज्ञायकत्व है। इत्यादि भावनाओं संयुक्त चारों आराधनाओंको स्थिर रखना उत्तम क्षमा-धर्म है।

अब दूसरा धर्म उत्तम मार्दव है उसका वर्णन करते हैं। सम्यग्ज्ञान सहित निरभिमानता ही उत्तम मार्दव धर्म है। जो जीव सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान रूपी दृष्टि से समस्त संसार को स्वप्न, इन्द्रजाल, इन्द्र धनुष अथवा चंचल दामिनी सदृश विनश्वर देखता है, वही उत्तम मार्दव धारी। यथार्थ में दश धर्म रत्नत्रय के ही भेद हैं। उन्हे सु—गुरु ही उत्तम रीति से पालते हैं। आत्मा मन—वचन—काय की क्रिया नहीं करता वह समस्त क्रिया—काण्ड-विडम्बना से सर्वथा भिन्न है। चैतन्य स्वरूप समस्त विकल्प—जालों से रहित एक रूप या शुद्ध है। योगी जन प्रतीति के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के प्रकट करने के पश्चात् निज-स्वरूप में विशेष स्थिरता प्राप्त कर सम्यक्चारित्र पद प्राप्त कर लेते हैं। इसके फल स्वरूप वे कुल, जाति, रूप, तप, बल, विद्या और प्रभुता आदि के मदावेश से उत्पन्न होने वाले अभिमान (घमंड) का अभाव कर देते हैं। वे समस्त बन्ध—भावों को निजात्मा से पृथक जानते हैं। ऐसी रुचि में बन्ध का आधार नहीं रहता है। एक मात्र आत्मा का ही आधार रहता है। इस भाव से आत्मा में अनन्त वीर्य प्रकट हो जाता है। जो धीर-वीरता, ऐश्वर्यता, आज्ञा-प्रधानी, दानावन्त-पन, दानी, नन्दन, शीलवान पन, जगतमान्यता, कुल-रूप, जाति, विद्या, महत्तपन और जप तपादि का घमन्ड करता है, वह सम्पूर्ण गुणों को जलांजुली देकर निगोद- राशि (एक श्वास में अठारह बार जन्म—मरण) के अनन्त दुःखों को अनन्त काल पर्यन्त भोगता है। ये आठ मद जीवों को ऐसे ही दुखद स्थान में पटक देते हैं, अतएव इन मदों को दूर कर अपने स्वरूप में लीन रहो। शरीर अस्थाई है परन्तु आत्मा अखण्ड, नित्य, ध्रुव और एक रूप है। उसमें पर-द्रव्य का परमाणु मात्र भी नहीं है।

आत्म अन्तरङ्ग में मनन करने योग्य है। वह हिलना, चलना, रोना, हंसना, खाना, पीना, सोना आदि क्रियाएं नहीं करता। ये सब क्रियाएं तो पुद्गलों के खेल हैं। ऐसी जागृति में वीतराग भाव प्रकट होने पर इन मदों के विकल्प उत्पन्न नहीं होते। यही उत्तम मार्दव धर्म है। जहां राग है वहां धर्म नहीं है। मुनियों को लेशमात्र भी मान नहीं होता। वे तो निजात्मा को मानादिक कषायों से रहित, श्रद्धा और ज्ञान की दृढ़ता ही प्राप्त होती है। ऐसे ज्ञान-स्वभाव के अवलम्ब से वीतराग भाव प्रकट होने पर उन्हें अहङ्कार ममकार का अवसर ही नहीं है। ऐसे मुनियों को ही उत्तम-मार्दव धर्म की उपलब्धि होती है। जैसे किसी सुन्दर भवन में उत्तम २ पदार्थ और विपुल सम्पत्ति रक्खी है और किसी कारण उस भवन में अग्नि लग जाय, तो उस भवन का स्वामी उन उत्तम पदार्थों और विपुल सम्पत्ति को जलते हुये भवन से बाहर निकाल देता है। इसी प्रकार शरीर रूपी भवन में क्रुद्धता रूपी अग्नि के लगने से ज्ञानी जीव राग—द्वेष, मोह और अष्ट मदों को अन्तरङ्ग से निकाल देता है। वह आत्मज्ञान रूपी उज्ज्वल प्रतिबिम्ब के द्वारा शरीर की अनित्यता का चिन्तवन करके शरीर एवं संसार के समस्त पदार्थों में गर्व करना त्याग देता है। वह गर्व को आत्म-स्वभाव का प्रतिपक्षी समझता है और नम्र होकर निरन्तर स्वभावो-मुखता द्वारा पूर्ण केवल ज्ञान प्रकट कर लेता है। यही उत्तम मार्दव धर्म है। उत्तम जनों को निरन्तर ज्ञायक स्वरूप निर्मल स्वभाव का ध्यानाध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार हृदय में उत्तम मार्दव धर्म धारण कर आत्म कल्याण कर लेना चाहिये। अब तीसरा आर्जव—धर्म का स्वरूप लिखते हैं।

सम्यग्दर्शन सहित, वक्रता (कुटिलता) रहित (मन-वचन काय की क्रिया में) सरलता धारण करना। निर्मल उत्तम क्षमा युक्त भाव स्थिर रखना उत्तम आर्जव धर्म है। इसमें आत्मा के ज्ञान-स्वरूप

में छल-कपट के भाव ही नहीं होते। मायाचार का सर्वथा अभाव रहता है। आत्म स्वभाव की श्रद्धा में वक्रता नहीं करना, सम्यक्दर्शन रूप सरलता है। जो बात मन में उत्पन्न हो उसे उसी रूप में वचन द्वारा प्रकट करना तथा तदनुरूप शरीर से आचरण करना, यही मन वचन काय की एकता सरलता उत्तम आर्जव धर्म कहलाती है। आत्म स्वभाव को विपरीत मानना ही वक्रता है। वक्रता का अभाव ही सरलता का सद्भाव है। आत्म की श्रद्धा, मतिज्ञान में गर्भित रखना आर्जव-धर्म कहा जाता है।

गृहस्थ वीतरागी साधु के समागम से सरलता प्रकट कर सकता है; क्योंकि वे साधु सरलता सहित होते हैं। आर्जव धर्म आत्मा का निज गुण है अतएव आत्मा और आर्जव धर्म किंचित भिन्न नहीं है। यदि जीव इस भेद विज्ञान सहित निज स्वभावोन्मुख हो तो स्व—भाव के आश्रय से सम्यक मति, श्रुत ज्ञान प्रकट कर अल्प काल में भव का अन्त कर देता। यदि स्वभाव से च्युत हो, 'पर' लक्ष्य से कार्य करे तो उसका समस्त ज्ञान मिथ्याज्ञान है। 'स्व' लक्ष्य युक्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। हे भव्य जीवो! तुम भक्ति पूर्वक सम्यक्दर्शन सहित उत्तम आर्जव धर्म को अङ्गीकार करो। वह अनन्तानन्त दुख रूप अनादि संसार से निवृत्ति का हेतु है। यह सर्व कल्याण का बीज, संसार सागर से पार होने के लिये एक श्रेष्ठ जहाज है पाप-वृक्ष को काटने के लिये तीक्ष्ण कुठार, और समस्त तीर्थों में तीर्थराज है। इससे आत्मा की शुद्ध अवस्था हो जाती है। रागद्वेष रहित अरिहन्त सदृश निजात्मा का अनुभव करना, उत्तम आर्जव धर्म है। शुद्धात्मानुभूति में लीन होना ही मोक्ष मार्ग है।

मुनि अवस्था में सम्यग्दर्शन सहित व्यवहार रत्नत्रय साधन का अनुराग रखता है वह शुद्धोपयोग रूप सम्यक्चारित्र को रोकने वाला है इससे संसार ही बढ़ेगा। अतएव समस्त राग-रस परित्याग आत्मा की निज निधि निश्चय रत्नत्रय रूप अनुभूति में लवलीन होना ही योग्य है। हे भव्य जनो! तुम भी मिथ्यामोह

को हटा, सम्यक् आत्म स्वरूप प्रकट करो। निज स्वरूप प्रकट करने के लिये स्वरूप की सावधानी रखना उत्तम आर्जव धर्म है, क्योंकि अन्तःकरण की स्थिरता रूप सावधानी से ही सम्पूर्ण शुद्ध पद का कारण भूत केवल ज्ञान प्रकट होता है तदनन्तर मोक्ष की सिद्धी हो जाती है। यह ज्ञायक सम्यग्दर्शन सहित क्षपक श्रेणी का माहात्म्य है, फिर क्षपक—श्रेणी पूर्ण कर दिव्य—ध्वनि से जगत के जीवों को उपदेश दे निवृत्त हो जाते हैं।

जो मनुष्य मायाचार करते हैं, उनके उत्तमोत्तम गुणों का भी लोप हो जाता है। दान, शील, पूजा, जप, तप और मासोपवास सब निष्फल हो जाते हैं। यदि मुनि लेशमात्र भी मायाचार करें, तो उसकी निर्ग्रन्थ अवस्था और महाव्रत पालन सब व्यर्थ है। जो साधु श्री गुरु के महोपकार को छिपाता है, वह तो व्यवहार-धर्म का भी लोप करता है उसमें वीतरागी सरलता तो होती ही नहीं है। अतएव माया मिथ्यात्व, निदान, राग-द्वेष और मोहादि भावों की उत्पत्ति ही नहीं होने देना चाहिये। अपितु वीतराग-भाव जागृत कर निजानन्दानुभव करना उत्तम आर्जव-धर्म है। अब चौथे सत्य धर्म का विवेचन करते हैं।

आत्मा, पुद्गल, धर्मादि द्रव्य एवम् प्रत्येक द्रव्य के अनन्त गुण सत हैं। इतना ही नहा बल्कि स्व-अवसर में होने वाले परिणाम तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक सभी सत स्वरूप हैं। ऐसा द्रव्य स्वभावोन्मुख हुआ जीव वीतरागता को ही प्रकट करता रहता है। इसमें मोक्ष-मार्ग आ जाता है यही सत्य-धर्म है। आत्म—स्वभावानुभव की एकाग्रता में सत्य बोलने का विकल्प ही न उठना यह निवृत्ति रूप निश्चय उत्तम-धर्म है। व्यवहार प्रवृत्ति से जब चित्त में विकल्प तरंगें उठें तो जिनागम के अनुसार स्व-पर हितकारी, अमृत-तुल्य, करुणापूर्ण और प्रशंसनीय वचन बोलना यही उत्तम सत्य धर्म है।

मलयागिर-चन्दन, कपूर, बर्फ, मुक्ताहार, गुलाब पुष्प, गङ्ग-जल और चन्द्रमा की किरणें ये सब शरीर का ताप दूर करती हैं, परन्तु जिनआज्ञा-प्रमाण हित-मित महा मिष्ट वचन भव-ताप को दूर करने वाले हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित जिन सिद्धान्त के अनुकूल बोलने का भाव रखना सत्यधर्म है। सम्यग्ज्ञानी मुनियों को ही केवलज्ञान द्वारा दिव्य-ध्वनि खिराने वाला उत्तम सत्य-धर्म होता अर्थात् वीतराग चारित्र से चैतन्य में उत्तम सत्य धर्म प्रकट हो जाता है। इसके प्रभाव से आत्मा में स्थिरता आ जाती है। मन के समस्त विकल्प दूर हो जाते हैं। वह मौन धारण कर लेता है। वह वचनों को पुद्गल परमाणुओं की स्वतन्त्र अवस्था जानता है। इनमें आत्मा का कर्तृत्व स्थापन नहीं करता, परन्तु जब सम्यग्ज्ञान पूर्वक वचन बोलने का भाव होता है। उस समय सत्य वचन निकलता है। ज्ञानी तो वस्तु स्वरूप को जानते और अविकल्प स्वतन्त्र स्वभाव को ही अपना रूप मान उसका पूर्ण आदर करते हैं।

वे निज स्वभाव की स्थिरता में लीन हो वीतराग भावों से समस्त प्रकार की वचन वर्गणाओं को नष्ट कर परम सत्य आत्म-स्वभाव में स्थिर रह केवलज्ञान के प्रकाश का उद्यम करते हैं। जो सत्य धर्म धारण करते हैं उनके समस्त व्रत-विधान विद्यमान रहते हैं। इस सत्य धर्म के पालन में अन्य समस्त धर्मों का समावेश हो जाता है। परमार्थ से वीतरागतामें ही समस्त धर्म आजाते हैं। आत्मा 'पर' से भिन्न है यही सत्य है। वीतराग भाव के फलस्वरूप ही मुक्ति-पद है। यदि साधक दशा में कुछ शुभ राग रह ही जाय तो उसके फलस्वरूप इन्द्रादि इव पर्याय प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि रागांश से संसार ही बढ़ता है। मुक्ति नहीं मिलती। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र सत् है समझकर सम्यक श्रद्धा-ज्ञान पूर्वक उत्तम क्षमादि रूप वीतराग धर्म का आराधन ही उत्तम सत्य धर्म है। यह आत्म सत्य द्रव्य अन्य द्रव्यों से भिन्न है।

...एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप कभी नहीं होता।

है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य-रूप कभी नहीं होता।

इस उत्तम सत्य धर्म के पालन में कैसी भी परीषह आ जाय तो भी अचल रहो। इस अचलता से ही घातिया कर्मों का नाश होकर केवल ज्ञान की प्राप्ति होगी, अनन्तर निश्चय पूर्वक मोक्ष-लाभ होगा। आत्मानुभव का ऐसा ही महात्म्य है। यह चैतन्य स्वरूप ज्ञाता दृष्टा आत्मा, स्वसंवेदन गम्य, समस्त विकल्प और नय पक्षों से रहित अपने में आप ही स्थिर है। वही तत्व वेदी है। योगी समस्त नय विकल्पों को दूर कर सदैव निजानन्द में ही रमण करता है। जैसे जल राशि नहर के द्वारा गमन कर जल राशि मे मिल जाती है, वैसे ही आत्मा विकल्प रूपी नहर—मार्ग द्वारा निज स्वभाव से च्युत हो फिर अपने स्वभाव विज्ञानघन में आकर मिल जाता है।

जिसके श्रद्धान ज्ञान में पर द्रव्य का अभाव है उसमें संसार कारण के भाव पैदा नहीं होते। जैसे जड़ से कटा हुआ वृक्ष कुछ समय तक तो हरा रहता है, परन्तु अन्त में वह सूख ही जाता है। इसी प्रकार जब राग—द्वेष मोह रहित शुद्धात्मा की प्राप्ति होने पर अन्त मे निश्चय ही मुक्ति प्राप्त होता है। अनन्त तीर्थङ्करों ने निश्चय नय के अवलम्ब से व्यवहार का निषेध कर निज स्वभाव की एकता प्राप्त की है। यही उनका सत्य धर्म हुआ है। अब पांचवें उत्तम शौच धर्म का निरूपण करते हैं :—

आत्मा के अनन्त गुणों को निर्मल करना ही उत्तम शौच धर्म है। जब अन्तरङ्ग का मिथ्यात्व, लोभ, रागादि रूपी अनल वीतराग भावों से धो डाला जाता है, तब उत्तम शौच धर्म होता है। यह मुनियों के पी होता है। मुनियों की परणति तो सदैव स्नान, लेप, अंजन, मन्जन, गन्ध, चन्दनादि, स्त्री, लक्ष्मी आदि मोहोत्पादक पदार्थों से पृथक और दूर है। उनकी शुभाशुभ भावों मे सदैव समानता है। उनके पर वस्तु मे कभी भाव जागृत ही नहीं होते। वे तो रूप, रस, गन्ध, वर्णादि आत्म स्वभाव से विपरीत

और भिन्न मानते हैं। [अशुभ भावों को भी वे आत्म-स्वरूप नहीं मानते। ज्ञानानन्द रूप स्वानुभूति की जागृति द्वारा पर भावों को उत्पन्न ही नहीं होने देते। इसलिये वे समस्त पर पदार्थों एवं पर भावों से सदैव निस्पृह हैं। उनकी यह परम पवित्र वीतरागी परिणति ही उत्तम शौच धर्म है।

बाह्य में गङ्गा, गोदावरी, कुण्ड, वापिका अथवा समुद्र सरोवरादि में स्नान करने से शरीर की मलिनता दूर नहीं होती और न वह शौच धर्म ही है। शरीर तो स्वभाव से ही अशुचिरूप और अपवित्र है [वह] कभी पवित्र होता ही नहीं है। जैसे मदिरा से भरे घट को स्वच्छ जल से अनेक बार भी धोया जाय तो भी शुद्ध (स्वच्छ) नहीं होता। इसी प्रकार जिस जीव का मन मिथ्यात्वादि मल से मलीन है? वह बाह्य में शरीर को निर्मल जल से कितना ही साफ करो परन्तु वह पवित्र न होगा। कोई २ प्राणी पुण्य से अपनी आत्मा को लाभ मानते हैं। वे अपने भावों में विकार कर लेपन अथवा आत्म मलीनता में वृद्धि करते हैं। अतएव आत्मा में सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान द्वारा पवित्र भाव प्रकट करना ही उत्तम शौच धर्म है।

अभेद रूप से आत्मानुभव करते समय पर्याय द्रव्य की ओर से अभिन्नता किंचित समय को ही होती है। सर्वथा स्थिर अभिन्नता नहीं होती। सम्यग्दर्शन होने पर क्रमशः प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों में शुद्धता की वृद्धि होकर, केवलज्ञान रूपी सूर्य का उदय हो जाता है। अर्थात् जब आत्मा अभेद अनुभव की ओर प्रवृत्त होता है तब प्रत्येक पर्याय में भेद-क्रम छूटने लगता है और अभेद-क्रम बढ़ने लगता है। उस समय आत्मा पर का लक्ष्य तज निज में अभेद लक्ष्य से एकाग्र हो जाता है और उत्तरोत्तर शुद्धता बढ़ने लगती है। इस बढ़ती हुई शुद्धता के फल स्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान के प्रभाव से मोहांधकार का सर्वथा नाश हो जाता जिससे बीच में शिथिलतादि विघ्न नहीं आते। मध्यवर्त्य होने

... कार्य सिद्ध ... समझना चाहिये। प्रत्येक पद ... की

पर सर्व कार्य सिद्ध हुए समझना चाहिये। प्रत्येक पर्याय की ऐसी स्तुति है—ज्ञानरूपी अवस्था के साथ कार्यों में अनन्त केवल ज्ञानियों का निर्णय समझा जाता है। जब पर्याय का लक्ष्य छोड़ भेद का राग तोड़, वीर्य को अभेद रूप स्वभाव की ओर लगा, ज्ञान की एकाग्रता करता है। तब निष्क्रिय चिन्मात्र भाव का अनुभव होता है यही अनुभव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उत्तम शौच धर्म है।

चिन्मात्र भाव ही निष्क्रिय है। परणाति रूप क्रिया तो है, परन्तु राग-रूपखण्ड क्रिया का अनुभव नहीं है। जहां कर्त्ता, कर्म, क्रिया का भेद नहीं, ऐसे अभेद अनुभव द्वारा चिन्मात्र भाव को प्राप्त करने से मोह का सर्वथा क्षय हो जाता है। जैसा स्वभाव अरिहन्त में प्रकट है, मुझ में भी वैसा ही स्वभाव है। यह जीव बड़ी कठिनाई से कषायों की मन्दता कर निगोद से मनुष्य पर्याय में आया, परन्तु आत्मस्वरूप की अज्ञता से चतुर्गतियों में अनन्तानन्त काल से दुख भोगता रहा। यदि सच्चे आप्त को पहिचान कर, स्वयं सत स्वरूप का निर्णय और अनुभव करे तो इस जीव की भयङ्कर भूल शीघ्र दूर होकर उत्तम शौच धर्म प्रकट हो जाय, तथा जन्म-जरा मरण का अन्त हो जाय। हे आत्मार्थियों! जागो! सचेत होकर विचारो-समझो संसार के मूल कारणों (पुण्य-पाप) से भयभीत होकर अपने पुरुषार्थ को सम्हालो और सफल करो। ऐसा सु-योग बारबार नहीं मिलता, अतएव श्रावक-कुल में अपना ज्ञान परीक्षा शक्ति का विकाश का शौच धर्म का संशोधन करो। निजात्म तत्व का अभ्यास पूर्वक विकास करो। आज्ञानता पूर्वक अन्ध श्रद्धा से कुछ तो भी मान लेने की अज्ञानता को हटाओ। सत्यार्थ तत्व का भली प्रकार निर्णय कर ज्ञानी-ध्यानी होकर उसी मे रम जाओ। यही तुम्हारा शौच धर्म है। उसमें रमण किए विना जो कुछ तुम करते हो जानते सो सब व्यर्थ है जैसे अंक के विना शून्य का कोई मूल्य नहीं है। इसी प्रकार तुम्हारे जान पने और कर्तृत्व से आत्म कल्याण नहीं होगा। अतएव असत्य को

त्याग सत्य तत्व ग्रहण करो। जिस प्रकार हीरा की अंगूठी में हीरा और स्वर्ण दोनों पृथक पृथक हैं। उसी प्रकार आत्म तत्व ज्ञान स्वरूप और शरीर पुद्गल रूप दोनों एक क्षेत्रावगाही होने पर भी पृथक पृथक हैं।

निश्चयनय के विषयभूत निज शुद्धात्म स्वभाव का आश्रय लो, व्यवहार नय को छोड़ो। साधक दशा में ही जैन-धर्म के रहस्य से तत्व ज्ञान की पूर्णता प्राप्त होती है। ज्ञान आत्म-स्वभाव को जानने में लग जाता है। उसमें अपार पुरुषार्थ है। अज्ञानी उसकी महिमा को नहीं जानता। वह तो बाह्य शास्त्रों को जानने में लगकर उन्हीं की महिमा में प्रभावित रहता है। जैसे बुगला सरोवर के तट पर एक पैर से खड़ा होकर एकाग्रचित्त हो जाता है, परन्तु उसका ध्यान मछलियों के पकड़ने में ही रहता है। इसी प्रकार यदि कोई, तत्वों का उपदेश सुनकर शुद्ध, चैतन्य को अपने लक्ष्य में न रख विश्व की विविध विडम्बनाओं में फंस जावे तो उसे वास्तविक, कोई लाभ नहीं होता। जब सांसारिक भावनाओं को त्याग शुद्ध भावना यही है और यही उत्तम शौच धर्म है। अब छठवें उत्तम सयम धर्म का स्वरूप लिखते हैं—

इस आत्मा को समस्त पर द्रव्यों से पृथकत्व, निशंक, ज्ञाता, दृष्टा, रूप, जानकर उसी में स्थिर होना उत्तम संयम धर्म है। स्व तथा पर द्रव्यों का स्वरूप बिना जाने, भेद विज्ञान नहीं होता। बिना भेद–विज्ञान के बंध भाव निरन्तर होते ही रहते हैं जिससे मोक्ष मार्ग मे प्रवेश नहीं हो सकता। अतएव समस्त वन्ध रूप शुभाशुभ भाव रूप निजात्म स्वभाव में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण की एकता करो। परमार्थ से वीतरागता ही उत्तम संयम धर्म है। जब तक वीतरागता प्रगट न हो तब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक अशुभ राग को त्याग यत्न पूर्वक छह–काय के जीवों की रक्षा का भाव रखना और संयम धर्म

है। इसी हेतु पंच महाव्रत, पंच समिति, इन्द्रिय-निग्रह, तीन गुप्ति और षट आवश्यकादि क्रिया-काण्ड पूर्ण यत्न पूर्वक किया जाता है, परन्तु शुभ बन्ध नहीं रोक सकते। यही व्यवहार संयम धर्म है।

आत्म-स्वभाव की प्रतीति के द्वारा शुभाशुभ बन्धों को रोककर और दूर किया जा सकता है। शुभराग हेय नहीं है परन्तु यदि तुझ में आत्म-स्वभाव को पहिचान और उसमें स्थिर होने का पुरुषार्थ है तो तुझे शुभ-राग को भी त्याग कर शुद्धोपयोग में लग जाना योग्य है। तुरन्त ही पुण्य छोड़ देने को नहीं कहते हैं। निम्न दशा में पुण्य बन्ध होता ही है, परन्तु वह धर्म नहीं है। ऐसी मान्यता से पुण्य की कमी नहीं होती, अपितु सत्य संयम के प्रभाव से उच्च पुण्य का बन्ध होता है। जो जीव पुण्य को ही धर्म समझते हैं, उन्हें उच्च पुण्य-बन्ध नहीं होता। जो संयमी पुण्य कार्य से धर्म नहीं मानते, उन्हें ही पुण्य बन्ध के प्रताप से तीर्थंकर पद, इन्द्र या लौकान्तिक देव पद, सर्वार्थ सिद्धि विमान में देव पद, अहमिन्द्रादि एक भवावतारी पुण्य बन्ध प्राप्त होता है और परम्पराय मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं।

जो जीव रागद्वेष परणति से पृथक हो शुभाशुभ बन्धों से रहित आत्म-प्रबोध से ज्ञाता दृष्टा हो जाते हैं। वे परम शांति रूप अनुपम सुधा—रस का पान करते हैं, क्योंकि उनके अन्तरङ्ग में ज्ञान के साथ विकल्पों की तरंगें नहीं उठती हैं। आत्म-प्रबोध ही होता है। जो अरिहन्त को जानता है; वह अपनी आत्मा को भी जानता है। इस अरिहन्त में जितने द्रव्य, गुण, पर्याय हैं, उतने ही द्रव्य, गुण पर्याय मुझ (आत्मा) में हैं। अरिहन्त पर्याय में शक्ति पूर्ण है। मुझ में भी पूर्ण शक्ति है, परन्तु वर्तमान अवस्था में उस पूर्ण शक्ति को प्रकट न होने देने वाला जो विकार है वह मेरा स्वरूप नहीं है। जो जीव ऐसा जानते हैं वे मोह क्षय कर उत्तम संयम धारण करते हैं। अरिहन्त भगवान ने ही उत्तम संयम धारण किया है। अतीत काल में जिन जीवों ने अरिहंत के समस्त द्रव्य-गुण पर्याय के रूप को

जाना था, वे ही अल्प काल में मुक्ति पात्र हुये हैं।

श्री अरिहन्त भगवान की भी अनन्तगुणात्मक केवलज्ञानादि पर्याय रूप उत्तम आत्मा है। इस निर्णय में ही निजात्मा के अनन्त गुण पर्यायों की सामर्थ्य का निर्णय हो जाता है। इसी निर्णय के बल से अल्प-काल में केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। अनादि काल से आत्मा की परणति मोह–कर्म के विपाक बंध से निरंतर कलुषित रहती आई है जिससे (स्वाभाविक दशा) वीतरागता की परणति में अनेक विघ्न आते हैं, परन्तु शुद्धता—प्राप्त की आकांक्षा सदैव बनी रहती है। निश्चय से यह आत्मा त्रैकाल संशुद्ध, चैतन्य और ज्ञान दर्शन मय है, परन्तु पर—परणति संयोग से जड़ रूप सी हो रही है। मोह-कर्म के उदय से चेतना राम प्रकट नहीं होता है। जैसे कोई मनुष्य धतूरे का रस पान कर उसके नशा में अपने आपको भूल जाता है; ऐसी ही अनादि काल से हमारी आत्मा की परणति हो रही है।

यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य भव प्राप्त कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित उत्तम संयम धर्म आत्मा में प्रकट करना महान पुरुषार्थ है। जिस जीव ने एक समय मात्र को भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर ली, वह अल्प काल में अवश्य मुक्ति लाभ कर लेता है। अतएव भव्य जीवों को अवश्य वीतराग-संयम धारण करना चाहिये। यही वीतराग-चारित्र मोक्ष का सीधा उपाय है। पंच महाव्रतादिरूप तेरह प्रकार के चारित्र का शुभ अनुष्ठान करना व्यवहार चारित्र है। इन द्रव्य क्रियाओं के करने में कुछ अनुकूल और स्थूल रूप से राग परिणाम हुआ करते हैं। भेद-विज्ञान से कषायों का प्रकर्ष स्वभाव शांत होने पर निश्चय से सराग सम्यक् चारित्र हो जाता है। निज स्वरूप में प्रवृत्ति करना निश्चय चारित्र है।

जो भव्य-जीव, गुणी से गुण के समान स्वात्म-ज्ञान लीन हैं तथा संसार के समस्त प्रपंचों से पृथक हैं। उनका ही निश्चय वीतराग-चारित्र है। उनके अंतरङ्ग में बुद्धि पूर्वक राग–भाव उत्पन्न होकर

अशुद्धि जन्य सूक्ष्म राग-भाव उत्पन्न होता है। यह गौण वीतराग चारित्र है। बाह्य समस्त संकल्प विकल्पों से भिन्न, सदैव स्वात्मा में निज निश्चय वीतराग चारित्र है। शुभ-राग भी चारित्र नहीं है। कोई स्वच्छन्दता को ही धर्म समझते हैं, परन्तु वह धर्म नहीं है। धर्म तो धर्मात्माओं के पास समझा जाता है। सत् समागम से आत्मा को पहिचान, रत्नत्रय पूर्वक अपने स्वभाव को प्रकट कर वीतराग भाव रूप उत्तम संयम धर्म धारण करना चाहिये जिससे केवलज्ञान की प्राप्ति हो। बिना धर्म का मूल स्वरूप जाने रूढ़ि रूप से बोलने या बाँचने से आत्मा को कोई लाभ नहीं होता है। दश-लक्षण मय धर्म की यथार्थ रूप समझ, मिथ्या—मान्यता को त्याग, जितने अंश आत्मा में वीतराग भाव प्रकट हो उतना ही अच्छा ऐसे वीतराग भाव के निरन्तर अभ्यास से श्रेष्ठ उत्तम संयम धर्म की प्राप्ति होती है। अब उत्तम तप धर्म का स्वरूप लिखते हैं—

यद्यपि आत्मा के वीतराग भावों में उत्तम क्षमादि रूप दशों धर्म हैं तथापि इनमें रत्नत्रय सहित उत्तम तप संसार सागर से पार होने के लिये एक उत्तम जहाज है। यह तप रूप वीतराग चारित्र आत्मा का ही निजगुण है। सामान्य रूप से शुभ-राग रूप व्यवहार-तप दो प्रकार का है। प्रथम बाह्य तप और दूसरा अभ्यन्तर या अन्तरङ्ग तप। जो तप अपने भाव-कर्मों के क्षय हेतु किया जाता है, वही उत्तम तप धर्म है। जो प्राणी आत्म-कल्याण करना चाहते हैं, वे आत्म-विश्वास प्राप्त कर आत्मानुभव का अभ्यास करें। परीषहों को जीतते हुये शुद्धोपयोग पूर्वक निजात्मध्यान में रमण करें। आत्मा की राग-द्वेष, मोह रहित उज्ज्वल परणति पूर्वक समभाव चारित्र कर धर्म-ध्यान का अभ्यास करे। फिर शुक्ल-ध्यान में रमण करते हुये सब प्रयत्नों से पृथक हो क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो निर्वाण-सुख को प्राप्त करें। यही अन्तिम महा पुरुषार्थ है। यही आत्मा का सच्चा कल्याण है।

यदि यह कार्य शुभोपयोग सहित किया जाता है तो द्वादश प्रकार के तपों का आचरण करता हुआ समाधिमरण कर स्वर्ग में देव-पर्याय पाकर सागरों पर्यन्त सुख भोग परम्पराय मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है। यह तप सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही होता है। जो जीव सम्यग्दर्शन के बिना पंचाग्नि तपते, अधोमुख लटकते या इसी प्रकार के अन्य क्लेशादि सहन करते हैं उनका यह सब कृत्य निश्चय, व्यवहार या किसी भी तरह का तप नहीं है। सब कुतप ही है। जो भव्य, इच्छा रहित, निर्मल चैतन्य-स्वरूप आत्मा को जानकर अनाकुल आनन्द के अनुभव में लीन हो वीतराग-भावों से अपनी आत्मा को सुशोभित करता है उसे ही उत्तम तप-धर्म की प्राप्ति होती है। ऐसा तप ही मोक्ष-मार्ग है।

रत्नत्रय युक्त आत्मा को लूटने वाले विषय-कषाय रूपी चोरों का तप रूपी सामन्त के आगे कुछ भी वश नहीं चलता। तपस्वी साधु मोक्ष-मार्ग में गमन करते हुये रत्नत्रय रूपी धन को विषय-कषाय रूपी चोरों से बचाने के लिये सम्यक् तप रूपी महान् योद्धा को सदैव अपने साथ रखते हैं। यदि तप में रागांश रहा तो उसकी रत्नत्रय-निधि लुट जाती है और मोक्ष-मार्ग प्राप्त नहीं होता है वीतरागी मुनि अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है तब विषय-कषाय रूपी चोर दूर भाग कर विलीन हो जाते हैं। यह वीतराग भाव ही उत्तम तप है। मोक्ष की ओर गमन करते समय निज स्वभाव की स्थिरता के हेतु पुरुषार्थ को साथ रखने से मार्ग में कोई विघ्न नहीं आने पाते। जो जीव तप को केवल कष्ट समझते या धारणा कर उसे छोड़ देते हैं वे मिथ्यात्व में पड़कर अनन्तानन्त दुखों के भाजन बनते हैं यह उत्तम तप चारित्र में गर्भित है। तप परम आनन्द का मूल हेतु और सादि तथा अनन्त है।

वीतराग भावों में दुख नहीं होता। मिथ्यादृष्टि के कुतप का आचरण महान दुख का कारण है। अल्प क्लेश को मुख्य करके रत्नत्रय सहित तप धर्म में उत्साह की हानि करना योग्य नहीं है।

खेद समझ कर चारित्र का अनादर करने से मिथ्यात्व रूपी प्रबल

किञ्चित खेद समझ कर चारित्र का अनादर करने से मिथ्यात्व रूपी प्रबल शत्रु का साम्राज्य हो जाता है। जिसके फलस्वरूप अनन्तकाल पर्यन्त अनन्त दुख भोगना पड़ता है। अतएव हे भव्य जीवो! शुद्ध, चिदानन्द आत्मा की प्रतीति कर तपानन्दानुभव में लीन हो जाओ, जिससे स्वतः ही समस्त इच्छाओं का सर्वथा अभाव हो जायगा। यही आत्मा मे स्थित उत्तम तप है। इस आत्म-तत्व को भली प्रकार जानकर उससे विचलित न होना, तप रूपी परम पुरुषार्थ ही मुक्ति पाने का उपाय है। अन्य कोई उपाय नहीं है। जो साधु विषय-आशा के फन्दे से निकल सदा ज्ञान ध्यान और तप मे लीन रहते हैं, वे ही शान्त-स्वभावी, निस्पृही, जितेन्द्रिय, वन-खण्ड विहारी, शीत घाम वर्षादि परीषह सहने वाले उग्र तप कर समस्त कर्म-पुञ्ज क्षय कर मोक्ष पा लेते हैं। अब उत्तम त्याग-धर्म का स्वरूप लिखते हैं:—

मैं शुद्ध, अविकारी और एक हूँ। संसार में मेरा एक परमाणु मात्र भी नहीं है। सम्यक्ज्ञान पूर्वक अत्यन्त निकटस्थ शरीर से भी ममत्व भाव का त्याग, समस्त विकल्प जालों से पृथक्, अन्तरङ्ग से सम्पूर्ण राग का त्याग ही उत्तम त्याग धर्म है। संयमी जनों को ज्ञानाभ्यास कराना, उन्हें संयम-साधन विषय भूत वस्तुएँ जैसे पिच्छि, कमण्डलु, ग्रन्थ, पुस्तक, आहार, औषधि और वस्तिकादि देना उत्तम त्याग धर्म है। वीतराग भावपूर्ण सम्पूर्ण श्रुत का रहस्य आत्मानुभव करना है। मुनियों को होने पर वीतराग भाव, ज्ञान-स्वभाव के आश्रय से सम्यक्श्रुत की वृद्धि होती और राग-द्वेष दूर हो जाते हैं। जितने अंश वीतराग भाव होता है उतने अंश यथार्थ त्याग-धर्म होता है, क्योंकि ज्ञान का ज्ञान में जितना मनन होता है; परमार्थ से उतना ही त्याग है। परमार्थ से जो श्रुतज्ञान है सो ही आत्मा है। आत्म-प्रबोध का मनन ही निश्चय से श्रुत की व्याख्या है। आत्मा ज्ञान स्वभाव है और ज्ञान का स्वरूप भेद-ज्ञान की अतेज्ञा वस्तु स्वभाव स्वतन्त्र है।

राग रहित है। इससे राग का सर्वथा त्याग क. । है। ज्ञान तो स्वतः त्याग स्वरूप है। मिथ्यादृष्टि सदैव संयोग को ओर सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव मात्र को देखता है। मेरा ज्ञान-स्वभाव सदा स्थिर है। ज्ञान राज की धारा सदैव बहती रहती है। वह राग, पर, और इन्द्रियों को जानते हुये भी किसी को अपना नहीं मानता है। वह स्वयं स्व स्वरूप, अंश–अंशी का अभेद भाव है। वर्तमान मतिज्ञान अंश और केवल अंशी है। ये अंश अंशी अभिन्न हैं, अतः मतिज्ञान में केवलज्ञान आ जाता है। योगी जन अंतरङ्ग शुद्धि के लिये बाह्य वस्तुओं की सन्तति का त्याग करते हैं तथा आत्म-ध्यान करते हुए आत्म-सुख को प्राप्त कर लेते हैं। वे ही उत्तम त्यागी हैं। उनका वीतराग भाव ही उत्तम त्याग धर्म है। आगे आकिञ्चन धर्म का विवेचन करते हैं:—

वर्तमान शरीर के अंजन–मंजन, स्नान विलेपन करने के ममत्व रूप परिणामों का त्याग करना, उत्तम आकिञ्चन धर्म है। साधु जन, पवित्र चारित्र को धारण कर प्रमाद रहित हो, निजात्म हित में लीन रहते हैं। अभिमान रहित उग्र तप करते हुए दर्शन, ज्ञान और चारित्र रस से भरा हुआ उपदेश देते हैं। अन्य साधुओं को तपादि क्रियाओं में आगे बढ़ा देख ईर्षा-भाव से रहित हो सदैव उनकी अनुमोदना सराहना करते हैं। इस प्रकार बाह्य और अन्तरङ्ग परिग्रह से समता रहित, समता सहित, वीतराग भाव की परणति में रम रहना ही उत्तम आकिञ्चन धर्म है। भेद ज्ञान द्वारा 'स्व' से 'पर' को भिन्न जाने बिना 'पर' से ममत्व दूर नहीं होता। इसलिये आपको भी श्रुत–रहस्य के जानकार वीतरागी साधुओं के समागम में सदैव रहना चाहिये और तदनुसार आचरण एवम् आत्म–कल्याण का भाव रखना ही उत्तम आकिञ्चन धर्म है। शरीर, पुस्तक, कमण्डलु और पिच्छिकादि में भी उनका ममत्व भाव नहीं रहता अतएव त्याग रूप ही हैं।

आयु—कर्म के क्षय हुये बिना शरीर नहीं छूटता, परन्तु उससे ममत्व—भाव छूट सकता है। बाह्य में अरिहन्त भगवान के भी परमौदारिक शरीर है, परन्तु उसमें उनका रञ्चमात्र भी ममत्व-भाव नहीं है यदि कोई यति हठ पूर्वक शरीर छोड़े तो उसका वह कार्य जिनाज्ञा का भंग करना है क्योंकि हठ करके प्राण-त्याग करना हिंसा में सम्मिलित है। इसलिये शरीर को इस प्रकार छोड़ना मुनि के आधीन नहीं है। जिस प्रकार वस्त्रादिक का राग छूटने पर बाह्य मे भी वस्त्रादिक छूट जाते हैं। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। आकाशवत समस्त पदार्थों से निस्पृह हो, वीतराग भाव में झुक जाना ही उत्तम आकिञ्चन धर्म है। जो मुनि अपने चित्त में दृढ़तर वीतरागता जमाते हैं, उनके ही आकिञ्चन धर्म होता है। यही मोक्ष महल का मार्ग है। विद्वान जन एक वाक्य को ही पूरी तरह मनन कर समस्त द्वादशांग जैन—श्रुत का रहस्य हृदयङ्गम कर लेते हैं। यह पुद्गल-स्कन्धों से बना जड़ शरीर किसी भी बात को नहीं समझता, परन्तु शरीर मे ही शरीर से भिन्न, देखने, जानने, समझने की शक्ति रखने वाला एक चैतन्य तत्व है; जिसे आत्म द्रव्य भी कहते हैं। वह सिद्ध भगवान के सदृश है।

पूर्व में आत्मा की अज्ञान अवस्था थी। वही बदल कर सच्ची सम्यग्ज्ञान रूप दशा हो गई है। यथार्थ में दोनों समयों में वही आत्मा है। यही वस्तु का बदला उत्पाद और व्यय है तथा बदलावट होने पर भी ज्ञान मूर्ति वस्तु तो वही की वही रही; वही ध्रुवता है, अतएव प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रुवता सिद्ध होती है। आत्मा यथार्थ, ज्ञानशक्ति विद्यमान है इसलिये वह ज्ञान द्वारा चाहे जब चाहे जैसा समझ सकता है; उसमे अन्य वस्तु की सहायता की आवश्यकता नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि पुरुषार्थ स्वय कर्ता और स्वतन्त्र है। वही वस्तु का स्वरूप है तथा ध्यान में लाने वाला स्वयं जीव, ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान द्वारा ही वह समस्त वस्तुओं को स्वय जानता-समझता है। इससे आत्म, ज्ञान-स्वभाव

रूप निश्चय होता है। उसमें समझने वाले तत्व में सदा स्थिर रहने की शक्ति होने से अस्तित्व गुण सिद्ध होता है। अन्य प्राणियों से अपने परिणामों में यह विशेषता है कि जिससे हम अपनी समझ रूप क्रिया कर सकते हैं, अर्थात वस्तु में अपनी प्रयोजन भूत क्रिया करने की शक्ति होने से उसमें वस्तुत्व गुण सिद्ध होता है।

प्रत्येक वस्तु में प्रति समय इतना सूक्ष्म परिवर्तन होता रहता है जिसे हम लिखने में सर्वथा असमर्थ हैं। जैसे आज का बालक कुछ काल पश्चात युवा फिर वृद्धावस्था धारण कर लेता है। इससे प्रमाणित होता है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तन शील है। प्रत्येक द्रव्य? उत्पाद, ध्रौव्यात्मक अपनी सत्ता में अभिन्न है। द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण हों अथवा जिसमें गुण, पर्याय पाये जायें। इस प्रकार द्रव्य सिद्ध हुआ तथा यह भी सिद्ध हुआ कि वस्तु त्रयात्मक है। जैसे सुनार स्वर्ण की थाली तोड़कर उसकी कटोरी बना लेता है, परन्तु थाली के चाहने वाले को ऐसा करने से शोक, कटोरी चाहने वाले को हर्ष और जिसे स्वर्ण-मात्र की आवश्यकता है उसे शोक—हर्ष कुछ नहीं होता। जिसमें चेतना गुण है, वही जीव है इससे जीवत्व सिद्ध होता है। जीव (आत्मा) रूप, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, चिन्ह अर्थात समस्त पुद्गल द्रव्यों से पृथक, चैतन्य, देखना, जानना आदि गुण संयुक्त, एक मात्र शुद्ध विशुद्ध द्रव्य है। इसका विशेष विवरण द्रव्य संग्रह ग्रंथ से जाना जा सकता है।

पूर्ण स्वरूप को जानकर जिसे पूर्णता (सर्वज्ञ) का पद प्राप्त हो जाता है वही सकल और निकल परमात्मा है। जिन जीवों ने पूर्ण स्वरूप को पहिचान तो लिया है, परन्तु अभी पूर्णता का पद प्राप्त नहीं हुआ। वे आचार्य, उपाध्याय और मुनि हैं। यदि तुम भी ऐसा प्रयत्न करोगे तो अवश्य ज्ञान की प्राप्ति होगी। इस प्रकार पुरुषार्थ भी पूर्णरूप सिद्ध होता है। जो जैन दर्शन के किसी एक अंग को भी पूर्ण रूप

...कार पुरुषार्थ भी पूर्णरूप सिद्ध होता है।

से जान लेता है उसे अवश्य अपनी आत्मा का ज्ञान हो जाता है। वीतराग रूप जैन दर्शन ही आत्मा की सच्ची पहिचान कराता है। यही जैन—सिद्धाँत का मूल भूत आदेश है और यही उत्तम आकिंचन धर्म है।

परमात्मा भी पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष गये हैं। यदि तुम भी सतत सत्य प्रयत्न करो तो परमात्मा बनकर उन्हीं के समान मोक्ष का निराकुल परमानन्द प्राप्त कर सकते हो। यह आत्माराम ज्ञानरूपी समुद्र है। वह किसी दीवाल या परदे के सामने आने से दृष्टिगोचर नहीं होता। बताया है कि यहां पर तो एक सामान्य चादर ही आड़े आ गई है। उसे दूर करना कठिन नहीं है। यदि चाहो तो उसे शीघ्र फाड़कर छलछलाता हुआ ज्ञान-सागर देख सकते हो। यह ज्ञान—सागर आत्माराम भीतर ज्ञान तथा क्षमा, समता और शांति–सुधा रस से परिपूर्ण है। अब अन्तिम उत्तम ब्रह्मचर्य–धर्म का स्वरूप लिखते हैं:—

इसमें स्त्री मात्र का त्याग करके निजात्मा-स्वभाव में लीन रहना, उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है। जो भव्य! गुरुकुल में निवास करते हैं उनके ब्रह्मचर्य धर्म है। इसमें 'उत्तम' शब्द का प्रयोग सम्यग्दर्शन सहित समझना चाहिये। जिस प्रकार जागृत होने पर स्वप्न में देखे समस्त पदार्थ असत्य मालूम पड़ जाते हैं, उसी प्रकार संसार विडम्बना भी असत्य है। अथवा प्राणी शरीर, धन-संपदा, पुत्र कलित्रादि को अपना मानता है। परन्तु अन्त समय आने पर अपनी इस मान्यता को स्पष्ट भूल समझने लगता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन संयुक्त आत्मा जब निज स्वरूप की सम्हाल करता है, तब यह जन्म-मरण रूप समस्त संसार उसे असत्य ही असत्य प्रतीत होता है। मृत्यु का भय भी प्रलय होता दिखता है, इसलिये सम्यग्दर्शन पूर्वक समस्त पर पदार्थों में रमण करना छोड़, निजात्मा-स्वभाव में ही रमण करो।

यही उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है। जिस प्रकार कुलाल (कुम्हार) के चाक का आधार एक कील है। उस पर रक्खे हुए मिट्टी के पिण्ड से वह विविध रूप के बर्तनादि बनाता है। उसी तरह संसार रूपी चाक की आधार भूत कील स्त्री है, उसके संयोग से जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। जो सम्यग्ज्ञानी विषयों की रुची को जलांजुलि देकर स्त्री मात्र को माता, बहिन और पुत्रीवत मानता है, वह निर्मल बुद्धिधारी ब्रह्मचारी काम को जीत कर शान्त कर देता है। वह स्वप्न में भी स्त्री प्रसंग का भाव नहीं करता है। इसी का नाम उत्तम ब्रह्मचर्य-धर्म है। जो आत्म स्वभाव प्रतीति (सम्यग्दर्शन) के बिना द्रव्यलिंग मुनि पद धारण कर ब्रह्मचर्य व्रत पालते हैं, वह सब पुण्य का ही हेतु। उत्तम ब्रह्मचर्य-धर्म नहीं है, परन्तु जो महात्मा संसार, देह और विषय-भोगों से विरक्त हो नित्य, निरंजन, आत्म-तत्व की भावना में लीन रहकर निजानन्दामृत पान करते हैं, उनके चरणारविन्दों में इन्द्र, धरणेन्द्र, खगेन्द्र, नरेन्द्र, और बलभद्रादि भाव सहित नमस्कार करते हैं। ऐसे उत्तम साधु चैतन्य रूपी उत्तम जहाज में विराजमान हो, संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं वे ही कल्याणकारी उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हैं।

परम योगिराज, काम रूपी सर्प के विष की क्रिया से बचकर भेद-विज्ञान से सदैव आत्मा स्वरूप में ही रमण करते हैं। इस काम रूपी पिशाच से बचने का उपाय भेद विज्ञान ही है। इस अचिन्त्य पराक्रमी काम ने समस्त विश्व को अपने पैरों के नीचे दबा रक्खा है। वह अकेला ही इस जगत को अपनी शक्ति से अपने अनुकूल मार्ग में चलाता है। इसके दस वेग होते हैं अर्थात् (१) स्त्री का कैसे मिलाप हो (२) स्त्री के शरीर को देखने की तीव्र इच्छा होना (३) दीर्घ निःश्वास लेना (४) काम ज्वर पैदा होना (५) शरीर दग्ध होने लगना (६) भोजन नहीं रुचना, वमन हो जाना (७) मूर्छित (अचेत) हो जाना, तद्वा प्रलाप करना (८) उन्मत्त या पागल हो जाना (९) प्राण रक्षा का भी संदेह होना अन्तिम

दसवें वेग में तो मरण ही हो जाता है।

इन वेगों से व्याकुल प्राणी वस्तु-स्वरूप को नहीं देखता। फिर आत्म-ज्ञान कैसे हो? कामबाणों से छिदा हुआ प्राणी क्षण भर के लिये भी शान्ति नहीं पाता। मुनिजन तो इस काम को कालकूट हलाहल विष से भी भयानक विष मानते हैं। कालकूट विष का तो इलाज सम्भव है, परन्तु कामरूपी विष निरुपाय है। काम से पीड़ित मनुष्य घोर निन्द्य कार्य करने को भी निरन्तर तत्पर रहता है। उसे विवेक नहीं रहता। ये संसारी जीव काम-ज्वर-दाह से उत्पन्न तृषा से पीड़ित हो, इस दुर्गम संसार मे भटकते हुये महान कष्ट भोगते हैं। इसके वश बुद्धिमान भी चाण्डाल आदि नीच पुरुषों की स्त्रियों के दास हो जाते हैं। वे जैसा नचातीं, उन्हें नाचना पड़ता है। काम से पीड़ित मनुष्य का उत्तम चारित्र भी बिगड़ जाता है। उसे अपने धन, चारित्र, बल के नाश होने एवम् कुल-कलंकित होने का भी भय नहीं होता है। यदि मरण भी निकट आ जाय तो भी न ! विचारता। संसार में जैसा कष्ट काम देता है वैसा कष्ट भूत-पिशाच, सर्प, सिंह और भयानक रोगादि भी नहीं देते। वह कामिनी के न मिलने पर उसकी भयानक पीड़ा से अग्नि, शस्त्र, विष तथा फांसी से अपना घात कर लेता है।

काम-बाण से मूर्छित चतुर मानव मूर्ख, क्षमावान् क्रोधी, शूरवीर कायर, गुरु-लघु, उद्यमी, आलसी और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है। इतना ही नहीं बल्कि पुत्री, पुत्र-वधू, धाय, माता, गुरानी, पटरानी और तिर्यंची को भी भोगने की इच्छा करने लगता तथा भोगता है। अतएव हे आत्मन् ! तू ऐसे महामन्त्र का स्मरण कर जिससे यह विकट काम सुभट मारा जाय और सर्वत्र आत्मा का ही राज्य हो जाय। वे ही धीर-वीर श्रेष्ठ सामन्त हैं, जो निजात्मा को सम्यग्ज्ञानपूर्वक वीतरागमय, शुद्ध चिदानन्द, अनन्त-गुण-भंडार, असंख्यात प्रदेशी, सदा निर्मल और प्रकाशमान्, अनुपम शान्त, अभेद और अखण्ड

अनुभव करते हैं। उनकी परमोत्तम भावना से दिव्य ज्योतिर्मय सूर्य का प्रकाश फैलकर अनादिकालीन मोहान्धकार को हटा देता है और केवलज्ञान रूपी सूर्य सम्राट का साम्राज्य हो जाता है। एक ब्रह्मचर्य के आधार पर समस्त व्रतों का पूर्ण परिपालन हो जाता है। इस धर्म के पालकों में शिरोमणि केवलज्ञानी भगवान् ही हैं।

हे भव्यो! तुम भी रत्नत्रय युक्त होकर शील के अठारह हजार भेदों को धारण करके उत्तम ब्रह्मचर्य-धर्म-धारी बनो। जिससे संसार में जन्म-मरण न हो और मोक्ष लक्ष्मी के पति बनो। यही उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है। सम्यक्दर्शन सहित सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र द्वारा स्थिरता प्रकट कर इस दश लक्षण रूप धर्म द्वारा अपनी आत्मा विषय-कषाय रूपी कर्दम से बचा लेना ही उत्तम क्षमादि दश धर्म हैं। वह धर्म सम्यग्दर्शन के बिना अंक के शून्य सदृश महत्वपूर्ण शोभा को नहीं पाता है। इस प्रकार यह चतुर्थ परिच्छेद समाप्त हुआ।

पाँचवाँ परिच्छेद

⊛—: मङ्गलाचरण :—⊛

दोहा—भटक्यौ मूल अनादि से, करि 'पर' कौ सम्बन्ध।
'पर' को तज 'निज रस रहो, फेर न पाओ बन्ध॥

अनादि-काल से इस जीव ने अपने स्वभाव की पहिचान कर एकता की बुद्धि नहीं की निरंतर शुभाशुभ कर्म-बन्ध किए; अतएव चतुर्गति रूप संसार में अनन्तबार जन्म-मरण किया। वीतराग रूप

आत्म-तत्व प्रकट नहीं किया, जिससे आत्म-कल्याण नहीं हुआ। आत्मा नव तत्वों के विकल्प जाल से रहित है परन्तु यह जीव नव-तत्वों के विकल्प जालों में ही उलझा रहा। मन के द्वारा आत्मा की समस्त पर्यायों और चैतन्य गुण को आत्मा में ही गर्भित करके केवल आत्मा को जानने से परिणामी, परिणाम परिणति के भेद का विकार दूर हो जाता है, जिससे निष्क्रिय चिन्मात्र भाव प्रकट हो दर्शन मोह निराश्रित होकर नष्ट हो जाता और सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है। ज्ञानमात्र ही मैं शुद्ध यह निर्णय हो जाता है। तदनन्तर ज्यों ज्यों ज्ञानभाव में एकाग्रता होती त्यों त्यों सम्यक्चारित्र में शुद्धि होती जाती है ज्ञानमात्र भाव में पूर्ण एकाग्रता ही केवल ज्ञान है। इस समय मोह का सर्वथा क्षय हो जाता है।

महा पराक्रमी मोह सम्राट् के शुभाशुभ समस्त विकल्प (दान, दया व्रत, शील, संयम, सन्तोष, हिंसा, झूट, चोरी, कुशील, परिग्रह प्रमाद और स्नेहादि) उसकी विशाल सेना है। उस पर विजय पाने के लिए अपनी शुद्धात्मा को परमात्मा के समान जानना और शुद्धोपयोग द्वारा उसी में लीन रहना अत्यन्त आवश्यक है यही उसके नाश करने का एक मात्र उपाय है। अपनी आत्मा के गुण पर्याय अर्हन्त परमात्मा के गुण—पर्याय सदृश हैं। जो अपनी आत्मा को परमात्मा बनाना चाहते हैं उन्हें मोह का क्षय कर वीतरागता के फलस्वरूप केवलज्ञान प्रकट करना चाहिये। तभी वह निराकुल आत्मसुख प्राप्त कर सकेगा। यही उसका आत्म-कल्याण करना है। अपने आत्म-स्वभाव की पूर्ण सामर्थ्य को पहिचान कर उसी में लीन होना ही परमात्म-स्वरूप प्रकट करना है। यही तीर्थंकरों की दिव्य-ध्वनि से ध्वनित हुआ है। बिना जैन-दर्शन का मूल रहस्य समझे आत्म-प्रबोध नहीं होता है। यहां एकता की योग्यता उपादान कारण है। वस्तु-स्वभाव तो सदैव स्वतन्त्र और निरपेक्ष है।

बिना इस स्वभाव को समझे अहंकार से विरागता नहीं आती है। अपनी पर्याय का आधार-भूत आत्म स्वभाव है। यही स्वतन्त्रता जैन-दर्शन का मूल रहस्य है। प्रत्येक परमाणु अपनी ही परिणमन शक्ति से परिणमित होता है। एक परमाणु प्रथम समय काला रहता तो दूसरे समय सफेद हो जाता अथवा अनन्त गुणा काला हो जाता है। क्योंकि उसमें इस प्रकार परिणमित होने की शक्ति है। इसमें निमित्त का कोई प्रयोजन नहीं है। जीव को निमित्त की आवश्यकता तो गति-भ्रमण में होती है। स्वतन्त्रता में नहीं होती। अर्थात् आत्मा का शुद्ध चैतन्य पर से भिन्न स्वभाव दुःख का कारण नहीं है। प्रज्ञारूपी छैनी से शुद्ध स्वरूप आत्मा और बन्ध-भाव को पृथक् कर प्रकाशमान ज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना तथा बन्ध-भाव को त्याग देना ही दुःख दूर करने और सुखी होने का सच्चा उपाय है। स्वभाव की दृढ़ स्थिरता ही एकता है।

वीतराग भेद-विज्ञान से ही समस्त विकारों से उदासीनता और निज स्वभाव में लीनता होती है। जब यह जीव कर्मोदय के समय किसी प्रकार का विकार-भाव नहीं करता, तब कर्म का क्षय होने लगता पुनः नहीं बंधता है। उन पुद्गल परमाणुओं में ही योग्यता है, क्योंकि जिस द्रव्य की, जिस समय, जिस क्षेत्र में, जिस योग से, जैसी अवस्था होनी होती है, वह अवश्य होती है। इसमें अन्तर नहीं पड़ता। ऐसी श्रद्धा से आत्मा में वीतराग दृष्टि हो जाती है। जिस जीव ने आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव को अपने ज्ञान में अनुभव कर लिया समझो उसने अनन्त सिद्धात्माओं को स्वीकार कर लिया। मेरे ज्ञान में जैसी प्रतीति हुई है वैसा ही मैं हूँ मैं सिद्ध-पद स्वरूप परिणमन ही मेरा स्वभाव है। वास्तव में तो मैं अपनी ही पर्याय को जानता हूँ मैं ज्ञात-दृष्टा, चिदानन्द चैतन्य स्वरूप हूं। इस प्रकार अपनी आत्मा का अत्यधिक सन्मान करना चाहिये।

आत्मा स्वयं असंख्यात प्रदेशी और अनन्त गुणों का पिण्ड है। एक समय की अवस्था में अनन्त गुणों का पिण्ड वर्तमान रूप से आ जाता है। यही उसकी एक समय में प्रतीति करने वाली पर्याय है। जो आत्मा समस्त विकार भावों को दूर कर देता है वही 'सिद्ध' हो जाता है। प्रत्येक जीव जिनेन्द्र भगवान के समान गुण वाला राग-द्वेष से रहित है, जिस प्रकार घट-पटादि नेत्रों से दूर भिन्न रहते हुये भी दिखाई पड़ते हैं (नेत्र उनमें प्रवेश नहीं करते अथवा वे नेत्र में नहीं घुस जाते) अर्थात् पर द्रव्यों को कुछ नहीं करते। उसी प्रकार ज्ञान 'पर' को मात्र जान लेता है, परन्तु उनका कुछ करता नहीं है। जीव अपने भावों के अतिरिक्त 'पर' का कुछ नहीं करता है। जैसे—आयु कर्म के क्षय होने पर ही मरण होता है। उसकी रक्षा को कोई समर्थ नहीं है। जो निज—स्वभाव को जाग्रत नहीं करते, वे चाहे सम्राट, देव, दानव, इन्द्र, धरणेन्द्र क्यों न हों? कुछ काल बाद भव-भ्रमण करना ही पड़ेगा। जो संसार की विषय वासनाओं को ही सुख समझते हैं, वे मानो अग्नि के झूले में झूलते हैं। या तीक्ष्ण शूली पर चढ़े हैं। उनकी आत्मा में शान्ति नहीं है दुखी ही हैं। आत्मा—स्वभाव की भावना से ही, आत्मा में सुख—शान्ति जाग्रत होती है।

हे अनन्त गुणात्म, धर्म रूप—आत्मन्! तू तीर्थंकरों के कुल का है। उस कुल की सदैव सम्यग्दर्शन प्रकट करने की टेक रही है जिन भावों को लेकर चल दिया, फिर पीछे नहीं हटा। जिस प्रकार द्वितीया का चन्द्रमा, पूर्णिमा का चन्द्रमा होकर ही रहता है, उसी प्रकार चौथा गुण-स्थान होने पर चौदहवां गुण-स्थान होकर ही रहता है। अतएव तेरे गुणों का गायन करता हूं। मुझमें जो आत्म—प्रतीति जाग्रत होती है, उसमें कोई विघ्न न आने पावे।

व्यवहार नय से यह आत्मा पुद्गल-द्रव्य कर्मों का कर्ता है अथवा अशुद्ध निश्चय नय से राग

द्वेष, मोहादि चेतना भाव कर्मों का कर्त्ता है। शुद्ध निश्चय-नय से तो केवल आत्मीय ज्ञान-दर्शनादि परिणामों का कथंचित कर्त्ता–भोक्ता माना गया है। भेद-ज्ञानी अन्तरात्मा तो अपनी आत्मा में लीन, आत्मीय ज्ञानमय भावों का कर्त्ता भोक्ता है। जबतक यह आत्मा जघन्यपद बहिरात्मावस्था में रहता है, तबतक कर्म-संचय करता ही रहता है अर्थात् शुभाशुभ परिणामों को करता है और जब आत्मा को आत्मा, 'पर' को 'पर' मानता है, तब वह अपनी इसी प्रकार की प्रवृत्ति से अन्तरात्मा हो जाता है। उस समय वह अपने शुद्ध चैतन्य भावों का ही कर्त्ता-भोक्ता हो जाता है।

शुभ लेश्याओं के भावों या मन्द–कषाय होने पर जब यह जीवन दान, पूजा, शील, संयम, स्वाध्यायादि व्यवहार चारित्र का आचरण करता है, तब वह शुभोपयोगी और जब तीव्र संक्लेश परिणाम युक्त होता, सदैव पंचेन्द्रिय के विषयों में अनुरक्त, अधिक आरम्भ-परिग्रह में रत रहता है, तब तीव्र अशुभ परिणाम करने से अशुभोपयोगी कहलाता है और अशुभ कर्मों को ही बांधता है। सदैव उन्हीं कर्मों के फल को भोगता रहता है। जो भव्यात्मा, वस्तु—स्वरूप को यथार्थ जानते, शुद्धात्मा का अनुभव करते तथा समस्त कालीन भले–बुरे भावों के ज्ञाता-दृष्टा मात्र, पुण्य-पाप परणति से रहित रत्नत्रय से संयुक्त हैं। वे ही परम वीतरागी शुद्धोपयोगी हैं जो अल्पकाल में समस्त कर्म–स्कन्धों को नाशकर निराकुल अव्यय–ध्रुव की प्राप्ति करेंगे।

नय–भेद से शुद्धोपयोग दो प्रकार का है। पहला सविकल्प और दूसरा निर्विकल्प। सातवें गुण स्थानवर्ती आत्मायें सविकल्प शुद्धोपयोगी तथा अष्टम गुण–स्थान से लेकर चौदहवें गुण–स्थानवर्ती आत्मायें अविकल्प या निर्विकल्प शुद्धोपयोगी हैं। पुद्गल द्रव्य मूर्तिमान तथा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चार गुणों से युक्त हैं। एक प्रदेशी पुद्गल का एक परमाणु शुद्ध पुद्गल-द्रव्य है जो कि मूर्तिमान

संज्ञक है। समस्त मूर्तिक द्रव्य इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। समस्त शुद्ध पुद्गल द्रव्य संख्या की अपेक्षा अनन्त हैं तथा अणु और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार के हैं।

धर्म और अधर्म द्रव्य, लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशी, नित्य और ध्रुव हैं। ये दोनों द्रव्य प्रदेश समूह में अकम्प, निष्क्रिय, अविकारी (शुद्ध) और स्वतन्त्र रूप से सिद्ध हैं। ये समस्त लोकाकाश में तिल में तेल की तरह सर्वत्र व्याप्त हैं। पुण्य-पाप पदार्थों से भिन्न हैं। जीव तथा पुद्गल के गमनागमन में अप्रेरक (उदासीन) रूप से सहायक होते हैं। इनमें भाववती शक्ति तो है परन्तु क्रियावती शक्ति नहीं है। वह तो मात्र जीव और पुद्गल में ही है। धर्म द्रव्य जीव और पुद्गल की गति रूप क्रिया में सहायक होता है। यद्यपि जीव और पुद्गल निरन्तर स्वयं गति-शक्ति संयुक्त हैं। तथापि वह गमन में उदासीनरूप से कारण है। वह उन्हें हठात् (जबरदस्ती) गमन नहीं कराता है। जैसे—पानी में मछली का गमन या वृद्धावस्था में लाठी, यात्री को मार्ग, रेलगाड़ी का उसकी पटरी आदि अप्रेरक रूप चलने में सहायता पहुंचाती है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गल को ठहराने में उदासीन (अप्रेरक) उपकार रूप भाव से सहायक कारण है। जैसे—मार्ग चलते हुए पथिक को वृक्ष की छाया ठहरने के लिये अप्रेरक (उदासीन) कारण है।

समस्त लोकालोक की मर्यादा को बांधने वाला आकाश द्रव्य है। यह अनादि, अनन्त, अविनाशी और समस्त द्रव्यों को आश्रय देने वाला है। यह उत्पत्ति शून्य, स्वयं अपने आधार, नित्य विद्यमान, अनन्त काल पर्यन्त रहने वाला और अखण्ड है। किसी अपेक्षा से इस द्रव्य के दो भेद माने गये हैं। जैसे (१) लोकाकाश (२) और अलोकाकाश। अकाशके जितने प्रदेशों में सम्पूर्ण चेतन और अचेतन द्रव्यों की सत्ता का अस्तित्व है, उतने आकाश प्रदेशों को लोकाकाश कहते हैं। इसके बाहर

आकाश के जितने प्रदेश हैं। उसे अलोकाकाश कहते हैं। समस्त द्रव्यों को सदैव एक साथ अवकाश देना आकाश द्रव्य धर्म है यह उसकी विशुद्ध पर्याय है जो प्रति समय परिणमन होता है वह धर्म पर्याय है अनन्त प्रदेशी आकाश द्रव्य स्वभावतः अभेद्य है। इसके प्रदेश अलग अलग नहीं हो सकते, अर्थात् अखण्ड है।

काल द्रव्य एक स्वतन्त्र द्रव्य है। समस्त लोकाकाश के एक प्रदेश पर कालाणु स्थिर है। पिण्ड रूप न होकर पृथक् हैं। वह दो प्रकार का है यथा :—(१) निश्चयकाल (२) व्यवहार काल। लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कालाणु निश्चय काल द्रव्य है। कालाणु मात्र शुद्ध द्रव्य पर्याय है। जीव और पुद्गल से होने वाले शुद्ध-अशुद्ध परिणमनों की पर्याय परिणाम कहते हैं। इन पर्यायों से जो चलन रूप कर्म होता है, वह क्रिया है। क्रिया से ही परत्व और अपरत्व होता है। यह सब व्यवहार ज्येष्ठ और कनिष्ठ के भेद से दो प्रकार का है। यह सब व्यवहार काल का ज्ञापक लक्षण है। इन परिणमनों के द्वारा ही समय, घटी घन्टा, मिनिट और सैकंड आदि व्यवहार काल का जानना होता है।

जीव अजीव (पुद्गल) धर्म, अधर्म और आकाश ये पांच द्रव्य बहु प्रदेशी और अस्तित्ववान् हैं, इस लिये अस्थिकाय हैं। काल द्रव्य अस्थिवान् होते हुये एक प्रदेशी होने के कारण कायवान् नहीं है। इसलिये अस्तिकाय नहीं कहा है। यद्यपि पुद्गल का परमाणु भी एक प्रदेशी है, परन्तु उसमें स्कन्ध रूप होने की शक्ति रहने से भी वह कायवान् है। इस प्रकार विचारने से चैतन्य (जीव) द्रव्य सब द्रव्यों से पृथक् प्रमाणित हुआ। वह किसी प्रकार से भी अन्य द्रव्य रूप त्रैकाल में नहीं हो सकता। हे भव्यो तुम भी समस्त पर द्रव्यों को एक रूप मानना छोड़ दो। निज स्वरूप को पर द्रव्यों से भिन्न समझ अनुभव कर उसी में लीन हो जावो। परीषहों पर विजय पा, घातिया कर्म नाश केवल ज्ञान प्रकट कर

मोक्ष-लाभ करो। आत्मानुभव का ऐसा ही माहात्म्य है। यह अनादि, अनन्त और अमूर्तिक आत्मा अपने आप प्रकाशवान् और स्वसंवेदन गम्य है। यदि अपने शुद्धात्म स्वरूप का 'पर' पदार्थ से भिन्न अनुभव करे तो केवल ज्ञान प्राप्त हो जाय क्योंकि आत्मा आत्मा में परिवर्तन करने के लिये स्वयं पूर्ण रूप स्वतन्त्र है। इस आत्मा में इतना स्वाधीन बल और अपार पुरुषार्थ है कि यदि वह उल्टा आचरण करे, तो अन्तर्मुहूर्त में महा रौरव नर्क में चला जाय और वस्तु-स्वभाव रूप (सीधा) चले तो उतने ही समय में सिद्ध पद पा जाय। तात्पर्य यह है कि विभाग भावों से संसार तथा स्वभाव भावों से मोक्ष है।

जब प्राणियों को पर-द्रव्य में अपने पने (मोह) का अनुराग उत्पन्न होता है तब कर्म-जन्य भाव होते हैं। वे सब भाव विभाव परिणाम हैं। जो आत्मा के समस्त प्रदेशों में संसार-अवस्था पर्यन्त विद्यमान रहते हैं। जीव के प्रदेश लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर असंख्यात हैं। वे पर्व-पर्याय जन्य भाव अपने द्वारा अनुभव में आते और दूसरों के द्वारा अनुमान गम्य हैं। वे सब जीवों को दिव्यज्ञानि द्वारा ज्ञात हो जाते हैं। वे सब पुण्य-पाप रूप वैभाविक भाव भावाश्रव और भाव बन्ध रूप हैं। इन भावों की मिथ्यात्व अविरत कषाय और योग के भेद से चार जातियां हैं तत्त्व का विपरीत श्रद्धान मिथ्यात्व हिंसादि पंच पापों में प्रवृत्ति अविरत राग द्वेष मोहादि रूप परिणाम कषाय और मन—वचन काय के निमित्त से आत्म प्रदेशों में हलन-चलन क्रिया होना योग कहलाता है। (जीव के मलिन परिणाम [कषाय] चारित्र मोह और नोकषाय के कारण होते हैं) इस प्रकार विभावों के चार भेद हैं। (वे मिथ्यात्वादि समस्त वैभाविक भाव प्रथम समय में आस्रव के कारण और दूसरे समय में कर्म बन्ध रूप में बन्ध जाते हैं। आगे प्रत्येक समय से कथंचित वेदन होने लगते हैं।) आत्मा है नवीन कर्मों का आना आस्रव और विनाश पर्यंत सत्ता को बन्ध कहते हैं। इस तरह

उपर्युक्त वैभाविक भाव भावास्रव तथा भाव बन्ध बन जाते हैं। जब तक मिट्टी 'धूल' लगी है तब तक उसकी स्थिति और कारण बनता रहता है। इसी प्रकार सभी कषायें कर्मास्रव का कारण होती रहती है। यद्यपि कर्म बन्ध का कारण योग भी है परन्तु अत्यन्त दुखदायक स्थिति और अनुभाग रूप कर्म-बन्ध का कारण कषाय ही है। जब तक आत्मा में कषायें रहती हैं तब तक कर्म स्थिति भी बनी रहती है तथा नई नई कर्म-वर्गणायें बन्धती रहती हैं। इसीलिये कषाय की मुक्ति को ही मुक्ति कहा गया है। सज्जनों को चाहिये कि रागद्वेष रूप कषायों को मन्द कर उनके क्षय का सावधानी से प्रयत्न करें।

पुद्गल द्रव्य की तेईस वर्गणाओं में से पांच वर्गणाओं (आहार वर्गणा भाषा-वर्गणा, मनो वर्गणा, तैजसवर्गणा और कार्माणवर्गणा) का ही जीव के साथ बन्ध होता है और वे अपने समय पर अपना फल देकर खिर जाती हैं। कर्म बन्ध के चार भेद हैं। यथा:—प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध। अनुभाग बन्ध और प्रदेश—बन्ध के बन्ध के मूल और उत्तर रूप दो भेद हैं। मूल रूप में तो आठ भेद हैं। यथा:—ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र और अन्तराय। इनके उत्तर भेदों की संख्या क्रमशः पांच नौ दो अट्ठाईस चार तेरानवे दो और पाँच है इस प्रकार १४८ उत्तर भेद (उत्तर प्रकृतियां) हैं।

इस आत्मा में पूर्व संचित द्रव्य कर्मों के साथ नवीन कर्मों का सम्बन्ध होता है (और द्रव्य कर्म भाव कर्मों के साथ मिलकर आत्म—प्रदेशों में बन्ध जाते हैं।) ये आठों कर्म तैजस और कार्माण शरीर में अवस्थित हैं और उनके ऊपर यह औदारिक शरीर। इस प्रकार आत्मा इन तीन शरीर रूपी थैलों के भीतर विद्यमान है। रागद्वेष और मोह भाव कर्म तथा ज्ञानावरणादि आठ द्रव्य कर्म कहलाते हैं। जो यह शरीर दृष्टिगोचर हो रहा है वह नो कर्म है। जीव के संचलन हेतु पुद्गल द्रव्य तथा पुद्गल

के चलने के लिए काल कारण है। इस प्रकार त्रिकूट अर्थात् जीव, कर्म और काल मिलकर संसार चक्र चलता है।

यदि यह आत्मा राग-द्वेष मोह को त्याग कर अपनी ओर देख जाने तो अनुपम आनन्द का अनुभव हो। इस आत्मा में अनन्त शक्ति है। अपनी सामर्थ्य को प्रकट करने भर का विलम्ब है। यह आत्म तत्व आत्म—निरञ्जन से कीट कालिमा रहित शुद्ध स्वर्ण सदृश एक मात्र शुद्ध प्रतीत होता है। न उनका एक परमाणु मात्र अन्य द्रव्य में तथा न अन्य द्रव्य का परमाणु मात्र आत्मा द्रव्य में मिला है। ऐसा चिन्मय, तेजस्कर, श्याम समान आनन्द-घन आत्मा है। जिस प्रकार वन में दो बांसों के परस्पर संघर्ष से अग्नि उत्पन्न होकर समस्त वन को जला देती है अथवा सुन्दर सूर्य कांतिमणि सूर्य रश्मियों के संयोग से पदार्थों को जला देता या चन्द्रकांत मणि पर चन्द्रमा की किरणें पड़ने से पसीना जल स्रवित होने लगता है। इसी भांति आत्मा में भी समस्त कर्म-वन को एक समय मात्र में जलाकर भस्म कर देने की अद्भुत सामर्थ्य है। उसकी यह अनुपम शक्ति कर्मावरण से ढंकी है। यदि वह ध्यान के बल से व्यक्त हो जाय तो समस्त कर्म, पल मात्र में बादल-राशि सदृश एक दम नष्ट हो जायें।

अङ्कुरोत्पादन शक्ति बीज में विद्यमान है जब वह बीज गीली मिट्टी का संसर्ग पाता है तभी अंकुरित होकर एक विशाल वृक्ष बन जाता है; ठीक इसी प्रकार पूर्ण ज्ञान-सामर्थ्य सहित आत्मा, इस शरीर में विद्यमान है। वह अन्तरङ्ग ध्यान के बिना प्रकाशमान नहीं होने पाती। वही आत्मा ध्यान के बल से केवलज्ञान के प्रकट होने पर त्रैलोक्य के त्रैकालिक समस्त पदार्थों को बराबर एक समय मात्र में देख जान लेती है। जिस प्रकार चतुर स्वर्णकार अशुद्ध स्वर्ण सुहागादि मसाले सहित प्रचण्ड अग्नि में तपा कर कीट—कालिमा रहित शुद्ध स्वर्ण बना लेता है। उसी प्रकार परम योगीन्द्र, शरीर रूपी घरिया (सांचे)

में स्थित मलिन आत्मा रूपी स्वर्ण को रत्नत्रय रूपी सुहागा एवं प्रचण्ड ध्यानाग्नि में तपाकर परमो-ज्वल, शुद्ध एक पवित्र और निर्मल कर लेता है। वह दर्पणवत् झलकने लगती है। इस प्रकार आत्मा का सम शोधन एक विचित्र विज्ञान है जो कि यथार्थ वस्तु-स्वभाव है।

ध्यान के द्वारा आत्मा को देखने के पश्चात् अनेक प्रकार के विकल्पों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। आत्मज्ञानी को न्याय, व्याकरण, तर्क, छन्द, अलंकार, काव्य, कोष, आगम, पुराणादि कुछ भी नहीं रुचते हैं। भला बिजली के प्रकाश के आगे दीपक का प्रकाश कौन पसन्द करेगा?

पूर्व में जितने सिद्ध हुये वे सब आत्म-ध्यान से ही हुए हैं, अतएव आत्म-प्रबोध ही कल्याणकारी है। इस संसार में कर्म की कार्माण-वर्गणाएं घृत-घटवत् ठसा-ठस भरी हैं। इस पुद्गल-परमाणु रूपी समुद्र में अनन्तानन्त जीव मछलियों के सदृश लगातार डुबकियाँ लगा रहे हैं। वे राग, द्वेष मोहादि के कारण उन अनन्त पुद्गल परमाणुओं को निरन्तर आत्मा से सम्बन्धित करते रहते हैं। एक समय मात्र भी खाली नहीं रहते। अष्ट—कर्म रूपी जटिल बन्ध को तोड़ना सरल काम नहीं है। एक की गांठ दूसरा खोल कर उसे मुक्त कराना चाहे तो असम्भव है। स्वयं अपने कर्तव्य द्वारा गाँठ को खोल कर मुक्त होना चाहे तो हो सकता है। कर्म-कर्दम लिप्त जीवों को स्वयं उनकी आत्मा ही धर्म रूपी निर्मल जल से निर्मल करने में समर्थ है। अन्य नहीं।

इस संसार रूपी समुद्र में काल रूपी मगर के मुख में फँसे हुये जीवों को उनकी आत्मा ही निकालकर मुक्त कर सकती है। कर्मरूपी पृथ्वी में छिपी निधि को प्रकट करने वाला एक मात्र आत्मा है। यह आत्मा भव—ताप से तप्तायमान जीवों को शीतल करने के लिये पवित्र शीतल गङ्गा-जल है। जिसने यह अभेद भक्ति प्राप्त कर ली उसने शरीर रूपी मन्दिर में ही परमात्मा का दर्शन कर लिया।

…भव—ताप र…
…अभेद भक्ति प्राप्त कर ली उसने शरीर रूपी मन्दिर में ही परमात्मा का द… कर लिया।

वह कभी इस जन्म मरण रूपी संसार में भ्रमण नहीं करेगा। निरंजन, निर्लेप, वीतराग, विज्ञान स्वरूपी उत्तम आत्मा ही मदन-कला भंजन में समर्थ, जन्म-जरा मरणान्तक और भव—तारक है। जिस प्रकार सिंह के भय से हिरण पलायमान हो जाता है उसी प्रकार आत्मरूपी सूर्य का ध्यान करने से कर्म रूपी घोर अन्धकार विलय हो जाता है।

आत्म—ध्यान के बल से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष मतिज्ञान है और वह प्रमाण है। यही एक समय मात्र में सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान हो सकता है। इसी समय से जीव का संसार सम्बन्ध स्वयं ही नष्ट होने लगता और राग द्वेष मोह के अभाव से अपने आप शुद्ध स्वभाव में स्थिर हो शुद्ध स्थान में पहुँच जाता है। निश्चय से वस्तु स्वभाव तो ऐसा ही है कि आत्मा अनन्त ज्ञानादि स्वरूप आप ही है परन्तु दृष्टिगोचर सांसारिक अनेक अवस्थाएं सब कर्म निमित्त से हो रही हैं। उनमें भी आप आप ही स्वरूप है, अतएव सर्व विघ्न बाधाओं को दूर कर निजात्म उपादेय तत्व का निरन्तर आराधन अनुभव करो। ऐसी आत्मा इस देह रूपी देवालय में शाश्वता सर्वाङ्ग व्यापक होकर विराजमान है। इसकी चन्द, सूर्य, रत्न, शुद्ध स्वर्ण, कल्प वृक्ष, पारस पाषाण, स्फटिक मणि, चिन्तामणि, कामधेनु या कल्पलता से उपमा देना सब मिथ्या है। वह तो निरुपमेय है। अन्य किसी पदार्थ से उसकी समानता नहीं की जा सकती। शरीर मे रहते हुए भी शरीर भिन्न है।

स्वयं सिद्ध आत्मा मे ही वीतरागता रूप सुख का सार है। इस रत्नत्रय स्वरूप आत्म स्वभाव में किसी भी पर पदार्थ का प्रवेश नहीं है। इसमे क्षमा करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। हे भव्यो! समस्त संकल्प विकल्पों को त्याग कर निजात्मा में रमण कर अनुपम निजानन्द का अनुभव करो। यह प्रकाशमान चैतन्य आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म, स्वयं संवेद्य, अवक्तव्य, निराकुल, अप्रमेय, स्वाश्रित,

लोकालोक प्रकाशक और अचिन्त्य सुख का भण्डार है। आत्मा के गुण आत्मा में ही हैं।

यह आत्मा चिदानन्द, सब से पृथक, शिरोमणि, गुणानन्दमयी सदैव समता-रस का पान किया करता है। इसकी नातेदारी राग द्वेष मोह से नहीं है। यह संसारी नहीं, अविकारी, व्यवहारी नहीं निश्चय धर्म—धारी दुखकारी नहीं निराकुल महासुखी, पापाचारी नहीं, शुद्धाचारी, क्षोभकारी नहीं शान्तिधारी और समता विस्तारी है। कर्म—बन्धकारी न होकर शिव—मगचारी एकल विहारी है। मेरी आत्मा शुद्ध,, द्रव्य, क्षेत्र, भावरूप स्वचतुष्टय के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य से सम्बन्धित नहीं है, इसलिये मैं सबसे नाता तोड़ मुँह मोड़, समस्त पर रूपी विकल्पों का त्याग, स्वचतुष्टय में रमण करता हूँ। ये ही सब कारण और कार्य 'समयसार' है। यही अभेद रत्नत्रय रूप मोक्ष—मार्ग ज्ञानी के गले का मुक्ताहार है। आत्मा की ऐसी स्तुति करना ही भेद भक्ति है। जब परम योगी ज्ञानी ध्यानी पूर्वक अपनी आत्मा को भीतर से देखता है, तब समस्त जगत के पदार्थ अपने अपने गुण—पर्याय सहित एक साथ उसमें झलकते देखता है। उसमें रागद्वेष मोह का झलकाव नहीं दिखाई देता है।

इस प्रकार के शुद्ध भावों में अपूर्व पूर्ण समता और शांति का राज्य रहता है। वह राज्य आदि, मध्य, अन्त रहित अनादि अनन्त अकृत्रिम और ध्रौव्य है। उसमें नाना प्रकार के स्वाभाविक परिणमन होते रहते हैं। उसमें नय-भेद भी नहीं है। वह स्वभावतः पूर्ण शुद्ध है। उसमें ज्ञान, दर्शनसुख, वीर्यादि गुणों का भी व्यवहार नहीं है। उसमें समस्त गुण इस प्रकार समाये हैं कि गुणी और गुण में कोई अन्तर नहीं दर्शाता। स्वसंवेदन ज्ञानी को शुद्ध अवस्था ही दृष्टि आती है।

अब सिद्ध भक्ति के विषय में लिखते हैं:—जब अरिहन्त परमात्मा शेष ८५ कर्म-प्रकृतियों को आत्मा से पृथक कर विश्व के अग्रभाग में स्थित हो जाते हैं तब वही एक मात्र शुद्ध आत्मा सिद्ध

कहलाने लगती है । इस आत्मा में अत्यन्त निर्मलता होती है । परमाणु मात्र अन्य द्रव्य उस में नहीं होता । अरिहन्त भगवान की शरीर रूपी वर्तन में स्थित पवित्र आत्मा क्षीर सागर के समान है । जब उसका सम्यक्त्व रूपी महा मेरु सदृश मथने में चिद्रूप रूपी उत्तम रस्सी लगाकर उत्तम रीति से मंथन किया जाता है । तब परम शुद्ध एकत्व युक्त आत्मा ऊर्ध्व गमन कर एक समय में ही लोक के अग्रभाग में (जहां तक धर्म द्रव्य है) जाकर स्थित हो जाती है । इस प्रकार स्थित होने का कारण धर्मास्तिकाय है । ये दोनों द्रव्य (धर्म और अधर्म) लोक के अन्त पर्यन्त हैं । इसी कारण पदार्थों की गति स्थिति लोक में ही होती है । लोक को उल्लंघन नहीं करती ।

सिद्ध भगवान सिद्धालय में स्थित हो स्वाभाविक अनन्त गुण और ऐश्वर्य सहित अनन्त काल पर्यन्त निराबाध अतीन्द्रिय सुख भोगते हैं । उनके अत्यन्त निर्मल ज्ञान में त्रैकालिक समस्त द्रव्य, पर्यायों से व्याप्त विश्व के पदार्थ एक ही समय में प्रत्यक्ष स्पष्ट दर्पणवत् प्रतिभाषित होने लगते हैं । यही पूर्ण ज्ञान है और इसी मे पूर्ण निराकुल सुख है यद्यपि आकाश द्रव्य अनन्त है परन्तु लोकाकाश और अलोकाकाश रूप से दो भेद हैं । अनन्त सिद्ध भगवान इसी लोकाकाश के अन्त से शरीर, वृद्धि, ह्रास, विकल्प और इन्द्रिय रहित, निरंजन, निरुपमेय, शान्ति-सुधा रस पान करने में निमग्न विराजमान हैं । सिद्ध परमेष्ठी के अनन्त गुणों का अनन्तवां भाग भी अन्य किसी पदार्थ में नहीं है इसीलिये निरुपमेय हैं । जिस प्रकार आकाश और काल का अन्त नहीं, उसी प्रकार सिद्ध भगवान के गुणों का भी कोई अन्त नहीं है । उनके अनन्तज्ञान का वैभव सर्वज्ञ के ही ज्ञान के गोचर है । वचनों से नहीं कहा जा सकता । वचन तो संख्यात हैं परन्तु गुण अनन्त हैं । इसीलिये वचनातीत या अनिर्वचनीय हैं । आत्मा अनन्त गुणों का समुदाय, असंख्यात प्रदेशी अखण्ड द्रव्य है और यही उसका स्वतन्त्र

है। उसका अपने स्वभाव में ही परिणमन करना स्वकाल और शुद्ध भाव ही उसका स्वभाव है। अपने साध्य को सिद्ध कर लिया, इसलिये सिद्ध हैं। आत्मज्ञान, लोक–अलोक में भर गया, यही एक काल लोकालोक का देखना जानना हो गया। पचासी कर्म—प्रकृतियों में से उपान्त्य समय में बहत्तर प्रकृतियों का अन्त हुआ तथा अन्त समय में तेरह कर्म प्रकृतियों का अभाव हुआ, साथ में तीनों शरीर भी अदृश्य हुये। इस प्रकार निकल परमात्मा होकर चरम शरीर से कुछ कम खड्गासन या पद्मासन से लोक के अन्त अन्य सिद्धों के मध्य में जा विराजमान हुये। अष्ट कर्मों के नष्ट होने से अष्ट गुण क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व अवगाह, अगुरु लघु और अव्याबाध प्रकट हुए और संसार-सागर को पार कर अष्टम भू पर जा पहुँचे। वहाँ से पुनः संसार में नहीं आवेंगे। यह सब आत्मा काही माहात्म्य है। जिस प्रकार तेली के यहाँ यन्त्र (कोल्हू) खल, तेल और आकाश ये चार पदार्थ पाये जाते हैं उसी प्रकार आत्मा में द्रव्य कर्म भाव-कर्म और नो कर्म एकत्र संयोग अनादि काल से है। अर्थात् संसारी आत्माएँ इन तीनों के मध्य अपना स्थान लिये हैं। ये तीनों कर्म-काण्ड स्पर्श रस, गन्ध और वर्ण संयुक्त पुद्गल हैं। आत्मा इन सब गुणों से पृथक सुज्ञान ज्योति युक्त है। जिस प्रकार तैल–यन्त्र (कोल्हू) में आकाश स्थित है, उसी प्रकार इस शरीर में अंगुष्ठ के अग्रभाग से लेकर शिखा पर्यन्त आत्मा सर्वाङ्ग में व्याप्त है। उसमें नो कर्म तेल-यन्त्र, द्रव्य कर्म खल भाग, भाव—कर्म तेल और आत्मा आकाश के समान है। अथवा जिस प्रकार स्वर्ण द्रव्य के पीत वर्णादि गुण और कंकण कुण्डलादि उसकी पर्यायें हैं या दूध—रस, द्रव्य के मधुर श्वेतादि गुण और मक्खन छाछादि पर्यायें हैं। इसी तरह जीवअरूपी द्रव्य के, ज्ञान दर्शन गुण और (कर्मवश) मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यंच अवस्थायें उसकी पर्यायें हैं। द्रव्य दृष्टि से देखा जाय तो पदार्थ एक है पर्यायों से ही अनेक भेद प्रभेद हैं।

जैसे—स्फटिक मणि पाषाण–रूप से शुभ्र है; परन्तु उसमें विविध रङ्गों के डांक लगाने से वह विविध रङ्ग मय प्रतीत होता है।

यह आत्मा न अग्नि से जलता, न पानी से गलता, न पवन से सूखता, और न शस्त्रों से कटता, छिपता है। शरीर के प्रदेशों में व्याप्त रहने पर निराला, करोड़ों सूर्य चन्द्र से भी अतिशय प्रकाशवान् और समस्त लोकालोक के देखने में पूर्ण समर्थ है। जितना तीनों लोकों का प्रमाण है उतना ही आत्मा के प्रदेशों का परिमाण है जैसे—बीज मे वृक्ष बनने या काष्ठ में अग्नि उत्पन्न होने की शक्ति छिपी हुई है वैसे ही आत्मा में सिद्ध परमात्मा होने की शक्ति है, परन्तु कर्मावरण के कारण वह शक्ति व्यक्ति नहीं होने पाती। जब इस छोटे से शरीर में व्याप्त आत्मा अपनी पूर्ण शक्ति व्यक्त करती है तभी वह संसार-बन्धन से मुक्ति पाती है। जब योगी नेत्र बन्द कर मन-वचन-काय की समस्त क्रियाओं को रोक संवर रूप को अपनी आत्मा का स्वयं अवलोकन करता है, तब उसे अपने आप ही आत्मा की सिद्धि हो जातीहै। जैसे किसी श्रीमंत सम्राट का खजाना कितना ही बड़ा क्यों न हो यदि आमद रोक कर खर्च चालू रखा जाय तो एक न एक दिन वह अवश्य ही खाली हो जायगा। ऐसे ही जब आत्मा में नवीन कर्मों का आना बन्द होकर पूर्व संचित कर्म निकल जाते हैं तब अवश्य कर्म रहित हो जाती। उसकी यहीं सर्वोत्तम अवस्था मोक्ष है। इससे स्पष्ट है कि यदि योगी संयम धारण कर निरन्तर एक शुद्ध निजात्मा का भली प्रकार निरीक्षण कर द्रव्य संवर–भावसंवर रहित दृढ़ कर्म बन्ध की अविपाक निर्जरा करे तो अवश्य मोक्ष प्राप्त कर ले। सविपाक निर्जरा संसार बन्धन में फँसाती है। अविपाक निर्जरा ही आत्म-हितकारी है। जिस प्रकार सरोवर में आने वाली नदियों के पानी को रोक सरोवर के संचित जल को नाली द्वारा निकालने से वह खाली हो जाता है फिर उस भूमि पर बीज वपन करे तो फल

अवश्य प्राप्त होगा।

अविपाक निर्जरा और मोक्ष—तत्व में यही अन्तर है कि आत्मा से एक देश कर्मों का निकलना निर्जरा तथा समस्त कर्मों का क्षय होना ही मोक्ष है। भव्यात्मायें प्रथम चार घातिया कर्मों का नाश करती फिर शेष चार अघातिया कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त करती हैं। सिद्ध लोक भू-लोक से सात राजू ऊँचे स्थान पर है जिसे आत्मा अशरीर हो एक समय मात्र में पार कर जाती है। ऐसी आत्मा की महिमा अपरम्पार है। अपने स्वभाव लक्ष्य से जितने अंश वीतरागता हुई उतना ही लाभ है। वही स्वराज्य है। वह स्वराज्य स्वरूप आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के साथ सर्वथा एक है। वही स्वभाव है। उसे ही अनुभव करो तो सदैव सुखी रहो। भविष्य में वेदना न होगी।

जो टंकोत्कीर्ण, स्वरस ज्ञान—भण्डारी सम्यग्दृष्टि आत्मा समता मय परिणामों के द्वारा समस्त कर्म क्षय करता है, वह पुन: कर्म-बन्ध नहीं करता वह अनुभव द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों की निश्चय पूर्वक निर्जरा कर देता है। जो मिथ्यात्वादि चार पदों को काट डालता है उसे वह करने वाले कर्म-बन्ध नहीं होते। अनन्त संसार का छेद हो जाता है। वही निश्चय पूर्वक सम्यग्दृष्टि है। अथवा सर्व धर्म और कर्म फल में आकांक्षा न रखने वाला अर्थात् निःकांक्षित अङ्ग वाला सम्यग्दृष्टि है। जो मन वचन काय से सम्पूर्ण धर्मों में निन्दा, स्तुति, जुगुप्सा नहीं करता, वह निर्विचिकित्सा अंग धारी सम्यग्दृष्टि है। समस्त भावों में अमूढ़ता रखने वाला अमूढ़ता अङ्ग धारी सम्यग्दृष्टि है। जो जीव सिद्ध—भक्ति युक्त सम्पूर्ण धर्मों में उपगूहन गुण धारण करता है, वह उपगूहन अङ्ग धारी सम्यग्दृष्टि है। जो मनुष्य किसी कारण धर्मात्माओं को उन्मार्ग पर जाते देख उन्हें स्वभाव मार्ग में स्थापन करता है उसे स्थितिकरण अङ्ग धारी सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये। जो अपने परम वात्सल्य भाव से आचार्योपाध्याय

साधु अपना निजात्मा को मोक्ष-मार्ग में स्थापन करता है, वह वात्सल्य भाव युक्त सम्यग्दृष्टि है। जो जीव विद्यारथ पर आरूढ़ हो मनोरथ-पथ (मोक्ष—मार्ग) में विहार करता है, वह विद्यानिधि विद्वान सु-ज्ञान प्रभावक, प्रभावना अंग का धारक सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं शीघ्रता पूर्वक आदि, मध्य और अन्त का ज्ञान प्राप्त कर अल्प—काल में सिद्ध-लोक में नृत्य करता है। उसका ज्ञान सर्व व्यापक हो समस्त लोकालोक में राज्य करने लगता है। गुरु-उपदेश या स्वतः अभ्यास से स्व-पर को भिन्न कर अनुपम अतीन्द्रिय सुख (मोक्ष) का भोक्ता बन जाता है। वह निरन्तर विचारता है कि मैं स्वयं बोध, ज्ञान-दर्शन चेतना लक्षण युक्त, समस्त पुद्गल-स्कन्धों से रहित हूं। मैं निज स्वभाव रूप हूं। अन्य सब रागादि जनित जड़ हैं। मेरा संसार में कोई शत्रु-मित्र, इष्ट अनिष्ट नहीं है। इन भावों से चित में क्षोभ पैदा नहीं होता और निज तत्व में स्थिर हो जाता है। इस प्रकार के अभ्यास से बहिरात्म बुद्धि दूर होकर अन्तरात्मा भाव प्रकट हो जाता है। आत्मा अनन्त ज्ञानात्मक है। जो चिदानन्द चैतन्य स्वरूप परमात्मा है वही मैं हूं। 'सोऽहं'। इस प्रकार के दृढ़ संस्कार से भेदाभ्यास द्वारा संसार—वासना को त्याग, परमात्मा भाव की अविचल भावना द्वारा प्रकाशवान आत्माको पा लेता है। जैसे जैसे इस प्रयोजन भूत उत्तम तत्वको पाता जाता है, तैसे-तैसे उसे सांसारिक सुलभ विषय नहीं रुचते।

योगी, मन और इन्द्रयों के व्यापार को रोक जैसा—जैसा विषय कषायों का उपशम करता तैसा—तैसा आत्मा के द्वारा आत्मा को जाना जाता और दृढ़ श्रद्धान भी कर लेता है। मन—वचन काय योग निर्विकार हो जाते हैं, तथा आत्मा परमात्मा स्वरूप आत्मा की प्रतीति प्राप्त कर लेता है। उसे निश्चय पूर्वक आत्मा में रुचि उत्पन्न हो जाती है जब वह मन—वचन—काय की क्रिया और कर्मास्रव

हैं, द्वारों को भली प्रकार रोक देता है, तब अनादि काल से बंधे कर्म पटल स्वयं गलित होकर खिर जाते हैं और मोक्ष-मार्ग सन्निकट हो जाता है। कोई कितना भी उग्र तप क्यों न करे, किन्तु जब तक आत्मा में पर-द्रव्य प्रवृत्ति रहेगी तबतक मोक्ष कदापि नहीं होगा। जब आत्मा पूर्ण शुद्ध होगी, तभी मोक्ष लाभ होगा।

जब तक जीव देहादिक पर द्रव्यों से ममत्व भाव रखता तब तक कर्म-बन्ध करता रहता है और उस समय वह समय-तर कहलाता है। मूढ़ जन नित्य इन्द्रिय विषय व्यापार कर हृष्ट-तुष्ट कषाय संयुक्त हो कर्मास्रव करते रहते हैं; परन्तु सम्यग्दृष्टि भेद विज्ञान के द्वारा किसी से हृष्ट-तुष्ट न हो सदैव मध्यस्थ रहता है। वह अन्तरात्मा इन्द्रियों के सम्पूर्ण व्यापार रोक, संसार दुखों से भयभीत होकर जब निज तत्व को क्षण-मात्र देखता, अनुभव करता है, तब वह परमात्मा बन जाता है। सार भूत निज तत्व आप ही मे आप है। आपमें आपका निरन्तर अभ्यास करने से स्वल्प-काल में ही आत्म दर्शन हो जाता है जो अन्तर्मुखी दृष्टि कर देखो तो समस्त पुद्गलों से भिन्न तुम्हारी आत्मा तुम्हारे ही पास है। चैतन्य स्वरूप आत्मा मे अवगाहन करो, क्योंकि गाफिल हो रहे हो ? "चेत तो चेत चित्त, चेतन की यही बेर, फेर क्या चेतेगो अचेत चित्त चिता में तू" ? अतएव अपनी उपासना आप ही कर। जो तुम आत्म-लाभ लेने के लिए अन्यत्र भटकते फिरते हो, सो यह तुम्हारी भारी भूल है। अन्दर दृष्टि डालकर देखो तो तुरन्त आत्म-दर्शन हो जायगा। यही तो सम्यग्दर्शन है।

इस जीव को पंच परावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण करते अनन्तकाल बीत गया। कभी भी निज तत्व का लाभ नहीं हुआ अर्थात् सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं हुई। सम्यग्दर्शन का लाभ ही सर्व श्रेष्ठ है। इसके लाभ होने से मोक्ष का अक्षय सुख प्राप्त होता है, अतएव कर्म-समूह का विध्वंसक

सम्यग्दर्शन प्रथम ही अपने हृदय में धारण कर पीछे समस्त कर्मों के क्षय करने वाले बाह्याभ्यन्तर तप का आचरण करना चाहिये। जिस प्रकार सेना, नायक के बिना सन्मुख युद्ध करने में असमर्थ है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी नायक के बिना दुर्द्धर तपश्चरण निरर्थक है। कर्म-शत्रु ध्वंस नहीं होते। अथवा जैसे बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि नहीं होती न फल प्राप्त होते हैं, वैसे ही एक सम्यग्दर्शन रूपी बीज के बिना ज्ञान, चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्ण फल मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। तीनों लोक में जीव का सम्यक्त्व के समान कल्याण कारी और मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी अन्य कोई नहीं है। अतएव मिथ्यात्व रूपी हलाहल विष को वमन कर सम्यक्त्व रूपी अमृत का पान करो, जिससे तुम्हारा वर्तमान ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जायगा।

अब अपनी आत्मा पर दया भाव रख चौरासी लाख योनियों के परिभ्रमण से बचा लो। अपनी आत्मा को अपनी ही आत्मा के शरण लगाओ। यह अविनाशी आत्मा अनादि अनन्त और स्वाभाविक रूप है किसी ने नवीन नहीं बनाया है। ये दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थ शरीरादि तो जड़ हैं परन्तु आत्मा अजर-अमर अविनाशी तत्व है। यदि भव-भ्रमण से थक गये हो तो अपनी ही आत्मा में विश्राम करो जिससे परम शान्ति मिले। यदि एक बार भी क्षण—मात्र को आत्मा को समझ लो तो निःसन्देह भव-भ्रमण नाश हो जायगा। एक क्षण—मात्र का सम्यग्दर्शन अनन्त जन्म-मरण का नाशक है। यदि एक क्षण—मात्र को भी सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाय, तो फिर बिना मुक्त हुए न रहोगे।

यह आत्मा अनादि अनन्त शान्ति रूप है। ये पौद्गलिक विका उसका स्वरूप नहीं है। उत्पन्न हुआ विकार आत्मा के मूल स्वरूप में प्रविष्ट नहीं होता। एक क्षेत्रावगाही होने पर भी पृथक् किया जा सकता है। यह जीव इसी विकार पुण्य पाप के फल से अनन्त बार महान सम्राट और

भिखारी हुआ है। इन अवस्थाओं में भी आत्मा शक्ति रूप से परिपूर्ण और भगवान जैसी ही थी, परन्तु भेद-विज्ञान न होने से पूर्ण शक्ति व्यक्त नहीं हुई और अपने को सम्राट या भिखारी मानता रहा। यही मूल में भूल अनादि काल से बनी रही। एक क्षण-मात्र को भी भेद-विज्ञान हो जाता तो अनन्त जन्म-मरण का अन्त हो जाता। जैसे-शैल पर वज्रपात होने से उसके सहस्रों खण्ड हो जाते; वे फिर जुड़कर पुनः शैल रूपी नहीं होते। इसी प्रकार एक बार का भेद-विज्ञान मुक्ति का मूल कारण हो जाता है। भेद-विज्ञान की भावना सर्व श्रेष्ठ है।

शास्त्र स्वाध्याय या अनुभवी पुरुषों को देशना लब्धि अवश्य प्रकट होती है। यह सर्वोत्कृष्ट लब्धि निरन्तर आत्मार्थियों को भव—भ्रमण से छूटने के लिए इस अनुपम भेद विज्ञान को अवश्य प्रकट करना चाहिये। भेद-विज्ञानाभ्यासियों को देशना लब्धि के मुख से धर्म देशना साक्षात श्रवण करने से ही प्राप्त होती है। संसार में यही सार भूत तत्व है। वर्तमान शरीर का ढांचा तो नवीन है, परन्तु आत्मा तो अनादि अनन्त ज्ञानदर्शन मय किसी से न उत्पन्न होने वाला तत्व है शरीर का नाश होने पर भी यह विद्यमान रहता है। जिस प्रकार दीपक से बहुत समय से फैला हुआ अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा की पहिचान कर सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक प्रकट होने से अनादि कालीन मिथ्यात्व रूपी अन्धकार विलीन हो जाता है। आत्मोत्कर्ष का यही सच्चा उपाय है। यह आत्मा अनादि काल से अब तक अन्य सब-कुछ कर चुका है। परन्तु आत्म—तत्व की सच्ची समझ कभी नहीं की इसी कारण चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करना पड़ा। यदि आत्मा रुचि कर उसका यथार्थ स्वरूप एक क्षण मात्र को भी समझे, तो जन्म मरण का अन्त आ जाय।

जिस प्रकार सिंहनी सिंह से कभी भयभीत नहीं होती, क्योंकि वह उसे अपनी ही जाति का

समझती है। उसी प्रकार अपनी निर्विकार आत्मा को सिद्ध भगवान की जाति की समझ कर निर्भय हो जाओ। आत्म-स्वभाव का भान करने से समस्त भव—भय दूर हो जाते हैं क्योंकि आत्मा के अपने यथार्थ स्वभाव की ओर उन्मुख होने से उसमें विकारों की उत्पत्ति नहीं होती और कर्मों का नाश स्वयं हो जाता है। उसमें से पाप पुण्य का उपार्जित बोझा पृथक होकर, केवल-ज्ञान रूपी लघुत्व (हल्कापन) प्रकट हो जाता है। फिर भव सागर में पुनः डूबने नहीं पाती। अज्ञानी जीव अनादिकालीन आत्म-तत्व को न पहिचानने की भूल को दूर न करता। जैसे—किसी सकड़े मुँह के बर्तन में भरे हुये बेरों को निकालने के लिये कोई बन्दर उसमें हाथ डाले और मुट्ठी बांधकर हाथ को घड़े से निकालना चाहे तो उसका हाथ घड़े से नहीं निकलता। वह समझता है कि मेरा हाथ किसी मजबूती से पकड़ लिया है अतएव वह चीखता—चिल्लाता है, यदि वह बंधी मुट्ठी को छोड़ दे, तो हाथ आसानी से निकाल सकता है, परन्तु उसमें ऐसी समझ नहीं आती वह इस यथार्थ समझ को भूला हुआ है। इसी प्रकार संसार के अज्ञानी जीव स्वयं अपने ममत्व परिणामों से बँध जकड़ गये हैं। यदि निज स्वभाव की यथार्थ पहिचान कर ममत्व-बुद्धि की पकड़ को छोड़ दे, तो मुक्त हो जावें। "दूसरे ने मुझे बांध या पकड़ रखा है"। स्वयं ऐसी मान्यता से कभी भी मुक्ति न होगी। यह जो स्वयं रागादि मोह—भाव से बंधता और पुरुषार्थ करके मोहादि भावों को पृथक कर मोक्ष पा लेता है, इसमें ऐसी ही अनन्त शक्ति।।

हे आत्मन्! तू एक है, और अनेक भी है, जगत में समस्त आत्माएँ मिलकर एक आत्मा नहीं है, परन्तु प्रत्येक आत्मा अपने अनन्त गुण, पर्याय के अभेद रूप से एक है। संसार के अनन्त जीवों की प्रत्येक भिन्न-भिन्न अनन्त आत्मायें हैं। अर्थात् आत्मायें जाति रूप से सर्व समान होने से एक और संख्या भिन्न भिन्न होने से अनेक है।। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा स्वभाव से एकत्व और अनेकत्व मय है।

अतएवचतुर्गति में भ्रमण कराने वाली मिथ्या या विकार बुद्धि त्यागने में ही लाभ है। हे आत्मा! तू ध्रुव और नित्यानन्द स्वभावी। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा होने की परिपूर्ण शक्ति भरी हुई है। उसकी प्रतीति कर एकाग्र होने पर परमात्म—दशा का आनन्द प्रकट हो जाता है।

पुन्य को धर्म मानना ठीक नहीं है क्योंकि वह तो एक नश्वर विकार ही है जोकि वस्तुस्वभाव से रहित है। जैसे—अग्नि का उष्ण स्वभाव है, वह अमिट है। यदि कोई उसे ठण्डा मानकर छुए तो वह उसे बिना जलाए न रहेगी। जो वस्तु-स्वरूप को न जानकर पुन्य-पाप के नश्वर भावों को अपना स्वरूप मानता है, वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। आत्मा अनादि है, वह कभी नवीन उत्पन्न नहीं होता, परन्तु पुन्य–पाप के भाव तो नवीन नवीन बदलते रहते हैं। पाप भाव बदलकर पुण्य–भाव हो जाते और पुन्य-भाव बदलकर पाप-भाव हो जाते हैं। इस प्रकार निरन्तर अदला-बदली होती रहती है। इससे विपरीत आत्मा त्रिकाल स्थायी और पुन्य-पाप से पृथक् है। शरीरादि संयोग, जड़ और आत्मा से पृथक् है। धर्म की दृष्टि में 'पर' की रुचि नहीं है क्योंकि रुचि तो पल पल में पलटती रहती है। जैसे—कन्या जन्म से लेकर पिता के घर में बढ़ती और पैतृक सम्पत्ति को अपनी समझती है, परन्तु सगाई सम्बन्ध निश्चित होने पर उसकी रुचि तत्काल पलट जाती है। वह पितृ गृह को अपना न समझ सगाई सम्बन्धित वर और वर को अपना समझने लगती है। इसी प्रकार ज्योंही आत्मस्वभाव का भान हुआ त्योंही रुचि 'पर' की ओर से क्षणमात्र में पलट जाती है। अनन्त कालीन विपरीत रुचि को बदलते देर नहीं लगती।

चैतन्य शक्ति में भरे केवलज्ञान पर विश्वास करो यही मनुष्यत्व का फल है। सम्यक्त्व ही परमाराध्य अमूल्य रत्न है। उसी के प्रसाद से जीव को सिद्धपद की प्राप्ति होती है और सर्वज्ञ होकर त्रैलोक वन्द्य हो जाता है।

त्रैलोक्य बन्ध हो जाता है। अधिक क्या कहा जाय—भूतकाल में जितने मुनि पुङ्ग सिद्ध हुए तथा वर्तमान में हो रहे और भविष्य में होंगे, ये सब इसी सम्यक्त्व के प्रताप से हुए और होंगे। आत्मनिरीक्षण करते हुये जब मन रागद्वेष रूपी कल्लोलों से रहित शान्त हो जाता है तभी आत्मदर्शन होता है। इसे ही स्वानुभूति स्वरूप संसार सागर से पार करने वाला सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिसने आत्मतत्व का शरण लिया, उसने ही रत्नत्रय का यथार्थ सम्मान किया है। यही उत्तम मार्ग है।

जो यति समस्त विकल्प जालों से रहित हो आत्मतत्व में तल्लीन होता है, वह भवभव के दुखों से दूर होकर सिद्ध पद को पाता है। यही स्वभाव उपादेय है। उस आत्मा ने पर परणति तथा कर्त्ता, कर्म, क्रिया की भ्रान्ति को उच्छेद निजानन्द को ग्रहण किया है। परमात्मा में पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी कोई विकार नहीं है। वह शुद्ध जीवास्तिकाय वर्ण और रागादि रहित, चेतना गुण से शोभायमान है। वह किसी चिन्ह, शब्द या मशीन द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। किसी कैमरे से उसका प्रतिबिम्ब (फोटो) नहीं लिया जा सकता। धर्म, अधर्म, काल, आकाश तथा अन्य जीव और पुद्गल मेरी आत्मा से भिन्न हैं। कर्म निमित्त से होने वाली राग, द्वेष मोहादि रूप परणति मुझसे भिन्न है। जिसके दर्शन मोहरूप समस्त परिणाम पूर्णतः नष्ट हो गये हैं; निश्चयनय से वही सम्यग्दर्शनधारी पवित्रात्मा है। समस्त संकल्प विकल्प जाल से रहित वीतरागी उत्तम आत्मा सम्यग्दृष्टि है।

मैं चैतन्य, ज्ञाता, दृष्टा स्वरूप समस्त पदार्थों की पर्यायों से भिन्न 'पर' भावों से रहित हूं। जो ये पदार्थ देखने, जानने या अनुभव में आ रहे हैं वे मेरी आत्मा से सर्वथा जुदे हैं। विपरीताभिनिवेश के कारण व्यर्थ ही पर-पदार्थों में आत्म-बुद्धि कर रहा है। यही विपरीत कल्पना आत्मा के दुःख का मूल कारण है। जब आत्मा से दर्शन मोह का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होता है, तब विवेक-ज्योति

जागृत हो आत्मा में सद्दृष्टि का प्रभाव उदित होता है तथा समस्त पुरातन संकल्प–विकल्प विलीन हो जाते हैं। स्वभाव की उपलब्धि में बाधक संकल्प-विकल्पों के उदय से जो आत्मा स्वरूपानुभव, हितकारी ज्ञान वैराग्य को कठिन और कष्टप्रद अनुभव करता है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। सद्दृष्टि तो वह है कि विवेक भावों के उदय होने पर रागादि विभाव, भाव नष्ट होकर जिसे आत्मा का ज्ञान, दर्शन, चिदानन्द, स्वरूप प्रकट हो जाय। अब व्यवहार सम्यग्ज्ञान के विषय में लिखते हैं—

गौतमादि गणधरों ने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष सप्त तत्वों के प्रतिपादक द्वादशांग रूप श्रुत रचे हैं, तथा कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने पुराणों में गाये हैं। इन्हें सन्देह रहित ज्यों का त्यों जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। ऐसा तत्व–ज्ञान स्वपर का भेद कराने वाला, संशय, विपर्यय, अनध्यवसायादि मिथ्याज्ञान से रहित, पदार्थों को द्रव्य-भाव रूप दिखाने में दक्ष सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है। व्यवहार-नय से यही सम्यग्ज्ञान है। अपने स्वरूप में ही उपयोग विशिष्ट, पर पदार्थों की परणति से भिन्न, चिदानन्द, चैतन्य स्वरूप गुण समूह का ज्ञाता–दृष्टा, नैगमादि सम्पूर्ण नयों के व्यापार से रहित, स्वभाव भाव से परिपूर्ण ज्ञान-स्वरूप निश्चय नय से सम्यग्ज्ञान है। यही केवलज्ञान चेतना अनुभव करने योग्य है। अब व्यवहार सम्यक्चारित्र लिखते हैं—

य: पंचाचार, दश-लक्षण-धर्म, षडावश्यक क्रिया और व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप हैं। द्रव्य क्रियाओं के करने से उसमें कुछ अनुकूल स्थूल राग परिणाम हुआ करते हैं और भेदज्ञान के प्रभाव से कषायों का प्रकर्ष स्वभाव शान्त हो जाता है। जीव के ऐसे विशेष परिणामों से सराग सम्यक्चारित्र होता है। निश्चय वीतराग चारित्र में तो जीव समस्त प्रपंचों से रहित हो गुणी में गुण के समान स्वात्म ज्ञान में लीन हो जाते हैं। जिस मुनि को बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता उसी चारित्र को गौण वीतराग चारित्र

वीतराग का चारित्र और सूक्ष्म राग का भी अभाव होने पर साक्षात् निश्चय वीतराग चारित्र कहते हैं। सम्यक्चारित्र कषाय-कलंक से सर्वथा मुक्त, मोह उदय जनित क्षोभ से रहित, स्वात्म प्रवृत्तिरूप है। इस प्रकार गौण वीतराग चारित्र और साक्षात् वीतराग-चारित्र मुक्ति के कारण हैं। मुनि प्रथम द्रव्य लिंग धारण कर, फिर भावलिंग का अवलम्ब ले, आत्मध्यान के बल से समस्त कर्मक्षय कर सिद्धक्षेत्र में जा विराजमान होते हैं।

यदि द्रव्य-दृष्टि से देखा जाय, तो न तो आत्मा के बन्ध है और न मोक्ष है। वह तो बिलकुल शुद्ध, नित्य, सबसे भिन्न, एक, ज्ञानानन्दमयी, परम वीतरागी ही झलकेगा। जैसे—बीस व्यंजनों में नमक अलग झलकता है। यद्यपि बीस व्यंजनों में देखा जाय तो नमक नानारूप है, परन्तु निश्चय-दृष्टि से नमक बिलकुल अलग है। इसी प्रकार शरीर में आत्मा भी अलग है। जो साधु अपनी आत्मा में ही आत्मा को एकाग्र चित्त हो निरन्तर देखता है, उसे घर ही वन है। दीपक, चन्द्र उत्तम शुद्ध भोजन भिक्षा, शय्या, पृथवी और दशों दिशायें ही वस्त्र हैं। उसके ज्ञान-दर्शन दो नेत्र हैं। चित्त की शान्ति और ध्यान ही उसकी पूर्ण-सम्पत्ति है। उसका शरीर सन्तोषामृत पान से सदैव परिपुष्ट रहता है। मोहरूपी भ्रमर दूर होकर विषय-वासनाओं से चित्त हट गया है। ऐसा साधु शुद्धात्म स्वरूप का अवलम्ब करता है। वह सिद्ध समान अपनी आत्मा का अनुभव करता है। उसके अन्तरङ्ग में जैसी-जैसी विशुद्धता बढ़ती जाती है, वैसी-वैसी उज्ज्वल आत्मज्योति प्रकाशवान होकर झलकती जाती है और कर्मों की निर्जरा होती जाती है अर्थात् आत्मानुभवी आत्मानन्द में सदैव तल्लीन रहते हैं। यही स्वानुभव उपादेय है।

यह स्वानुभव पुनः पुनः अभ्यास से होता है। वह बार बार विचारता है कि मैं चैतन्य, ज्ञाता, दृष्टा, शरीर—प्रमाण, अमूर्तिक, पूर्ण स्वभाव संयुक्त, कर्मादिक पर पदार्थों से भिन्न हूं। रागादि रूप

मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार वह शुद्ध स्वभाव में निरन्तर तल्लीन रहता है जिससे उसका भव-भ्रमण नष्ट हो जाता है नरकादि अनन्त पर्यायों में भी यही आत्मा था। जैसे—मिट्टी घटादि अनेक रूप (पर्याय) धारण करने पर भी मिट्टी ही रहती है। जिस प्रकार तरङ्ग रहित समुद्र निश्चल भाषता है। इसी प्रकार आत्मा संकोच विस्तार रहित अपने प्रदेशों में स्थिर झलकता है। जैसे—स्वर्ण अपने अनेक गुण (गुरुता, पीलापन) रखते हुए अभेद है, वैसे ही आत्मा भी अपने ज्ञान-दर्शनादि गुणों से सामान्य रूप अभेद है। जैसे जल बिना अग्नि-संयोग के स्वभावतः शीतल है वैसे ही आत्मा मोह कर्म के बिना रागद्वेष नहीं करता और शान्त रह सम्यक्त्व ग्रहण कर अनुभव रूपी बगीचे में निवास करता है। अर्थात् भेद-ज्ञान द्वारा आत्मा को पुद्गल पिण्ड और रागादि भावों से बचा, सर्वदा के लिये बन्ध-संस्कार से रहित अपने भीतर अनुभव करता है। उसे आत्मा कर्म—मल से रहित नित्य ही झलकती है। वह जल में तेल की बूंद के सदृश है। आत्मा की महिमा वचनातीत है। वह तो सिर्फ अनुभव गम्य ही है।

भेद-विज्ञानी आत्मा के शरीर रूपी मकान को देख विचारता है कि मैं चैतन्य स्वरूप, कर्म कलंक रहित, आनन्द ज्ञान मयी, अबाधित हूँ परन्तु अनादि—काल से मोह के जाल में फँसा इस शरीर रूपी बन्दीगृह में पड़ा हूँ। जब वह सम्यग्ज्ञान पूर्वक अपने में प्रवेश कर आत्म-निरीक्षण करता है तब सर्व कर्म-जंजाल, राग-द्वेष आदि विकारों से रहित अनुभव करता है। वह आत्मा को अपनी आत्मा के भीतर पर से पृथक्, अखण्ड, स्वभावी, मतिज्ञानादि कल्पना, राग—द्वेष मोहादि क्षोभ रहित, लोकाकाश प्रमाण, पूर्व प्रकाशमान और परमानन्दमय अनुभव करता है। वह अरिहन्त भगवान के समान अपनी आत्मा को स्वीकार कर मोक्षसुख प्राप्त कर लेता है। रत्नत्रय का ऐसा ही माहात्म्य है।

जिसके हृदय में रत्नत्रय शोभायमान है उसे सिंह हिरण सदृश, मदोन्मत्त मतंग निर्मल स्वभावी वृषवत्, जल-प्रवाह सरोवर समान स्थिर, भयानक विषधर पुष्प-माल, अग्नि-कुण्ड जल रूप, शत्रु मित्रवत् और हलाहल विष अमृत रूप हो जाता है। अमरेन्द्र भी उसका किंकर हो जाता है। सार यह है कि समस्त दुख के साधन उस सुखरूप हो जाते हैं। अतएव संसार-सागर को पार करने वाले रत्नत्रय रूपी जहाज को शीघ्र ही धारण करो। यह सर्व कल्याण का बीज, अचिन्त्य सुखों का खजाना और सम्पूर्ण तीर्थों में उत्तम तीर्थ है। यही श्रेष्ठ उपदेश है। समस्त पुण्य प्रकृतियों में तीर्थंकर नाम प्रकृति ही सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु सम्यग्दृष्टि के जिन भावों से इस पुण्य-प्रकृति का बन्ध होता है, उन भावों के प्रति भी ज्ञान-दृष्टि में कोई आदर नहीं है क्योंकि ज्ञान-स्वभाव की दृढ़ता होने पर पर-संयोग छूट जाता है। यही स्वभाव की स्वतन्त्रता है। ज्ञानी के ज्ञान में तो कोई भी पर-वस्तु हानि-लाभकारी नहीं वह तो निश्चय रत्नत्रयात्मक, वीतराग सहजानन्द, निर्मल समाधि में सुशोभित, सुखानुभूति में स्वसंवेदन वश है।

इस प्रकार मन का पूर्ण निरोधकर, मिथ्यात्व, रागद्वेष, क्रोधादि और समस्त शल्य-विभावों से रहित हो अपने शुद्ध ज्ञान—दर्शन स्वभाव मय आत्म-स्वरूप की भावना करो जिससे महामल्ल मोह का विध्वंस हो जाय, फिर तो अन्य समस्त कर्म अल्प—काल में क्षय नष्ट हो जायेंगे और आत्मा को मोक्ष हो जायगा। निश्चय से तो आत्मा ही स्वयं मोक्ष—रूप है। लोक में जितनी आत्मायें हैं वे दुःख को दूर कर सुख चाहती हैं। आत्माओं की संकोच—विस्तार रूप दशा भी होती है। जब यह जीव दुःखी होता तब शयन कर जड़वत् होकर भी दुःख दूर करना चाहता है, यद्यपि सोने में ज्ञानादि गुण मन्द पड़ जाते हैं। अपना अस्तित्व मिटा अर्थात् मर कर भी दुःख को दूर करना

चाहता है, अतएव समस्त पर्याय रूप दुःख का अभाव कर देना ही श्रेष्ठ कर्तव्य है। दुःख का न होना ही सुख है। जीव के लिए यह संसार नया नहीं है। अनादि काल से पराधीनता के कारण चतुर्गतियों में परिभ्रमण कर रहा है। कभी भी शुद्ध नहीं हुआ। यदि एक बार भी शुद्ध हो जाता, तो संसार में न भटकता। जैसे:—मक्खन एक बार घी बन जाय तो फिर कभी पुनः मक्खन नहीं बनता। यदि आत्मा विकार को दूर कर अपना अविकारी स्वाभाविक रूप प्रकट कर लें, तो स्वयं परमात्मा बन जाय, परन्तु स्वतन्त्रता को बिना जाने वस्तु स्वतन्त्र नहीं होती। अनादि काल से संसारी जीवों का यही हाल हो रहा है। उन्होंने क्षमा गुण के विपरीत क्रोधादि रूप विकार को निज स्वभाव मान लिया है। यही भूल में भयानक भूल हो रही है। जैसे:—जल में शीतलता स्वाभाविक गुण है, परन्तु अग्नि के संयोग से उष्ण (गरम) हो जाता है। यदि अग्नि का सम्बन्ध पृथक कर दिया जाय तो वह पुनः शीतल स्वभाव गुण में आ जाय। इसी प्रकार आत्मा पुन्य-पाप-बन्ध भावों से विकृत (उष्ण) हो रहा है यदि ये पृथक कर दिये जायें तो शुद्ध स्वभाव रूप (शान्त-शीतल) हो जाय। जब तक ऐसा नहीं किया, तब तक सच्चे सुख की झलक स्वप्न में भी नहीं हो सकती।

यह जीव अनादि काल से पुन्य—पाप रूप विकारी भावों और मन-वचन-काय की क्रियाओं को अपना मान कर बन्ध उपस्थित किया अर्थात् स्वतन्त्र तत्व को पराश्रय में लेकर सुख-बुद्धि करली है। यही स्वाधीनता का बड़ा नुकसान किया और जितना पराधीनता का आधार अपना आधार माना उतना ही बन्ध किया। यह बड़ी हानि की। आत्मा तो पर से बिलकुल पृथक, स्वाश्रित है। सच्ची श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) में सुदेव, सुगुरु और सत्-शास्त्र को निमित्त कहा गया है। जिस आत्मा में त्रिकाल पूर्ण परमात्म दशा प्रकट है वह सद्देव, (सदेव) जिसकी आत्मा के साथ निर्ग्रन्थ दशा

विद्यमान है वह सद्गुरु (सुगुरु) और जिस शास्त्र मे प्रत्येक आत्मा की स्वाधीनता, अनन्त गुणों की पूर्णता का प्ररूपण किया गया हो, वह सत्-शास्त्र (सुशास्त्र) है।

धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। देव—गुरु—शास्त्र तो पर वस्तु है। आत्मा स्वयं अपने ही भावों को ग्रहण करता या छोड़ता है अतएव स्वयं कर्त्ता है। जड़ कर्म को आत्मा न तो ग्रहण करता और न छोड़ता है। जड़ कर्म की अवस्था तो जड़ के कारण ही होती है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के गुण पर्यायें भिन्न भिन्न हैं एक का दूसरे मे मेल नहीं होता। इसलिए समस्त जड़ अवस्थाओं का कर्त्ता स्वयं आत्मा नहीं है। आप लोग अशुद्ध भावों को उत्पन्न कर निजात्म स्वरूप का कोप लुटा रहे हो। बेचारे, जड़ कर्म तेरा कुछ भी न कर बिगाड़ सकते। कर्मों ने तुझे नहा लूटा बल्कि असावधानी से लूटे गए हो। यदि निश्चय से विचारो तो तुम लुटे ही नहीं गये, क्योंकि तुम तो शुद्ध द्रव्य हो। आत्मा का स्वभाव निज स्वरूप के द्रव्य मे प्रवृत्ति, पर स्वरूप से निवृत्ति एवन् ज्ञान-मय है। ज्ञान ही मन को जीतने मे सर्वोत्तम साधन है। ज्ञानांकुश से ही मन रूपी मदोन्मत्त हाथी वश किया जाता है। ज्ञानोपयोग से ही संकल्प विकल्प रूपी पिशाच वश मे हो जाते हैं अथवा चंचल मन मर्कट ज्ञानाभ्यास से ही माध्यस्थ भाव ग्रहण करता है और चञ्चलता रुक जाती है। जब मन मर्कट का कूदना-फाँदना, भ्रमण करना बन्द हो जायगा तभी आत्म—दर्शन होगा। जैसे:—कल्लोल पूर्ण सरोवर मे गिरा हुआ रत्न जल निर्मल होने पर भी नहीं दिखाई देता परन्तु जब पवन रुकने से कल्लोलें शान्त स्थिर हो जाती है, तब वह रत्न दिखाई पड़ने लगता है। इसी प्रकार मनोवेग के रुक जाने से चिदानन्द आत्मा का दर्शन हो जाता है।

जिस समय यह आत्मा अपने पुरुषार्थ से पर को तज निजाश्रय को स्वीकार करता है, उसी

नहीं देखता, समझता है कि मुझे कोई नहीं देख रहा। इसी प्रकार हमने स्वतः अपना सम्यग्ज्ञान नेत्र बन्द कर लिया है। यह भव भव के लिये दुखदाई भूल की है।

जो जीव आत्मा की पवित्रता करता है। उसकी उत्तम आत्मा उत्तम तीर्थ बन जाती और स्वयं तथा अन्य को तारने में समर्थ हो जाती है। जिस आत्मा ने तरन–तारन पद पाया, उसके अवलम्ब से अज्ञानी आत्मा भी तरन–तारन पद प्राप्त कर सकती है। जैसे—निन्द्रा में सोए मनुष्य को जागने के दो ही मार्ग हैं या तो स्वयं जागे अथवा अन्य के निमित्त से जागे। ऐसे ही चाहे स्वयं बुद्ध हो, या बोधित बुद्ध हो। सब का प्रयोजन निजात्म स्वभाव प्रकट करना है। हां, जब तक अन्तरङ्ग आत्मा में पवित्रता प्रकट नहीं हुई, तबतक बाह्य तीर्थ का निमित्त मिलाना आवश्यक है। यह आत्मा अनादि—काल से ज्ञेय रूप पर-वस्तु को अपना स्वभाव, तथा निजात्म स्व—रूप को ज्ञेय रूप पर वस्तु मानता हुआ भव–सागर में गोता खा रहा है। यदि निज स्वरूप को पहिचान कर लेता, अर्थात अखण्ड केवलज्ञान प्राप्त कर तीन लोक सहित अलोक ज्ञेय को अपने ज्ञायक स्वभाव में झलका लेता, तो वहीं ज्ञान निर्मोह अवस्था में निर्विकल्प हो जाता। जैसे—पवन के निमित्त से समुद्र में तरंगें उठती हैं, परन्तु पवन के अभाव से वही समुद्र का जल शान्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु निज रूप है वह अपने ही स्वरूप है। निश्चय में तो निर्विकल्प होने से अपने ज्ञायक स्वभाव में है, परन्तु वस्तु स्वरूप में निश्चय और व्यवहार नहीं है। व्यवहार में अपने और पर का विकल्प है अतएव व्यवहार की अपेक्षा अपने और पर तीन लोक सहित अलोक को जानता है। आज तक जितनी आत्मायें सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुई हैं, वे सब भेद—विज्ञान की पवित्रता के कारण हुई हैं।

जितनी आत्मायें संसार चक्र पर घूम रही हैं, वे सब मोह के

...रता हुई हैं ।

जितनी आत्मायें संसार चक्र पर घूम रही हैं, वे सब मोह के मूर्छित होकर चतुर्गति में घूमती फिरती हैं । अतएव हे भव्य जनो ! पुरुषार्थ करो जिससे तुम्हारी आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाय । आत्मा ही परम तीर्थ है, उसी तीर्थ की आराधना करो जिससे आत्मा स्वयं आराध्य बन जाय । बिना स्वाधीन तत्वरूप जाने आत्मा की पूर्ण भक्ति नहीं हो सकती । परमात्म—स्वरूप पहिचाने बिना रागद्वेष का विकार बना ही रहेगा । जो आत्मा निज स्वरूप को ज्ञान आदर पूर्वक भक्ति द्वारा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, वह उत्तम आत्मा एक समय मात्र में त्रैलोक्य की त्रैकालिक पदार्थों की सम्पूर्ण अवस्थाओं को जान लेता है । प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञ-पद प्राप्त करने की सामार्थ्य रखती है । वह जीव स्वयं अनादि काल से अपने आत्म स्वरूप को मिथ्या—दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का आचरण कर संसार भ्रमण के अनन्त दुखों का अनुभव करता आ रहा है कदाचित अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-भव पाया, तो कुगुरु कुदेव, कुधर्म सेव में रहकर मिथ्यात्व की ही पुष्टि करता रहा । जिससे उसका संसार परिभ्रमण बीज दूर नहीं हुआ । बीज से वृक्ष और वृक्ष का क्रम सदैव जारी रहा । इस प्रकार दुर्लभ मनुष्य—जन्म नष्ट कर अनन्त दुख-आरति का पात्र बना रहा ।

जिसे अपना कल्याण करना हो, वह आत्मा को अन्य सब पदार्थों के आश्रय से भिन्न स्वाश्रित समझे अर्थात पर से रुचि हटाकर अपनी शुद्धता मे रुचि करे जिससे महा दुर्लभ सम्यक् रत्न की प्राप्ति हो । इस प्रकार शुद्धात्मा को लक्ष्य में ले एकाग्र होना ही धर्म-ध्यान है । पर का ध्यान अधर्म ध्यान है । जो अपने मन को शान्त कर चिदानन्दमयी निज शुद्धात्मा, एक स्वभाव रूप परमात्मा का ध्यान करता है, वह शुद्धोपयोगी आत्मा है । इसके अतिरिक्त आत्मा के जानने का खेद सब व्यर्थ है । भला, जिस ज्ञान से संसार के पदार्थों का ज्ञान होता है, ज्ञानी को उस ज्ञान से आत्मा का ज्ञान कैसे न होगा ? जिस

दीपक से प्रकाश फैलता है, उससे दीपक क्यों न दिखेगा ? आत्मा का अपने आत्म ज्ञान द्वारा स्वयं अनुभव किया जाता है। वह स्वयं अनन्त गुण रूपी उत्तम रत्नों का करण्ड है। यह परम निरंजन सर्वदर्शी, अनन्त वीर्यवान आत्मा, ध्यान—शक्ति के प्रभाव से केवल ज्ञान प्रकट कर-कर्म-प्रणाति नष्ट करके स्वयं साक्षात् परमात्मा हो जाती है। यह वाह्य-भावों को छोड़ अन्तरङ्ग भावों से ग्राह्य है।

आत्मा निर्मल दर्पणवत् प्रभा वाली है जिसमें समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। इसका ज्ञान प्रकाश-रूप है। इसका कभी अन्श-मात्र भी नहीं घटता, अप्रमेय है। समता स्वभावी जीव मनोवेग को रोक आत्मा को आत्मा के द्वारा अनुभव करता है। साधारणतया आत्मा में तीन भेद हैं। अर्थात् बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा। जिन जीवों को आत्मा के भ्रम से शरीरादि पर पदार्थों में आत्म—बुद्धि हो रही है अर्थात् मैं ही इस स्वरूप हूँ ऐसा मानते हैं वे बहिरात्मा हैं। जो आत्मा के वाह्य पर्यायों को उल्लंघन कर आत्मा में ही आत्मा का निश्चय करते हैं वे अन्तरात्मा हैं। जो अशरीर, राग—द्वेष मोहादि विकारों से रहित सिद्ध स्वरूप हैं वही परमात्मा है। आत्मा ही साध्य साधक है। जब आत्मा शुद्ध स्वरूप, अविनाशी, निर्विकल्प अनुभव किया जाता है तब वह साधक और अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्मा की अवस्था ही साध्य है।

आत्मा का परिणमन तीन प्रकार का है। शुद्धोपयोग, शुभोपयोग, और अशुभपयोग। अन्तरङ्ग आत्मा का प्रेमी, संसार—भोगों से उदासीन, पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा करने वाला, निज स्वभावी, पूर्ण पुरुषार्थी, तत्व—ज्ञानी और चारित्रवान जीव शुद्धोपयोगी है। जिससे उसे शुद्धात्मा का लाभ होता है। वह स्वात्मानुभव लक्षण युक्त हो निश्चय-नय के आधार से समस्त विकार—भावों को दूर कर आत्मा को शुद्ध और केवलज्ञान मयी समझता है। जब यह जीव स्वर्गादि सम्पदा के देने वाले

...को शुद्ध और केवलज्ञान मयी समझता है। जब यह जीव स्वर्गादि सम्पदा के देने वाले

दान, पूजा, शील, संयम, जप–तप आदि के शुभ भाव करता है तब वह शुभोपयोगी कहलाता है। इन सब क्रियाओं और भावों से पुण्य–बन्ध होता है। जो आत्मा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, तृष्णा, महारम्भादि द्वारा अनेक पाप-कर्मों का निरन्तर बन्ध करता है, वह अशुभोपयोगी आत्मा है।

आत्मा तो एक सत् द्रव्य है वह अष्ट कर्म रहित, अनुपम, अविनाशी, शुद्ध, सिद्ध और केवल ज्ञान मय है। निश्चय नय से आत्मा अपने शुद्ध भावों का कर्ता—भोक्ता है। आत्मा का सच्चा गुरु अपनी आत्मा है अपने में ही अपना भला करने की इच्छा होती है। यह ग्रहण किए स्व—द्रव्य को कभी नहीं छोड़ती और न पर द्रव्य को ग्रहण ही करती है। जो सब को सब प्रकार जानती है, वही स्वानुभव गम्य आत्मा है। यदि अपना हित चाहते हो तो अपनी बुद्धि, मन और परणामों को पवित्र रख रत्नत्रय की शुद्धि करो। मन, वचन, काय की क्रिया से आत्म प्रदेश चंचल होते और कर्मास्रव होता है। आत्मा की अशुद्धता के कारण ही यह सब होता है। जहां कार्य होता वहां आत्मा व्यापक है। मन की चंचलता से वचन कहे जाते तथा शरीर से भी हलन-चलन क्रिया होती है जिससे आत्म-प्रदेश सकम्प होते हैं। इस पुद्गलविपाकी शरीर तथा मन–वचन–काय वर्गणारूप आँगोपांग नाम कर्म के उदय के अवलम्ब से कर्म, नो कर्म को ग्रहण करने की शक्ति को भाव तथा आत्म प्रदेशों के चंचल होने को द्रव्य योग कहा गया है। ये ही कर्म-पुद्गलों-परमाणुओं के आस्रव के कारण हैं। यह कार्माण वर्गणा रूप पुद्गल-स्कन्ध, रागद्वेष रूप परिणामों के निमित्त से आत्मा के साथ बँध जाते हैं, जिनके फल स्वरूप संसार में परिभ्रमण कर अनन्त दुःख उठाना पड़ते हैं। इनको आत्मा से पृथक करना ही मोक्ष मार्ग है।

मोक्ष-मार्ग के प्रयोजन भूत, बाधक को हटाने और साधक को मिलाने मे कार्य—कारी, वस्तु

के सार को तत्व कहते हैं। इनकी संख्या सात हैं, अर्थात् जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा मोक्ष। इन सात तत्वों से ही आत्मा का पता चलता है कि मैं स्वभाव से निरंजन, परम वीतरागी पूर्ण ज्ञान—दर्शन शक्ति धारक जीव नामक पदार्थ हूं। मेरे सिवाय सर्व विकार पर हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन छह द्रव्यों में एक जीव और शेष पांच अजीव द्रव्य हैं। मन-वचन-काय योग द्वारा कर्मों के आत्म-प्रदेश में आने को आस्रव कहते हैं तथा राग-द्वेष, मोह के द्वारा आत्मा कर्मों को बांधता है, उसे ही बन्ध कहते हैं। जिन द्वारों से कार्माण परमाणुओं का आगमन आत्म-प्रदेशों के पास होता है, उन द्वारों को रोकना संवर है। बँधे कर्मों का आत्म-प्रदेशों को दूर होने लगना निर्जरा तथा संवर के प्रभाव से समस्त (पूर्व बँधे) कर्मों की निर्जरा होकर आत्मा की कर्म रहित अवस्था हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। बन्ध के मूल कारण योग और कषाय थे। इनका अभाव होने से आत्मा शुद्ध, निज स्वभाव रूप रह जाता है। यही मोक्ष है जो कि आत्मा का निज स्वभाव है। मुक्त आत्मा ज्यों ही शरीर छोड़ता है, त्यों ही ऊर्ध्व-गमन स्वभाव से उसी स्थान की सीध में तीन लोक के ऊपर, पुरुषका, चेतनामय, ध्यान स्वरूप चर्म शरीर से किंचित न्यून आकार से सिद्ध क्षेत्र में जा विराजमान हो जाती है। वहां अनन्त काल पर्यन्त स्वाभाविक, अनुपम, अतीन्द्रिय अनाकुल पूर्णानन्द सुत का पान करने में मग्न रहती। मोक्ष किसी स्थान विशेष का नाम नहीं। वह तो सम्पूर्ण पर-पदार्थों से छूटी हुई आत्मा की स्वाभाविक शुद्ध अवस्था में अपनी आत्मा को पहिचाना, उसी ने मोक्ष तत्व को जाना।

आत्म-शुद्धि की दृढ़ता से आत्म-बल इतना बढ़ जाता है कि फिर कभी स्वप्न में भी स्वयं को शुद्धात्मा के सिवाय अन्य रूप नहीं मानता। इस प्रकार चिरकाल अभ्यास करते करते आत्म-श्रद्धा जम

जाती है और स्वरूपाचरण चारित्र (आत्मानुभव) का लाभ हो जाता है। यही सम्यग्दर्शन है अभ्यासी आत्म को चाहिये कि वह थोड़ी देर के लिये किसी अबोधित एकान्त स्थान में बैठ, मन को रोक उसे आत्म स्वरूप चिन्तवन में जोड़ दे। जबतक आत्मा आत्मा मे स्थिर न हो जाय तबतक निरन्तर इसी प्रकार अभ्यास करता रहे। अन्तरङ्ग मे स्वात्मानुभव हो जाने पर समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है। समस्त जीव इस पुरुषार्थ के सहारे अपना कार्य किया करते हैं। प्राणी इसी पुरुषार्थ से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन कर लेते हैं। पुरुषार्थ द्वारा आत्मबल बढ़ा ध्यानादि करते हुए, पाप को घटा, पुण्य संचय करते हैं तथा आत्मा के शुद्ध स्वभाव को जान लेते हैं यही सम्यक्त्व है। एक अखण्ड, चैतन्य, स्वभाव की दृष्टि एवं सप्त तत्व या नौ पदार्थ का अनुभव ही सम्यक्त्व है। अभेद स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। इसके विपरीत जो आत्मा सदैव नौ पदार्थों के अनुराग (प्रेम) में फँसा रहता और पर से भिन्न, निज स्वरूप (शुद्ध) आत्मा का कभी अनुभव नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है।

अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास एवं अन्तरङ्गी एकाकार आत्म-स्वरूप की एकाग्रता से आत्मा मे अनन्तानन्त लोक के समस्त पदार्थों समस्त पर्यायों को जानने की अपूर्व सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। अतएव आत्मशक्ति पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिये। सदैव आत्मा का स्वभाव और विकार विचारना चाहिये। जिससे राग-द्वेष दूर होकर शुद्ध चैतन्य में लीनता आ जाती है। जैसे—मिश्री और फिटकरी रंग की अपेक्षा से एक समान सफेद हैं, परन्तु मक्खियाँ या चींटे-चिउँटियां मिश्री से ही अपनी रसना रसना इन्द्री का विषय साधती हैं; फिटकरी पर नहीं जातीं। इसी प्रकार विकार का स्वाद तो आकुलता सहित और आत्मा का स्वाद निराकुल है। अतएव विवेक द्वारा विकार को छोड़ निरन्तर आत्मस्वाद लेने मे लीन रहो। राग-द्वेषादि पुण्य-पाप तो मलीन भाव हैं। इनसे शुद्ध, चैतन्य, ज्ञान, दर्शन-स्वरूप

आत्मा का अनुभव नहीं होता, बल्कि शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप, निज स्वभाव की भक्ति, श्रवण, मनन, भजन, ध्यान रुचि और प्रतीति से होता है। यही सम्यक्त्व है। शास्त्रों में सम्यक्त्व के दस भेद बताये हैं यथा आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़।

शास्त्राध्ययन के बिना वीतराग देव की आज्ञा प्रमाण कर जो नव पदार्थों में सच्ची रुचि उत्पन्न हो जाती है, इसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं। जो सम्यक्त्व-घातनी मोह-कर्म की प्रकृतियों के शान्त होने से शास्त्राभ्यास के बिना ही सर्व बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित मोक्ष-मार्ग को उत्तम समझता और मानता है, वह मार्ग सम्यक्त्व है। मुनियों की चारित्र-विधि बतलाने वाले आचार सूत्रों को श्रवण करने से जो दृढ़ श्रद्धान उत्पन्न होता है, वह सूत्र सम्यक्त्व है। जो गणित ज्ञान के लिये नियम बीज किये गये हैं, उनमें से कुछ नियमों के जानने या मोहनीय कर्म की प्रकृति का सातिशय उपशान्त होने से करणानुयोग के गहन पदार्थों को भी समझने की रुचि और शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसे बीज सम्यक्त्व कहते हैं। पदार्थों का संक्षिप्त ज्ञान होने पर सम्पूर्ण तत्वों में यथार्थ रुचि उत्पन्न करा देने वाला संक्षिप्त सम्यक्त्व है और सम्पूर्ण द्वादशांग श्रवण कर तत्वों में जो रुचि और श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे विस्तार सम्यक्त्व कहते हैं। किसी पदार्थ को देखने अनुभव करने या किसी दृष्टान्त आदि का अनुभव करने से जो सम्यक्त्व लाभ होता है वह अर्थ सम्यक्त्व कहलाता है। जिसे द्वादशांग तथा अंग बाह्य सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का अनुभव हो गया हो अर्थात् श्रुत केवली अवस्था प्राप्त हो चुकी हो उसे जो सारभूत पदार्थों में अत्यन्त गाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, वह अवगाढ़ और केवलज्ञान के प्रकट हो जाने पर अन्तरङ्ग में एक, अखण्ड, शुद्ध आत्मस्वभाव का जो अनुभव होता है वह शुद्ध और परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहलाता है।

उत्तम सत्सङ्ग के प्रभाव से अपनी आत्मा को पहिचान समस्त पर भावों को परित्याग अपने शुद्ध आत्मस्वभाव मे लीन होना सम्यक्त्व है और यही संसार में सार है। अनादिकालीन सनातन जैन धर्म ही विश्व धर्म है, क्योंकि वह शुद्धात्म धर्म है। यह जैन धर्म किसी व्यक्ति, ग्रंथ या अन्य चमत्कार के आश्रित नहीं है, अपितु सत्य और अहिंसा धर्म का अखण्ड, परिपूर्ण अक्षय भण्डार है। अपनी आत्मा का अनुभव ही इसका आधार है। केवली प्रणीत युक्ति-वाद ही इसकी आत्मा है। इसे काल की मर्यादा में कैद नहीं कर सकते। यह पदार्थों के स्वरूप का प्रदर्शक, त्रिकाल अबाधित और सत स्वरूप है। जिस प्रकार पदार्थ अनादि-अनन्त हैं, उसी प्रकार उनका स्वरूप प्रकाश तत्व-ज्ञान भी अनादि अनन्त है। ऐसा वीतराग रूप जैन शासन है। उसका अनुभव भण्डार एक निधि या अटूट गोदाम है। अनेकान्त युक्ति और स्याद्वाद जैन-शासन की एक अजेय कथन-शैली है। यह जैन-शासन ही द्रव्य के यथार्थ स्वरूप को सम्पूर्ण और त्रिकाल स्वतन्त्र सिद्ध करता है। यही धर्म सम्पूर्ण जीवों को दुख से बचा सुख की ओर, बन्धन से मुक्ति की ओर ले जाता है।

इस धर्म के सम्यग्दर्शन (सद् धारणा) सम्यग्ज्ञान (सद्ज्ञान) और सम्यक्चारित्र (सदाचार) रूप तीन अंग हैं। इनमे सम्यग्दर्शन, सद् या सच्ची धारणा धर्म का सर्वश्रेष्ठ अंग सिर है। सद्ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) नेत्र और सदाचार (सम्यक्चारित्र) पग हैं। इन तीनों की एकता से ही इसकी हद सत्ता है। जो भव्य जीव सच्ची धारणा अर्थात सम्यग्दर्शन को धारण कर, सद्ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) द्वारा हिताहित का विवेक करता हुआ, सदाचार (सम्यक्चारित्र) मार्ग से चलता है वह निश्चयपूर्वक समस्त कर्म-बन्धनों को काटकर मुक्ति पा लेता है। वह स्वयं चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। वह भव्य विचारता है कि मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप हूं। जन्म-जरा मरण शरीर स्वभाव है मेरा आत्मा का स्वभाव

नहीं है। मैं तो अजर, अमर और परम शान्तिमय हूं। ऐसी श्रद्धा से आत्मा की प्रगति के लिये आशा, उत्साह, आल्हाद और प्रेरणा मिलती है। अतएव सम्यग्दृष्टि बनो। नित्य त्रिकाल-सामायिक में आत्म ध्यान करो। जो अपनी आत्मा को परमात्मा का निवास स्थान समझता है। वह अपने समान सब जीवों को समझता है। वह अपने शरीर से भिन्न अखण्ड, ज्ञानदर्शन, सच्चिदानन्द स्वरूप आत्म द्रव्य को देख लेता है यह सद्ज्ञान जीवों की महत्ता और पवित्रता को दर्शानेवाला अनासक्ति उद्धारता का देने वाला और कर्त्तव्याकर्त्तव्य मार्ग का दिखाने वाला है। इसलिये सद्ज्ञानी बनो। इस सद्ज्ञान को प्राप्त करने के लिये सदैव सन्तों की सगति, शास्त्रों का अभ्यास, निजात्म गुण-चिन्तवन तथा उदारभाव रखना, यही श्रेष्ठ उपाय है। सच्ची समझ तो यह है कि चैतन्य आत्मा के एकत्व स्वभाव में राग-द्वेष नहीं रहता। वह तो शुद्ध स्वभावी है। उसका अंतरङ्ग में विचार-धारा द्वारा एकाग्रता का अभ्यास कर अनुभव न करना अनादिकालीन संसार भ्रमण रोग को दूर करने की उत्तम महौषधि है। इससे संसार वास का नाश होकर मुक्त दशा प्रकट होती है। यही सच्चा मोक्षमार्ग है। यही उत्तम धर्म आनन्द का कारण है।

इस स्वरूप का प्रारम्भ भी आत्मा के आनन्द से होता है। इस शांति पूर्ण, निर्मल, चैतन्य तत्व की महिमा अगम-अपार है। इस चैतन्य तत्व के ज्ञान बिना यह आत्मा पाप—पुण्य कर अनन्त काल सेचतुर्गति में भटकता फिरा और भटकता फिरेगा। आत्म-ज्ञान के बिना, व्रत, जप, तप, संयम, शील, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोगना तथा बहुत क्या मुनि-पद भी शोभा नहीं देता। इसलिये सम्पूर्ण पर पदार्थों की ओर से दृष्टि फेर शुद्ध, चिदानन्द ज्ञान-दर्शन मय आत्मा को जानो। इसी से मोक्ष-लाभ होगा। जो जीव अपने आत्म स्वरूप में स्थिर हो, आत्मा को शरीरादि पर द्रव्यों से भिन्न

समक्ष, निज स्वभाव को पहिचान आनन्द मयी दशा में शरीर को त्यागता है; ऐसे मरण को समाधि मरण कहते हैं।

यह जीव सम्यक् प्रकार आत्म-स्वभाव के संवेदनार्थ विचारता है, कि मैं अखण्ड शुद्ध, चैतन्य और ज्ञान दर्शन-मय द्रव्य हूं। रागादि भाव मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार पर्याय-बुद्धि दूर कर, निज—स्वभावोन्मुख हो ज्ञान स्वभाव रूप परिणामों का कर्त्ता होता है। आत्मा चिदानन्द अनाकुल, स्वतः सिद्ध, रत्नत्रय स्वरूप है। अनन्त शक्ति का पिण्ड यह आत्मा स्वयं विकास को प्राप्त होकर निर्मल हो जाती है। इसे ही समयसार कहते हैं। मुमुक्षु को निजात्मा—स्वभाव अवश्य साधन करना चाहिये। निज चैतन्य स्वरूप आत्मा में उपयोग को लगा, स्वभावोन्मुख हो ज्ञाता दृष्टा और त्रिकालोपयोग स्वरूप अविनाशी आत्मा का ज्ञान ही तो सम्यग्ज्ञान है। पर्याय और निमित्तादि के जानने में ही लगे रह कर निजात्मा—स्वभाव को न जानने से कदापि सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इन्द्रियाँ और राग द्वेष के अवलम्ब बिना, अतीन्द्रिय—ज्ञान द्वारा जिस आत्म स्वभाव को जाना वही तो सम्यक् दर्शन है। इसी से तो प्रतीति हुई कि मैं शुद्ध उपयोग स्वरूप, अविनाशी और चिदानन्द आत्मा राम हूँ। नीचली दशा में रागादि-भाव अवश्य होते हैं। परन्तु उसने ज्ञान से आत्मा को जाना अतएव राग पृथक हुआ और उस ज्ञान को अपने स्वभाव में एकमेक किया तभी वह सम्यग्ज्ञान हो गया। जो कि अनेकान्त और आत्मा का स्व तत्व है।

ऐसी अवस्था में जो राग का निमित्त है वह व्यवहार है। परन्तु यहाँ इस सब को जानकर शुद्ध अभेद स्वभाव की ओर सन्मुख होना ही मुख्य प्रयोजन है। अशुद्धता का आश्रय छोड़, शुद्ध चैतन्य का आश्रय, निमित्त आश्रय त्याग आत्मा में उपादान का आश्रय, व्यवहार छोड़ निश्चय और

फिर पर्याय का आश्रय छोड़ कर द्रव्य का आश्रय लेना चाहिये । बीच-बीच में राग निमित्त व्यवहार भले ही हो परन्तु ज्ञानी की उन्मुखता तो प्रारम्भ से ही अपने स्वभाव में है । अपने शुद्ध पद की प्राप्ति में लगा है । इस आत्मा की साधक दशा में प्रारम्भ से परमात्म पद की प्राप्ति पर्यन्त सदा ऐसी ही उन्मुखता रहती है । फिर सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र द्वारा पूर्ण परमात्म-पद प्रकट हो जाता है । यही निज-पद की प्राप्ति है और तभी सम्यक् दर्शन-ज्ञान-और चारित्र ये तीनों अभेद आत्म रूप वर्तते है । वही पुरुष गणधरादि द्वारा वन्द्यनीय हो जाता है । ज्ञानियों ने यही रुचि अपने हृदय में रखी है । इसी का पुनः पुनः चिन्तवन करना योग्य है । यही सम्पूर्ण शास्त्रों का सार और जैन-धर्म का परम रहस्य है । यही सन्तों के हृदय का बीजभूत और ईश्वर के घर का मर्म पाने का महामार्ग है

बिना इस आत्मा को पहिचाने किस की श्रद्धा? किसका चिन्तवन? अतएव ज्ञानियों को अवश्य आत्म-तत्त्व पहिचान कर निजात्मा के वीतरागी स्वभाव का आलम्बन लेना चाहिये । यही परमानन्द और परमात्म-पद प्रकट करने का उत्तम मार्ग है । यह आत्मा अनादि काल से असत्य का साथ कर रहा है, जिससे अपने प्रभुत्व की कोई खबर नहीं है । अब अपने स्वामित्व का अपमान मत होने दो । यह अनीति अब नहीं चलेगी । भैया हो अपने हृदय में समझो । तुम्हारा त्रिलोकीनाथ, सिद्ध भगवान सदृश पद है । सिद्धान्त—शास्त्र आत्मा का ही गीत गाते हैं, तुम भी निरन्तर इसी के गीत गावो । जाग रे चेतन ! जाग !! एक एक समय लाखों का जा रहा है, अपनी अदृष्ट निधि को सम्हाल, सम्हाल !! सम्हाल !! इस प्रकार चैतन्य—चेतावनी वाला यह छठवां परिच्छेद समाप्त हुआ ।



सातवाँ परिच्छेद

❀ मङ्गलाचरण ❀

दोहा—अविनाशी चैतन्य के, गुण अनन्त उर धार।
सकल जिनेन्द्र, मुनीन्द्रनुत; लिखौं बोध विस्तार॥

जो आत्मा में राग-द्वेष और मोह से रहित हो, अपने ज्ञानस्वभावी आत्म-रस को पानकर जिस अतीन्द्रिय अनुपम सुख को प्राप्त करती हैं, वह सुख इन्द्र-नागेन्द्र और नरेन्द्र को भी प्राप्त नहीं। हे भाई! यदि तुम इस सुख को आकाश-पुष्पसम समझो, तो यह तुम्हारी बड़ी अज्ञानता है। मैं किसी को जीवित रखूँ, या मार डालूं, यह अनर्थरूप मिथ्याभाव है। इससे अपना ही बिगाड़ होता है। तेरी यथार्थ में तुम किसी अन्य पदार्थ के आश्रित नहीं हो। तुम्हारे परिणाम तुम्हीं में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। तो बिगाड़ सुधार की धारणा से पर का बिगाड़-सुधार नहीं होता। फिर सोचो, कि तुमने विषय-सुख में वास्तविक सुख की कल्पना कर अपना कितना बिगाड़ किया है? यदि अपना सुधार करना है, तो आत्मा की सच्ची प्रतीति कर उसका ज्ञान करो और राग-द्वेष मोह की शृंखला को तोड़ उसी में लवलीन होकर पूर्ण ज्ञान-स्वभाव प्रगट करो, जिससे विश्व के समस्त पदार्थों का देखना-जानना हो

जायगा इसी अवस्था का नाम सर्वज्ञ पद है। अनन्त आत्मायें इसी प्रकार परमात्म-पद प्रकट कर मुक्त हुईं, और होंगी।

वर्तमान में पंच महा विदेह—क्षेत्रों में श्री सीमन्धर स्वामी आदि, अरिहन्त—स्वभाव में भव्य जनों को बोधने के लिये विचर रहे हैं। अपने स्वभाव के आधार से ही अपनी आत्मा का कल्याण होता है तुम भी अपनी शुद्ध, चैतन्य, ज्ञानानन्द, मयी आत्मा की सम्हाल कर उसी मे लीन हो जावो। इस प्रकार तुम भी सर्वज्ञ सिद्ध बन जाओगे। अरहन्त देव अपने ज्ञान में तीन लोक और तीन काल के समस्त पदार्थों की समस्त पर्यायों को एक ही समय में प्रत्यक्ष जान लेते हैं। उनके ज्ञान में जैसा वस्तु स्वरूप ज्ञात हुआ है; वैसा ही दिव्य-ध्वनि द्वारा कहा गया है। यह दिव्य-ध्वनि बिन इच्छा के सहज रूप सर्वाङ्ग से खिरती है। आत्मा में जब तक इच्छा वर्तती है तब तक दिव्य-ध्वनि न होकर क्रमवर्ती भेद वाली वाणी होती है। इच्छा का पूर्ण अभाव होने पर कैवल्य प्रकट होता तदनन्तर अभेद-वाणी (दिव्य—ध्वनि) खिरती है।

अरहन्त देव को केवल—ज्ञान प्रकट होने पर इन्द्र आकर समवशरण या गन्ध कुटी की रचना करता है। जिसमें बारह सभायें भरती हैं। तदनन्तर दिव्य-ध्वनि खिरती और महोपदेश होता है। यह ससार अनन्त चेतन-अचेतम पदार्थों से ठसाठस भरा हुआ है। इसमें धर्म, अधर्म, आकाश, कालादि छह स्वतन्त्र द्रव्य हैं। किसी द्रव्य का किसी द्रव्य से मेल नहीं होता। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है। कोई किसी को हानि—लाभ या सहायता नहीं पहुँचाता। अमुक ने किसी को हानि लाभ पहुँचाया यह बात उपचार मात्र है। इस आत्मा को अनादि से निज स्वभाव का भाव न होने से विकार को अपना स्वरूप मानता है। विकारी भावों को भिन्न जानने से अनादि कालीन कर्त्ता—

है। ममत्व अज्ञान दूर हो जाता है।

मनुष्य—भव प्राप्त कर आत्मा का अवश्य विवेचन करना चाहिये। अहो! मेरी अनन्त महिमा मुझ में ही मौजूद है। बाह्य—वस्तु में नहीं है। पूर्व-काल में जो अनन्त तीर्थंकर तथा केवली हुये उन्होंने और सम्पूर्ण वाक्-वादिनी वाणी रूप शास्त्रों ने आत्मा की ही महिमा गाई है। मुझे भी सत्सङ्ग पाकर पवित्र आत्मा की महिमा पर गम्भीरता पूर्वक विवेचन करना चाहिए। संसारी आत्मा धन-दौलत, महल, मोटर, राज-पाठ, वस्त्र-भूषण, नौकर-चाकर आदि वैभव से अपनी शोभा मानता है, परन्तु इस वैभव से आत्मा की शोभा नहीं है। इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, नरेन्द्र की सम्पदा भी आत्मा की वस्तु नहीं है। इस उत्तम और दुर्लभ पर्याय में आत्मा की पहिचान करो। सच्चिदानन्द मय आत्मा स्वभाव को भूल, पर—वस्तु का आश्रय ले उससे ममत्व करना आत्म की लघुता है। जैसे सम्राट का घर-घर भीख मांगना, उसके पद को शोभा नहीं देता। हीनता ही प्रकट होती है।

यह आत्मा अनादि कालीन अपनी भूल से पर—वस्तु में रहकर अपना बड़प्पन मान रहा है। अपनी महिमा को सिद्ध भगवान के समान न समझ, निरन्तर पाप—रूप मिथ्या भावों में रम रहा है। जब यह शरीर भी आत्मा नहीं, तब पुत्र-पौत्र, राज-पाट, महल-मकान, आदि अचेतन समस्त परिग्रह आत्मा कैसे हो सकते हैं? यह शरीर खाक होकर उड़ जायगा तथा चेतन आत्माराम अन्यत्र चला जायगा। तू किसका ममत्व करता है? आत्मा तो ज्ञाता, दृष्टा देहादि समस्त पर द्रव्यों से भिन्न है। इस प्रकार भेद-विज्ञान द्वारा आत्मा की सच्ची प्रतीति कर सम्यक्—दर्शन प्रकट करने में ही आत्मा की महत्ता है। तभी मुक्ति प्राप्त होती है। अतएव अत्यन्त दुर्लभ नर—भव पाकर गुरु सत्सङ्ग से आत्मा को पहिचानो और उनकी महत्ता को जानो, क्योंकि यह कार्य सिर्फ मनुष्य-भव का ही है। जो मनुष्य

आपने जीवन को संसार अवस्था ही में व्यतीत कर देते हैं, उन्हें मनुष्य-भव का कोरा भार ही वहन किया अर्थात् व्यर्थ हो गया।

संयोगी पदार्थ का वियोग अनिवार्य है। यह शरीर भी संयोगी होने से अनित्य है। इसे अनन्त बार धारण किया और छोड़ा है। जिसकी यह भावना रही कि मेरी आत्मा अनादि, एक रूप, ज्ञान दर्शनमय, अजय है। मैं सदैव इसी का स्मरण करता हूँ। इसी के ज्ञान-ध्यान की रटना लगी है। उन्हीं का जीवन सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसनीय है। चैतन्य शक्ति की सच्ची पहिचान होने पर, पुरुषार्थ की योग्यतानुसार आत्मा में निर्मलता की शक्ति स्वतः प्रकट होती है, अतएव चैतन्य स्वरूप आत्मा का अनुभव करो। इसी से तुम्हारा ध्यानाध्ययन सफल होगा। पूर्ण ब्रह्म स्वरूप आत्मा का जबतक ज्ञान न होगा, तब तक सच्चा सुख-शान्ति का राज्य न होगा। आत्म-ज्ञान के बिना अनन्त काल व्यतीत हो गया, परन्तु कार्यकारी नहीं हुआ। अब सावधान होकर एक क्षण भी व्यर्थ मत खोओ।

इस चैतन्य स्वभाव का प्रयत्न करने के लिये जो आत्मा को ध्यान में ध्याते हैं, उनकी महिमा वचनातीत है। उन्होंने ही अपना पुरुषार्थ कर कार्य सिद्ध कर लिया। इसी से वे कृत्य-कृत्य हैं। जिन्हें आत्मा की रुचि उत्पन्न होने पर उसके परमानन्दानुभव की चिन्ता जागृत हो गई है, उनका जीवन और जन्म धन्य है। जब उनके शरीर बदलने का समय आ जायगा, तभी उनके अन्तरङ्ग में शांति, समता और समाधि प्रकट हो जायगी। इन्द्रादिक देव और बड़े बड़े पुरुष भी आकर उनकी समाधि का सत्कार करेंगे। आत्मा को परखने और निरखने वालों का ही जीवन-धन्य है। भेद-विज्ञानी वर्तमान अवस्था में आत्मा के पर निमित्तक विकार को जानता और उसे पृथक समझता है। अज्ञानी विकार को ही अपना स्वरूप समझता और अभी भी अपनी अवस्था में स्वयं स्वतन्त्र रूप से विकार को करता है। ऐसा अज्ञानी, विकार दूर करने का यथार्थ उपाय नहीं

है। ऐसा अज्ञानी, विकार दूर करने का यथार्थ उपाय नहीं कर सकता।

यह जीव अधर्म से पलट कर धर्मी हो जाता है, यह भी भ्रान्ति है। आत्मा में अधर्म तो होता ही नहीं है। अन्तर्मुखी हो आत्मअवलोकन से अधर्म दूर होकर आत्म-धर्म प्राप्त हो जाता है। यह आत्मा असंख्यवार समव-शरण में भी गया, वहां महोपदेश भी श्रवण किया; परन्तु विवेक शून्य अन्तरङ्ग मे पात्रता न होने से स्वयं को नहीं समझा। यदि स्वयं को समझ जाता तो अनादि कालान भूल दूर हो जाती। इस जीव ने प्रत्येक समय नवीन नवीन भूलें कीं स्वभाव की ओर दृष्टि डाले तो भूल हो जाय। भूल के समय भी भूल नष्ट करने वाली आत्मा भीतर विद्यमान थी। यदि एक समय भी समस्त दोष गौण कर निजानन्द मय आत्मा का दर्शन कर लेता, तो सारी भूल भाग जाती। अपनी आत्मा की जाति को बिना जाने शान्ति महारानी का राज्य नहीं होता। शान्ति का राज्य होने पर आत्माराधक एक, तीन या अधिक से अधिक चार भव में संसार बन्धन से छूट कर मोक्ष पा जाता है। सच्चा ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) होने से ही सम्पूर्ण दोष दूर होते हैं। यह ज्ञान शास्त्रश्रवण, गुरुवचनामृतापान, ध्यान, और अनुप्रेक्षा से होता है। शास्त्रश्रवण के साथ धारणा अवश्य होनी चाहिए। कर्मक्षय चारित्र और तप से, चारित्र और तप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान से, तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान शास्त्रश्रवण कर उसकी धारणा से होता है। सतशास्त्रों की यथार्थरूप से धारणा और विचारना कर सदैव उसकी आम्नाय में तथा बारबार मनन करे कि—

आत्मा ज्ञानस्वरूप, उत्तम अनन्त गुण संयुक्त, शुद्ध, प्रकाशमान ज्योति सदृश है। समस्त कल्याण का मूल कारण, आगम का यथार्थ निर्णय, सर्व कार्य सिद्धदायिनी है। यही अनन्त चतुष्टय का पिंड और जन्म मरण का क्षय कराने वाली है। इसके अतिरिक्त अन्य सब कल्पनायें मिथ्या हैं।

यही समस्त गुण रूपी रत्नों का करण्ड या रत्नाकर है। यह सर्वदर्शी, सर्व-हित-रूप, सर्वज्ञ सर्वत्र व्याप्त और परमेष्ठी पद में स्थित है। इसी का नाम परमात्मा, निरंजन, निर्विकार है। शुद्ध नय का विषय श्रुतज्ञान का पिण्ड ऐसा एक आत्मा ही है। मानव आत्मा के इस स्वरूप को न पहिचान, कर्मपटलों से आच्छादित हो, इन्द्रियों के विषय भोग में आनन्द मानता है जो कि विष मिश्रित अन्न के समान है। आत्मज्ञ दिगम्बर, वीतराग, निर्ग्रंथ मुनि की प्रशम मन्दकषाय रूप विशुद्धता में जो सुख है, उसका अनन्तवां भाग इन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्रों को प्राप्त नहीं होता। इसलिये गुणी पुरुषों द्वारा इस अतीन्द्रिय अनन्त चतुष्टय को अपने ही भीतर खोजना चाहिये।

इस आत्मा में ऐसी सामर्थ्य है कि शुद्ध ध्यान के बल से क्षणमात्र में कर्मरूपी ईंधन को भस्म कर समस्त पदार्थों को देख जान लेती है। इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो जाते और क्षणभर के लिए तीनों लोक में समता-रस फैल जाता है। आत्मा को छोड़ ऐसा सामर्थ्यवान अन्य कोई पदार्थ नहीं है। यह अणिमा, महिमा, लघिमा आदि अमूल्य अनर्घ्य गुण रूपी रत्नों का सागर है। जब ध्यान से आत्मा में समतारस झरने लगता है तब मोहरूपी अग्नि मन्द पड़ने लगती अथवा बुझने लगती और संयम रूपी लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है। मित्रशत्रु, कँचकञ्चन निन्दा, प्रशंसा, वन नगर, सुखदुख, जीवन मरण, इष्ट अनिष्ट और अर्घावतारन असि-प्रहार में साम्यभाव रखना ही समता का लक्ष्य है। इसके अवलम्ब से ही शुद्धोपयोग होता और अनन्त चतुष्टय युक्त मोक्षलक्ष्मी प्राप्त होती है। यह रागद्वेष मोहादि से भरा हुआ भयानक वन कर्मरूपी सिंह द्वारा सुरक्षित है। इसे महा सुभट मुनि ध्यानाग्नि से भस्म कर साम्यभाव रूपी जल से क्षणमात्र में बहा देते हैं। निजानन्दावलम्बी शांत साधु के चरण कमलों के प्रभाव

प्राणिमात्र में बहा देते हैं। निजानन्दावलम्बी शांत साधु के चरण कमलों के प्रभाव से परस्पर जाति विरोधी प्राणी भी वैर—भाव को छोड़ मित्र हो जाते हैं। जैसे मेघ वर्षा से वन की दावाग्नि शमन हो जाती है।

यतीश्वर समता परिणामों के द्वारा मोह रूपी मेघ पटल को दूर कर ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश से तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देख लेते हैं। ये तीनों लोक प्रचण्ड मोहाग्नि से धधक रहे हैं। इसे साम्य भाव-रूपी जल ही शान्त कर सकता है। संसारी प्राणी अनेक विषय वासनाओं में आस्था कर लिप्त हो रहे हैं, यह सब मोह राज की ही चेष्टा है। संयमी मुनिजन सम भावों के आधार से रागद्वेष और मोह के समूह को नष्ट कर आप अपने में ही परमात्म स्वरूप अवलोकन करते हैं। जब वे अपनी आत्मा को औदारिक, तैजस और कार्मण पुद्गल शरीरों तथा रागद्वेष मोह से रहित देखते हैं तब सम परणामों में स्थिर स्थिति पालते हैं। उस समय उन पर चाहे पुष्प-वृष्टि करो या क्रोध प्रहार; गले में पुष्प माला डालो या सर्प डालो; इन द्वन्द्वों में वे रंच मात्र राग-द्वेष नहीं करते। ऐसा सम—भाव होने पर केवलज्ञान रूपी सूर्य का अखण्ड और अविचल प्रकाश फैल जाता है। ऐसे मुनिजन ही अपनी कल्याण—साधना में पूर्ण सफल होते हैं। उनके हृदय में महल—मसान, कीचड़—केसर चन्दन, शैय्या—कण्टक, चर्म—रेशम आदि में समभाव की लीला फैल जाती है।

समता—भाव ध्यान का प्रधान अङ्ग है। ध्यान का आधार समभाव और समभाव का आधार ध्यान है। इसी से कर्म क्षय होते हैं। यही तो आत्म—कल्याण है। यह आत्मा व्यतीताक्ष, मूर्तिक पुद्गलों से रहित, निष्कलंक है। ऐसा स्मरण करने से विषयों से आसक्तता छूट जाती है। ऐसी आत्मा को कौन समझावे और यह किसको सम्बोधे? अतएव निर्मल दर्पण में पड़ते हुये प्रतिबिम्ब के

समान प्रभा वाले परमात्मा का ध्यान चिन्तवन करो। दृढ़ निश्चयी ध्यानी को स्वप्न में भी परमात्मा ही दिखलाई पड़ता है। अपना स्वरूप निश्चल, अशरीर, अमूर्त, निष्कलंक, चैतन्य, जगत् गुरु, परमात्मा, परमज्योति, सम्पूर्ण विश्व का ज्ञाता—दृष्टा और ध्यान—ध्याता के भेद से रहित स्फुरायमान होता है। साधु जिस समय परमात्मा का ध्यान करता है उस समय उसे परमात्मा से अपने अलग पने का भान नहीं रहता। सब द्वैत—भाव नष्ट हो जाता है। इस समीचीन ध्यान के प्रताप से अनेक फलों से भरी ऋद्धियां-सिद्धियां स्वयमेव सिद्ध हो जाती हैं। इस जीव का प्रधान शत्रु मोह है। इसका अभाव होने से जन्म-मरण की सन्तति टूट जाती है। शेष कर्मों में संसार उत्पादन की शक्ति नहीं है उनका सत्व असत्व के समान हो जाता है। चार घातिया कर्मों (ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय) के नाश होने से अरिहन्त पद प्राप्त हो जाता है, शेष चार अघातिया (आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय) कर्म निस्तेज होने से भ्रष्ट बीज के समान अशक्त हो जाते हैं। देवों द्वारा पूज्य और चौंतीस अतिशय युक्त होने से अरहत संज्ञा है। उनकी आत्मा में अनन्त चतुष्टय, अनन्त विरति, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग आदि अनन्त गुण प्रकट हुए और स्फटिक मणि के पर्वत के मध्य से निकलते हुये अत्यन्त देदीप्य मान सूर्य-बिम्ब के समान, अपने शरीर प्रमाण ही शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लिया।

अरिहन्त परमात्मा कलंक दूर होने से निरंजन, सम्पूर्ण दोष दूर होने से निष्कलंक, सम्पूर्ण रोग दूर होने से निरामय और समस्त विघ्नों को नष्ट कर देने से विघ्न—विनाशी कहलाते हैं। जिन्होंने दुर्नय का अन्त कर अष्ट-कर्म नष्ट कर दिये, पूर्णतः अपने स्वरूप में स्थिर हो कृत-कृत्य हो चुके अर्थात् अपना साध्य सिद्ध कर लिया उन्हें सिद्ध परमेष्ठी कहते हैं। सिद्ध भगवान नित्य, निरञ्जन,

... अष्ट-गुण संयुक्त, अनवद्य, निर्दोष, निर्लेप और सुख सागर में मग्न हैं
सहित सम्पूर्ण पदार्थों ...

अर्थात् अपना साध्य सिद्ध कर लिया उन्हें सिद्ध परमे- कहते हैं

अष्ट-गुण संयुक्त, अनवद्य, निर्दोष, निर्लेप और सुख सागर में मग्न हैं। उन्होंने सर्वाङ्ग से समस्त पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों को जान लिया हैं। वे वज्र-शिला निर्मित अमग्न प्रतिमा के समान, पुरुषाकार एवं अशरीर हैं।

जो महा तपस्वी साधु पंचचार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप और वीर्य) का स्वयं आचरण करते तथा अन्य साधुओं से आचरण कराते हैं। उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहते हैं। ये चौदह विद्या—स्थानों केपारंगत और ग्यारह अङ्ग धारी अथवा आचारांग मात्र के धारी होते हैं। मेरु समान निश्चल पृथ्वी सदृश, सहन, शील, निर्दोष, निर्लेप और पवित्र छत्तीस गुण संयुक्त होते हैं। जिनकी बुद्धि परमागम के पूर्ण अभ्यास से निर्मल हो चुकी है, तथा सप्त—भय रहित, परम दिगम्बर, वीतरागी दयामय धर्म धारी हैं। जो सदैव प्रवचन रूपी समुद्र के उत्तम जल में स्नान कर पवित्र होते और उत्तम रीति से षट्—आवश्यक पालन करते हैं वे ही आचार्य परमेष्ठी हैं। ये सिंह सदृश निर्भय शूर वीर सौम्य मूर्ति, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित तथा संघ में शिक्षा—दीक्षा और प्रायश्चित देने में पूर्ण कुशल होते हैं। आचार्य परमेष्ठी समस्त परागम विशारद, समस्त व्रतों की रक्षा करने वाली क्रियाओं से पटु और शिष्यों को निरन्तर नवीन विचार सुनाते हैं। देश, काल और प्रसंगानुसार वस्तु—स्वरूप समझाने वाला निर्बाधक हितोपदेश देते तथा भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग में रुचि उत्पन्न कराते हैं। मन—वचन—काय को समस्त प्रवृतियां शुद्ध रख, दूसरों को जैन—शासन में आगमानुसार प्रवृत्ति कराने के लिये सदैव तत्पर रहना अपना कर्तव्य समझते हैं। अभिमानी और उद्धत नहीं होते। बड़े बड़े विद्वान आदर करते, स्वयं भी विद्वानों का बिनय पूर्वक सत्कार करते हैं। निश्चय व्यवहार नय एवम् लौकिक नीति के वेत्ता निर्मल—कोमल परणामी होते हैं। याचना, वांछा

और क्रोध रहित, द्वादश तप में तल्लीन, दश लक्षण—धर्म के पूर्ण प्रति पालक होते हैं। ये ही तेरह प्रकार के चारित्र को निर्दोष पालने वाले, अनेक श्रेष्ठ गुणों के भण्डार और सत्पुरुषों के उपादेय आचार्य गुरु हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी ग्यारह अंग चौदह पूर्व विद्या स्थान के पाठी, तत्कालीन परमागम के जानकर और व्याख्याता होते हैं। मुनियों को उपदेश देते और पढ़ाते हैं। परमागम का पूर्ण अभ्यास कर सदैव मोक्ष-मार्ग में स्थित रहते हैं। साधु परमेष्ठी, पाँच महाव्रत, पंच समिति तीन गुप्ति और शील के अठारह हजार भेदों को धारण करते हैं। चौरासी लाख उत्तम गुणों को पालन कर साढ़े सैंतीस हजार प्रमाद के दोषों को त्यागते हैं। राग-द्वेष-मोह पंचेन्द्रियों के विना, चार सज्ञाएं चार कषाय, तीन योग, सात गौरव और पन्द्रह प्रमाद को त्याग देते हैं। ये गज के सामान स्वाभिमानी या उन्नत, सिंह-सदृश पराक्रमी और वृषभ तुल्य भद्र परणामी होते हैं पवन जैसे विना रुकावट विचरने वाले, मृग की नाईं सरल और गज के सामान गोचरी वृत्ति करने वाले होते हैं। ये सूर्य के समान तेजस्वी, सकल तत्वों के प्रकासक, सागरवत गम्भीर और परिषह-जय समय मेरु में सरीखे अचल रहते हैं। चन्द्र जैसे शान्ति-दायक, मणि समान प्रभा-पुन्ज युक्त और पृथ्वी सरीखे सहन शील हैं। ये यति (सर्प के सामान दूसरे के बनाये हुए) अनियत आश्रम या वसतिका में निवास करते हैं। साधु परमेष्ठी परम दिगम्बर आकाश जैसे निरावलम्बी निर्लेप और निरन्तर परमात्म-पद के अन्वेषक होते हैं।

इस प्रकार पंचपरमेष्ठी पद का प्राप्त करना आत्मा का ही कर्तव्य है। मैं अपने स्वभाव से परिपूर्ण शुद्ध हूँ (यह निश्चय नय और यही मैं हूँ। वर्तमान पर्याय रूप नहीं, यही सम्यक् दर्शन है।) ऐसी पूर्ण दृढ़ श्रद्धा से समस्त विकार दूर हो, आत्मिक-सुख प्रकट हो जाता है। पर के स्वामित्व

...दृढ़ श्रद्धा से समस्त विकार दूर हो, आत्मिक-सुख प्रकट हो जाता है। पर के स्वामित्व

से संसार और निज-स्वभाव के आधार से मोक्ष प्राप्त होता है। स्वभाव की स्वामित्व पूर्ण एकता हो मोक्ष मार्ग है। यही अनुमान्य है। जो जानता है, वह ज्ञान है। जैसे—जिस वन में आम्र-वृक्षों की बाहुल्यता होती है, उसे आम्र-वृक्ष कहते हैं। प्रधान पदवी की अपेक्षा अज्ञान को भी ज्ञान कहा जाता है। जैसे पुत्रोचित कार्य न करने वाले को कुपुत्र (कपूत) कहते हैं। ज्ञान, प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनपर्यय-ज्ञान और केवलज्ञान के भेद से पाँच प्रकार का है।

समस्त पदार्थों को एक काल में जानने वाला केवलज्ञान है। वर्तमान ज्ञान ही केवलज्ञान हो जाता है। जैसे:—द्वितीया का चन्द्रमा ही पूर्णमासी का चन्द्रमा होता है। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं। अर्थात द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। आचार आदि अंग पूर्व शब्द रूप तो द्रव्य श्रुत और ज्ञान-रूप भाव श्रुत है। श्रुत-ज्ञान अनादि, पूर्वापर विरोध रहित और अपार है। तहा विचित्र अर्थों से भरा द्रव्यार्थिक-पर्यायिक नयों तथा सद्भूत व्यवहारादिक उपनयों के सम्बन्ध से गहन है। वह ज्ञान मिथ्यात्व को दूर करने वाला और समस्त लोकको दिखाने के लिये नेत्रों के समान हैं। प्रथमानुयोग, करुणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के रूप से श्रुत-ज्ञान के चार भेद हो जाते हैं। यह इन्द्रों द्वारा पूज्य और स्याद्वाद रूपी उत्तम ध्यान का धारक है। यह सैकड़ों नयों से पूर्ण, सरस्वती का निवास गृह और विद्वानों को आनन्द उपजाने वाला है। ऐसे सिद्धान्त सागर के अमृत जल को हे भव्यो? कर्ण रूपी अन्जलियों से निरन्तर पान करो। आज्ञा विचय धर्म-ध्यान में प्रमाण, नय, विक्षेपों से निर्णित स्थिति, उत्पत्ति और व्यय संयुक्त चेतन—अचेतन रूप तत्व समूह का सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रधान कर चिन्तवन करे। निर्मल, शब्द अर्थ से ही परिपूर्ण निर्बाधक श्रुत-ज्ञान का मनन करना चाहिए।

स्वभाव का परिपूर्ण स्वभाव की भावना के आधीन है। जैसे आत्म-स्वभाव है वैसी ही भावना करना चाहिये। पूर्ण स्वभाव को जानकर पुरुषार्थ द्वारा इस पर्याय में ही कार्य करना चाहे तो कर सकते हैं। जिसने आत्म-स्वभाव नहीं समझा, वह ध्यान नहीं कर सकता। जिसने स्वभाव और विकार का रूप भिन्न भिन्न नहीं जाना वह विकार में ही तन्मय रहकर उसी की ही परम प्रतीति करता है उसी की भावना भाता है। निज स्वभाव की भावना से प्रति क्षण शुद्धता की वृद्धि होती है। यह न पंचम काल और भरत—भूमि पूर्ण ज्ञान होने को रोकती और न चतुर्थ-काल और विदेह क्षेत्र केवलज्ञान देने में समर्थ है। एक मात्र तुम्हारी पुरुषार्थ—हीनता से ही तुम्हारा स्वराज्य रुका हुआ है। तुम्हारा पूर्ण पुरुषार्थ तुम्हें केवलज्ञान वस्तु - प्रकट करने में समर्थ है। वह केवलज्ञान संयोग से पैदा नहीं होता अपितु तुम्हारे पास ही पूर्ण रूप से मौजूद है। अतएव समस्त बाह्य संयोग तज निरन्तर आत्म-स्वभाव भावना द्वारा पुरुषार्थ की वृद्धि करो। यही आत्म-कल्याण-मार्ग है।

वस्तु का स्वभाव अनेकान्त मय है यह अनेकान्त बिना सम्यग्ज्ञान के नहीं जाना जाता, अतः अपने ज्ञान को आत्म-स्वभाव की ओर लगा, सम्यग्ज्ञान बनाओ। वस्तु स्वरूप जैसा है वैसा ही है। वह कभी भी अन्य रूप न होगा। अर्थात अन्तरङ्ग की विपरीत मान्यता को दूर कर आत्मा में रमण करना सच्चा आत्म—हित है। संसारी जीव देह-दृष्टि में मग्न हो रहे हैं उन्हें आत्म कल्याण की कोई चिन्ता नहीं है। शरीर और इन्द्रिय-विषय-पोषण में ही लगे रहते हैं। सम्यग्ज्ञान के अभाव से अज्ञान-भावों की ही पुष्टि में लगे हैं। शान्ति का पाठ पढ़ते ही नहीं, जिससे संसार-दुःखों की शृंखला कभी भी न टूटी और न टूटेगी। ज्ञेय-पदार्थों के जानने से ज्ञान उन पदार्थों के रूप नहीं हो जाता, वह तो एक मात्र ज्ञान रूप ही रहता है। इसीसे ज्ञेय-ज्ञायक भाव भेद-ज्ञान कर अपने ज्ञान स्वभाव में एकाग्र हो जाओ।

आत्म-प्रबोध

ये जीव ज्ञाता दृष्टा-भाव को भूल पर पदार्थों मे एकत्व बुद्धि कर उन्हें इष्टानिष्ट मान रहे हैं। अपने स्वभाव रूप सम्यक् चारित्र स्वभाव न होने से समस्त चारित्र मिथ्या चारित्र है।

भेद—विज्ञान होने पर ही चारित्र का शुद्ध अन्श प्रकट हो, मोक्ष-मार्ग रूप हो जाता है। इस संसार में अनन्त आत्मायें हैं। उनमे ज्ञान—गुण की अपेक्षा समस्त दशाओं मे केवल ज्ञान है। जब ये निज-स्वरूप मे स्थिर होती हैं तब ये तीन लोक के त्रैकालिक समस्त पदार्थों की समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष देख जान लेती हैं। प्रत्येक आत्मा अपने स्वरूप मे विद्यमान है। उसके अनन्त गुणों में प्रत्येक गुण स्वतन्त्र अपने ही स्वरूप मे है अर्थात् अन्य गुण रूप नहीं होते। प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायों में से प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र है अर्थात् निज स्वरूप छोड़ कर पर—स्वरूप नहीं होती या एक अंश दूसरे अंश रूप नहीं होता। इस प्रकार अनेकान्त मे कितनी स्वतन्त्रा है? जो कि स्वतः से पूर्णता और अन्य से भिन्नता प्रकट करता है। वस्तु का जैसा परिपूर्ण निर्दोष अस्ति-नास्ति रूप। ऐसी समझ से पर पदार्थ से अहङ्कार—ममकार दूर हो उदासीनता आ जाती और अपने स्वभाव में लीन होने से वीतरागता आ जाती है। यही अनेकान्त का फल और आत्म-ज्ञान-स्वभाव की महिमा है।

हे आत्मन्! यह परम सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अब अपनी ऋद्धि—सिद्धि सम्पन्न अन्तरङ्ग लक्ष्मी की सम्हाल करो तुम्हारी सम्पूर्ण सम्पदा तुम्हारे ही पास है। वह सर्वज्ञ के ज्ञान में स्पष्ट झलक रही है। ज्ञान की सामार्थ्य अपार है। पूर्ण श्रद्धा पूर्वक निज स्वभाव की महिमा प्रकट कर उसी मे स्थिर होना ही जैन-दर्शन का मूल प्रयोजन है। जिनेन्द्र भगवान की दिव्य—ध्वनि और समस्त शास्त्रों का सार यही है कि अपनी चैतन्य, निजानन्द, ज्ञान-दर्शन मय आत्मा की पहिचान कर उसी में स्थिर रहा सम्यक्दर्शन से समस्त आत्म गुण निर्मल हो जाते (और स्वतः स्वभाव अभेद रूप से अपने स्वरूप के

समस्त गुणों को जान लेते) हैं। जो सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा का अनुभव करते हैं वे मोह को कृश कर मोक्ष के सर्वथा निकट पहुंच जाते हैं। क्योंकि आत्म स्वभाव ज्ञाता दृष्टा होने से उसमें राग-द्वेष मोह का परिणमन नहीं होता। राग-द्वेष और मोह ज्ञाता—दृष्टा स्वभाव से भिन्न है। ऐसा भेद-विज्ञान प्राप्त कर पर-द्रव्य में इष्ट-निष्ट बुद्धि मत करो। एक मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहो। इसी का नाम सम्यक्चारित्र है। आत्मा का यही वीतराग भाव निराकुल सुख है।

कोई भी (द्रव्य) अपने अनुकूल स्वरूप में परिणमन कराने में परिणमित नहीं होता, तब क्रोध कषाय-भाव करने से क्या होगा? मात्र स्वतः ही दुखी होना है। अपनी ऐसी समझ के करने से कषाय—भाव दूर हो जाते हैं। आत्म—भाव की प्रतीति वर्तमान-काल में ही कर लेना चाहिये। ऐसे उत्तम और पवित्र कार्य मे काल की अवधि बढ़ाना उचित नहीं है। जब यह आत्मा निज स्वभाव समझ ले, तभी मंगल—मुहूर्त है। तभी काल-लब्धि है। शास्त्र-समुद्र-मथन से एक चैतन्य रूपी रत्न ही प्राप्त करना है। अतएव तू उलटा-सीधा रागद्वेष-में मत फंस। कुन्द—कुन्द स्वामी के वचनानुसार अपने स्वभाव को समझ पहिचान कर। इसीसे तेरा उद्धार होगा। शास्त्राभ्यास का प्रयोजन आत्म स्वभाव समझना है। इसे बिना समझे समस्त विद्या पानी में डूब गई के समान है। यदि पंडित होकर भी समस्त विद्याएं जिव्हाग्र रखीं, समस्त कर्मकाण्ड या पाँच सौ पैंतालीस मार्गणा—स्थान का भी ज्ञान रखा, आध्यात्मिक शास्त्रों के श्लोक भी कण्ठ में रखे और दान पूजा व्रतादि तप भी किया, परन्तु आत्म ज्ञान से दूर रहे तो आत्म शान्ति प्राप्त करने में असमर्थ ही रहे। जीवन पूर्ण कर संसार-समुद्र में डूब जाओगे। जैसे कोई अनेक विद्याओं का ज्ञाता पण्डित नाव में बैठकर नदी पार करने लगा। उसने खेवटियासे पूछा कि तुम कौन कौन विद्याएं जानते हो? उसने उत्तर दिया कि मैं तो सिर्फ नाव चलाने

...पूछा कि तुम कौन कौन विद्याएं जानते हो? उसने उत्तर दिया कि मैं तो सिर्फ नाव चला...

और नदी में तैरने की विद्या जानता हूं। विद्या निधान पण्डित ने गर्व युक्त तिरस्कार भाव से कहा अरे तुमने अपना सारा जीवन पानी में ही खो दिया? मैं तो देख अनेक विद्याओं में निपुण हूं। इतने में नाव में एक बड़ा छेद हो गया। तब खेवटिया ने पण्डित जी से कहा "अब नाव डूबती है आप अपनी विद्या चलावो।" पं०जी ने हताश होकर कहा "यह विद्या हम नहीं पढ़े"। इतना कहते ही ज्योंही नाव जलमग्न होने लगी त्योंही नाव का स्वामी फुर्ती से नदी में कूद पड़ा और तैरकर पार हो गया, परन्तु पण्डित जी विद्या समेत जल में डूब गये।

ऊपर लिखे दृष्टांत का तात्पर्य सिर्फ यही है कि जो आत्मा (खेवट के समान) न तो बहुत पढ़ा लिखा और न अधिक तपादिक भी करता है, परन्तु आत्मानुभव की सम्पूर्ण मूलभूत कला को जानता है उसकी आत्मानुभव से शान्त बढ़ जाती है, और इस सब विद्या के बल से स्वल्प कालमें ही मोक्ष चला जाता है। अतएव 'आत्म' ज्ञान ही सच्ची विद्या है। इसे सीखना योग्य है। आत्म ज्ञान सहित, विशेष शास्त्र का अभ्यास, जप तप शील संयम और व्रतादि उत्तम शोभा पाते हैं। आत्मा ज्ञान स्वरूपी होने से ज्ञानी निरन्तर ज्ञानाभ्यास करते रहते हैं। ज्ञान आत्मा के साथ अभेद होने से निरन्तर आत्मा के ही साथ रहता है तथा आत्मा ही के साथ जाता है। आत्मा के साथ पर वस्तु नहीं जाती और न आत्मा उसे ले जा सकती है। वस्तु (पदार्थ) गुण पर्याय सहित होने से उसके गुण पर्यायों का कोई कर्ता हर्ता नहीं है। वस्तु अपनी गुण पर्यायों सहित अभेदित है। वीतरागी का शरीर कट जल रहा है या रोग से घिरा है, तो भी वह दुखी न होकर निज स्वरूप में स्थिर हो केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष चला जाता है। उदाहरणार्थ तीन पाण्डव, गजमुनि और संजयन्त मुनि घोर परिषह सहते हुए निज कल्याण कर गए। ज्ञान का विकास ज्ञान के ही अवलम्बन से होता है। सम्यक्दर्शन से श्रद्धा में वीतराग भाव

प्रकट होकर पश्चात् सम्यक्चारित्र रूप जैन धर्म प्रकट होता है, जिससे राग द्वेष मोह दूर हो जाता है। यह वीतराग भाव ही जैन धर्म है। इसमें कोई भी वस्तु इष्ट व अनिष्ट नहीं है, अतएव राग द्वेष मोह करना निष्प्रयोजन है। इनके द्वारा जीव को केवल कष्ट ही भोगना पड़ते हैं। इसलिए शमता धारण कर आत्म चिन्तन करना ही योग्य है। इससे सम्यग्ज्ञानरत्न रूपी सूर्य का उदय होता और मोहांध कार का नाश होकर आत्मा में अनन्तानन्त सुख प्रकट हो जाता है। चैतन्य रूप आत्मा? तू समस्त पुद्‌गल द्रव्यों की पर्यायों से भिन्न ज्ञान दर्शन और आनन्द मय है। तू व्यर्थ प्रमाद कर कर्म बन्ध कर रहा है। पंचेन्द्रिय के भोगों की अभिलाषा को त्याग अपने स्वरूप का अवलोकन करो। आनन्दामृत सरोवर में स्नान कर कर्म मल को दूर करके आत्मा को निर्मल करो।

जिस योगी ने गुण—पर्याय सहित ज्ञान, दर्शन चैतन्य स्वरूप आत्मा को जान लिया, उसने समस्त पदार्थों को हस्त–रेखा सदृश देख जान लिया। चैतन्य रूपी आत्मा का तेज समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है। जिसका 'अहं' शब्द से अनुभव होता है। जो अपना स्वरूप ज्ञानानन्द, दर्शन स्वरूप समझता है, वह कष्ट—दायक प्रदेशवत या आनन्द–दायक प्रदेश नगर में सर्वज्ञ आत्मानुभव में लीन रहता है। इस संसार में क्षण भर में धनी–कंगाल, राजा-रंक सबल–निर्बल और स्वस्थ रोगाक्रान्त होकर मरण को प्राप्त होता है, अतएव धन, शरीर और बल जल के बुल-बुले के समान अस्थिर और नाशवान है। यह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धित, अपवित्र, मल–मूत्रादि से भरा, ऊपर से चर्म बेष्ठित है। यह कमल—पत्र के समान मुरझा कर नष्ट हो जायगा। बड़ा आश्चर्य है। कि मूढ़ प्राणी इसे पवित्र मानते हैं। इससे स्नेह करते हैं। हे भव्यो! इस शरीर से ममता तज चैतन्य स्वरूप का अनुभव करो। जिससे इस शरीर की पुनः उत्पत्ति न हो। यह लक्ष्मी इन्द्रजाली खेल के

समान और कुटुम्बादि शत्रु–मित्र नाशवान है।

जिस प्रकार भूमि में बोया-बट-बीज, वृक्ष बन अनेक शाखा-प्रशाखाओं में मण्डित होकर फैल जाता है। उसी प्रकार शरीरादि पर-वस्तुओं में ममत्व करने से मोह पैदा होता और उत्तरोत्तर भवान्तरों मे चतुर्गति सम्बन्धी अनेक योनियों में भ्रमण कर नाना प्रकार के कष्ट भोगना पड़ते हैं। भुज्यमान आयु को भोगते और भवान्तर की आयु को बाँधते रहते हैं। समय समय आयु—कर्म का नाश होता जाता है। अनेक प्राणी मर चुके। स्वयं भी मरने वाला है। यह अज्ञानी जीव इस बात को जानता हुआ भी आत्म—हित नहीं करता, यह बड़े आश्चर्य की बात है। जिस प्रकार सूर्य दिन में तीन पलौटी (प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल) करता है। इसी प्रकार समस्त पदार्थों की अवस्थायें बदल कर दूसरी अवस्थायें हो जाती है। पूर्व में रागद्वेष मोह व जो कर्म—संचय किया था, वह अपना समय पाकर नियम से उदय मे आता है। उसका कोई भी निवारण नहीं कर सकता। जो जीव शुभा—शुभ कर्म के उदय होने पर भी आत्म—कल्याण से नहीं चिगते; वे नियम से मोक्ष हो जाते हैं।

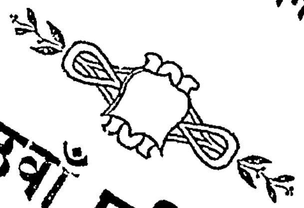
जिस पवित्र मनुष्य ने प्रसन्नता पूर्वक चैतन्य स्वरूप आत्मा की चर्चा सुन ली, वह भव्य निश्चय पूर्वक मोक्ष का पात्र हो जाता है। जो समस्त कर्मों से भिन्न परम परमात्मा को जानता है। वह परम ब्रह्म परमात्मा—स्वरूप ही हो जाता है अतएव पर—पदार्थों से ममत्व हटा कर स्व-स्वरूप में लीन होना चाहिये। इस शांति प्रधान आत्मा को एकान्त स्थान में ठहराने से मोक्ष होता है। जैसे पवन का वेग थमने से समुद्र का जल क्षोभ रहित हो जाता है। उसी प्रकार जब आत्मा से कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है, तब वह निज स्वरूप (विकार रहित) पाकर मोक्ष मे स्थिर हो जाता है। जैसे

समुद्र स्वभावतः शान्त है उसी प्रकार निश्चय से आत्मा भी शांत ही है।

सम्यक्—दृष्टि सदैव चिन्तवन करता रहता है कि मेरी आत्मा में किसी भी प्रकार के कोई भी कर्म का सम्बन्ध नहीं है। मैं संयोग जनित समस्त कर्मों से मुक्त हूँ। मुझ में कोई द्वैत राग-द्वेष, कर्म और आत्मा, शुभ—अशुभ, पुण्य—पाप, सुख और दुःख, इस प्रकार द्वैत युक्त आसिद्ध बुद्धि अद्वैत (निजानन्द, शुद्धात्मा) स्वरूप की प्राप्ति को रोकने वाली है। तथा काले, लाल, नीले और पीले अनेक रङ्ग वाले विकार युक्त मेघ—पटल अमूर्तिक आकाश में विकृति नहीं कर सकते। उसी प्रकार क्रोधादि कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने पर भी आत्मा में विकृति नहीं कर सकते। वह सदैव निर्विकार और निराकार रहेगी। जन्म—मरण शरीर के धर्म हैं आत्मा के नहीं। आत्मा और ज्ञान एक ही पदार्थ है यही दर्शन, चारित्र और उत्तम तप है। अर्थात् शुद्धात्मा से भिन्न कोई दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप नहीं है। जो अन्य क्रिया, कारक के सम्बन्ध से रहित एक चैतन्य स्वरूप आत्मा की उपासना करते हैं उन्हें अवश्य मोक्ष—फल की प्राप्ति होती है। यह आत्मा ही शास्त्र समुद्र का उत्कृष्ट रत्न, मंगल स्वरूप, ध्येय, परम शरण और त्रिकाल वन्दनीय है। इसका ध्यान करने वाला चौरासी लाख उत्तर गुणों तथा छत्तीस, पच्चीस और अट्ठाईस मूल गुणों का धारी है।

आत्म—ध्यान के बिना कर्म दूर नहीं होते। कर्मों के संयोग से शरीर बना ही रहता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य गंगा जल की कांवर में रखे भार वहन करता रहता है। उसी प्रकार शरीर के सम्बन्ध से निरन्तर जन्म—मरण होता ही रहता है। इसलिए भव्य जीवों को आत्म—ध्यान अवश्य करना चाहिये। यही आवश्यक क्रिया, उत्तम स्वध्याय और उत्तम तप है। इससे जन्म—मरण का

...थ। ...न्तर जन्म—मरण होता ही रहता है। इसलिए भव्य जीवों को आत्म—ध्यान ...। यही आवश्यक क्रिया, उत्तम स्वध्याय और उत्तम तप है। इससे जन्म—मरण रोग दूर हो जाता है। इस चैतन्य शुद्धात्मा रूपी किले में कर्म—शत्रु प्रवेश नहीं कर सकते। भव्य जीवों! को शुद्ध आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये। आत्मा ही प्रबल विद्या, स्फुरायमान महा मंत्र और जन्म—जरा—मरण रोग नाशक श्रेष्ठ औषधि है। यही अविनाशी, अनन्त पूर्ण अनाकुल सुख को देने वाली है। इसी का निरन्तर मनन और ध्यान करो। इस प्रकार आत्म-प्रबोध का यह सप्तम परिच्छेद समाप्त हुआ।



आठवाँ परिच्छेद

❀ मङ्गलाचरण ❀

दोहा—कर रागादिक भाव को, भूलो आतम-राम।
तज दे यदि इस द्वैत को, पाओ शिव विश्राम॥

संसार रूपी प्रबल ताप से पीड़ित प्राणियों को इस शान्त आत्मा में लीन होने से ही सच्चा और पूर्ण विश्राम मिलता है। यद्यपि यह लोक षट्-द्रव्यों से भरा हुआ है तथापि उनको जानने योग्य सिर्फ एक आत्म—द्रव्य ही है। अन्य समस्त लोक जड़ ही है। यह आत्मा ही तीन लोक का महाराज है। जोकि निराकार, निरंजन और चिद्रूप है। वही मैं हूं। शुद्धात्मा शाँत स्वभावी और इच्छा रहित है। ये इच्छाएं ही मोक्ष सुख को रोकने वाली हैं। मोक्षाभिलाषी को यह सिद्धान्त

अटल करना चाहिये कि - मैं एक चैतन्य मात्र हूँ। निश्चय नय से मेरा अन्य पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार विचार कर शरीर, धन सम्पदा की चिन्ता तज राग-द्वेष मोहादि मलों से रहित हो चित्त को अपनी निर्मल आत्मा में ही लगाओ। इसी से निराकुल अक्षय सुख की प्राप्ति होगी। यह चैतन्य स्वरूप परम तेजधारी, आत्माराम, अत्यन्त, सूक्ष्म, स्वसंवेद्य, अप्रतिक; एक और अनेक भी है। जिस प्रकार आकाश में लेखनी से लिखना कठिन है उसी प्रकार परमात्मा का वर्णन करना भी अत्यन्त कठिन है।

जो महा पुरुष ऐसी आत्मा का ध्यान करते हैं, वे धन्य हैं। उनकी पूजा—स्तुती इन्द्रादिक देव आकर करते हैं। सर्वज्ञ केवली भगवान ने शुद्धात्मा की उपासना का उपाय समता—रस—पान करना बताया है। उन्होंने बताया है। कि तुम्हारे स्वभाव से चैतन्य अभिन्य, अष्ट कर्मादि समस्त पर पदार्थों और आत्मा के संबंध से हुए विकारों से भिन्न है। केवली का ऐसा दिव्य उपदेश श्रवण कर भव्य जीव विचारता है कि संसार में अपने अपने गुण और पर्यायों को लिए जितने पदार्थ हैं, वे सब मुझ से भिन्न हैं। जो इस प्रकार निरूपण कर आत्म तत्व का अभ्यास कर अनुभव करते हैं वे नव केवल—लब्धि स्वरूप मोक्ष सुख को अवश्य प्राप्त कर लेते हैं। जिस ज्ञानी-ध्यानी का मन रूपी भ्रमर समस्त विकल्प रूपी पुष्पों को छोड़ निश्चय और आनन्द मय शुद्धात्मा रूपीकमल—पुष्प का रसास्वादन करता है, वह योगीश्वर देवों द्वारा पूज्य होते हैं। यह वचनातीत आत्म-ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है तथा अनुभव तो और भी दुर्लभ्य है। इस आत्म—तत्व को बहु आरम्भी, बहु परिग्रही मनुष्य नहीं जान सकते; जान भी ले तो वर्णन नहीं कर सकते। कदाचित वर्णन भी करते तो अनुभव महादुर्लभ है। इस संसार में उत्तम कुल में निरोग जन्म पाकर शास्त्रज्ञान से वैराग्य संज्,

जो पवित्र तप करता हुआ ध्यानामृत का आस्वादन करते हैं, वह मानो स्वर्ग—मय महलों पर मणिमय कलशों की पंक्ति स्थापित करता है। वह निर्मल बुद्धि मानव सम्यक्दर्शन को प्राप्तकर अकेला ही शिवपुर पहुंच जाता है। ऐसे मानव को धन्य है।

इस आत्मा में कभी तो दया, दान, पूजा, भक्ति, शील, संयमादि रूप शुभ प्रवृत्तियां होतीं, और कभी हिंसा, झूठ, चोरी, काम–सेवन और परिग्रह में अधिक तृष्णा के अशुभ भाव होते हैं; परन्तु ये सब शुभाशुभ प्रवृत्तियां आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। नवीन ही उत्पन्न हुई हैं। ये प्रवृत्तियां धर्म नहीं हैं। संसारी जीव पाप की अपेक्षा पुण्य को अच्छा मानते हैं। कभी कभी पाप से छुड़ाने के लिये पुण्य–संचय का उपदेश भी देते हैं, परन्तु ज्ञानी उस उपदेश को धर्म कभी नहीं मानते। क्योंकि आत्म-स्वभाव की अपेक्षा तो पुन्य-पाप दोनों ही स्वर्ण और लोहे की बेड़ी के समान संसार में बांधने वाले ही हैं। दोनों विकारी भाव हैं तथा आत्मा के अविकारी रूप से विरुद्ध हैं।

सम्यक्—दर्शन अनुपम सुख दाता; सर्व कल्याण का बीज और संसार—समुद्र से पार होने के लिये श्रेष्ठ जहाज है। इसे एक मात्र भव्य जीव ही प्राप्त कर सकते हैं। अन्तरंग की ओर सन्मुख हो, आत्म स्वभाव का आश्रय लिये बिना सम्यक् प्रतीत (सम्यग्दर्शन) नहीं होती। इस पंचम काल में आत्म ज्ञान और मुनि धर्म नहीं हो सकता, ऐसी मान्यता मिथ्या है। यह आत्म ज्ञान रूप धर्म आठ वर्ष का बालक अथवा वृद्ध, रोगी निरोगी, धनी दरिद्री समस्त अवस्थाओं और कालों में सु क्षेत्र या कुक्षेत्र में प्राप्त किया जा सकता है। जो मनुष्य तत्व ज्ञान नहीं प्राप्त करते उनकी पूजा। दान, दर्शन, जप–तप, त्याग और शील संतोष आदि समस्त क्रियाएं असत्य और निष्फल हैं। अतएव स्वानुभव द्वारा आत्म—लीनता अवश्य प्राप्त करना चाहिए। सम्यग्दर्शन

आत्म–तत्व निर्णय के बिना नहीं होता। कुल–रीत से धर्म की मान्यता करने से गृहीत—मिथ्यात्व दूर नहीं होता और बिना गृहीत मिथ्यात्व दूर हुए अगृहीत मिथ्यात्व नहीं हटता। जब तक अगृहीत मिथ्यात्व नहटे तब तक आत्म–धर्म प्रारम्भ नहीं होता।

वस्तु—स्वरूप तो यह है कि आत्मा पर का कुछ भी नहीं कर सकता। तभी चेतन-अचेतन तत्व अनादि, अनंत स्वयं सिद्ध हैं और अपनी अपनी अवस्था में परिणमन कर रहे हैं। अर्थात् संसार में समस्त द्रव्यों (पदार्थों) की क्रिया स्वतंत्र अपने आप हो रही है। आत्मा अपने शरीर को चलाता न स्थिर कर सकता और न किसी को सुखी या दुखी कर सकता है। वह अपनी अवस्था में मात्र शुभाशुभ या शुद्ध भाव कर सकता है। वह अपने स्वरूप से सद्भाव रूप और दूसरी आत्माओं तथा जड़ पदार्थों के अभाव रूप ठहरा हुआ है। उस चैतन्य—पिण्ड में ज्ञान—दर्शन मय-वीतराग भाव ही प्रकट होते हैं। क्योंकि उसका ऐसा स्वभाव ही है अज्ञानी जीव बाह्य रुचि से अपनी अव-था में विकार भावों का कर्त्ता बनता है। उसकी समस्त विकारी वृत्तियाँ आत्मा से अलग और अन्य हैं। आत्म-स्वभाव का ज्ञान होने से विकार के साथ कर्ता-कर्मत्व भाव दूर हो जाता और निर्मल वीतराग अवस्था का स्वामी हो जाता है। इसी का नाम ही आत्म–बोध है। इसलिए वस्तु का सत्य स्वभाव लक्ष्य में लेकर उसमें रुचि रखने से आत्मा में अपूर्ण पात्रता प्रकट होती है। क्रोधादि रूप अशुभ भाव तथा दया, दानादि रूप शुभ भाव, दोनों ही आत्मा से भिन्न, आस्रव तत्व हैं। मैं तो ज्ञाता, दृष्टा, अविकारी और ज्ञान–प्रमाण हूँ। यद्यपि विकार मेरे ज्ञेय हैं। तथापि मैं उनसे सर्वथा भिन्न हूँ।

अब यहां नव तत्वों का वर्णन करते हैं। जितना ज्ञान है उतना ही आत्म–तत्व या जीव-तत्व

अब यहां नव तत्वों का वर्णन करते हैं। जितना ज्ञान है उतना ही आत्म—तत्व या जीव-तत्व है। राग जीव—तत्व नहीं है। जड़ शरीर की समस्त क्रियाये अजीव—तत्व में शामिल हैं। पहिले लिख चुके हैं कि हिंसादि भाव पाप—तत्व और दया, दान, व्रतादि भाव पुण्य तत्व हैं। ये दोनों ही आस्रव—तत्व हैं। इस विकार आत्मा का अटकना या रम जाना ही बन्ध—तत्व है। अविकारी शुद्धात्मा के ज्ञान की एकाग्रता करना संवर-तत्व का स्वरूप है। संवर पूर्वक कर्मों का पृथक होने लगना निर्जरा—तत्व और पूर्ण शुद्धता (कर्म रहित) का प्रकट होना मोक्ष—तत्व है। पुण्य—पाप के विकल्प, देव—शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, पंच महाव्रत, पंच समिति और तीन गुप्तियां इस प्रकार व्यवहार रत्नत्रय का भाव यथार्थ में न तो आत्मा है और न उसकी पर्याय है। ज्ञान की अवस्था ही आत्मा की पर्याय है। ज्ञान आत्मा से अभेद होने के कारण ज्ञान ही आत्मा है तथा रागादि अनात्मा हैं। ज्ञान से अतिरिक्त जो श्रद्धा चारित्र आनन्द आदि अनन्त गुण हैं, वे सब ज्ञान में ही अभेद रूप से आ जाते हैं। क्योंकि ज्ञान कर्त्ता होकर किसी 'पर' का कुछ भी कार्य और विकार की उत्पत्ति नहीं करता। यदि कोई जीव एक समय—मात्र भी व्यवहार में रुचि करे तो उसकी समझ में आत्मा नहीं आ सकता है। इसलिये व्यवहार से प्रेम छोड़ निरन्तर ज्ञान स्वरूपी आत्मा की प्रतीति करो। इसी में आत्म—कल्याण है। आत्म दर्शन के साथ ही, ज्ञान-राज्य प्रकट हो जाता है। जैसी अरहन्त भगवान की आत्मा ज्ञान मात्र है। उसी प्रकार मैं भी ज्ञान—मात्र हूँ। अपने ज्ञान—स्वरूप को ही स्व ज्ञेय करने से आत्मा में सम्यक्ज्ञान प्रकट हो जाता है। और पूर्व की पंच लब्धियां जो व्यवहार रूप से सम्यक्दर्शन का कारण थीं, उनका अभाव हो जाता है।

आत्म ज्ञान मात्र है। ऐसा करने से रागादि भाव भिन्न और ज्ञेय रूप रहते हैं, परन्तु रागादि कारण और आत्मा का सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र कार्य ऐसा नहीं है। सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये

तीनों मोक्ष के कारण हैं और द्रव्य का आश्रव करने से ही प्रकट होते हैं। अतएव इनका आधार द्रव्य है और उस द्रव्य की प्रतीति करना सम्यक्दर्शन है, अतएव ज्ञान-मात्र रूप आत्मा से ही सन्तुष्ट रहो। ज्ञानी पुण्य-पाप रूप विकल्प—तरङ्गों में कदापि सन्तुष्ट नहीं होते बल्कि वे तो इन्हें त्याज्य समझ आत्म-रुचि में ही सन्तुष्ट होते हैं। ऐसे चिद्वान् पूर्व काल में हो गये, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे। उनमें जो पूर्ण सर्वज्ञ हुए वे अरिहन्त देव, पूर्णता के साधक गुरु और उस पूर्णता का यथार्थ कथन करने वाली सरस्वती (जिन वाणी) या शास्त्र है। इस प्रकार देव, शास्त्र और गुरु ही धर्म में निमित्त है।

आत्म-ज्ञान के उपरान्त अनेक जीवों को तीर्थंकर प्रकृति नाम कर्म का बन्ध उसी भव या अगले भव में होता है। कुछ जीवों को नहीं भी होता। मतलब यह कि तीर्थंकर भगवान सम्यक्दर्शन, ज्ञान सहित ही जन्म लेते हैं। इन्हें अपने चिदानन्द, शुद्ध स्वभावी आत्मा का ज्ञान रहता है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध, राग का फल होने से विकार ही है। वह आत्मा का धर्म नहीं है। जब तक आत्मा में वीतराग रूप परिणामों की स्थिरता नहीं होती तब तक आत्मा में राग रूप विकार विद्यमान रहता है। आत्मा सम्यक्दृष्टि है, परन्तु तीर्थंकर नाम कर्म जड़ है, अतएव सम्यक्दृष्टि इस कर्म का आदर नहीं करता। यहां पर सत्य समझ की मुख्यता है। भले ही त्यागादिक न हो सके, परन्तु अन्तरङ्ग में सदैव सच्ची समझ बनाए रखेगा। इसी के फल स्वरूप अल्प काल में उनके भव भ्रमण का अन्त आ जायगा। बिना यथार्थ समझ के भव-सागर से पार नहीं हो सकता। जैसे—रस्सी से घड़े को फांसकर कुए से पानी निकालने लिये उस रस्सी की गांठ को हाथ में अच्छी तरह पकड़े रहते तभी पानी निकलता है। यदि गांठ को हाथ से छोड़ दे तो कुछ भी न लगेगा। इसी प्रकार

से छोड़ दें तो कुछ भी न लगेगा। इस प्रकार

चौरासी लाख योनि रूप कुए से आत्मा रूपी पानी बाहर निकालने के लिए सम्यक् श्रद्धा रूपकी गाँठ को बराबर पकड़े रहना चाहिए।

लक्ष्मी ? पुत्र-पौत्रादि पुण्य-पाप (पर द्रव्य) के फल हैं। इसमें आनन्द नहीं है। आनन्द तो एक मात्र चैतन्य स्वरूप आत्मा में ही है। उनके बिना जाने जितने क्रिया-काण्ड करो परन्तु उनमें कोई धर्म नहीं है। इसलिए यदि एक वार भी 'पर' वस्तु से ममत्व त्याग, ज्ञाता दृष्टा आनन्द मय निज स्वभाव का आराधन कर उसमें लीन हो जाओ तो तुम्हें अपूर्व आनन्द अनुभव प्राप्त होगा। जब तक आत्मा वीतरागता प्रकट न होगी, तब तक पुण्य-पाप के ही फन्दे में फंसे रहोगे। कदापि उद्धार न होगा। वस्तु स्वभाव का पहचानना ही कार्य कारी है। मात्र वाह्य संयोग के अनुकरण से कोई लाभ नहीं है। जैसे किसी मनुष्य ने जंगल में शीत के बचने के लिए बहुत से तृण-काष्ठ एकत्र कर चकमक से अग्नि प्रज्वलित कर शीत से अपनी रक्षा की। पास ही एक झाड़ पर बैठा बन्दर यह सब देख रहा था, उसने भी बहुत सा तृण—काष्ठ एकत्र किया और उसमें जुगनू पकड़ कर डाल दी इस प्रकार वाह्य—संयोग का अनुकरण किया। वस्तु-स्वभाव नहीं जाना। ऐसे ही ज्ञानी को राग द्वेष रहित चैतन्य स्वभाव का भान होता है। अज्ञानी को नहीं होता। वह तो मात्र बन्दर के समान वाह्य-संयोग का ही अनुकरण मात्र करता है। वस्तु-स्वभाव जो यथार्थ में धर्म है उसे नहीं जानता है। आत्म-तत्त्व को छोड़ वाह्य वस्तुओं से दुःख दूर न होकर उल्टा बढ़ता ही जाता है। इस-लिए मोह-ममत्व को तिलांजलि दे ज्ञान-दर्शन आनन्द मय, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही निरन्तर चिन्तवन करो। मनुष्य जन्म की सार्थकता इसी में है।

आत्मा चेतन तथा शरीर अचेतन होने से भिन्न-भिन्न हैं। अपनी अज्ञानता से ही एक रूप

प्रतीति हो रही है। जैसे खानि से निकाले हुए स्वर्ण में पाषाण, मिट्टी आदि बहुत से अन्य द्रव्य मिले रहते हैं। परन्तु अग्नि-संयोग से अन्य द्रव्य और स्वर्ण दोनों पृथक-पृथक हो जाते हैं। इसी प्रकार शुद्ध स्वर्ण रूप आत्मा भी ध्यानाग्नि से मोहादि अन्य विकार रूप द्रव्य को छोड़ देती है। दोनों पृथक-पृथक हो जाते हैं और शुद्ध समस्त पुद्गलों से भिन्न सत्य स्वरूप प्राप्त हो जाता है। जब ज्ञानी के क्रूर अशुभ कर्म का उदय आता है, तब वह उसे ममता भाव से भोग लेता है। वह विचारता है कि मेरी दृष्टि तो अपने मुक्त स्वभाव पर स्थिर है। मैं अपने स्वभाव में जाग्रत हूँ। ये शुभाशुभ कर्म मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। इन बेचारे पुद्गलों का जोर तो पुद्गल शरीर पर ही है। मुझे आत्म दृष्टि चलायमान करने की इनमें सामर्थ्य नहीं है। मैं तो चैतन्य ज्ञाता दृष्टा हूँ और पुण्य-पाप मेरे ज्ञान का ज्ञेय मात्र है ऐसा बार-बार चिन्तवन करने से बाह्य-संयोग स्वयं छूट जाता है। ऐसा मुनि-पद ही मोक्ष मार्ग है। ऐसा इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से मुनि-पद प्राप्त नहीं होता। ज्ञानी के अन्तरंग में विकल्प या 'पर' का स्वामित्व नहीं होता। वह अनादि वस्तु सत्य स्थिति समझता है। इस प्रकार आत्म निरीक्षण करते-करते इतनी उदासीनता सहज ही आ जाती है कि फिर वस्त्राभरण धारण करने की बुद्धि ही नहीं होती परम निर्ग्रन्थ दिगम्बर दशा हो जाती है। मुनि-पद त्रिकाल नग्न दिगम्बर वीतरागता सहित होता है। मैं ज्ञानानन्द स्वामी हूँ। मेरे में ही मैं शरण भूत हूँ। शरीरादि समस्त पुद्गल अशरण हैं इस प्रकार मुनि-जन अनित्य, अशरणादि बारह भावनाओं का निरन्तर अन्तरंग में चिन्तवन करते, परीषह सहते, और सदा निर्मल परिणाम रखते हैं। ऐसे सन्त केवल ज्ञान प्रकट कर मोक्ष-लाभ करते हैं। हे भव्यो! तुम भी अपनी आत्मा की प्रतिष्ठा से तुम भी भगवान हो जाओ, पर को त्यागकर 'सिद्ध समान सदा पद मेरा' समझो। ऐसी सुमझ

से तुम भी भगवान हो जाओगे। अपनी आत्मा में चिदानन्द चैतन्य प्रभु की स्थापना परमार्थ स्थापना है। बाह्य में भगवान की स्थापना करना उपचार मात्र है।

इस चैतन्य प्रभु की लीला देखो! 'स्व' का जानने से 'पर' को जान लेता है। जो अपने आत्म-स्वभाव की महिमा प्रकट कर लेते हैं वह स्वभाव पद वचन अगोचर है। वह एक मात्र अनुभव करने की बात है। अरिहंत भगवान ने स्वयं वह पद प्रकट कर उसका पंथ प्रकट किया है मैं भी उसी पर चल उन्हीं के समान परम-पद में स्थिर हो जाऊँगा। जो अपने शुद्ध स्वभाव को क्रोधादि विकार—भावों से भिन्न मानता है, वह विकार का कर्त्ता नहीं होता। वह कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति नष्ट कर आत्मा को शुद्ध और निर्दोष बना लेता है। समस्त पुद्गलों की समस्त गुण पर्यायों से भिन्न आत्माराम इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। उसे ज्ञान द्वारा ही पहिचानना चाहिये। यही भव-भ्रमण के अन्त का मूल कारण कल्याण का बीज मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी सम्यक्दर्शन है।

आत्मा का त्रिकाल ज्ञान, दर्शन, चेतनादि अनन्त गुण संयुक्त विश्वास करने से अन्तरङ्ग में पूर्ण शांति प्रकट होती है। समस्त पुद्गलो से दृष्टि हट कर अमूर्त स्वरूप आत्मा का भान हो जाता है। जिसे आत्मा अनुपम आनन्दनुभव करना हो, उसे विचारना चाहिये कि मैं चैतन्य, अरूपी ज्ञान—स्वभावी, मिथ्या, मोह—मल रहित, राग—द्वेष से दूर तथा इन्द्रिय और मन के विषयावलम्ब से रहित सम्यक्दर्शन स्वरूप हूं। इस प्रकार ज्ञान—स्वभाव के सन्मुख होने से 'पर' की ओर से विमुखता होती जाती और आत्मा का अनुभव होता जाता है। जो इस अरूपी आत्मा को इन्द्रियों और मन द्वारा जानने योग्य पदार्थ मानते हैं वे सदैव इस भव—सागर में गोता खाते रहेंगे।

जो जीव इस आत्मा को समस्त पुद्गलों से भिन्न, चैतन्य, ज्ञाता—दृष्टा आनन्दमय अनुभव

करते हैं वे भूत, भविष्य और वर्तमान के समस्त पदार्थों को अनन्त पर्यायों सहित एक साथ एक समय में प्रत्यक्ष देख जान लेने वाले सर्वज्ञ हो जाते हैं सम्यग्दर्शन की ऐसी महिमा है। जब प्राणी पूर्ण स्वतन्त्र, पूर्ण प्रकाशित, पूर्ण आनन्द—घन स्वरूप आत्मा की पूर्ण पहिचान और अनुभव करता है तथा एकाग्रता की दृष्टि रखता है। तब उसे अगली पर्याय पुरुष की मिलती और तीन या चार भव में मुक्ति-पद प्राप्त कर अनन्तकाल को पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है। ऐसा अनुभव का प्रसाद है। अनुभव चिन्ता—मणि रत्न है। अनुभव रस—रूप है। अनुभव मोक्ष—मार्ग है और अनुभव मोक्ष स्वरूप है।

इस प्रकार आत्म-प्रबोध का अनुभव-प्रेरक आठवां परिच्छेद समाप्त हुआ।



नवम परिच्छेद

—:०:—

❀ मङ्गलाचरण ❀

दोहा—चिदानन्द ध्यान की, महिमा अगम अपार।
एक मिनट का ध्यान से, पहुँचे भव-दधि पार॥

आत्मा का ध्यान करने से स्व-स्वभाव जाग्रत हो जाता है। उस आत्म स्वभाव के जाग्रत होने पर, अभ्यास से आत्म-बल बढ़ने लगता है। उस समय जीव विचारने

लगता है कि यह संसार अनादि अनन्त है। परिवर्तनमान शीलता इसका स्वाभाविक है। जड़-रूप मिट्टी से घट और घट से मिट्टी रूप परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार जीवतत्व में परिवर्तन होता रहता है। विश्व के सब प्राणी नाना योनियों में पशु, पक्षी, मनुष्य देव और नारकी आदि की पर्यायों में परिवर्तन होते रहते हैं। जीव-द्रव्य में मूलतः दो प्रकार का परिणमन होता है। पहला शुद्ध परिणमन और दूसरा अशुद्ध परिणमन। यह अशुद्ध परिणमन जीव के साथ अनादिकाल से होता चला आ रहा है। जब तक उसे शुद्ध करने का प्रयत्न न किया जायगा, तब तक ऐसा ही चलता रहेगा। जो शक्ति जीव में है, वह शक्ति जड़ (पुद्गल) में भी है। पुद्गल के अणु एक समय मात्र में चौदह राजु गमन कर जाते हैं। जड़ भी अनादिकाल से परिणमन शील हैं। चैतन्य के सम्पर्क से उसमें भी मलीन परिणमन होता रहता है, परन्तु यह निश्चित है जड़ (अचेतन) सदैव जड़ ही रहेगा। वह कभी चैतन्यरूप न होगा। इसी प्रकार चैतन्य भी कभी जड़ नहीं होगा। इन दोनों (चेतन-अचेतन) के अशुद्ध परिणमन एक दूसरे को सदैव लिपटाये रहते हैं। यह जीव जब तक इस भेद को नहीं समझता तबतक उसको अपनाये रहता है यही अनादि सम्बन्ध है। इन दोनों के भेद को जानने का श्रेष्ठ एक ही उपाय है कि यह जीव चेतन या अचेतन को पूर्ण रूप से समझ ले इसे तत्काल आत्मा 'पर' वस्तु (पुद्गल) से भिन्न हो जायगी। परन्तु यह जीव अनादि से पुद्गल के सम्पर्क में रहने से उस पर ऐसा पक्का मजीठ जैसा रंग चढ़ गया है कि वह अपनी असली ज्ञानदर्शन आनन्दमय स्वरूप को नहीं समझने पाता और न अनुभव करने पाता है।

सब्बस्त पर-भाव आत्म-स्वभाव से जुड़े हैं, परन्तु मदिरा से उन्मत्त हुए मनुष्य की नाईं उसका ज्ञान इतना विकृत हो गया है कि वह अपने को भी नहीं पहिचान पाता। इन्द्रिय विषयों से उत्पन्न हुई

विषमवेदना को भोगता हुआ भी पर-परणति में रम रहा है और कर्म से बंधा हुआ रूप ही अपना स्वभाव समझ रहा है। इसी के फलस्वरूप कुम्हार के चक्रवत् चतुर्गति में भ्रमण कर रहा, फिर भी अपनी चाल को नहीं छोड़ता। मनुष्य-पर्याय पाकर भी आत्म-हित नहीं करता। ऐसा मनुष्य षट्काय या विकलत्रय में अनन्त बार जन्म-मरण करता है। जीव तो अनादि निधन है। समस्त लोकाकाश का तिल-मात्र एक प्रदेश भी ऐसा नहीं बचा जहां यह प्राणी जन्मा या मरा नहीं? इसी तरह पंच परावर्तन करता रहा है।

यदि राग-द्वेष मोहादि भावों से जीव में विकार उत्पन्न न हो तो आत्मा केवल देखने-जानने वाला ही रहे और न कर्म-पुद्गलों को अपना समझे। अपने को यथार्थ रूप देखने से संयोग-वियोग में सुख-दुःख नहीं होता। अपने ही ज्ञान को स्वसंवेदना ज्ञान, और अपने स्वरूप के अनुभव को ही सम्यक् दर्शन कहते हैं। इसके होने पर जीव दृष्टि-कोण ही बदल जाता है। सत्यावलोकन से राग-द्वेष मोह-ममता छूटकर पूर्ण अनुभव युक्त ज्ञान-ज्योति जागृत हो जाती है। अन्तकरण में शुद्ध विवेक होने पर जगत् के समस्त पदार्थों से लालसा चली जाती है। ज्ञानी सदैव विचारता है कि जो मुझे कर्म-जन्य रोग है उसके लिए ये भोग औषधि-मात्र हैं। कब इससे छुटकारा हो? जैसे कारागृह में कैदी अधिकारी की आज्ञा से नाना प्रकार के खिलौने बनाता है, परन्तु हृदय में यही समझता है कि खिलौने मेरे लिए नहीं हैं। विवश हो, मुझे जेल-अधिकारी की आज्ञा से बनाना पड़ते हैं। मुझे तो जेल के नियमों का पालन करना कराना है कब इस जेलखाने से छूटूं? और अपने उदर-पूर्ति के धन्धे में लग जाऊं। इसी प्रकार विवेकी आत्मा संसार-वास करते हुए यही विचारता है कि कब इससे छुटकारा मिले? ताकि मैं अपने स्वरूप की प्राप्ति में लग जाऊँ।

ऐसे प्रकाश से जीव को अपनी रूप रेखा का ज्ञान होता और यही ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि करे। अपना स्वरूप समस्त पुद्गल कर्मों से निराला कर लेता है। तभी यह आत्मा परमात्मा हो जाता है। इस प्रकार परमात्मा होने की शक्ति प्रत्येक जीव में है अशुद्धात्मा संसारी जीव और शुद्धात्मा ही तो परमात्मा है। प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। मैं भी स्वतन्त्र आत्मा हूँ। न तो मैं आज तक किसी का हुआ और न कोई मेरा हो सकता है। ये सब पर्याय से होने वाले स्वार्थ के नाते हैं। अब मनुष्य पर्याय की आयु भी समाप्त होने को आई। दूसरों से क्या? इस शरीर से भी मेरा नाता टूट जायगा। अपना मार्ग अपने रूप की खोज में है इस सत्य विवेक से जीव समस्त पर—पदार्थों से अपना नाता तोड़ निज रूप में आ जाता है। यही सत्य का अवलोकन है।

आत्मा के गुणों का स्मरण—ध्यान करने से आत्म—ज्ञान होता है। कंटक—मय संसार में गुलाब—पुष्प के समान जीवन बिताने के लिये अद्वैत आत्मानुभव और ध्यानाध्ययन आवश्यक है। यही रत्नत्रय प्राप्त करने का परम साधन है। रत्नत्रय निश्चय स्वरूप ही मेरा स्वभाव है। जो भव्य जीव आत्म—ज्ञान कर उसका अनुभव करते हैं वे निश्चय ज्ञानमात्र आत्मिक भूमि का आश्रय ले मोह को दूर कर, स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। अज्ञानी जीव आत्म—भूमि को न पाकर संसार—सागर में ही गोता खाते हैं उन्हें कभी भी मुक्ति का लाभ नहीं होता। अतएव ज्ञानार्जन करो, इसी से मुक्ति मिलेगी। ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश—पाताल जैसा अंतर है। अज्ञानी राग—द्वेष मोहादि भावों का कर्त्ता होता तथा ज्ञानी अपने को शुद्ध अनुभव करता हुआ उनका कर्त्ता नहीं होता। वही भेद विज्ञानी और जैन है। जैन—धर्म किसी व्यक्ति के कथन, पुस्तक या चमत्कार पर निर्भर नहीं है। जो अपनी आत्मा को मोह, मिथ्यात्वादि कषाय-भावों एवम् अन्याय और अभक्ष्य से बचाकर रखता है।

वही जैन—धर्मी और जैन—दर्शन की महिमा को जानने वाला है। ज्ञानी-अज्ञानी कोई भी आत्मा पर-वस्तु एक परमाणु मात्र को इधर-उधर करने में समर्थ नहीं है फिर देहादि की क्रिया आत्मा के साथ कैसे हो सकती है॥

मुनि होने पर भी यदि कषाय—वृत्ति कम न हुई तो सब ढोंग और स्वाँग मात्र रहा। वे दूसरों का तो क्या? अपना उद्धार भी नहीं कर सकते। पत्थर की नौका के सदृश है। जैन—धर्म सत्य का अखण्ड और विश्व—धर्म है। इसका अनुभव मात्र आधार है। यह त्रिकाल अबाधित और सत्य रूप है, वस्तुएं और तत्व—ज्ञान अनादि-अनन्त है। जिसे ऐसी श्रद्धा नहीं होती, उसे सम्यक् दर्शन, ज्ञान नहीं होता और बिना सम्यक् ज्ञान के सम्यक् चारित्र भी नहीं होता अर्थात् उसे मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है। संसार परिभ्रमण बना रहता है। विशुद्ध परिणामी ज्ञानी के हृदय में सतत ज्ञान रूपी दीपक के प्रकाशित रहने से, उसे आगम ज्ञान का नष्ट होने का भय नहीं रहता है। सम्यक्-दर्शन धारी आत्मा के चार पद हैं यथा :—आत्मा है। वह वस्तु स्वरूप में नित्य है, परन्तु अवस्थाएं बदलती रहती हैं। शुद्धाशुद्ध भाव करने वाली और उन्हीं भावों को भोगने वाली है। और आत्मा स्वयं सम्पूर्ण शुद्ध अवस्था प्रकट कर सकती है।

अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष का उपाय है और उसका साधन सामायिक है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से सामायिक चार प्रकार के हैं। जाति, गुण और क्रिया की अपेक्षा न कर किसी भी पदार्थ की सामायिक करना नाम सामायिक है। समस्त पापों से रहित परिणामों में परिणमित आत्मा के, सामायिक करने के समय जो शरीर का चित्रवत् आकार होता है, ऐसी स्थापना कर लेना स्थापना सामायिक कहलाती है। सामायिक रूप आत्मा के परिणाम का अनुभव तो हो चुका है, परन्तु

वर्तमान में सामायिक रूप ज्ञान में परिणत नहीं हुआ, उसे द्रव्य सामायिक कहते हैं। सामायिक रूप आत्मा का ज्ञान जो वर्तमान में उपयोग रूप है, वही भाव-सामायिक है। जिस सामायिक में आत्मा पुण्य-पाप रूप विकल्प जालों से रहित शुद्ध वीतरागी है उसका फल, प्रतिदिन करोड़ों अशर्फियां (स्वर्ण—मुद्रा) दान करने के फल से अनन्त गुणा है। ऐसी उस अभेद स्वरूप की स्थिरता सच्ची सामायिक है। जिन्हें यथार्थ अभ्यास नहीं और आग्रह भी नहीं छोड़ना चाहते, उन जीवों को सच्ची सामायिक प्राप्त नहीं हो सकती।

यह आत्मा अनादि—काल से पर—वस्तुओं को अपनी मानता हुआ, अत्यन्त दुखी हो रहा है। यदि उसका आत्म—स्वरूप सम्बन्धी भ्रम दूर हो जाय, तो उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो जाय। शास्वत, निराकुल और अतीन्द्रिय सुख ही आत्मा का निज—गुण है। आत्म—स्वरूप की यथार्थ प्रतीति, यथार्थ ज्ञान और उसकी स्थिरता (सम्यक्—दर्शन, ज्ञान—चारित्र) ही मोक्ष-मार्ग है। निश्चय से आत्मा का निज स्वरूप ही उसका शरण भूत है। व्यवहार—दृष्टि से पंच परमेष्ठी बाह्य शरण हैं। परमौदारिक शरीर वाले अरिहन्त भगवान, चार घातिया कर्मों को नाश कर, चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य युक्त अनन्त चतुष्टय के स्वामी हैं। उनकी अमृत वाणी से जगत् के जीवों का कल्याण होता है। समस्त लौकिक जीव उनका प्रभुत्व मानते हैं। इन्द्रादि देव उनकी स्तुति—वन्दना और प्रभावना करते हैं कुछ काल पश्चात् शेष चार अघातिया कर्मों को नष्ट कर, परम औदारिक शरीर को भी त्याग, वस्तु स्वभाव के अनुसार, ऊर्ध्व गमन कर सिद्धालय में जा पहुंचते हैं। यही सिद्ध भगवान हैं। उनके आत्म प्रदेश चरम शरीर से किंचित न्यून; पुरुषाकार सदैव अवस्थित रहते हैं। समस्त प्रतिपक्षी कर्मों का नाश होने से ज्ञान, दर्शनादि अनन्त आत्मिक गुण पूर्ण रूप

प्रकट हो जाते हैं। अरिहन्त भगवान के परमौदारिक शरीर के समस्त परमाणु निर्मल और कपूर के समान हो जाते हैं। उस शरीर में निगोद जीव नहीं होते। सिद्ध अवस्था होते समय परमौदारिक शरीर के समस्त परमाणु इधर-उधर बिखर जाते हैं। उनका नाश नहीं होता है। अब आचार्य, उपाध्याय और साधु का स्वरूप लिखते हैं।

जो मुनि शुद्धोपयोग मय आत्मा-द्वारा आत्मा का ही आत्मा का सतत अनुभव कर, निर्ममत्व हो ज्ञान-दर्शनादि स्वभाव को अपना समझते हैं। कभी मन्द राग के कारण शुभोपयोगी भी हो जाता है, परन्तु वे इसे हेय ही समझते हैं। शरीर-संस्कार क्रिया से रहित दिगम्बर सौम्य मुद्राधारी एकान्त वन-खण्ड, शैल, शिखर, नदी, सरोवर तट, तरु-कोटर या गम्भीर गुफा में निर्भय निवास करते हैं। बाईस परिषहों को सहते, प्रतिमावत निश्चल ध्यान करते तथा निरन्तर द्वादश प्रकार का तपश्चरण करते हैं। रत्नत्रय-स्वरूप धर्म रत्न शक्ति को बढ़ाने के लिये और शरीर स्थित हेतु सिद्धान्त की आज्ञानुसार दिन में एक बार अंजुली से निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं। धर्मोपदेश के लिए दिन में ही विहार करते हैं। दूसरों को दश-लक्षण-धर्मरूप शिक्षा दीक्षा देने वाले आचार्य महाराज पंचाचार धारण करने वाले होते हैं। पाठक (उपाध्याय) महाराज ग्यारह अङ्ग चौदह पूर्व के पाठी होते हैं। अन्य मुनि साधु कहलाते हैं। ये भी समस्त जैन शास्त्रों के ज्ञाता, प्रयोजन भूत अर्थ के जानकार होते तथा अपने स्वरूप का ध्यान करते हैं। ध्यान की तन्मयता न रहने पर शास्त्रादि का भी अध्ययन करते रहते हैं। बाह्य साधन रूप तपश्चरणादि क्रिया में निरन्तर लगे रहते हैं। कभी-कभी षट् आवश्यक क्रिया (भक्ति, वन्दना) में भी रत होते हैं। ऐसे आत्म-स्वभाव साधक साधु भी व्यवहार दृष्टि से शरणभूत हैं।

"अहिंसा परमो धर्मः" शुद्ध ज्ञायक स्वभाव, चैतन्य, अखण्ड आत्मा में एकाग्रता रखना ही अहिंसा धर्म है दूसरे को न तो कोई मार सकता है और न जिला ही सकता है। अधिकांश मनुष्य हिंसा अहिंसा की सच्ची व्याख्या ही नहीं जानते। वे तो इस जड़ शरीर से चेतन (जीव) के पृथक कर देने को ही हिंसा हैं, परन्तु यथार्थ में एक मात्र यही बात नहीं है। शरीर और चेतन तो सदा से पृथक ही हैं। यह आत्मा अपने शुद्ध, ज्ञायक—शरीर से अभेद रूप है। उसमें पुण्य - पाप की वृत्ति नहीं है। इस आत्मा को चैतन्य, ज्ञान—स्वभावी न मानकर, पुण्य - पाप रूप मान लिया है और चैतन्य, ज्ञान—दर्शन स्वभाव को पृथक माना। यही तो स्व-हिंसा हुई। इस प्रकार चैतन्य स्वभाव का खून करना वास्तविक हिंसा है। इसके विपरीत पुण्य - पाप को निज - स्वरूप न मानकर; केवल ज्ञान दर्शन और चैतन्यादि गुण—रूप मानना ही सच्ची अहिंसा है। यह चैतन्य तत्व बिलकुल निराला है। अनादि कालीन बान्धव साथियों का घात करने पर भी हिंसा नहीं करना सर्व श्रेष्ठ अहिंसा है। मिश्री खाकर गधे के मर जाने से कोई मिश्री खाना नहीं छोड़ देता। इसी प्रकार यदि कोई अपने स्वार्थ मय अभिप्राय: से स्वच्छन्द हो जाय, तो इसमें किसका दोष है? समाधि के समय मुनि - जन विचार करते हैं कि:—

परम वीतराग—दशा के अतिरिक्त मुझ में जो संयम, व्रत पालन करने की वृत्ति होती है, वह मेरे प्रत्याख्यान व त्याग में भंग रूप है। हमारा प्रत्याख्यान तो वीतरागता को प्रकट कर केवल ज्ञान को प्राप्त करने वाली है। वह उत्कृष्ट ज्ञान प्रकाश किसी के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता। हवा, दीपक की ज्योति को बुझा देती है परन्तु ज्ञान—दीपक की ज्योति को बुझाने वाला संसार में कोई पदार्थ नहीं है। सूर्य—प्रकाश अन्य क्षेत्र को भी प्रकाशित करता है, परन्तु केवलज्ञान रूपी सूर्य का

प्रकाश एक दम समस्त जगत को प्रकाशित कर देता है अर्थात् उसमें जगत के त्रैकालिक समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। जिस प्रकार अनन्त जीवों से परिपूर्ण प्रदेशों से हिंसा का निवारण असम्भव है उसी प्रकार बिना ज्ञानराज (केवलज्ञान) के मोक्ष—प्राप्ति असम्भव है। द्रव्यलिंगी मुनि समस्त बाह्य-आचरण मुनियों के सदृश करता है, परन्तु उसे निज—स्वभाव का श्रद्धान नहीं होता। वह अज्ञानी, मिथ्या दृष्टि है तथा परमार्थ पन से शून्य है। वह अन्य की अन्य कल्पना करता है। वह मुनि श्रवणाभास मात्र है। वह ग्रैवेयक तक जाकर अनन्त काल पर्यन्त संसार में ही भटकता रहता है।

मिथ्यामय भ्रम को दूर कर यथार्थता को पहिचानना धर्म का प्रारम्भ उस यथार्थ स्वरूप में स्थिर होने का अभ्यास साधक दशा और आत्मा में पूर्ण स्थिरता का प्राप्त करना धर्म की पूर्णता है। अन्तरङ्ग में ज्ञाता - दृष्टा स्वरूप को बिना जाने अर्थात् ज्ञान के विवेक भाव से रहित जो त्याग है, वह मोह और दुःख में ही सम्मिलित है। बिना यथार्थ स्वभाव का भान हुए वास्तविक त्याग वैराग्य नहीं हो सकता। अज्ञानी को राग में ही रुचि रहती है। उसे आत्म—वार्ता कदापि नहीं रुचती। जिसे निज स्वभाव का भान होता है, उसी को सच्चा त्याग—वैराग्य सूझता है। वही ज्ञानी या सम्यक्दृष्टि है। वही आत्मा को शरीर के साथ रहने पर भी पृथक् समझती है। प्रत्येक के अलग अलग लक्षण जानता है। आत्मा का धर्म आत्मा ही के आधार पर है, राग द्वेष के आधार पर नहीं है। धर्म अन्तरङ्ग से सम्बन्ध रखने वाला है। इस प्रकार के विवेक से ज्ञानी के पुण्य-पाप क्षण—क्षण में दूर होते जाते हैं अर्थात् सदैव निर्जरा ही होती रहती है। धर्म आत्मा का निज गुण है और गुण, गुणी के आधार है। इस जीव ने अनादि काल से इस प्रकार धर्म का स्वरूप नहीं समझा। जिसे स्वभाव स्वरूप धर्म की प्रतीति नहीं हुई, वह पर के आधार धर्म मानता है। मानो धर्म

कहीं बाहर से आता हो। अतएव अज्ञान को त्याग, सत्य को ग्रहण करो। यह हमारी वैभाविक परणति ही संसार भ्रमण का कारण है। शरीर और अन्य बाह्य पदार्थों में जो रागद्वेष और मोह पूर्ण बुद्धि हो रही है उसे दूर कर, ज्ञाता, दृष्टा, सच्चिदानन्द स्वभाव को जानना, मानना उसी में स्थिर होता ही आत्म—धर्म या जैन धर्म है ज्ञानी जन शारीरिक 'पर' द्रव्य के आधार पर अपनी शोभा नहीं मानते। उनकी शोभा तो उन्हीं के अन्तरङ्ग में है।

इच्छा परिग्रह है। जिसे इच्छा नहीं उसके परिग्रह भी नहीं है। आहारादिक की इच्छा आत्म स्वभाव की घातक है यही अधर्म भाव है। धर्मात्मा आहार ग्रहण तो करता है परन्तु उसकी ऐसी भावना नहीं रहती कि मैं सदैव आहार किया करूं। मेरा शरीर सदैव बना रहे। यदि उसकी ऐसी भावना रहे तो वह अधर्मी है। अज्ञानी जन आहार की मिठास में अपने स्वभाव को भूल जाते हैं। ज्ञानी कभी जड़ की भावना नहीं करते। वह आहार करना अपना स्वरूप नहीं मानता। वह तो आहार का केवल ज्ञायक ही रहता है। भूख तो केवल शरीर में है और वह शरीर की एक अवस्था है। आत्माराम को क्षुधा-तृषा, रोगादि बाधाएँ नहीं हैं। जो परमाणु—स्कन्ध अभी लड्डू रूप हैं वे ही थोड़े समय पश्चात मलरूप हो जाते हैं। "स्व" क्या है? "पर" क्या है? पुण्य क्या है? पाप क्या है? और धर्म (पुण्य पाप रहित) क्या है? इनके विवेक के बिना धर्म का स्वरूप समझना कठिन है। सम्यक्त्वी जीव समझता है कि अभी शरीर टिकेगा, पुरुषार्थ में कमी है अतएव आहार ग्रहण करता है, परन्तु फिर भी वह धर्म को शरीर के आधार नहीं मानता उसके अन्तरङ्ग मे ऐसा 'न कार' विद्यमान है कि यह आहार विडम्बना न रहे। कब इससे पिण्ड छूटे? यह मेरा कर्तव्य नहीं है। मेरा स्वरूप तो चैतन्य, ज्ञान, दर्शन, आनन्दमय और अपनी आत्मा में स्थिर रहना है। तीन लोक तीन काल मे भी एक तत्व को दूसरे तत्व की

सहायता की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् सब स्वतन्त्र और स्वयं स्वआश्रित हैं। ज्ञानी को 'पर' का स्वामित्व नहीं है।

निश्चय दृष्टि से तो आत्मा का स्वभाव अखण्ड और परिपूर्ण है और व्यवहार दृष्टि से एक समय के लिये है। यह जीव अनन्त बार ग्यारह अंग और नव पूर्व का पाठी हुआ, परन्तु अपना स्वभाव नहीं जान पाया कि मेरा स्वरूप क्या है? और प्रत्येक समय में मेरा पूर्ण स्वभाव क्या है? अनादिकाल से स्वोन्मुख हो एक समय भी यथार्थता का अनुभव नहीं किया। विकारी पर्याय का सर्वथा नाश ही परिपूर्ण यथार्थ दशा या मोक्ष है। यह दशा बिना सम्यक् चारित्र के नहीं होती, सम्यक् चारित्र, सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के बिना नहीं होता, सम्यक् दर्शन ज्ञान आगम - तत्व - निर्णय बिना नहीं और आगम का निर्णय सर्वज्ञ—सत्ता के बिना नहीं होता है धर्म वस्तु का स्वभाव है। मैं ज्ञायक और ज्ञान स्वरूप हूँ। इस प्रकार ज्ञान का ही अवलम्बन अनेकान्त है। अनन्त ज्ञानियों ने भी यही कहा है।

हे जीव! तू पूर्ण वीतराग स्वतन्त्र सिद्ध और शान्ति पूर्ण है। तू समता भावी अपने आप प्रसन्न रहने वाला और 'पर' से रहित है। बाह्य प्रवृत्तियों की तरङ्गों से आन्दोलित समस्त विभाव-भावों को त्याग निज स्वभाव में स्थिर हो जाओ। हे शुभ भावनाओ! तुमने अशुभ के स्थानों को तो भर दिया है, परन्तु अब मुझे तुम्हारी भी आवश्यकता नहीं रही। अब मैं तुम से भी पृथक हो अपने ज्ञायक—ज्ञान—भावों में लीन होता हूँ। हे पूर्व सञ्चित कर्मों, तुमने भी उदय में आना चालू कर सत्ता में रहना बन्द कर दिया है। यह भी तुम्हारा परम उपकार ही है, कि जो मुझे पृथक होने में सहायक बन रहे हो। मैंने भी जान लिया है कि मेरा स्वरूप तुमसे बिलकुल जुदा और निराला है।

हे आत्मन्! अपने सहजानन्द, ज्ञान स्वरूपी अनुभव में सदा स्वाधीन रहो। बाह्य से स्वाधीनता न कभी मिली और न मिलेगी। हे प्राणी! इष्टानिष्ट संयोग की भारी भीड़ में रहकर, हर्ष—विषाद मत कर अपने में आप रहने वाली आत्मा 'पर' में निजानन्द को प्राप्त नहीं कर सकती। यही सर्वोत्तम श्रेष्ठ मान्यता है। अपने स्वभाव से जितना अधिक से अधिक लाभ लिया जा सके ले लो। उससे कभी कमी न आयगी।

समय व्यर्थ मत जाने दो। आयु कर्म आत्मा में नहीं, पुद्गल में है। ये समस्त 'पर' द्रव्य तो अपनी अपनी सम्हाल कर लेंगे। तू स्व द्रव्य में लवलीन होकर उसी में सतत रमण कर। यदि एक बार भी पूर्ण शुद्ध हो जाय, तो फिर कभी भी अशुद्ध न होगा। स्वभाव से तू शुद्ध है। पर्याय से ही तेरी अशुद्ध दशा हो रही है। दृष्टि में संसार और दृष्टि में ही मोक्ष है। ध्रुव स्वभाव पर जो दृष्टि है वही सम्यक् दर्शन, ज्ञान—चारित्र की निर्मल दशा का कारण है। क्षायिक इन्द्रिय सुखा भास के लिये अविनाशी आत्मा को मत भूलो और न विषयों में मत फूलो। भिन्नता का मान आवश्यक है। (ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः) जड़ कर्म और चैतन्य एक क्षेत्रावगाही होने पर भी बिलकुल पृथक पृथक हैं। ये शुभाशुभ भाव जन्म—मरण के दुःख दूर नहीं कर सकते। अपनी विपरीत मान्यता को बदलने से आत्मा शुद्ध हो जायगी। वीतराग स्वरूप की प्रतीति के साथ ही साथ जिन—बिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित जटिल कर्म भी क्षार क्षार हो जाते हैं। यह आत्मा अपने पुरुषार्थ से क्या क्या नहीं कर सकता? वह तो कृत—कृत्य तक हो जाता है। जिस कर्म के बन्ध में वीर्य ने आत्मा के विपरीत कार्य किया। वह वीर्य आत्मा के अनुकूल कर्म नष्ट करने का कार्य क्यों नहीं करेगा? निःसन्देह करेगा।

कोई भी कर्म आत्मा को पुरुषार्थ करने से नहीं रोक सकते। यह आत्मा चाहे जिस काल, क्षेत्र में अपना पुरुषार्थ कल्याण कर सकता है। जो जीव समस्त बाह्य प्रपंचों को त्याग, मन - वचन - काय गुप्तियों को पालन कर वीतराग चारित्र का अवलम्बन करता है। उसी की सच्ची सामायिक है। वह ध्यानाध्ययन में लीन हो अतएव सुखामृत पान कर, समस्त कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। जिस प्रकार पग विहीन मनुष्य उत्तुङ्ग कैलाश गिरि की शिखर पर नहीं चढ़ सकता। उसी प्रकार ज्ञान, ध्यान और तप रहित साधु कर्म क्षय कर लोक—शिखर पर नहीं पहुँच सकता है। वर्तमान काल में साधु जन रत्नत्रय पूर्वक आत्म—ध्यान कर सुर लोक के सुख भोग पुनः मनुष्य भव धारण करके तपश्चरण द्वारा कर्मों को क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

यदि तुम भी इस अनुपम अतीन्द्रिय, शास्वत, सुख को चाहते हो, तो सम्यक् दर्शन, ज्ञान पूर्वक; असंख्य प्रदेशी, अमूर्तिक स्वगृहीत, शरीर प्रमाण प्रकाशवान, शुद्ध आत्मा का निरंतर ध्यान करो। इस आत्मा में निश्चय से मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, त्रिशल्य, षट्—लेश्या, जन्म-जरा-मरण, संस्थान, मार्गणा, लब्धि, बन्ध, उदय, स्पर्श रस, गन्ध, वर्ण, शब्दादि कुछ भी नहीं है। इस निरामय शुद्ध चेतन में द्रव्य, भाव और नो कर्म आदि कलंक नहीं हैं। इनका कथन न तो लिपि व्यवहार-नय की अपेक्षा निश्चय-नय की अपेक्षा किया गया है। इस आत्मा को अभूतनय से श्रुत के द्वारा जानो। इस अमूल्य रत्न को समुद्र में मत फेंको। नित्य आत्मा में ही रमण करो। यह कन्दर्प रूपी भयानक सर्प का विष मर्दन करने में महा मूल मन्त्र, मोह रूपी विशाल वृक्ष को जलाने में वज्रपात तथा संसार—सिंधु से पार होने के लिए सर्व श्रेष्ठ जहाज है। यह आत्मा सकल पुद्गल परमाणुओं से भिन्न, एक त्रिकाल पर्याय - त्रिलोकी और लोकालोक प्रकाशक है। मन को एकाग्र कर निरन्तर इसका

साधन, चिन्तवन और रटन करो। जैसे मैल शोधक मसाले से वस्त्र निर्मल हो जाता है, वैसे ही निज तत्व के अवलम्बन से कर्म मल दूर हो जाता है।

अहो? तनिक मुनि-दशा को तो देखो; मुनित्व और केवल में कोई अन्तर ही नहीं। जैसा शुद्ध स्वभाव है, वैसी ही पर्याय शुद्ध हो जाती है। यही प्रत्याख्यान है। तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट आत्मा का यथार्थ निर्णय परम परंपरा गुरुओं की परिपाटी से प्राप्त हुआ है। उसी का श्रद्धान करो। पर्याय बुद्धि को छोड़ दो। कर्तृत्व-बुद्धि के फल स्वरूप अनादि काल से संसार में भटक रहे हो। तुम तो वर्तमान अवस्था के नाशक हो। शुद्ध आत्मा का अनुभव ही सच्चा मोक्ष मार्ग है। जिस प्रकार मदोन्मत्त वलिष्ठ सांड अपने तीक्ष्ण सींगों द्वारा बड़े भारी कचरे के ढेर को ऊपर उछाल-उछाल कर फैला देता तथा जोर से दलाँकता है। वह अपने मन में विचारता है कि मैंने कितने बल प्रयोग किया? कितना कचरा फैला दिया? उसी तरह यह जीव अज्ञानता से संसार में भारी उछल-कूद करता और अभिमान सहित बड़ा हर्ष मानता है। इसमें कोई सार नहीं निकलता है।

पूर्व में तुमने अनेक वार जैन नाम धारी मुनि का वेष बनाया है। यदि उस समय के पिच्छी कमण्डलु एकत्र किये जायँ, तो सुमेरु सदृश ढेर लग जाय। परन्तु अन्तरंग से मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ। इसी से संसार-दशा बनी रही। मिथ्यात्व युक्त मुनि की अपेक्षा, मिथ्यात्व—त्यागी गृहस्थ अनन्त गुणा उत्तम है। क्योंकि मिथ्यात्वी के तो अनन्त संसार-परिभ्रमण लगा ही रहेगा और मिथ्यात्व त्यागी अल्प काल में मोक्ष पा जायगा। यह तत्व-निर्णय रूप धर्म बालक, वृद्ध, युवा, रोगी, निरोगी, धनी, निर्धनी, आर्य मलेच्छ आदि सभी स्थानों और अवस्थाओं में प्राप्त होने योग्य है। जो जीव अपना हित करना चाहते हैं, उन्हें प्रथम तत्व-निर्णय कर लेना चाहिये। आत्म-दर्शन स्मरण करने में

न तो कोई क्लेश ही होता है और न धन ही खर्च करना पड़ता है। न देशान्तरों में जाना पड़ता। न किसी से प्रार्थना करनी पड़ती। न वीर्य का क्षय होता और न किसी तरह का क्षय होता है। वह अनर्थ या पापकारी भी नहीं है। उसे अङ्गीकार कर लेने से जन्म-मरण का दुःख नहीं उठाना पड़ता। आत्म-स्मरण का अचिन्त्य फल है। समझदार पुरुष स्वोन्मुख हो इस रत्न को क्यों नहीं परखते? यह तो अपने हाथ की बात है।

जिन्होंने भाग्योदय से मनुष्य पर्याय पाई है, उन्हें सर्व धर्म का मूल कारण सम्यक्दर्शन तथा उसका कारण तत्व-निर्णय और उसका भी जो मूल कारण शास्त्राभ्यास है, वह अवश्य करना चाहिये। जो ऐसे अलभ्य अवसर को व्यर्थ गमाते हैं, बुद्धिमान् लोग उन पर करुणा कर कहते हैं कि भाइयो! एक तो संसार में बुद्धि पाना ही दुर्लभ है फिर उसमें भी पर लोक के लिये बुद्धि का होना और भी दुर्लभ है। ऐसी उत्तम बुद्धि पाकर भी जो प्रमाद करते हैं; ज्ञानी जन उन्हें बहुत ही सोचनीय दृष्टि से देखते हैं। इसी लिए जिन्हें सच्चा जैनी होना है, उन्हें शास्त्र के आधार पर तत्व निर्णय अवश्य कर लेना चाहिये। जो बिना तत्व-निर्णय किए पूजा, स्तोत्र, दर्शन, तप, त्याग, वैराग्य शील, संयम, दान संतोष आदि सभी काम बड़ी तत्परता से करते हैं। उनके ये समस्त कार्य असत्य है। इसलिये परम्पराय गुरुजनों द्वारा उपदिष्ट स्वानुभव की युक्तियों का अवलम्ब आगम द्वारा जान कर तत्व- निर्णय अवश्य करो। जिन-वचन तो अपार हैं। गण—धर भी उनका पार नहीं पा सकते। इसलिए जो मोक्ष-मार्ग की प्रयोजन भूत रकम है। उसे निर्णय पूर्वक अवश्य जानो। शास्त्र-ज्ञान अनन्त है। काल स्तोक है और बुद्धि मन्द है। इसलिये यह विज्ञान सीखना चाहिये जिससे जन्म—मरण मिट जाय।

सत्पुरुषों को सर्व सुख के मूल कारण आप्त, अरिहन्त सर्वज्ञ का युक्ति पूर्वक भली भांति निर्णय कर आश्रय लेना चाहिये। उनके निमित्तों से अनेक प्रकार श्रुत ज्ञान को जान उसमें से सारभूत एक आत्म-तत्व को पहिचाने। तदुनन्तर मति, श्रुत—ज्ञान से बाहर झुकती हुई पर्याय के स्वोन्मुख होकर निर्विकल्प और निजानन्द-रसका अनुभव करें। जिस समय आत्मा परमात्मा-स्वरूप का दर्शन करता है, उसी समय सम्यक्—दर्शन स्वयं प्रकट हो जाता है। आत्म-प्रतीति होने पर विकल्प उठते ही नहीं हैं और आत्म-दर्शन हो जाता है। फिर सम्यक्दर्शन बना ही रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य भेद या मर्यादा में सम्यक्दर्शन नहीं है। 'शुद्धात्म-स्वरूप का संवेदन ज्ञान श्रद्धान, अनुभव, चारित्र अथवा साक्षात्कार जो कुछ है वह एक आत्मा ही है। उसी को अरिहन्त, सिद्ध, साधु कहो, सब आत्मा में ही गर्भित है। समाधिमरण, आराधना आदि नाम भी निज स्वरूप की स्थिरता ही है। आत्म-स्वरूप की इस प्रकार की समझ ही सम्यक् दर्शन है। यही आत्मा का धर्म है और भव रोग मिटाने का लघुतम प्रयत्न है। यह आत्मा ही आन्तरिक शान्त-रस की मूर्ति है।

सम्यक् दर्शन आत्मा का निज गुण है और गुण गुणी से पृथक् नहीं होता। एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव ही सम्यक्-दर्शन है। जीव! तू परम पारिणामिक भाव रूप निरपेक्ष चैतन्य स्वभाव में श्रद्धा कर जिससे शुद्ध भाव प्रगट होकर अविनाशी पद प्रकट हो जायगा। इस ज्ञान स्वरूपी आत्मा के ज्ञान में सब को एक ही काल एक समय में जानने की शक्ति है। वह उस शक्ति का एक समय—मात्र में विश्वास कर सकता और एक समय में सब कुछ जानने के ज्ञान की सामर्थ्य प्रकट कर सकता है। ऐसी आत्मा में प्रबल शक्ति है। ऐसी शक्ति-सम्पन्न आत्मा को

मूल; - शरीर-मात्र पर दृष्टि रख तूने अनन्त काल से अनन्त जीवन व्यतीत किये, परन्तु भव—भ्रमण का दुःख ज्यों का त्यों बना रहा। अब सत्पुरुषों की आज्ञानुसार इस एक जीवन को आत्म—दृष्टि सहित होकर ऐसा व्यतीत कर, ताकि आगे कोई भव ही धारण न करना पड़े। क्योंकि आत्मा का ज्ञान-गुण त्रिकाल स्वभाव है। उसमें ज्ञान, श्रद्धा सुखादि अनन्त गुण हैं, और प्रत्येक गुण की एक एक समय की एक एक अवस्था है। वह किसी पर-वस्तु का ग्रहण-त्याग कदापि नहीं करता। उसमें ज्ञान दर्शन की अवस्था उपयोग रूप न होकर प्रत्येक समय का परिणमन है। अनादि काल से प्रत्येक समय में नवीन - नवीन विकार अब तक हुये। वे विकार तेरा स्वरूप नहीं है। तू सदैव ज्ञान स्वरूपी है। जिसने इस ज्ञान—स्वरूप का निर्णय कर लिया; उसका अनादि अनन्त नहीं रहा बल्कि अनादि सान्त हो गया।

यह जीव अपनी ज्ञान—स्वरूपी एकाग्रता द्वारा अपने अनादि सान्त विकार और अन्य या अन्य जीवों के अनादि अनन्त विकार को एक समय मात्र में जान सकता है। आत्मोन्मुख होकर बाह्य में तू कुछ भी ग्रहण—त्याग मत कर। अपने उपयोग को अपने स्वभाव में ला; एकाग्र हो तो वही केवल ज्ञान हो जायगा तथा संसार—परिभ्रमण का अन्त आ जायगा। यही सार है। अपनी आत्मा के समान संसार में अन्य अनन्त पृथक पृथक आत्मायें हैं और जीवत्व की अपेक्षा से एक जाति हैं। परन्तु समस्त आत्मायें मिलकर एक आत्मा नहीं है। इस विश्व में चैतन्य आत्मा के अतिरिक्त अनन्त जड़ पदार्थ ठसा—ठस भरे हुये हैं जो कि ज्ञाता—दृष्टा स्वभाव वाले नहीं हैं। एक आत्मा ही चैतन्य स्वरूप ज्ञाता - दृष्टा, ज्ञान—स्वभावी है। उसका स्वभाव भव - समुद्र से तरने का है। सूत्र है कि "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः"। यद्यपि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष—मार्ग है।

तथापि उसमे सम्यक्‌दर्शन ही मुख्य है। जिस आत्मा मे सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है उसमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र भी हो जाता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान मिथ्या ज्ञान है और चारित्र मिथ्या चारित्र है। सम्यग्ज्ञान मे ही (स्व–पर) भेद - विज्ञान होता है, जिससे उस ज्ञान में हेयोपादेय बुद्धि नहीं होती, और ज्ञान वस्तु स्वरूप को यथार्थ रूप जान लेता है। मिथ्या ज्ञान वस्तु—स्वरूप को यथार्थ नहीं जानता। सम्यग्दर्शन होने पर ही चारित्र में सदाचारता आती है वह व्या मोह रहित चारित्र है। आत्म—भावना से, विशिष्ठ चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान—चारित्र मोह युक्त विवेक शून्य और संसार बढ़ाने वाला है। इसी कारण विद्वानों ने ज्ञान–चारित्र से सम्यग्दर्शन को ही मुख्य माना है।

सम्यक्—दर्शन होने पर ही जन्म - मरण रूपी रोग मिटता है। सम्यक् दृष्टि ज्ञान रत्न से सुसज्जित हो चारित्र रथ पर चढ़ सम्यक् दर्शन सारथी को आगे कर स्वल्प काल में कर्म-शत्रुओं पर विजय पा जाता है। अर्थात सम्यक् दर्शन सहित जैसे ही सम्यक् चारित्र की पूर्णता हुई त्यों ही मोक्ष मार्ग स्वयमेव व्यक्त हो जाता है। (पाँचों सुज्ञान भी तत्काल व्यक्त हो जाते हैं)। जब तक सम्यक् - चारित्र की पूर्णता नहीं होती, तब तक पूर्ण ज्ञान और अनन्त सुख प्रकट नहीं होता। सार यह है कि सम्यक् दर्श और सम्यक्‌ज्ञान से जीव में पात्रता प्रकट होती और वह सम्यक् चारित्र का योग पाकर मोक्ष—मार्ग प्रकट कर देती है अतएव मोक्ष का साक्षात कारण सम्यक् चारित्र है क्योंकि वीतरागता इसी के द्वारा प्रकट होती है। वीतरागता होने पर ही मोह का अभाव होता है। उसके अभाव से अनात्मीय पदार्थों में आत्मीय और राग - द्वेष सम्बन्धी बुद्धि नहीं होती। कुमति, कुश्रुति और विभंगावधि की भी उत्पत्ति नहीं होती।

आत्म प्रबोध

यह आत्मा जब अनात्मीय पदार्थों में आत्म-बुद्धि करता है। तब मिथ्या भाव सहित अनेक प्रकार के विकल्प और झूठी कल्पनायें करता है - जैसे कामला रोग वाला मनुष्य सफेद शंख को पीला कहता है। इसी प्रकार वह भी अन्य पदार्थों में निजत्व की कल्पना करने लगता है। यह अनादि से भूल चली आ रही है। जीव में जीवत्व नामक गुण उसकी समस्त पर्यायों में पाया जाता है। चाहे वह एकेन्द्री, विकलत्रय, पंचेन्द्रिय, गृहस्थ, सिद्ध, साधु, ब्राह्मण, वैश्य, नारकी, देव, तिर्यञ्च या मनुष्य हो यह अनादि निधन तत्व जीव को अजीव से भिन्न करने में साधक है। इसी के बल से जीव की सत्ता है। प्राणियों को यह बोध निरन्तर स्वाध्याय करने से ही होता है।

स्वाध्याय तप प्राणियों को संसार—समुद्र पार करने को उत्तम जहाज, कषाय रूपी अटवी को जलाने के लिये दावानल और स्वानुभव रूपी समुद्र की वृद्धि के लिये पूर्णिमा का चन्द्रमा है। भव्य जनों के हृदय कमलों को प्रफुल्लित करने तथा कर्म रूपी उल्लू को छिपाने के लिये प्रचण्ड मार्तण्ड मार्तण्ड है। कषाय-निग्रह करने को एक प्रबल योद्धा है। मोक्ष-मार्ग में संभव-तप ही मुख्य है। इससे सवर होकर कर्मों की निर्जरा होती है। उपयोग की स्थिरता में स्वाध्याय प्रधान है। शास्त्र-ज्ञान और आत्म—ज्ञान जुदे जुदे हैं। चारित्र रत्न भेद ज्ञान से भिन्न है। उसके बिना परमार्थ का लाभ होना अत्यन्त कठिन है। शास्त्राध्ययन से ज्ञान-सूर्य का उदय होता है। यही मनोवृत्ति को पवित्र बनाने वाला और केवल ज्ञान लक्ष्मी का बीज मन्त्र है। आत्मा की अचिन्त्य शक्ति कर्मों से ढकी हुई है। उसे प्रकट करने के लिये भेद ज्ञान की विशेष आवश्यकता है। भेद विज्ञान आगमाभ्यास से होता है। अतएव निरन्तर आगम का अभ्यास करो। विषयों से विरक्त होकर स्वाध्याय करने से ही कल्याण होगा। एकत्व परिणाम परिणत आत्मा ही मोक्ष का प्रधान कारण है। अतएव शुद्ध

स्वात्मा की ही उपासना करो।

समस्त पर–पदार्थों से ममत्व मुख कर प्रत्येक स्थान तीर्थ–क्षेत्र समझो। आत्मा में ही गिरनार है, और आत्मा में ही मोक्ष है। इच्छा आकुलता की जननी है। वह निजानन्द, परमानन्द आनन्दघन आत्मा का दर्शन नहीं होने देती। आत्म-ज्ञान का मूल कारण मोह युक्त परिणामों की सन्तति का अभाव करना है। जहां तक बने अपनी आत्मा को रागादिक परिणामों के जाल से सुरक्षित रखो। आत्मा की ओर दृष्टि कर निरन्तर उसका निरीक्षण करो। प्रमाद, कषाय और योगों की चञ्चलता को दूर कर निज-भाव की ओर दृष्टि देने से आत्म—दर्शन हो जाता है। आचार्य महाराज सूर्यसागर का उपदेश है कि यदि अपना कल्याण चाहते हो, तो पर–पदार्थ से आत्मीयता का नाता तोड़ दो। साधक–बाधक सब अपनी ही परणति है। निरन्तर निज-परणति का प्रयत्न करो। प्रमाद, कषाय और शल्यों को निर्मूल कर बार—बार आत्म स्वरूप का निरीक्षण करो। चाहे वन में रहो चाहे मठ मे परन्तु अपना निवास अपनी आत्मा मे ही बनाओ। सावधान रहो! प्रमाद विषय—कषाय और मोहादिक डाकू तेरे रत्न न लूट लेवें। पर-पदार्थ से मूर्छा हटाने से भव–व्याधि मिट जाती है। अनादि काल से यह जीव मोह–मदिरा से उन्मत्त हुआ आपको भूला हुआ है तब कल्याण किसका और कैसे हो? इस मनुष्य भव में इतनी योग्यता है कि हम आत्मा को देख—जान सकते हैं। मोक्ष के लिये पर-वस्तु की आवश्यकता नहीं है। हमें स्वयं अपना पुरुषार्थ करना चाहिये। परिणामों की विशुद्धता से ही आत्म-कल्याण होता है। कल्याण के कारणों में सम्यक् ज्ञान मुख्य कारण है। दशलक्षण धर्म-पठन–स्तवन मात्र से आत्म कल्याण नहीं होगा वरन् आत्मा के विकृत, औदयिक, अनात्मीय भावों के त्यागने से ही होगा।

सम्यक् चारित्र (रत्नत्रय) की एकता ही मोक्ष मार्ग है। यदि रत्नत्रय की कुशलता हो जावे तो समस्त व्यवहार अपने आप छूट जावे। आत्मीक भाव के समक्ष मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, शल्य, निदान आदि नहीं ठहर सकते। जैसे सिंह के समक्ष गजेन्द्र, वृषभादि पशु नहीं ठहर सकते फिर गादियों की तो कथा ही क्या ? रत्नत्रय में स्थित आत्मा स्व समय और आत्मा का पुद्गल प्रदेशों में संचरण करना 'पर' समय है।

संसार की अनुकूलता—प्रतिकूलता में अपना मन मत लगाओ। संसार कष्टों का निरन्तर चिन्तवन करो जिससे कर्म—बन्ध का अभाव हो और आत्मा में दृढ़ता आ जाँय। नेत्र वही है जिसमें वस्तु देखने की शक्ति हो, अन्यथा उसका होना व न होना दोनों बराबर हैं। इसी प्रकार ज्ञान वही है, जो वस्तु स्वभाव को जाने-समझे अन्यथा उसका होना व न होना दोनों बराबर हैं। श्रुत ज्ञान के द्वारा वस्तु स्वरूप को जान कर तदात्मक होने की चेष्टा करे। सम्यक् ज्ञानी मान - अपमान, रागद्वेष आदि उपद्रवों से कभी चलायमान नहीं होता, क्योंकि वह सब पर - पदार्थों का ज्ञाता - दृष्टा मात्र रहता है। जिस आत्मा में रञ्च मात्र निर्मल ज्ञान का उदय हो गया वह कभी भी भव - भ्रमण का पात्र नहीं होगा। ज्ञान समस्त गुणों का प्रकाशक है। इसी के द्वारा विश्व का यथार्थ महोपकार होता है। आत्म के स्वरूप में जो चर्चा होती है, वही सम्यक् चारित्र है और वही वस्तु का स्वभाव है। व्रतों का आचरण या धारण करना भी चारित्र पालन करने के अर्थ है। यदि व्रताचरण न किया जाय तो व्रती और अव्रती में कोई अन्तर ही न रहे। मनुष्य भव की सफलता तो संयम - साधन में ही है और उसका साधन आत्मा से रागादि भावों की निवृत्ति है। यदि रागादि भावों की निवृत्ति न हो, तो समस्त किये दम्भ मात्र हैं। जिसे रागद्वेष मोह से निवृत्ति होकर इष्टानिष्ठ की कल्पना नहीं रहती तथा

में पद के अनुसार ही शाँति आती है। गृहस्थावस्था में वीतरागता की श्रद्धा तो हो सकती है; परन्तु उसका स्वाद नहीं आ सकता। जैसे—भोजन बनाने में भोजन का स्वाद नहीं आ जाता, वह तो खाने पर ही आता है। समस्त शुभाशुभ कार्यों में समभाव रखना, परम शान्ति का साधन है। अपनी परिणति विशेष ही शान्ति है। मूर्छा का त्याग कर आत्म-ज्ञान की चर्चा से शान्ति प्रकाश फैल जाता है। निजानन्द पाने से ज्ञान का उदय होकर शान्ति प्राप्त होगी। यह आत्मा 'पर' के सम्बन्ध से सदैव पृथक रहता है। ज्योंही हम उसे पृथक करने का भाव करेंगे, त्योंही शान्तिपथ पर पहुंच जायेंगे। पदार्थ को जानने–समझने का यही फल है। अनेक महानुभावों ने, तीर्थों की यात्रा की, मन्दिर निर्माण कराये, पञ्चकल्याणक बिम्ब प्रतिष्ठादि कराई, षोड़सकारण, रत्नत्रय, दशलक्षण और अष्टान्हिका–व्रत विधान किए। भरत के समान विधिवत व्रतों के उद्यापन किए, परन्तु इनसे उन्हें शान्ति की गन्धक तक न मिली। अनेकों ने महान् आर्ष-ग्रन्थों का अध्ययन कर प्रकाण्ड पण्डितों में अपनी गणना कराई; परन्तु शान्ति–सागर की शीतलता ने उन्हें स्पर्श तक न किया। कई गृह-त्याग दिगम्बर बन समस्त क्रिया-काण्ड कर श्रेष्ठ तपस्वी कहलाए (जिससे कि अनेक महानुभाव संसार से मुक्त हुए) परन्तु उन पर शान्ति प्रिया या मुक्ति-लक्ष्मी का कटाक्ष दृष्टि-पात भी न हुआ। इससे सिद्ध होता है कि आत्म-द्रव्य की सत्य भावना से ही शान्ति प्राप्त होती है। अतएव निजानन्दमय स्वात्मोन्नति करो। अशान्ति को हटाओ। ध्यान करते समय जितने शान्तभाव रखोगे उतने ही जल्दी संसार-बाह्य का नाश होकर, परम पद प्राप्त होगा। बिना ममता त्याग के समता नहीं होती और समता के बिना आत्मकल्याण नहीं होता। अतएव समता ही ग्रहण करो।

ध्यान करने के लिये निर्जीव (सूखी) घास का आसन अथवा शिला, काष्ठ की चौकी, रेती

सम्यक् चारित्र (रत्नत्रय) की एकता ही मोक्ष मार्ग है। यदि रत्नत्रय की कुशलता हो जावे तो समस्त व्यवहार अपने आप छूट जावे। आत्मीक भाव के समक्ष मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, शल्य, निदान आदि नहीं ठहर सकते। जैसे सिंह के समक्ष गजेन्द्र, वृषभादि पशु नहीं ठहर सकते फिर गादियों की तो कथा ही क्या? रत्नत्रय में स्थित आत्मा स्व समय और आत्मा का पुद्गल प्रदेशों में संचरण करना 'पर' समय है।

संसार की अनुकूलता—प्रतिकूलता में अपना मन मत लगाओ। संसार कष्टों का निरन्तर चिन्तवन करो जिससे कर्म—बन्ध का अभाव हो और आत्मा में दृढ़ता आ जाय। नेत्र वही है जिसमें वस्तु देखने की शक्ति हो, अन्यथा उसका होना व न होना दोनों बराबर हैं। इसी प्रकार ज्ञान वही है, जो वस्तु स्वभाव को जाने-समझे अन्यथा उसका होना व न होना दोनों बराबर हैं। श्रुत ज्ञान के द्वारा वस्तु स्वरूप को जान कर तदात्मक होने की चेष्टा करे। सम्यक् ज्ञानी मान - अपमान, रागद्वेष आदि उपद्रवों से कभी चलायमान नहीं होता, क्योंकि वह सब पर - पदार्थों का ज्ञाता - दृष्टा मात्र रहता है। जिस आत्मा में अंश मात्र निर्मल ज्ञान का उदय हो गया वह कभी भी भव - भ्रमण का पात्र नहीं होगा। ज्ञान समस्त गुणों का प्रकाशक है। इसी के द्वारा विश्व का यथार्थ महोपकार होता है। आत्म के स्वरूप में जो चर्चा होती है, वही सम्यक् चारित्र है और वही वस्तु का स्वभाव है। व्रतों का आचरण या धारण करना भी चारित्र पालन करने के अर्थ है। यदि व्रताचरण न किया जाय तो व्रती और अव्रती में कोई अन्तर ही न रहे। मनुष्य भव की सफलता तो संयम - साधन में ही है और उसका साधन आत्मा से रागादि भावों की निवृत्ति है। यदि रागादि भावों की निवृत्ति न हो, तो समस्त क्रियें दम्भ मात्र हैं। जिसे रागद्वेष मोह से निवृत्ति होकर इष्टानिष्ठ की कल्पना नहीं रहती तथा

कषायों को क्षय कर शांत मय परिणाम रखता है वही जीव उत्तम संयम का पात्र है। जब तक रागद्वेष मोह की आत्मा में कलुषता है तब तक चारित्र नहीं है।

मनोबल बड़ा प्रबल है। वह अनन्त जन्मार्जित कर्म कलंक क्षण—मात्र में पृथक कर देता है। आत्म—हित के विचारों का उत्पादक यह मन ही है। उसे इधर—उधर मत भटकने दो अन्यथा वह आत्म-हित में सहायता न पहुँच सकेगा। अन्तरङ्ग तप में सर्व प्रथम मनोबल की आवश्यकता है। यह प्राणी इसी मनोबल से महा पुण्य—शाली तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर संसार के जीवों का उद्धार कर देता है। जिसका मन, वचन, काय, बल श्रेष्ठ और वश में है। वह संसार में रहता हुआ भी सुखी है और परलोक में सुखी रहेगा। इसमें समझता और धीरता का सद्भाव है— आत्मा का यह उत्तम धैर्य गुण अन्तमुहूर्त में मुक्ति रमणी से समागम करा देता है। जो निज की समालोचना करते हैं। वे ही परम पद के भागी होते हैं। पर की समालोचना से आत्म-हित नहीं होता। दूसरों द्वारा की गई समालोचना को धैर्य पूर्वक श्रवण करने की क्षमता प्रकट करो। इसी से लाभ होगा। मनोवृत्ति की स्थिरता ही परम तत्व समझने में सहायक होती है। परम आत्म तत्व का जानना और परम तत्व रूप होना ये दोनों वस्तु स्वभाव भिन्न भिन्न हैं। जानने का कार्य क्षयोपशम से और (परम तत्व—रूप होना) स्थिरता मोह की क्षयता से होती है। यदि चित्त को स्थिर करना चाहते हो, तो पर-पदार्थों का सम्बन्ध छोड़ दो। चैत्यालय में कोरा—हल्ला मत मचाओ। एकान्त में भाव सहित परमात्मा का गुणानुवाद गाओ।

वह मनुष्य, मनुष्य नहीं, जो निरोग, ज्ञानवान, लौकिक कार्यों में कुशल, धन—सम्पत्ति सम्पन्न होते हुये भी आत्म कल्याण करने से विमुख है। वह पशु समान है। पशु के सींग पूँछ हैं।

और उसके डाढ़ी, मूँछ है। बस यही अन्तर है। जिसने इस अमूल्य मानव जीवन से स्व पर शान्ति का लाभ नहीं लिया, उसका मानव जन्म अर्क तूल की तरह व्यर्थ गया। भव्यो ! सब से ममत्व हटाकर अपना भविष्य निर्मल करो। यह मोह ही आत्मा के पतन का मूल कारण है। यद्यपि चारों गतियां आत्म-ज्ञान का कारण हैं तथापि संयम का उदय मानव पर्याय में ही होता है। आत्मा की निश्चल परिणति ही उत्तम दश धर्म है। मोह और क्षोभ रहित आत्मा में ही धर्म प्रकट होता है। धर्म का लक्षण निष्कषाय भावों में है। जिस जीव के मोह और क्षोभ का अभाव है। वही धर्मात्मा है। संकट और कष्ट के समय में भी धर्मात्मा धर्म को नहीं छोड़ते। जिसकी धर्म में पूर्ण श्रद्धा है, उसके समस्त विघ्न और उपद्रव मिट जाते हैं। जहां धर्मात्मा निवास करता है। वहां की वसुन्धरा तीर्थ हो जाती है। सब उसी की पद रज मस्तक पर लगाते हैं। समस्त जीवों की रक्षा करना धर्म है। जहां जीव, दया का अभाव है, वहां संसार से मुक्ति नहीं। शास्त्रों की कथा—वार्ता छोड़ो, प्रत्यक्ष अनुभव से देखलो। यदि तुम्हारे किसी अंग में सुई की अनी चुभाई जाय, उस समय तुम्हारी क्या दशा होती है? ऐसी ही दशा अन्य प्राणियों की भी होती है। इस जीव को यह धर्म ही संसार—बन्धन से छुटाकर, उत्तम सुख के स्थान (मोक्ष) में पहुँचा देता है।

यथार्थ धर्म तो निर्ग्रन्थ मुनि के ही होता है, और निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि वही है जिसके अन्तरङ्ग में भाव पूर्वक वीतरागता है। बिना अभ्यन्तर परिग्रह त्याग के बाह्य परिग्रह त्याग में कोई प्रतिष्ठा-मान्यता नहीं है। अभ्यन्तर परिग्रह के छूटने से बाह्य-परिग्रह तो अपने आप छूट जाता है। संयम धारण करना ही शांति का श्रेष्ठ उपाय है। जब यह जीव पराधीनता त्याग, स्वाधीन-पद पर आरूढ़ होता है, तब सच्चा सुख प्राप्त होता है। आपत्तियों और संकटों को सदैव समभाव से भोग लो।

पर मे परत्व और निज मे निजत्व को अच्छी तरह समझो। अभ्यन्तर बोध के बिना स्वप्न में भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। सन्तोषी जन सदा सुखी रहते हैं। सन्तोषामृत पान करने से जो तृप्ति होती है वह तृप्ति बाह्य-साधनों से नहीं होती है। जितनी इच्छा और आवश्यकतायें कम होंगी, उतना ही अधिक सुख होगा। जिसके पवित्र हृदय में कषाय-वासना नहीं है, वही सच्चा पूर्ण सुखी है। सुखी मनुष्य का व्यवहार सदैव अहिंसा स्वरूप, निर्मलता—सरलता युक्त होता है।

पुद्गलों का परिणमन पुद्गलों में ही होता है। न तो हम उसके कर्ता हैं और ग्रहण—त्याग करने वाले हैं। ऐसा जान कर भी जो देह, धन—सम्पत्ति से ममत्व नहीं त्यागते, वे उन्मार्गी जीव बाह्याडम्बर त्याग कर कभी सुखी नहीं होते। सच्चे सुखी वे ही हैं जो पर—पदार्थों के प्रपञ्चों से हट आत्मा की ओर ध्यान रखते हैं। सुख न संसार में है न मोक्ष में है और न कर्माभाव या कर्म—बन्धन में है। वह तो अपने ही पास (अपनी आत्मा में) है आत्मा के साथ उस निराकुल सुख का तादात्म्य सम्बन्ध होते हुये भी तुम मोह वश इधर-उधर खोजते हो। जब समता और शांति—भाव का अनुभव होने लगे। तब ही अपना संसार-तट निकट आया जानो। अन्तरङ्ग—शान्ति के आस्वादन में मूर्च्छा की न्यूनता ही प्रधान कारण है। संसार में वही आत्मा शान्ति का लाभ ले सकता है, जिसने पर के द्वारा सुख—दुख होने की कल्पना को छोड़ दिया है। शान्ति का वर मूर्च्छा की निवृत्ति है। असंयमी जनों को ध्यानावस्था में भी शान्ति नहीं मिलती।

बाह्याभ्यन्तर परिग्रह की जितनी न्यूनता होगी, उतना ही शांति—राज फैलेगा।

कायरता त्याग उत्साह पूर्वक आत्मा का अवलोकन कर मोक्ष—मार्ग में लगना शान्ति का उपाय है। शान्ति कोई मूर्तिमान पदार्थ नहीं है बल्कि निराकुल अवस्था रूप परिणाम है। आत्मा

में पद के अनुसार ही शाँति आती है। गृहस्थावस्था में वीतरागता की श्रद्धा तो हो सकती है; परन्तु उसका स्वाद नहीं आ सकता। जैसे—भोजन बनाने में भोजन का स्वाद नहीं आ जाता, वह तो चखने पर ही आता है। समस्त शुभाशुभ कारणों में समभाव रखना, परम शान्ति का साधन है। अपनी परणति विशेष ही शान्ति है। मूर्च्छा का त्याग कर आत्म-ज्ञान की चर्चा से शान्ति प्रकाश फैल जाता है। निजानन्द पाने से ज्ञान का उदय होकर शान्ति प्राप्त होगी। यह आत्मा 'पर' के सम्बन्ध से सदैव पृथक रहता है। ज्योंही हम उसे पृथक करने का भाव करेंगे, त्योंही शान्तिपथ पर पहुंच जायेंगे। पदार्थ को जानने—समझने का यही फल है। अनेक महानुभावों ने, तीर्थों की यात्रा की, मन्दिर निर्माण कराये, पञ्चकल्याणक बिम्ब प्रतिष्ठादि कराईं, षोड़सकारण, रत्नात्रय, दशलक्षण और अष्टान्हिका-व्रत विधान किए। भरत के समान विधिवत व्रतों के उद्यापन किए, परन्तु इनसे उन्हें शान्ति की गन्धक तक न मिली। अनेकों ने महान आर्य-ग्रन्थों का अध्ययन कर प्रकाण्ड पण्डितों में अपनी गणना कराई; परन्तु शान्ति-सागर की शीलता ने उन्हें स्पर्श तक न किया। कई गृह-त्याग दिगम्बर बन समस्त क्रिया-काण्ड कर श्रेष्ठ तपस्वी कहलाए (जिससे कि अनेक महानुभाव संसार से मुक्त हुए) परन्तु उन पर शान्ति प्रिया या मुक्ति-लक्ष्मी का कटाक्ष दृष्टि-पात भी न हुआ। इससे सिद्ध होता है कि आत्म-द्रव्य की सत्य भावना से ही शान्ति प्राप्त होती है। अतएव निजानन्दमय स्वात्मोन्नति करो। अशान्ति को दूर हटाओ। ध्यान करते समय जितने शान्तभाव रखोगे उतने ही जल्दी संसार-नाद्य का नाश होकर, परम पद प्राप्त होगा। बिना ममता त्याग के समता नहीं होती और समता के बिना आत्मकल्याण नहीं होता। अतएव समता ही धारण करो।

ध्यान करने के लिये निर्जीव (सुखी) घास का आसन अथवा शिला, काष्ठ की चौकी, रेतीली

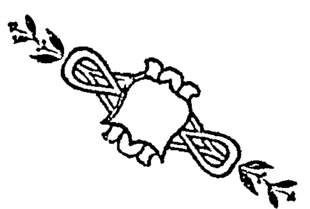
भूमि या शुद्ध भूमि होना चाहिये उस पर निश्चल पद्मासन या अर्धपद्मासन, सिद्धासन, वीरासन, कमलासन या कायोत्सर्ग हो नासाग्र–दृष्टि लगा शरीर को स्थिर करे। शरीर की स्थिरता से ही श्वासोछ्वास सम रहता तथा मन भी निश्चल रहता है। इस प्रकार सावधान हो, अपने शरीर के भीतर अपनी आत्मा को दुग्धवत् या शरीर प्रमाण निर्मल स्फटिक–मणि की मूर्ति समान अवलोकन करे और उसी में लवलीन हो जाओ। जब मन हट जाय तो 'अर्हं जिनं सोऽहं, सिद्ध समं, अर्हन्त सिद्ध, ॐ" इत्यादि मन्त्र जपने लगो। जब मन्त्रों से मन हटे, तब वैराग्य पूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढ़े मनन करे सुने—सुनावे। आध्यात्मिक भजनों का गान करे, अथवा वैराग्य पूर्ण स्तोत्र पढ़े तात्पर्य यह कि उपयोग स्थिर रहे। उपयोग जगत–जाल से विरक्त हो जाय। इसी से आत्म-ज्योति जाग्रत होती है। जो अपनी आत्माके द्वारा अपनी आत्मा को पुण्य–पाप रूप मन-वचन-काय के योगों को रोक, ज्ञान स्वभाव में स्थिर करता है, वही शुद्ध आत्म—स्वभाव का अनुभव कर परमानन्द स्वरूप परमामृत का पान करता है। भेद–विज्ञान द्वारा चावल–तुष की तरह शरीरादि नो कर्म एवम् अन्य पुद्गल द्रव्यों से आत्मा को पृथक करना चाहिये। जिस विवेक से आत्मा को भिन्न जाना गया उसी विवेक से इस आत्मा को ग्रहण करो। अपनी आत्मा को स्वानुभव रूप मोक्ष-मार्ग में एकता रूप विराजमान करो। इसी का भजन मनन ध्यान चिन्तवन और रमण करो। जिस आत्मा के भावों में रागद्वेष मोह और मन - वचन - काय की क्रिया नहीं है उसी के परिणामों में शुभाशुभ भावों को दग्ध करने वाली ध्यानाग्नि प्रज्वलित होती है, जिससे समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है।

ज्ञानी ध्यानी समस्त संसार - व्यवहार को इन्द्र जाल से समान समझता है। जिस योगी का लोक - व्यवहार सोता है उसी का आत्मानुभव जाग्रत रहता है। वही परमात्मा के समान परमात्मा।

हो जता है। जैसे—तेल भीगी रुई की वत्ती अपने से भिन्न दीपक की सेवा कर स्वयं दीपक बन जाती है। संसार के प्राणी उस समय तक दुःखाग्नि से तप्त रहेंगे जब तक कि उन्होंने अपने को आत्म-समुद्र में नहीं डुबाया। आत्म-सागर में अवगाहन करने से संसार के समस्त संताप मिट जाते और निराकुलसच्चा सुख शान्ति उपलब्ध हो जाती है। जैसे रत्नों में हीरा, सुगन्ध-द्रव्यों में मलियागिर या गोशीर चन्दन, मणियों में वैडूर्य मणि प्रधान है। उसी प्रकार साधु के समस्त तप व्रतों में आत्म-ध्यान प्रधान है। प्रत्येक जीव का स्वभाव ज्ञानमयी होने से प्रत्येक जीव में सिद्ध भगवान के बराबर ज्ञान है। उस पर मोह का परदा पड़ा हुआ है जिससे वह प्रकट नहीं हो रहा। जैसा-जैसा मोहावरण हटता है वैसा-वैसा ज्ञान और सुख प्रकट होता है। यह आत्मा हाथी में हाथी के शरीर प्रमाण और चिऊँटी में चिऊँटी के शरीर प्रमाण है। इसमें सम्पूर्ण विश्व में फैलने की शक्ति है। अर्थात स्वभाव की अपेक्षा लोक-व्यापी है। सभी आत्माएँ भिन्न भिन्न हैं। एक आत्मा का दूसरी आत्मा से सम्बन्ध नहीं है। सब अपनी अपनी सत्ता को लिये पृथक पृथक हैं। सब अपना अपना कल्याण कर सकती हैं। जैसे—गेहूं के दाने गुणों की अपेक्षा सब समान हैं। सब में उगने की शक्ति है, परन्तु सत्ता सब की अलग अलग है। जिस समय में कोई जीव (आत्मा) शरीर में आता उसी समय में कोई जीव शरीर छोड़ता। कोई दुखी होता तो कोई उसी समय में सुखी होता है। एक आत्मा दूसरी आत्मा मे मिलकर कभी एक मेक नहीं होती। सबकी सत्ता पृथक पृथक ही रहती है। न एक आत्मा (जीव) के खंड होकर दो या अनेक आत्मायें हो सकती हैं।

जो आत्मा निरन्तर निज स्वभाव में रमण करता रहता है। वही संसार से मुक्त हो जाता है, क्योंकि ध्याता हुआ आत्मा अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में ध्याता है। ऐसा ध्यानी ध्यानाग्नि से

समस्त कर्म - काष्ठ को जला डालता है और निज स्वभाव रूप शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है। भावना भव—नाशनी है। जो व्रती संयम सहित अपनी निर्मल आत्मा की भावना भाता है; वह केवल ज्ञान प्राप्त कर संसार सागर से पार हो जाता है। आत्म - ज्ञानी जिस भाव से जिस स्वरूप का ध्यान करता है, उसी भाव से उसमें तन्मय हो जाता है। जब आत्म - ज्योति का अनुभव जागृत होता है तब आत्मानन्द ही आत्मानन्द झलकता है। अनन्त संसार का मूल कारण मिथ्यात्व ही है। इसके हटने पर ज्ञान निर्मल हो जाता और स्व—पर का स्वभाव यथार्थ जान लेता है। वह निर्मल ज्ञान रूपी करौंत से भ्रम—बुद्धि को खण्ड-खण्ड कर डालता है। हे भव्यो! बाह्य कोलाहल से कोई लाभ नहीं है। अपनी आत्मा में ही आत्मा का दर्शन कर, दर्शन—ज्ञान—मयी विशुद्धता से एकाग्र चित्त हो जाओ। इसी से सच्ची समाधि पाओगे। जिसका ध्यान निश्चल होता है उसी को सम—भाव प्राप्त होता है। ये दोनों परस्पर आधार हैं। अर्थात् ध्यान के आधार समभाव और समभाव के आधार ध्यान है। इस प्रकार ध्यान और उसकी विधि युक्त यह नवम परिच्छेद समाप्त हुआ।



दशम् परिच्छेद

* मङ्गलाचरण *

दोहा—देव-शास्त्र—गुरु, तत्व में, श्रद्धा राखनहार ।
व्यवहारी सम्यक् सुधी, शुभ मय सब व्यापार ॥१॥
शुद्ध रूप अवलोक कर, हो यदि थिर निज रूप ।
इकता हो त्रय रत्न की, होवे त्रिभुवन-भूप ॥२॥

आत्मा में अनन्तानन्त परिणाम हुआ करते हैं विद्वानों ने उनको स्थूल तीन जातियों में विभक्त किया है । प्रथम अशुभोपयोगी परिणाम द्वितीय शुभोपयोगी और तृतीय शुद्धोपयोगी परिणाम । आरम्भीय दो जातियों (शुभाशुभ) के परिणामों से क्रमशः पाप-पुण्य-बन्ध ही होता है अर्थात् संसार ही बढ़ाते हैं । एक मात्र शुद्धोपयोगी जाति के ही परिणाम ऐसे हैं जिनसे कर्मों का क्षय होता है । विवेकियों को उचित है कि वे सदैव अपने परिणामों की परीक्षा और सम्हाल करते रहें । अशुभोपयोग (पाप-क्रियाओं) से बचकर शुभोपयोग (पुण्य-कार्य) में चलें । फिर दृढ़ता आने पर इस पुण्य-रूप शुभोपयोग को भी हटा कर, शुद्धोपयोग को पधारने का प्रयत्न करें । जिस प्रकार धनिक अपने मकान

में चोरों को प्रवेश नहीं होने देता, सदैव अपनी सम्पत्ति की रक्षा करता रहता है। उसी प्रकार ज्ञानी बन्ध कारक भाव रूपी चोरों को आत्मा में नहीं आने देता सदैव अपनी रत्नत्रय युक्त आत्मा की रक्षा करता रहता है। अशुभ भावों (हिंसा, झूठ, चोरी आदि) के त्यागने से जो पाप - बन्ध होता था वह रुक जाता है क्योंकि वह भेद विज्ञानी आत्मा शुभाशुभ रूप रागादि भावों से भिन्न जानता है।

मिथ्यात्व या मोह के द्वारा आने वाले कर्मों को रोकने के लिये सम्यक् दर्शन से लाभ लेना चाहिए। अविरत के द्वारा आने वाले कर्मों को रोकने के लिये पंच–महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) का अभ्यास करना उचित है। जो कर्म प्रमाद द्वारा आते हैं उन्हें रोकने को चार विकथाओं को त्याग कर धार्मिक और परोपकार मय कार्यों में दत्त–चित्त रहो। इसी प्रकार कषायों से होने वाले कर्मों का आगमन रोकने के लिये शास्त्र–पठन - मनन, तत्व विचार, क्षमा, मार्दव आर्जवादि सन्तोष पूर्ण भावों का अभ्यास करना योग्य है। योगों को जीतने के लिये मन—वच - काय को स्थिर कर आत्म - ध्यान का अभ्यास करना श्रेष्ठ है। इससे पुण्य–बन्ध होता और अनुभव दशा में परम सहायक होता है। शुद्धता की ओर झुके भावों के प्रताप से नवीन कर्मों का संवर और पुरातन कर्मों की निर्जरा होती है। सिद्धान्त–शास्त्रों में व्रत, समिति, गुप्ति, दश - धर्म, बारह भावनायें बाईस परीषह जय, पंचाचार और द्वादश - तप संवर के साधन बतलाये हैं। शुद्ध आत्मीक अनुभव जितना - जितना बढ़ता जायगा, उतना - उतना, नवीन कर्मों का संवर और पुरातन कर्मों की निर्जरा होती जायगी। इसलिए हे भव्य जीवो ! प्रातः मध्यान्ह, सायं और अर्द्ध - रात्रि में एकान्त स्थान पर बैठ समस्त विकल्पों से निवृत हो निश्चय - नय से आत्मा को सिद्ध समान शुद्ध विचार कर ध्यान का अभ्यास करो। ऐसा निरन्तर करने और संसार - भोगों से

वैराग्य - भाव रखने से एक ऐसा समय आयगा जिससे परिणामों में निर्मलता बढ़ने लगेगी और आत्मा में रुचि हो जायगी। इसके फल स्वरूप अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व का उपशम होकर उपशम - सम्यक्त्व का लाभ होगा।

सम्यक् - दर्शन रूपी सूर्य के प्रकाश से अज्ञान या मिथ्यात्व रूपी अन्धकार विलय हो जाता तथा रत्नत्रय प्रकट हो जाता है। यह स्वरूपाचरण चारित्र अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम से प्रकट होता है। इसके प्रकट होते ही स्वानुभव रूप दशा हो जाती और अपूर्व, अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ होता है। वह संसार की ओर पीठ देकर आत्मा की ओर झुक जाता है और योग - क्रिया को पुद्गल कर्म जनित जान वीतराग ज्ञाता दृष्टा होता हुआ, मनन करते करते स्वात्मानुभव से पहुँच जाता है। इसी समय वह व्यवहार तथा निश्चय दोनों पक्ष त्याग आत्मा को आत्मा - रूप ही मनन करता है। वही सम्यक् दर्शन का स्वरूप है। जब निश्चय—नय से मनन करने में प्रमाद आता है तब साधक व्यवहार नय पूर्वक सप्त - तत्वों का मनन करता है। यद्यपि आत्मा अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड होने से एक रूप है तथापि ज्ञान गुण की अपेक्षा ज्ञान रूप, दर्शन—गुण की अपेक्षा दर्शन रूप, चारित्र गुण की अपेक्षा चारित्र रूप, वीर्य—गुण की अपेक्षा वीर्य रूप आदि अनन्त गुण रूप है। वह स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध और कर्म—संयोग की अपेक्षा अशुद्ध है। निश्चय नय से आत्मा को आत्मा—रूप जानना सम्यक् ज्ञान है। जैसे सूर्य - बिम्ब पर मेघ - पटल छा जाने से प्रकाश अल्प दर्शाता है तो भी समझदार जानता है कि सूर्य का प्रकाश इतना ही नहीं है, उसका तो पूर्ण प्रकाश है। मेघ—पटल के कारण प्रकाश कम है। सूर्य का स्वभाव ऐसा नहीं है। वह सूर्य के यथार्थ प्रकाश को संशय रहित जानता है। इसी प्रकार आत्मा रूपी सूर्य पर ज्ञानावरणादि कर्म रूप

मेघ—पटल छाये हैं। जिससे उसका ज्ञान रूपी प्रकाश क्रम या मलीन हो रहा है। वास्तव में तो वह पूर्ण प्रकाशवान और ज्ञानवान् है। आत्मा का स्वभाव मलिन नहीं है। वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को संशय रहित जानता है। उसका यही जानना सम्यक् ज्ञान है।

चेतना लक्षण वाला जीव द्रव्य और चेतना लक्षण रहित अजीव द्रव्य है। इस प्रकार जीव अजीव नामक मुख्य दो द्रव्य सिद्ध हुए। यदि ये दो द्रव्य विपरीत—परिणत न होते, तो जीव को अपने से अपने को जानने में भूल न होती। यह अपने अन्तित्व से विरुद्ध स्वभाव वाले अजीव द्रव्य के अस्तित्व मे अपना अस्तित्व मानकर भूल रहा है अर्थात् अपने स्वभाव की जानकारी न होने से मैं शरीर मन वचन रूप हूं। मैं उसका कर्त्ता हूं। मैं उसका भोक्ता हूं। इत्यादि अनेक प्रकार से अजीव द्रव्य मे अपना अस्तित्व मान रहा है। इस तरह जीव अपने यथार्थ अस्तित्व परिज्ञान से च्युत होकर, पर मे अपने अस्तित्व की मानता रूप भूल कर रहा है। जो केवली भगवान, श्री गुरु तथा शास्त्र को मानते हुये भी 'कर्म करें, सो करे नहिं कोई" को भी मान्यता देते हैं, तो उनकी यह मान्यता मिथ्या श्रुत ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञान पराश्रय से होता है। स्वभाव मे एकता नहीं है, विकार से एकता है। यही विकार वृद्धि पाकर ज्ञान को इतना हीन कर देता है कि निगोद—दशा हो जाती है। जो पूर्ण चैतन्य का आश्रय (स्वाश्रय) कर श्रुत-ज्ञान प्राप्त होता है। वह आत्मा मे एकता कर क्रमशः बढ़कर केवल ज्ञान प्रकट कर देता है। आठों कर्म अचेतन (जड़) और आत्मा पूर्ण चेतन स्वरूप है। उसमें कर्म की अपेक्षा नहीं है, परन्तु वर्तमान शरीर एक समय पर्यन्त का विकार है। इससे कर्म निमित्त रूप है। एक समय मात्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जिस प्रकार समुद्र स्वभावतः शान्त रूप है। उसकी चञ्चल तरङ्गें वाहिरी उपाधि हैं। उसी

प्रकार यह आत्मा सहज चैतन्य स्वरूप है। उसमें दिखाई देने वाले वर्तमान औदयिक भाव उसके मूल स्वरूप में शामिल नहीं। यदि आत्मा को मूल स्वरूप में देखा जाय तो उसके द्रव्य गुण में तथा वर्तमान भावों में भी विकार नहीं है। जैसे समुद्र का स्वभाव है कि वह मैल को अपने में नहीं रहने देता किन्तु उछालकर फेंक देता है वैसे ही इस आत्मा के स्वरूप में भी विकार—भाव रूपी मैल का प्रवेश नहीं होता है। ऐसा यह अभूत—स्वभाव आत्मा अपने द्रव्य गुण पर्यायों से पूर्ण है। वर्तमान पर्याय में अपूर्णता दिखाई देती है परन्तु यथार्थ में अपूर्ण नहीं है। पर्याय का लक्ष्य छोड़ द्रव्य—स्वभाव के लक्ष्य से पूर्ण एक रूप ज्ञात होता है। यह जीव अनादि से पर्याय बुद्धि होकर उसी की महिमा में ठहरा है और पर्याय जनित विकार का ही अनुभव किया है। इसके विपरीत निज स्वभाव में ठहर कर विकार रहित शुद्ध स्वभाव का अनुभव करता तो सच्चा सुख पा जाता।

संसारी प्राणियों के साथ अनादि—काल से कर्मों का संयोग चला आ रहा है। उनमें मोहनीय कर्म प्रधान है। इसके उदय से आत्मा के सम्यक् दर्शन गुण का घात हो जाता है। इसके मूल रूप दो भेद हैं दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं। (१) मिथ्यात्व मोहनीय (२) सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय (३) सम्यक् मोहनीय। चारित्र मोहनीय के २५ भेदों में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रधान हैं। इनके उदय से दीर्घ काल-स्थायी कषायें होती हैं। जब तक इनका उदय दूर नहीं होता, तब तक आत्मा में सम्यक् दर्शन गुण प्रकट नहीं होता। इन कर्मों के आवरण को दूर करने के लिये व्यवहार सम्यक् दर्शन का सेवन करना चाहिये। सप्त तत्व का सच्चा श्रद्धान ही व्यवहार सम्यक्—दर्शन है। इसी के मनन से निश्चय सम्यक् दर्शन हो जाता है क्योंकि यह निश्चय सम्यक्त्व के होने में बाह्य निमित्त कारण

होवें ; अन्तरङ्ग निमित्त कारण को अनन्तानुबन्धी चारों कषायें तथा मिथ्यात्व कर्म का उपशम होना है। जीव और अजीव इन दो तत्वों में छहों द्रव्य सत रूप आ जाते हैं, वे सदा से हैं और सदा रहेंगे। न उन्हें किसी ने बनाया है समस्त छह–द्रव्यों मे अस्तित्व, वस्तुत्व द्रव्यत्व प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व ये छह गुण सामान्य रूप से हैं। जीव लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। आकाश एक अखण्ड और अनन्त द्रव्य है। पुद्गल के स्कन्ध अणु–भेद से अनेक आकार के हैं। बड़े–छोटे बनते है। एक परमाणु का आकार एक प्रदेश मात्र है। काल द्रव्य के कालाणु असंख्यात हैं जो कि लोकाकाश के प्रदेशों में एक—एक अलग—अलग हैं। कोई किसी में कभी नहीं मिलते। इसलिये प्रत्येक कालाणु का आकार भी एक प्रदेश मात्र है। धर्म, अधर्म और आकाश ये एक एक द्रव्य हैं और असंख्य प्रदेश हैं। इसी प्रकार जीव और पुद्गल अनन्त हैं। ऐसे तत्वों और सच्चे देव–शास्त्र–गुरु का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक् दर्शन है। देव–शास्त्र–गुरु की सहायता से ही पदार्थ का ज्ञान होता है।

यह जीव मोह—मिथ्यात्व के उदय से रस्सी में सर्प–बुद्धि, पानी में चन्द्रमा और सिंह अपनी परछाईं को सच्चा सिंह मान रहा है। पक्षी दर्पण मे अपने प्रतिबिम्ब को अन्य पक्षी, पित्त—ज्वर वाला मिष्ठान्न को कड़वा, यद्यपि पर–स्त्री को स्व स्त्री मानता है। इसी तरह मोहान्ध प्राणी विषय सुख को सच्चा सुख जानता है, परन्तु सच्चा सुख तो निराकुल, समभावमय और स्वाधीन है और वही अपना स्वभाव है। जैसे अग्नि में उष्णता अग्नि से पृथक् नहीं है। उसी तरह आत्मा भी गुण गुणी में सर्वज्ञितास्वात्म रूप है। मिश्री की डली उपयोग से ही अपने मिष्ठ स्वादका अनुभव कराती है ऐसे ही एक समय मात्र आत्मा, आत्मा का अनुभव, परमानन्द मय अनन्त सुख का अनुभव करा

देता है। इस लिये साधु समस्त परिग्रह त्याग एकान्त वन, पर्वत-कन्दरा में रह अपने परिणामों को शान्त कर अपने आत्मीक स्वभाव में प्रवेश हो आत्मीक रस का पान करते हैं। इसी में मग्न रह वीतरागता रूपी मात्र ताप से समस्त कर्म रूपी ईन्धन को क्षण—मात्र में भस्म कर मुक्ति पा लेते हैं।

जैन—सिद्धान्त ने स्वात्मानुभव की श्रेणियां बनाकर अविरत सम्यग्दृष्टि के स्वात्मानुभव को द्वितीया का चन्द्रमा कहा है। वही पञ्चम देश विरत गुण स्थान में अधिक प्रकाशित हो जाता है। फिर प्रमत्त विरत और अप्रमत्त विरत में और भी अधिक प्रकाश होता है। स्वरूप के ज्ञान सहित रागद्वेष दूर होने से शरीर की निर्ग्रन्थता हो जाती है। (उस समय पुद्गल परावर्तन का काल ही वैसा हो जाता है)। जब आत्मा के स्वकाल में भाव—निर्ग्रन्थता होती तब अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषाय कर्म के परमाणुओं का नाश हो जाता है। वह पुद्गल का स्वकाल है। यथार्थ में मुनि—दशा और वस्तु-स्वभाव दोनों एक हैं।। जिसने आत्म-स्वभाव की पहिचान कर ली वही वीतराग होने का पुरुषार्थ कर सकता है। स्वात्मानुभव का प्रकाश क्रमशः श्रेणी में कुछ अधिक, क्षीण मोह—गुण स्थान में इससे अधिक होकर संयोग केवली—अवस्था में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान पूर्ण हो जाता है। इस स्वात्मानुभव को ही प्रथम धर्म—ध्यान तथा शुक्ल ध्यान कहते हैं। यही शुद्धोपयोग कहलाता है।

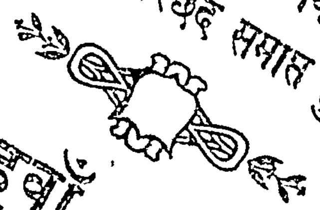
स्वात्मानुभव में राग—द्वेष मोह से भोगों की चञ्चलता और कषाय युक्त परिणाम बाधक है। जितनी जितनी चञ्चलता कम होती और कषाएँ हटतीं हैं उतनी उतनी स्वात्मानुभव की कला अधिक निर्मल होती जाती है। कषायों का अभाव शुद्धात्म चर्या को निष्कम्पता प्राप्त करा देता है।

आत्मानुभव की प्राप्ति का एक उपाय यह भी है कि विश्व (स्व—पर) को व्यवहार नय से, न देख निश्चय—नय से देखें, तो समस्त द्रव्य स्वभाव से जैसे हैं वैसे ही दिखेंगे। समस्त पुद्गल अपने स्वभाव में दिखाई देंगे, इसी प्रकार जीव परमात्मा के समान शुद्ध दिखाई देंगे। आप स्वतः परमात्मा के सदृश जान पड़ेंगे। इस दृष्टि से देखने पर राग—द्वेष मोह और कषाएं छोटे बड़े, ऊँच—नीच, स्वामी—सेवक, शत्रु—मित्र, निन्द—स्तुति आदि सब कल्पनाएं दूर हो जायँगी सिद्ध और संसारी जीवों का भेद—भाव मिट जायगा। अनुपम समताभाव रूपी सामायिक का उदय हो जायगा। फिर वह सम्यक्दृष्टि (स्व ज्ञाता—दृष्टा) अपनी आत्मा का उपयोग अपनी आत्मा में लगाने का अधिकाधिक अभ्यास करता है जिससे आत्म-बल बढ़ता है। जिससे निर्विकल्पता, और अपने स्वरूप में स्थिरता प्राप्त होती है। यही स्वानुभव की जागृति और निश्चय सम्यक् चारित्र है जो कि मन वचन काय के अगोचर है। मन का तो मानो मरण ही हो जाता है। उसका प्रभाव अस्त हो जाता है। वीतराग - विज्ञान स्वरूप आत्म - स्वभाव की उन्नति होने लगती है। जब तक आत्मानुभव नहीं होता, तब तक यह निश्चय सम्यक् चारित्र भी नहीं होता है। जितने अंश सम्यक् चारित्र है वह आत्मिक भाव का अपूर्व झलकाव है। उसमें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान भी सम्मिलित है। जैसे ही — सम्यक् चारित्र होता कि स्वानुभव की एकाग्रता हो जाती है। यही रत्नत्रय की एकता मोक्ष मार्ग है — यही एकता उत्तम संवर है। यही वह ध्यानाग्नि है जो पूर्व - बद्ध - कर्मों को दग्ध करती है। आत्मानन्द का स्वाद लाती आत्म-ज्ञान की पूर्ण निर्मलता होती और अज्ञानान्धकार का विनाश हो जाता है। इसी सम्यक् चारित्र के धारावाही अभ्यास से मोह विध्वंस होकर अनुक्रम से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय कर्म नष्ट हो जाते हैं। अनन्त सुख का प्रकाश फैल जाता

है और परमात्मा हो जाता है। यह सम्यक् चारित्र संसारी से सिद्ध अवस्था में बदल देता है। अतएव सदैव इसकी आराधना करो। निश्चय से तो सम्यक् चारित्र; आत्मा में पूर्ण स्थिरता लाने के लिये उपादान कारण है। उपादान कारण कार्य रूप वस्तु स्वयं हुआ करती है। सहकारी निमित्त कारण अनेक हो जाते हैं। जैसे—गेहूँ ही रोटी अपने ही उपादान कारण से पलटती हुई बनी है। निमित्त कारण चक्की, बेलन, अग्नि, तवा, आदि हैं। उपयोग निश्चिन्त, निराकुल हो निज रूप में रमण कर सके इसके लिये प्रथम व्यवहार सम्यक् चारित्र की आवश्यकता है। इसी से ऐसे निमित्त मिलेंगे। इस व्यवहार सम्यक् चारित्र की सहायता से जितना मन वचन काय की प्रवृत्ति को रोका जायगा तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जायगी। इच्छाओं को दबाया जायगा, उतना निश्चय सम्यक् चारित्र का प्रकाश फैलता जायगा। जो असली चारित्र न होकर निश्चय सम्यक् चारित्र के प्रकाश में सहायता हो, वही व्यवहार सम्यक् चारित्र कहलाता है। यदि कोई मनुष्य व्यवहार सम्यक् चारित्र ही पाला करे, उसके द्वारा निश्चय सम्यक् चारित्र का लाभ न करे, तो कोई उससे लाभ नहीं है। जैसे—रसोई की समस्त सामग्री एकत्र कर, बना कर उदर न भर सके, तो उसका सब आरम्भ व्यर्थ है।

सागार और अनागार चारित्र के भेद से व्यवहार सम्यक् चारित्र दो प्रकार का है। जितनी कषाय कम होती जाती है उतनी वीतरागता बढ़ती और निश्चय सम्यक् चारित्र प्रगट होता जाता है। फिर प्रत्याख्यान कषाय को जीत साधु-पद में आने के लिये समस्त परिग्रह त्याग निर्ग्रन्थ हो जाता है। स्वानुभव का अभ्यास करते करते क्रमशः गुण—स्थान से बढ़ते और अरिहंत-पद प्राप्त हो जाता है। फिर कुछ काल में समस्त गुण—स्थानों से बाहिर सिद्ध—पद प्राप्त होता

है। यही आत्म—प्रबोध - स्वयाता का महात्म्य है। यही जैन धर्म का सार है। प्राचीन काल में जितने साधु महात्मा हुए उन्होंने भी इसी गूढ़ आध्यात्म - विद्या का अभ्यास किया था और इसी का उपदेश दिया था। यदि सच्चा आत्म कल्याण चाहते हो तो इसका अभ्यास करो यही समय सार का गूढ़ रहस्य है। अपने ज्ञायक—स्वभाव को पहिचान उसी में स्थिर होना मोक्ष का निकट उपाय है। सम्यक् दर्शन - ज्ञान होने पर भी स्वरूप की स्थिरता के बिना मोक्ष—मार्ग नहीं होता। अतएव आत्मस्वभावान्मुख हो उसका अनुभव करो। भेद - विज्ञानी सदैव अपने ज्ञान स्वभाव मे जागृत रहता। समस्त रागद्वेष रूप परिणति को तिलाञ्जलि दे देता है। वह निश्चल रत्नत्रय स्वरूप आत्मिक स्थल से आश्रय पा सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह दशम परिच्छेद समाप्त हुआ।



ग्यारहवाँ परिच्छेद

❀ मङ्गलाचरण ❀

दोहा—अनुभव—रस को पान कर, घाति कर्म के फन्द।
सिद्धालय निवसत सदा, हुए आप निद्वंद्व॥
शुद्ध-बुद्ध तुम जगत-पति, रहो सदा निष्काम।
नमों त्रियोग सम्हारि के, पाऊँ आतम राम॥

आज्ञानता या विपरीत बुद्धि है। भेद-विज्ञानी उससे निकलने का मार्ग बतलाता है कि हे प्राणियो! अपनी सत्ता और शक्ति को यथार्थ रूप से समझो। तुम क्या हो? और क्या नहीं हो? 'स्व' से अनुरक्त और 'पर' से उदासीन रहो। उभय चैतन्य और देखने जानने वाली तुम्हारी आत्मा है — समता भाव युक्त अपनी परणति में स्थिर रहना ही इसका स्वभाव है। इसकी उपमा किसी संसारी पदार्थ से नहीं दी जा सकती। यही पुरुषार्थ का निर्विकार हो परमात्मा हो जाती है। अपनी आत्मा की सत्ता समस्त आत्माओं की सत्ता से स्वतन्त्र, एक, अलग है। जो प्राणी भेद-विज्ञानी द्वारा इस ज्ञान को पाकर समस्त पर द्रव्यों से पृथक और विरक्त हो जाता है। वह निजात्मीक सत्ता में पूर्ण श्रद्धा कर, मन वचन काय की क्रियाओं को रोक अपनी आत्मा रूपी गुफा में आप ही निश्चल बैठ जाता है। फिर। ध्यानाग्नि प्रज्वलित कर आप ही अपने को उसमें डालकर तपाता है। वह इस स्वात्मीक तप को तप, अपूर्व परमानन्द-पीयूष पान करता हुआ अपने को सिद्ध भगवान के समान अनुभव करता है। जब यह ज्ञाता-द्रष्टा भेद-विज्ञानी समस्त प्रपन्चों से रहित हो जगत को देखता है, तो उसे यह समस्त जगत सुन्दर उपवन सा दिखाई देता है। वह तो सिर्फ इसे देखता और जानता ही है, परन्तु मोही मानव उसमें आसक्त हो उसके फूलों की सुगन्ध लेता और फलों को चखता है। निरन्तर उसी में निमग्न रहता है। कभी इस वृक्ष की शरण ली कभी उस वृक्ष की शरण लेता फिरता है।

भेद-विज्ञान जीव, उस मनोहर उपवन में एक सुदृढ़ विशाल वृक्ष के तले समस्त पुद्गलों से अपना सम्बन्ध छोड़ निर्भय बैठ आत्म ध्यान में संलग्न हो जाता है। अपने में अपने को ही आप देखता है। भेद-विज्ञान के प्रताप से उसे ऐसी निर्मलता प्राप्त हो जाती है कि

जिसके द्वारा निज स्वभाव भाषा जाता और अपने स्वरूप को पहिचान लेता है। उसे अपनी आत्मा में ही निजात्मा का दर्शन हो जाता है शुद्धोपयोग का चित्र पर सा खिंच जाता है। उसे शुभोपयोग और अशुभोपयोग पुण्य—पाप रूपी सोने और लोहे की बेड़ियां प्रतीत होने लगती हैं। वह अनुपम समता धारी हो अपूर्व आनन्द का स्वाद लेने लगता है जो कि केवल अनुभव गम्य ही है। वह ज्ञानी सब ओर से मन मोड़, प्रमाद मरोड़, जगत से स्नेह तोड़, अपने शरीर से भी ममता छोड़, निज स्वभाव से नाता जोड़ उसी में स्थिर हो जाता है। वह विचारता है कि समस्त द्रव्य स्वभाव से ध्रुव, परिणमन शील और अपनी - अपनी गुण पर्याय लिये हैं। सब स्वतन्त्र अकर्त्ता, अभोक्ता, अविनाशी, अमूर्तिक, बन्ध—मोक्ष कल्पना से रहित, परमानन्द मय हैं। परमात्मा के समान मेरे स्वभाव में भी इच्छा, प्रयत्न, विकार और क्रिया नहीं है। यही स्वात्मानुभव और मोक्ष—मार्ग है।

जब यह ज्ञानी एक परमाणु द्वारा रोके गये प्रकाश के प्रदेश को देखता है तो उसे उसमें अनन्त सूक्ष्म स्कन्ध और जीव भरे दृष्टि गोचर होते हैं। उसमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय पदार्थ और असंख्य कालाणु हैं। एक जीव घनांगुल के असंख्यातवें भाग में जघन्य शरीर की अवगाहन करता है। असंख्यात प्रदेश संकुचित हो इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि एक प्रदेश में संकुचित हुये कितने प्रदेश आ सकते हैं। इन संकुचित आत्म—प्रदेशों के साथ अनन्त तैजस और कार्माण वर्गणाएं रहती हैं। प्रत्येक वर्गणा में अनन्त शक्ति है। यद्यपि एक प्रदेश में छहों द्रव्य हैं तथापि प्रयोजन भूत एक मात्र जीव द्रव्य ही है। वह ज्ञाता, दृष्टा और ज्ञेय है। अन्य पांच द्रव्य, मात्र ज्ञेय हैं। जीव द्रव्य अनन्त हैं और अपनी-अपनी अलग सत्ता में हैं। स्वभाव से सब समान हैं। सब पर से रहित, मात्र

एक शुद्ध है। जो जीव अपने ही स्वभाव में तल्लीन हो जाते हैं उन्हें ही आत्मानन्द का पूर्ण अनुभव होता है। आत्मानुभवी महात्मा संसार में रहते हुये उससे भिन्न रहते हैं। वे अन्तरात्मा-जगत में सदैव जागृत रहते हैं। उन पर मिथ्यात्व, अविरत, क्रोधादि कषाय, योग और प्रमाद अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। तृष्णा ज्वाला और अविद्या की कालिमा, धुल जाती। इन्द्रिय-विषय-सुख की चाह और मोह मयी मूर्च्छा ग्रस्त हो जाती है। तात्पर्य यह कि संसार सम्बन्धी समस्त भावों का प्रलय ही हो जाता है वह आत्मानुभवी सन्त एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है जहां निजानन्द के अतिरिक्त अन्य कोई तरङ्ग नहीं उठती। वस्तु-स्वरूप यथार्थ झलकने लगता है। इस भेद—विज्ञान के प्रताप से सच्ची स्वतन्त्रता अपने ही भीतर झलक जाती है।

भेद—विज्ञान ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का मूल कारण है। निर्विकल्प समाधि उसका परिणाम है। स्वात्मानुभव रूपी कमल पर सम्यक्त्वी जीव रूपी भ्रमर आसक्त हो उस पर से हटना नहीं चाहते। यही वह समुद्र है जिसमें स्नान करने से रागद्वेष मोह रूपी मैल धुल जाता है। यह जीव इस आध्यात्मिक समुद्र में निरन्तर अवगाहन कर भव-ताप के सन्ताप से शान्त हो, सम रस पान करता हुआ समय सार का भोक्ता बन जाता है। मुनिजन सदैव आध्यात्मिक समुद्र में ही स्नान कर कर्म-मल धोते हैं। वे विचारते हैं कि यह जीवन दो प्रकार का है। एक तो शुभ और दूसरा अशुभ। एक ओर क्रोध का दौर दौरा तो दूसरी ओर समता महारानी का साम्राज्य। एक तरफ मान की मदोन्मत्तता, तो दूसरी तरफ मार्दव-गुण की नम्रता। एक दिशा में माया-मिथ्यात्व का जाल फैल रहा है, तो दूसरी दिशा में सरलता का साफ मैदान दिखाई देता है। एक तट पर लोभ रूपी के विष की वासना आकुलित कर रही है। तो दूसरे तट पर परम सन्तोषामृत बरस कर निराकुल

कर रहा है। एक बाजू असत्य असुर ने अपना विकृत स्वरूप बना रक्खा है, तो दूसरी बाजू सत्य, समुद्र की लहरें शान्ति पहुंच रही हैं। एक पंक्ति में असंयम, अन्याय और अभक्ष्य-सेवन की प्रेरणा कर रहा है। तो दूसरी पंक्ति में संयम रूपी वीतराग—भाव मोक्ष-मार्ग में सहायता हो रहा है। एक तरफ इच्छाओं का विस्तार बढ़ कर लोभ का डङ्का बज रहा है, तो दूसरी तरफ इच्छा रहित शान्ति-सागर उमड़ रहा है। एक ओर अत्याग-भाव, कृपणता फैली, त्याग भाव रूपी पर्वत पर से नीचे गिरा रहा है, तो दूसरी ओर त्याग, उदारता बढ़ी, स्व-परोपकार के लिये सर्वस्व त्याग की महा महिमा जागृत कर रहा है। एक दिशा में परिग्रह, मोह के फन्दे में फंसा दूसरे का दास बना रहा है। तो दूसरी दिशा में आकिंचन धर्म मोह फन्द छुड़ा परिग्रह से विरक्त कर त्रैलोक्य वन्द्य स्वामी बना रहा है। एक ओर कुशील, क्षणिक इन्द्रिय-सुख की चाह में विह्वलकर रहा है, तो दूसरी तरफ ब्रह्मचर्य रूपी पवित्र शील-भाव ब्रह्म में रमण कर मंगलमय निर्वाण का दर्शन कर रहा है। इस प्रकार वह गङ्गा यमुना सरीखी दो धाराएं बहतीं देखता है।

उत्तम ध्यानी उन दोनों धाराओं का शुद्धात्म सद्भाव रूप संयम प्रकट करता है और भेद-विज्ञान जन्य ज्ञान रूपी पवित्र एक धारा में प्रवेश कर परमानन्द अनुभव करता है। वहां सिद्ध—संसारी शुद्ध या अशुद्ध अवस्था का कोई विचार नहीं रहता। समरस रूपी एक ही धार प्रवाहित होती है। द्वैतभाव का सर्वथा अभाव हो जाता और अद्वैतता जागृत हो जाती है। इसी को स्वात्मानुभव, स्वसंवेदन या स्वरूपाचरण कहते हैं। यही आत्म—ध्यान है। इसी को कर्म-दग्ध करने वाली ध्यानाग्नि कहते हैं। जैन—सिद्धान्त में यही मोक्ष-मार्ग है। जबतक 'ज्ञानी' दृष्टि से संसार को देखता है तो यह जगत् षट्-द्रव्य मयी जान पड़ता है। वह जीव द्रव्य को ही प्रयोजन

मूत समझता है। वहां न कोई गुण स्थान और मार्गणाएं दृष्टि आती हैं। कर्म—बन्ध के कारण ही जीवों के नाना भेद हो रहे हैं। जैसे—रङ्ग मिश्रित पानी नीला, पीला, लाल, हरा दिखाई देता है। वास्तव में इन चारों रङ्गों में पानी निर्मल द्रव्य एक ही है। इसी तरह जीव द्रव्य एक ही है। देवता नारकी, मनुष्य, तिर्यंच कर्म जन्य अवस्थायें (पर्यायें) हैं। वह ज्ञानी कर्म जनित अपनी समस्त अन्तरङ्ग-बाहिरङ्ग अवस्थाओं से उदास हो, एकाकार ज्ञान—चेतना के स्वाद में निमग्न हो जाता है। चारित्र आदि गुणों को धारण करता हुआ भी वह उनकी तरफ से राग रहित हो जाता है। केवल एक अभेद और अनुभव गम्य, अखण्ड आत्मा के अमृत रस का पान कर अक्षय, अतीन्द्रिय सुख शान्ति का भोग करता है। वह अनुभवानन्द वचनातीत है।

उस—भेद विज्ञान के प्रताप से जीव आत्म-ज्ञान प्राप्त कर आत्मत्व हो जाता है। वह जगत रूपी क्षोभ पूर्ण उद्यान से दूर हो साम्य पूर्ण शुद्ध गुण रूपी वृक्षों से सुशोभित अनिर्वचनीय आनन्द दायक उपवन पहुंच जाता है। वहां न कोई शिष्य है और न गुरु। ज्ञानी प्रज्ञा—चक्षु खोल देखता है कि मेरा आत्मा रूपी रत्न पुद्गलों के ढेर में ढंका लुप्त प्राय हो रहा है। किसी भेद-विज्ञानी की सहायता से जब उसे उस रत्न की झलक दिख जाती है तब उसे अपूर्व अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। जैसे कोई अवधि ज्ञानी किसी दरिद्री को उसके घर में गड़ी स्वर्ण की अदृष्ट निधि को बतलादे। इस कथन पर विश्वास कर जब वह खोद कर पा लेता है, उस समय उस दरिद्री को जो आनन्द होता है वही आनन्द उस आत्म—तत्व खोजी को होता है। यद्यपि स्वर्ण निधि परोक्ष है, परन्तु उसका शुद्धात्मा रूपी अमूल्य रत्न उसी के पास है तथा प्रत्यक्ष है। उसकी आत्मा उसे झलक रही है। सुख—शान्ति और वीर्य की प्रकटता उसी ज्ञान का अंश है। इसी कुछ

प्रकटता से लक्षण से लक्ष्य का निश्चय कर समस्त कर्म-पुञ्ज को दूर करने से निजात्मरत्न का पूर्ण प्रकाश झलक जाता है। वीतराग भाव होने से ही कर्म-रज दूर होती है। अतएव विद्वानों को वीतराग-भाव की प्राप्ति के लिये उद्यम शीघ्र होना चाहिये।

शाश्वत परमानन्द मय निर्वाण सुख को उपादेय मान निरन्तर उसी पर लक्ष्य रखना ही आत्म—कल्याण है, क्योंकि यह लक्ष्य वीतरागता की वृद्धि करना है जैसे—कीचड़ की फंसी लकड़ी की यदि मूठ हाथ में है। तो वह बल पूर्वक खींचने से निकल ही आयगी। ऐसे ही आत्मा की निशानी ज्ञान—चेतना है। निरन्तर इसी का लक्ष्य रखना आत्मा को अपनी ओर करना है। जिस पदार्थ को प्राप्त करना हो उसे ही उपादेय मान उस पर निरन्तर लक्ष्य रख, प्रयत्न करने से प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा भी प्राप्त हो जाती है। भेद-विज्ञानी आत्माओं के मध्य स्थित आत्मा के सर्वाङ्ग स्वरूप का दर्शन कर लेता है। जैसे लौकिक भेद ज्ञानों को सर्प और रस्सी, व्यञ्जन और उसमें पड़े नमक, तथा दूध और जल इनके अलग अलग भेद झलक जाते हैं। सार यह है कि संसार के समस्त प्रपंचों को छोड़, एक अपनी आत्मा से नाता जोड़ केवल एक अपने आप को ही ज्ञान में ला। आपका ही आप अनुभव करें। निरन्तर उसी में तन्मय रह अपना समस्त जीवन वितावें।

इस धारावाही चारित्र के प्रभाव से निरन्तर राग-द्वेष के अंश छूटते और वीतरागता के अंश बढ़ते जाते हैं। कम-मल अधिक अधिक दूर होता जाता है। एक समय ऐसा आ जाता है कि शुद्ध आत्म रत्न प्राप्त हो जाता है। फिर योगी मन—वचन—काय के योगों को गुप्त कर एक अत्यन्त प्रच्छन्न गुफा के भीतर प्रवेश कर आत्म-स्वरूप संवेदन करता हुआ अपनी आत्मा का दर्शन

करता रहता है। इसी परमानन्द मय स्वसंवेदन को साम्य भाव, समाधि-आत्म-परिणमन, स्वरूपाचरण रत्नत्रय की एकता, स्वात्मध्यान या सामायिक कहते हैं। यह आनन्द स्वानुभव गम्य ही है।

किसी फल युक्त आम्र—वृक्ष के तले पद्मासन बैठा हुआ निजानन्दी आम के फल को देखकर विचार करता है कि इस फल में केवल रस ही सार है। शेष सब निःसार और त्याज्य है। उसे श्रद्धान होने से परम संतोष होता है। वह भेद—ज्ञान-दृष्टि से देखता है कि इसी प्रकार मुझ में आत्माराम ही एक सार है। मैं सिद्ध समान शुद्ध—बुद्ध हूं। स्फटिक मूर्तिवत् निर्विकार, आकाश सदृश निर्मल, पवन समान असंग, सूर्य के समान परम तेजस्वी और समुद्र जैसा अनन्त गुण रूपी रत्नों की खान हूं। मेरे साथ जो पुद्गल का सम्बन्ध दिख रहा है उससे मैं सर्वथा पृथक् हूं। इस भेद—विज्ञान रूपी पैनी छैनी से आत्मा और पुद्गल पृथक् पृथक् हो आत्मा के गुण पर्याय आत्मा में रह जाते और पुद्गल (अनात्मा) के गुण और पर्याय पुद्गल में रह जाते हैं। ऐसी सामायिक के प्रभाव से कर्मों से भारी हुआ जीवात्मा अपने को हल्का अनुभव करता है। धीरे-धीरे उस ज्ञानी की पर्याय दृष्टि बन्द हो जाती और द्रव्य-दृष्टि का विकास लगता है।

कोई महात्मा राग—द्वेष को विदा कर एकान्त में विचारता है, कि मैं क्षीर—समुद्र के समान शुद्ध हूं। मुझमें मेरी सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य की सत्ता नहीं है। सब पदार्थ सदैव अपनी मर्यादा में रहने वाला होता है। उसमें अगुरु-लघु नामक गुण रहता है। जिससे वह अपने अनन्त गुणों के समुदाय को कभी नहीं त्यागता। वह ज्ञानी महात्मा परम निस्पृह और निर्द्वन्द हो अपने ही शुद्ध आत्मोद्यान में रमण करता है। वह अपने आप को देख आप ही अपना दर्शन करता है। शरीर रूपी मन्दिर में विराजमान चैतन्य-मूर्ति, निर्विकार परमात्मा की झलक पाता और

उसी में तन्मय हो जाना परमात्मा का दर्शन कर लेना है। संसारी प्राणी पंचेन्द्रियों के विषय-सेवन में फंस भारी क्लेश उठाते हैं। निरन्तर मोह में गलते रहते हैं। तृष्णा—दाह से दुखी रहते हैं। इस तृष्णा—दाह को शमन करने के लिये स्वानुभव रूपी शीतल जल की परम आवश्यकता है। जो आत्मा के निश्चय स्वरूप में लक्ष्य कर मन—वचन-काय की क्रिया को रोक देता है। उसे ही स्वानुभव रूपी अमृत प्राप्त हो जाता है।

इस प्रपंच पूर्ण संसार में आत्मा पर अनन्तानन्त तैजस-कार्माण वर्गणायें अपना अड्डा जमाये हैं। जब देखो तब पच्चीस कषायों का रङ्ग झलकता ही रहता है। कभी वीतराग रूप शुद्ध निजात्मा का अनुभव नहीं होता। यदि जीव, इन समस्त विभाव भावों को दूर कर, शुद्ध वीतराग भाव का अंश मात्र स्वाद ले, तो भेद-ज्ञान झलक जाय। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से परिणति निज में ठहरने लगती है और निजात्मा का दर्शन हो जाता है। इस प्रकार वह निजात्मा का दर्शन पा पूर्ण संतोष—लाभ करता है। यह आत्मा स्वभाव से ज्ञाता; दृष्टा आनन्दमयी होते हुये कर्म-बन्ध के कारण अपने स्वभाव को भूला है। परम शान्त और शीतल होने पर भी कषायाग्नि की ताप से तप्त हो रहा है। आप स्वयं परमानन्द मय है। तथापि इन्द्रिय जनित विषय-सुखों में आनन्द मान रहा है। अजर-अमर होने पर भी अपने को बूढ़ा और मरने वाला समझ रहा है। उसकी ऐसी समझ अज्ञानता से ही हो रही है। यदि अज्ञानता दूर कर स्वाश्रय ले तो भेद विज्ञान प्रकट हो जाय। निजात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर न समझे। वह स्वयं को सिद्ध समान जानने लगे। पर्याय-दृष्टि छोड़ द्रव्य दृष्टि से देखने से छोटे बड़े का भेद निकल जाता है। जैसे ऊँचे पर्वत पर खड़े मनुष्य को पर्वत के नीचे खड़े मनुष्य या अन्य पदार्थ छोटा दिखाई देता है। पर वास्तव में वे

जैसे हैं वैसे ही हैं। भ्रम-बुद्धि से ही परस्पर कुछ का कुछ देख—जान रहे हैं। विवेक दृष्टि वाला इस दृश्य पर विश्वास न कर सत्य को सोच लेता है। इसी तरह भूतार्थ दृष्टि से नारकी, तिर्यंच, नीच और देव—मानव ऊँच दिखते हैं। मानवों में भी दीन, दुःखी, मजदूर, मालिक राजा, रंक दिखाई पड़ते हैं। भेद—विज्ञानी आत्मा तो प्रत्येक को समान (एक रूप ही) देखता है। उसे कोई भेद-भाव नहीं जान पड़ता क्योंकि भेद-विज्ञान की दृष्टि से सम्पूर्ण पदार्थों का सार भूत 'निज-स्वरूप' का ही विचार किया जाता है।

भेद—ज्ञानी, अविनाशी आत्मा झलकने पर बार-बार यही विचारता है कि अब मैं सब से नाता तोड़ निज सत्ता से ही सम्बन्ध जोड़ूं। अब मुझे पंचपरमेष्ठी से भी कोई काम नहीं और जीवादि सत तत्वों का भी कोई विकल्प नहीं रहा। मैं तो एकाकार निजात्मा में ही आत्मीयता मान कर परम निस्पृह और निर्द्वन्द हो अपने ही आत्मोद्यान में निर्भय रमण करता हूं। इस आत्म-वन में रमण करते हुये न कोई हिंसक सिंहों का भय है न प्रमाद रूपी बन चर जीव आक्रमण करते न पंचेन्द्रिय विषय रूपी मृगी मन को लुभाती हैं। वहां न तो कषाय रूपी काक, न संकल्प विकल्प रूपी भ्रमर और न हास्यादि नव नो कषाय रूपी दंशमशक ही पीड़ा पहुँचाते। वहां न तो विषयाशक्ति रूपी शीत है और न तृष्णा रूपी आताप है। वहां तो समता, शान्ति और निराकुलता रूपी मन्द-सुगन्ध पवन बहती है। सब ओर परमानन्द साम्राज्य दृष्टि गोचर होता है। जो धर्मात्मा अपनी आत्मा के निर्विकार स्वरूप पर लक्ष्य दे मन-वचन-काय की क्रिया से दूर हो जाता है। उसे स्वानुभवामृत पीने को मिल जाता है। यह सब भेद विज्ञान के प्रताप से ही होता है।

जो अपने आत्म—स्वरूप की दृष्टि में एकाग्रता प्राप्त कर लेता है वह अवश्य मोक्ष नगर

पहुंच जाता है। यह तो स्वात्म-समाधि है। जो कर्म—वन को काटने के लिये तीक्ष्ण कुठार है। अथवा मोक्ष-महल में पहुँचाने की निश्चल सीढ़ी है। इसी पर आरोहण हो परम सुख प्राप्त किया जाता है। भेद—विज्ञानी को यह सरल, साम्य-दृष्टि परमात्मा के समान निर्विकार ज्ञाता-दृष्टा बना देती है। साधु सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता रूप, परम साम्यभाव रूपी स्व-समय या ज्ञान चेतना में तन्मय हो जाता है। इस भेद—विज्ञान के प्रताप से पर्याय दृष्टि का मोह मिट जाता और द्रव्यार्थिक-दृष्टि का वैराग्य जागृत हो जाता है। यह दृष्टि तत्वों के अभ्यास के साथ साथ उनमें श्रद्धा और विवेक से उत्पन्न होती है। ज्ञानी जब आत्म—ध्यान की धुनी रमा आत्मा को निर्मल करके परमात्म—पद लाभ करते हैं।

भेद—विज्ञानी अनेक संयोगों के भीतर आत्मा को आत्मा रूप और अनात्मा (पुद्गल) को पुद्गल रूप देखता है। वह अनात्मा से दृष्टि फेर जब एक मात्र निज आत्म द्रव्य को देखता है तब समस्त आत्माओं में सदृशता देखता। यही सम्पूर्ण समुदाय एक ज्ञान सागर स्वरूप बन जाता है। ज्ञानी इस ज्ञान—सागर में रमण करता हुआ साम्य भाव रूपी जल से अपना कर्म मल धोता और निराकुल परमानन्द का सुख पाता है। स्व स्वरूप खेद लेना ही मोक्ष—मार्ग। यही सप्तम गुण—स्थान तक धर्म—ध्यान और अष्टम गुण—थान से शुक्ल ध्यान है। यही स्वानुभव अविरत देश विरत, प्रमत्त स्थान या अप्रमत्त गुण स्थान वर्ती साधु का स्वरूप है। ॐ। समस्त आत्मायें परम शुद्ध, निजानन्द सागर में निमग्न, कृत्य—कृत्य परमात्मा रूप दिखाई पड़ती हैं। अतएव, समस्त प्रपन्च छोड़, अपनी त्रिगुप्ति मय, परम शान्ति पूर्ण स्वानुभूति रूपी कुटिया में विश्राम करो। आत्म—प्रेमी—भेद—ज्ञान रूपी पैनी छैनी से समस्त-पर द्रव्य को अलग कर आप से, आप में,

आपने लिये, आप का ध्याता है और आप में आप ही तन्मय हो स्व—स्वरूप ही समाधि प्राप्त कर अकथनीय आनन्द अनुभव करता है।

ज्ञानी महात्मा जन इस जगत को भेद—विज्ञान की दृष्टि से देखता है। तब जगत निर्माण करने वाली समस्त द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से पृथक पृथक और स्वतन्त्र दिखती हैं। एक मे दूसरी द्रव्य का नास्तित्व और अपना आस्तित्व है। प्रत्येक द्रव्य आस्तित्व - नास्तित्व या भाव - अभाव रूप है। एक जीव का द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव दूसरे जीव के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न है तथा अन्य परमाणु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पृथक है। यह अखण्ड, चित्त, पिण्ड, ज्ञान—करण्ड आत्मा अनुभव गम्य ही है। इस प्रकार वह महात्मा अपने एकत्व को पा, ज्ञान रूपी गंगा में बार-बार स्नान कर अनुपम आनन्दामृत का स्वाद लेता है।

कोई ज्ञानी आत्मा बरसते हुये जल को देख विचारता है कि यही पानी गर्मी से भाफ बन कर उड़ जाता और उसरे आकाश में मेघ बन जाते और मेघ ही बरसने पर पानी हो जाता है। ऐसा विचारता हुआ, वह जगत के पदार्थों के स्वभाव पर दृष्टि—पात करता है, तो उसे ज्ञात होता है कि द्रव्यों में परिणमन शक्ति है जिससे वे समय समय पर अपनी पर्याय पलटा करते हैं और नये से पुराने होते रहते हैं। मूल द्रव्य की न कभी उत्पत्ति होती और न कभी विनाश होता है। पुद्गल और जीव के मेल से ही नाना प्रकार के शरीर हैं जो कल्पित भाव यतीते हैं। यदि पुद्गल—स्कन्ध निकाल लिया जाय तो आवागमन बन्द हो जाय। शरीर धारण करना बन्द हो जाय। ऐसा होने से अशुद्ध भावों का संचार भी बन्द हो जायगा और आत्मा निज स्वभाव में रमण करने लगेगा। वह अपनी आत्मा से आत्मा को देखने - जानने लगेगा जिसकी दृष्टि स्व

पर रहती है। वह निःसन्देह अपने इच्छित स्थान को पहुँच जाता है। यही आत्म—प्रबोध आत्मा का निज स्वभाव है। इस आत्म—प्रबोध से ही आत्मा का कल्याण होता है। इस आत्मा के स्वभाव में चित्त को एकाग्र करना ही आत्म—ध्यान है जो कि अन्तरङ्ग-तपों में प्रधान तप है। इसी से अष्ट कर्म क्षय होते हैं।

यह संसार कष्ट—कर्मों की नाट्य-शाला है। उसमें सैं कर्मों का नाटक देखने वाला है। ज्ञातावरणी कर्म के उदय से बहुत सा ज्ञान ढंका रहता है। जितना उसका क्षयोपशम होना है उतना ज्ञान प्रकाशवान होता है। दर्शनावरणी के उदय से आत्मा का दर्शन (देखने) गुण ढँका रहता और क्षयोपशम के अनुसार प्रकट रहता है। मोहनीय कर्म के उदय से एकान्त, विपरीत विनय संशय, और अज्ञान मिथ्यात्व भावों के धारी प्राणियों का संगम मिलता है। अन्तराय कर्म के उदय से आत्मिक, बल प्रकट नहीं होने पाता। जब ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है तब केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। संज्वलनादि षोडस कषायों और हास्यादि नव, नौ कषायों इस प्रकार पच्चीस कषायों के तीव्र, मन्द और मन्दतर उदय के अनुसार राग—द्वेष भावों की विचित्रता देखने में आती है। आयु—कर्म के उदय से यह जीव शरीर मे कैद रहता है। शरीर चाहे देव नारकी का हो अथवा मनुष्य तिर्यन्च का। नाम कर्म के उदय से सुभग—कुरूप आदि नाना आकार का शरीर प्राप्त होता है। गोत्र कर्म के उदय से जीव ऊँच-नीच योनि मे जन्म लेता है। वेदनीय कर्म साता या असाता रूप से उदय मे आकर साता अथवा असाता पहुँचाने वाले पदार्थों का सम्बन्ध मिलाता है। इस प्रकार अष्ट कर्मों ने संसार को नाटक—घर बना रक्खा है। यदि इन्हें आत्मा से पृथक समझा जाय तो ये सब भेष (स्वांग) दृष्टि गोचर न हों। समस्त जीव एकाकार, शुद्ध,

ज्ञान–दर्शन मय समान दिखलाई पड़े । यही साम्य–भाव है ।

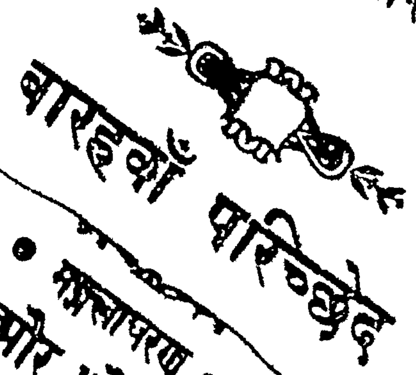
पिण्डस्थादि चार प्रकार के ध्यान भी ध्यान करने के साधन हैं । इस शरीर में स्थित जो आत्मा है उसका ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है । उसकी पृथ्वी आदि पाँच धारणायें हैं । इस प्रकार निर्बन्ध, निर्विकल्प, अपनी शुद्ध आत्मा के अन्तरगत ही क्रीडा करते रहने से स्वात्मानुभव प्रकट होता है । तभी स्व-संवेदन गम्य अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है । तभी कर्मों का समस्त प्रपंच आत्म-स्वभाव से पृथक होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह भव-सागर से पार ही हो गया । जैसे बम्बई जाने वाले मनुष्य को बम्बई का टिकिट प्राप्त हो जाय और वह बम्बई जाने वाली गाड़ी पर सवार हो जाय, तो उसे पक्का भरोसा हो जाता है कि अब मैं बम्बई पहुँच ही गया । ऐसे ही सम्यक् दर्शन मोक्ष पुरी का टिकिट है उसके प्राप्त होने पर स्वानुभव रूपी गाड़ी पर सवार हो मोक्ष पुरी पहुँच ही जाता है । सम्यक्त्वी आत्मा उस इन्द्र—धरणेन्द्र, चक्रवर्ती या साधु मुनि से उत्तम है जिसे सम्यक्त्व—रत्न का लाभ नहीं हुआ । सम्यक्त्वी को इन्द्रादि, चक्रवर्तियों की सम्पदायें भी तुच्छ भासती हैं । उसके हृदय में मुक्ति रमा की मनोहर छवि निरन्तर निवास करती है । जब आत्मा में स्वानुभव ज्योति जाग्रत होती है, तब मन-वचन काय की प्रवृति रुक जाती है, क्योंकि ये तीनों आत्मा से भिन्न पुद्गल—द्रव्य की अवस्थायें हैं । वहां तो अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा का वेदन मात्र भोग किया जाता है ।

जो अमर बनावे वही अमृत है । स्वानुभव अमृत है । वह आत्मा को आवागमन से रहित बना देता है । इस स्वानुभव रूपी गुफा में सिद्धों का सदैव निवास रहता है । स्वानुभव का शरण ही उत्कृष्ट शरण है । यह नारकी को तीर्थंकर बनाने में समर्थ है । स्वानुभवी जीवन्मुक्त है । जो

अपनी आत्मा का दर्शन करता है, वही परमात्मा का दर्शन करता है। जो अपनी आत्मा को जानता है, वह परमात्मा को जानता है। जो अपनी आत्मा का अनुभव करता है, वह परमात्मा का अनुभव करता है। अतएव हमें अपनी ही आत्मा का दर्शन, ध्यान और अनुभव करना चाहिये। वीतराग भाव के रसिकों को अपना उपयोग निज स्वभाव पर लगाना चाहिये। पूर्व काल में तीर्थङ्कर, बलभद्र, महाराजाधिराज, चक्रवर्ती, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, व्यापारी, महामण्डलेश्वरादि इसी स्वानुभवानन्द से उत्साहित हो गृह-जंजाल समस्त परिग्रह को छोड़ आत्म कल्याण में तत्पर हुये और परम पद को प्राप्त हुये हैं। जो तत्व ज्ञानी हुए जीवन का उपयोग मोक्ष-साधन में करता है, वह धन्य है। जब व्यवहार नय को गौण कर निश्चय नय का अवलम्बन लिया जाता है। तब अद्वैत भाव प्रकार हो जाता है। समस्त जीव शुद्ध और सिद्ध स्वरूप प्रतीत होते हैं। आनन्द का स्रोत वह निकलता है।

आत्मा पर ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों के पर्दे पड़े हैं। यही कार्मण शरीर है। दूसरा तैजस वर्गणाओं से बना तैजस शरीर और तीसरा आहार वर्गणाओं से बना औदारिक शरीर है। आत्मा इनसे भिन्न है। जो भव्य आत्मायें अपनी सूक्ष्म दृष्टि इन तीनों शरीरों से बाहर ले जाते तथा आत्म-स्वभाव में प्रवेश करते हैं वे ही निजानन्द रस का पान करते हैं। उन्हें ही अलक्ष्य वस्तु का ज्ञान स्वलक्ष्य में प्राप्त होता है। वे ही देवेन्द्र—वृन्द, नरेन्द्र—धरणेन्द्र आदि द्वारा वन्दनीय हैं। इसी के चिन्तवन से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिन्हें अपनी ऐसी आत्मा में रञ्च-मात्र भी भ्रान्ति है वे बहिरात्मा हैं। वे इन्द्रियों द्वारा अर्थ ग्रहण करने वाला आत्मा समझते हैं। परमात्मा तो शुद्ध, स्वर्णवत्, निर्लेप, निर्द्वन्द्व, अशरीर, कर्म रहित, ध्याता-विधाता, ज्ञेयोनिधि, इन्द्रातीत, ज्ञान-पुञ्ज,

सर्वज्ञ, वीतराग है। जो शरीरादि रूप आपको समझते तथा सदैव व्यवहार धर्म में ही प्रीति करते और लगे रहते हैं। उन्हें चैतन्य स्वरूप ज्ञान—दर्शन—चारित्र मय आत्म - तत्व का दर्शन नहीं होता। जिसने आत्म—तत्व साध्य किया, उसने ही रत्नत्रय का यथार्थ सम्मान किया समझो वही त्रैलोक्य पूज्य हो जाता है। अतएव आत्मा को ज्ञाता—दृष्टा आनन्द घन समझो इसी से आत्म—जागृति होकर, शुद्धोपयोग हो जाता है। जिससे मुक्ति प्राप्ति होती है। इस प्रकार आत्म—प्रबोध ग्रंथ का यह एकादशम परिच्छेद समाप्त हुआ।



बारहवाँ परिच्छेद

• मङ्गलाचरण •

दोहा—उत्पति व्यय और ध्रौव्य सह, निराबाध भगवन्त।
परमानन्द पद पाय निज, जोहिं ध्यावत संत॥

आत्म—ज्ञानी इष्टानिष्ट - आत्म - विरुद्ध वस्तु से ममत्व हटा अपनी आत्मा का ही चिन्तवन करता और उसीसे स्नेह करता है। वह जिनवर के मार्ग को उपलब्ध कर निजात्मा में रत रहता है। जो स्वात्मोपलब्धि प्राप्त करते हैं, वे ही परम्पराय मोक्ष जाते हैं। ज्ञानी समस्त विषय - वासनाओं से उदास हो मन - वचन - काय के व्यापार रोक द्रव्य, भाव नो कर्म, ख्याति, लाभ, पूजा, कषायें तथा

पंचेन्द्रिय—विषय व्यापार को त्याग देता है। वह माया मिथ्यात्व और भोगाकांक्षा रूप निदान शल्य–त्रय त्याग देता है। समस्त विभाव भाव के परिणामों से रहित हो निरन्तर निजात्मा का ध्यान करता है। उस योगी को सहज वीतराग स्वरूप समस्त पर-द्रव्य से भिन्न निजात्म–तत्व ही उपादेय है। यह आत्मा अतुल सुख निधान और प्रधान तीर्थ स्वरूप है। हे आत्मन्! तू ही तीन लोक पूज्य परमात्मा है। मुनि–जन तेरा सदैव यश गाते हैं। ये बेचारे पुद्गल (जड़) कर्म तेरा क्या बिगाड़ सकते हैं? तुम तो चैतन्य हो। अपनी ही भूल से भटक रहे हो। उसे दूर कर आत्मा को आत्मा और जड़ को जड़ जानो। यही भेद विज्ञान तुम्हारा कल्याणकारी है। अपनी श्रद्धा को प्रत्यक्ष कर संसार का अभाव करो। देखो सीता के जीव प्रतीन्द्र ने सोलहवें स्वर्ग से आकर मुनि रामचन्द्र जी को कितना मोह में फंसाना चाहा? पर क्या वे फंसे? अपितु उसी समय केवलज्ञान प्रकट कर मोक्ष पधारे। कमठ के जीव (देव) ने आकर श्री पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के ध्यान में कितने विघ्न किये? परन्तु वे रंच–मात्र चलायमान न हुये। भयानक उपसर्ग को सहन कर श्री सम्मेद शिखर परम धाम को पधारे। देखो, शिवभूति मुनि को "तुष-मास भिन्न ज्ञान" से आत्मा-अनात्मा का भेद–विज्ञान हो गया था। जिसके प्रताप से उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया।

हे आत्मन्! तुम अपने उपयोग में इतने दृढ़-चित्त हो जाओ ताकि बाह्य में मन-वचन-काय की भी सुधि न रहे। यह सब उपयोग का ही खेल है। धन्य है उस शुद्धोपयोग को जिससे केवल अन्तर्मुहूर्त मात्र में समस्त कर्मों का क्षय कर केवल ज्ञान सूर्य का प्रकाश फैला देता है। अतएव विषय कषायों से विमुक्त हो सतत आत्म—निरीक्षण करो। आत्म ज्ञानी नरक में भी नारकियों द्वारा नाना प्रकार के कष्ट भोगते हुये अन्तरङ्ग में निज रस की गटागटी करते हैं। यदि मोक्ष–लक्ष्मी की

वाञ्छा है तो समस्त विकल्प जाल को दूर कर अमल, अक्षय, अतुल्य, निखिल गुण निकेत निजानन्द स्वरूप का ध्यान करो। संसार में मिथ्यादृष्टि अनेक कष्ट उठाते हैं। सम्यक्दृष्टि तो अतीन्द्रिय आत्मीक उत्तम सुख को पहिचानते हैं इसलिये सदैव मोक्ष मार्ग में चलते हैं। वे निरन्तर स्व समय में ही रत रहते हैं। मिथ्यादृष्टि बाहिरात्मा हैं तथा निरन्तर पर समय में ही रत रहते हैं। शुद्ध नय से अपने भावों का आप ही कर्त्ता भोक्ता हैं परन्तु भेद बुद्धि के द्वारा भी अभेद बुद्धि हो जाती है। बाहिरात्मा जीवों के अनादि बन्धन उपाधि के कारण निरन्तर स्निग्ध परिणाम होते हैं। तथा स्निग्ध परिणामों से पुद्गल स्कन्ध आकर्षित हो आत्म से लिप्त हो जाते हैं। जिससे नर-नरकादि गतियां प्राप्त होती हैं। देहादिक होने से इन्द्रियों के विषय जागृत होते और उनसे वस्तु-स्वरूप में रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। इसी रागद्वेष द्वारा फिर स्निग्ध परिणाम होते और कर्म-बन्ध होता रहता है। दही बिलोने की मथानी की रस्सी की तरह खुलना और लिपटना होता रहता है। कभी भी शान्ति नहीं मिलने पाती। यही पुण्य पाप की रचना है। आत्मा अनादि निधन कर्म जाल रूपी संसार चक्र भ्रमण करता रहता है। पुद्गल परिणाम के निमित्त से जीव परिणमन होता और जीव के परिणाम के निमित्त से पुद्गल परिणमन होता है। ज्ञानी जीव पर-वस्तु का स्वभाव जानकर निर्विकल्प हो जाते और शास्वत पद में लीन होने हेतु अपनी आत्मा में अन्तर्मुख हो जाते हैं। ऐसा यह समय सार है।

हे आत्माराम! तू इस संसार में जो प्रीति या अप्रीति दायक वस्तु का स्वरूप है उससे विमुक्त हो निजा मृत रस से परिपूर्णता की ओर उन्मुख हो निरीक्षण कर जिससे तुझे यथार्थ निज स्वरूप प्राप्त हो जायगा। यह सम्पूर्ण तत्वों का सार भूत समय सार है, जो कि पंचम गति का देने वाला है।

एक यह ज्ञायक भाव ही कार्य–कारी है। इस मनोहर पंचम भाव को ही स्मरण—आचरण कर, जिससे चिरन्तर - संचित - कर्म - पुञ्ज कट जाएंगे। अतएव सम्पूर्ण तत्वों का सार एक समय सार ज्ञान निर्ग्रन्थ—पद पर पहुँच निजात्मा - तत्व आराधान करो। यही मोक्ष—मार्ग है। निर्ग्रन्थ साधु ही मन–वचन–काय रूप तीन क्रिया से रहित या निर्दण्ड हैं। ये परम पदार्थ व्यतिरिक्त समस्त पदार्थ हेय—ज्ञेय समक्ष उनसे अपने परिणाम हटा लेते हैं। अतएव वे ही निर्द्वन्द्व हैं। प्रशस्ता-प्रशस्त समस्त राग द्वेष मोह के अभाव से निर्मल तथा निश्चय से औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कर्माण पंच शरीरों के प्रपंच से रहित निःकल हैं। चतुर्दश परिग्रह के अभाव से निर्लेप निश्चय-नय से सम्पूर्ण कलंक मल मुक्ति करने में समर्थ हैं। सहज परम पारिणामिक भाव वीतराग-सुख—समुद्र में निमग्न, आत्म ज्ञान गात्र, मात्र पवित्र शरीर होने से निर्दोष हैं। शल्यत्रय के अभाव से निःशल्य, निज परम तत्व की भी वांछा के अभाव से निःकाम हैं। इस प्रकार निर्ग्रन्थ लिंग, समयसार को ही उपादेय समझने वाले निश्चय चारित्र साधक मोक्ष मार्गी हैं।

भव्य जीवों की जैसी जैसी काल–लब्धि निकट आती जाती है। तैसी तैसी उनकी मोह अर्थ सामग्री न्यून होती जाती है। ऐसा ही वस्तु–स्वभाव है। भावना - भव नाशिनी है अतएव स्पशुद्धात्मा की निरन्तर भावना करो। यह आत्म शील का मूल, मोक्ष - लक्ष्मी निवास गृह कल्पपुञ्ज संयतक, ज्ञान ज्योति स्वरूप है इसका निरन्तर, स्मरण करो। यह कार्य समयसार व कारण समयसार शुद्ध ज्ञान चेतना सहज फल रूप होती है। यह निज कारण परमात्मा संसार या मुक्तावस्था में सदैव एक रूप ग्रहण करने योग्य है। चार आराधनादि आचरण पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्त, दश लक्षण धर्म, द्वादशानुप्रेक्षा, बाईस परीषह जय, और पञ्चाचरण

अप्रहत संयम है जो कि शुभोपयोग मय सराग चारित्र है। इसे ही व्यवहार चारित्र कहते हैं। निर्ग्रन्थ लिंग सहित इसको आचरण निश्चय चारित्र का साधन बन जाता है, परन्तु बहिर्विषय होने से त्याज्य है। इस सब का त्याग करना भाव लिंग है। इस निर्ग्रन्थ भाव लिंग के पांच भेद हैं। शुभाशुभ कर्मास्रव को नाश करने के लिये दोनों क्रियायें निरोध निश्चय चारित्र धारण किया जाता है। अतएव भव्य जीवों को निरन्तर शुद्धात्मा की भावना करना चाहिये। भेद–विज्ञानी ही निश्चय रत्नत्रयात्मक होते हैं।

कदाचित चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से चारित्र धारण करने में असमर्थ हो तो विषय कषाय त्यागने तथा परमात्म–पद प्राप्त करने के हेतु पंचपरमेष्ठी के गुण – स्तवन आदि विधानों को परम भक्ति पूर्वक करो। भोगों की आकांक्षा रहित परिणामों के द्वारा अपनी हित-बुद्धि धारण कर पलाल की तरह विशिष्ठ पुण्य को प्राप्त करो, फिर आयु पूर्ण कर स्वर्ग में देवेन्द्र पद या लौकान्तिक देव की विभूति प्राप्त कर उसे भी जीर्ण तृण के समान मानते हुये वहां से चय कर कदाचित पंच महा विदेह क्षेत्र में पहुंचे तो वहाँ प्रत्यक्ष समवसरण देखोगे। अहो! ये श्री वीतराग अरिहन्त देव हैं और ये भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक श्री गणधर देव हैं। मैंने जो पूर्व भव में अरिहन्त या गणधर देव का नाम सुना या वह प्रत्यक्ष देखा। इस मान्यता से हृदय में दृढ़ श्रद्धान हो जायगा अर्थात सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हो जायगी। यह चतुर्थ गुण-स्थान की अवस्था यद्यपि अविरत अवस्था होगी तथापि भोगों के भोग में उदासीन परिणामों से धर्म—ध्यान पूर्वक जीवन व्यतीत होगा और वहाँ से चय कर कदाचित तू तीर्थंकरादि पद भी प्राप्त कर लोगे। पूर्व—भव में जो भेद-विज्ञान की वासना द्वारा धर्म-ध्यान किया था उस संस्कार के बल से संसार के प्रति मोह

शुद्धि नहीं रहेगी। संसार की समस्त दुःख रूप अवस्थाएं देख हेयोपादेय का बोध हो जायगा और जिन—दीक्षा धारण कर लोगे।

वन का आश्रय ले दिगम्बर—अवस्था में निज शुद्धात्मा का ध्यान करने से आत्मानुभव प्रकट होगा। ध्यान उत्तम संहनन वालों को भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय के लिये नहीं होता। ध्यान बीच—बीच में कुछ समय तक रहता है, परन्तु भावना अधिक समय तक रहती है। उस समय विचार करे कि मुझ से शरीरादि वस्तु भिन्न है। यह आत्मा जन्म जरा मरण से रहित ज्ञान स्वभावी और चैतन्य है। इसे पर की सहायता नहीं चाहिये। इसमें रागद्वेष नहीं है। यह बाह्य समस्त प्रपंच और क्रिया-काण्ड व्यवहार से रहित है। इस ध्यान-ध्येय का विकल्प नहीं है। यह परम तत्व अशुद्ध विषय भेद कल्पना से रहित निज ध्यान स्वरूप है। इस प्रकार स्वाश्रय पूर्वक अद्वैत भाव में तन्मय होने से ही कल्याण होगा। पर पदार्थ के आश्रय से जो विकार भाव की उत्पत्ति होती है उसे आत्मा का द्वैत भाव कहते हैं ज्ञान इस जीव का मूल स्वभाव है अतएव निरन्तर ज्ञान राज की आराधना - भावना करो। चिरकाल तक किसी पदार्थ की आराधना या भावना करने से एक दिन उसकी अवश्य प्राप्ति हो जाती है। निरन्तर ज्ञान की आराधना करने से अल्प श्रुत ज्ञान हट कर सकल प्रत्यक्ष केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जायगी। ज्ञान में मग्न होना ही प्रधान कार्य है। केवल ज्ञान आत्मा का निज स्वभाव है जो कि घातिया कर्मों के अभाव से ही उपलब्ध होता है और सदैव जैसा का तैसा रहता है। कभी भी पुनः कर्म - मल लिप्त नहीं होता। इसका ही नाम सम्यक् ज्ञान है।

जो जीव भले प्रकार शुद्धात्मा को पहिचान लेते हैं, वे, शुद्धात्म—स्वरूप को भी प्राप्त कर लेते

हैं। संसार के प्राणी अपनी अपनी अनादि कालीन भूल से अपने शरीर को आत्मा मान रहे हैं। शरीरोत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति तथा शरीर नाश होने में अपना नष्ट होना समझ रहे हैं। यह मिथ्यात्व घोर संकट का देने वाला है, परन्तु प्राणी उसी के सेवन में सुख मान रहे हैं। यह सर्वथा पूर्ण भूल है। नाशवन्त शरीर या अन्य पदार्थों के संयोग-वियोग में क्या हर्ष-विषाद? राग द्वेष मोह रूप परणति को न रोकना तथा उसे निज परणति समझना, यही तो अपनी शक्ति का खोना है। संसार के समस्त पदार्थ और इन्द्रिय विषय क्षण भंगुर हैं। एक मात्र वीतराग विज्ञान भाव आत्म-हित कारण है। इसी ही निराकुल, पूर्ण सुख की प्राप्ति होती है। अतएव इस अनादि कालीन भूल को दूर करो।

आत्मा द्रव्य स्वरूप से तो नित्य है, परन्तु पर्याय रूप से समय समय अपनी अवस्था बदलती, तथा शुभाशुभ भावों को करती भोगती है। अपने पद में तो यह ज्ञान-दर्शन—चैतन्यादि अनन्त शक्ति युक्त है, परन्तु अनादि कर्म मल से उसकी समस्त शक्तियां आच्छादित हो रही हैं। शक्तियों का विकास होना तो दूर रहा बल्कि मोह जाल में इतनी फंसी है कि उसे निज स्वाभिक स्वरूप का स्मरण तक नहीं होने पाता। किञ्चित् कर्मों के क्षयोपसम से जो कुछ थोड़ा—बहुत ज्ञान प्रकट होता है उसी को अपना पूर्ण स्वरूप समझ सन्तुष्ट हो जाता है। इन्हीं संसारी जीवों में से जो अपनी आत्म-निधि की सुधि पा खोज कर, भेद—विज्ञान पूर्वक ध्यानाग्नि प्रज्वलित कर समस्त कर्मों को भस्म कर देते हैं उनकी आत्मा निर्मल, स्वभाव रूप हो जाती है और वे परमात्म पद को प्राप्त कर लेते हैं। प्रथम चार घातिया कर्मों के क्षय होने पर जीवन्मुक्त अर्हन्त सकल परमात्मा कहलाते हैं। तदनन्तर जब शरीर से सम्बन्ध छूट जाता है तब सिद्ध या निकल परमात्मा हो जाते हैं। श्री

अरिहन्त परमात्मा दिव्य-ध्वनि द्वारा संसार के जीवों को उनकी आत्मा का स्वरूप तथा मोक्ष—मा बतलाते हैं, जिससे उन्हें अपने कल्याण का मार्ग सूझ जाता और अपने हित साधन में उनकी प्रवृत्ति होने लगती है।

छद्मस्थ अल्प ज्ञानी जीव आगम प्रमाण से जो आत्मा का श्रद्धान करते हैं वही निश्चय सम्यक्दर्शन है। जब तब व्यवहार नय के विषय भूत जीवादि भेद रूप तत्वों का केवल श्रद्धान रहता है तब तक निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता। इस लिए तत्वों की सन्तति छोड़ शुद्ध नय का विषय भूत एक आत्मा ही उपादेय है। जिस समय अनुभूति स्वरूप आत्मा का उदय होता है तब समस्त कर्म—बन्ध छूट जाते हैं। अतएव अनन्त अविनाशी चैतन्य, ज्ञान स्वरूपी आत्मा का अनुभव करो। ज्ञान की उत्पत्ति आप ही, आपको जानने, या गुरु के बतलाने अथवा काल—लब्धि आने पर होती है। उपदेश दाता के मिटने पर भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। जैसे सोया हुआ मनुष्य या तो आप ही जाग जाता है अथवा दूसरे द्वारा जगाये जाने पर जागता है। अज्ञानी जीव रागादि भावों सहित मन-वचन-काय की क्रिया किया करता है, अतएव निरन्तर कषायानुसार कर्म रज से लिपटता रहता है। जैसे शरीर पर तैल आदि सचिक्कण पदार्थ को लगाकर धूल पर स्थित होने से शरीर पर अवश्य धूल लिपट जाती है।

विद्यमान शरीर का निश्चय पूर्वक नाश होगा और आत्मा अन्य शरीर में निवास कर लेगी, क्योंकि वह अविनश्वर है। वहां उसे जन्मान्तरों के कर्मों के संस्कार के प्रभाव से सांसारिक सुख-दुख भोगना ही पड़ेंगे। अमूर्तिक विज्ञान मय आत्मा अनुभव का विषय है। यह संसार की बुद्धि, ज्ञान की परिधि के बाहर की वस्तु है। ज्ञान—स्वभावी आत्मा अमूल्य और अखण्ड वस्तु है।

आत्म-बोध

इसका अस्तित्व अङ्गीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। संसारी पर्याय—बुद्धि दूर कर विचारने से ज्ञान होता है कि चैतन्य स्वरूप आत्मा संसार के समस्त पुद्गल पदार्थों से भिन्न आनन्द घन आदि अनन्त गुण मय है। उसकी उपलब्धि के लिये सांसारिक मोह—जाल को परित्याग कर, गृहवास छोड़ दिगम्बर मुद्रा क्यों न धारण करूँ? और पंच महाव्रत रूप प्रशस्त—पद स्वीकार करूँ, जिससे कर्म—राशि चूर्ण होकर निर्वाण लाभ हो। संसार से उपेक्षा वृत्ति, और आत्म-विश्वास कर सम्यक्ज्ञान के उज्वल प्रकाश में अचिन्त्य तेजोमय आत्म—स्वरूप की उपलब्धि होती है। प्रत्येक मानव में यह अचिन्त्य शक्ति विद्यमान है और वह पूर्ण शुद्ध आत्म-तत्व को प्राप्त कर सकता है। सिर्फ परम पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

मिथ्यात्व और मोह की सेना राग-द्वेषादि तथा इन्द्रिय-विषय-सेवन की आसक्ति ही, आत्मोद्धार की मानव को आगे कदम नहीं बढ़ने देती। मोह के प्रभाव से मानव पागल सा बन शरीर में ही आत्मा बुद्धि किए है। उसके ह्रास—विकास में ही अपना ह्रास विकास समझ रहा है—यह अज्ञानता है। उन अविवेकियों की समस्त क्रियायें निःसार हैं और उनका मिथ्याज्ञान प्राण हीन है—उनकी आत्म—श्रद्धा हीन बुद्धि आत्म-कल्याण नहीं करा सकती। जैसे पंगु अन्ध और आलसी उद्दे जैं देव लोय। आत्म—तत्व की उपलब्धि देवेन्द्र, नरेन्द्र, महेन्द्र के वैभव से भी अधिक मूल्यवान है। इस आत्मोद्धार की विद्या को पाना भी अत्यन्त दुर्लभ है। योग विद्या को प्राप्त करने वाले योगिराज आत्म—प्रबोध को पा कर भव व्याधियों का उन्मूलन कर देते हैं - वीतराग-वाणी का परिशीलन और सन्त—समागम से सज्जनों की दृष्टि निर्मल हो जाती। जिसके सद्भाव से दुःखाग्नि में जलते हुए नारकी भी विलक्षण आत्मिक शान्ति पा अपने को कृतार्थ मानते हैं तथा इसके अभाव में

वैभव पूर्ण सुख सामग्री तथा वर्णनातीत लौकिक सुखों में निमग्न देव—राज भी उस शांति से वञ्चित रहते हैं। आत्मा अतीन्द्रिय है। इस लक्ष्य से इन्द्रियों का अवलम्बन छूट जाता है। यही इन्द्रिय विजय करना है।

मन को स्थिर कर अन्तरङ्ग में विचारे कि मैं समस्त पर—द्रव्यों से भिन्न, नित्य, असङ्ग, ज्ञायक, पूर्ण प्रकाश मय एवम् शुद्ध एक हूं। शरीरादि संकल्प—विकल्प मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसा निरन्तर अभ्यास करने से शुद्ध, शास्वत निज स्वरूप अपने ही अन्तरङ्ग में विराजमान, रत्नत्रय स्वरूप आत्मा प्रकट हो जाती है। अतएव पर्याय रूप हो रही विकृत आत्मा को स्वभाव रूप में बदलने का निरन्तर प्रयास करो। चौरासी लक्ष योनियों में नर पर्याय पाना अत्यन्त दुर्लभ है। बार—बार यह पर्याय नहीं मिलती है। जैसे समुद्र में गिरा चिन्ता-मणि रत्न पुनः पाना अत्यन्त दुर्लभ है। आत्म-कल्याण का कार्य मानव—पर्याय से ही होता है। व्वहार से निमित्त को उपकारी कहा है, परन्तु निश्चय नय से अपना उपादान कारण ही अपना उपकार करता है। हे भव्यो! तुम्हारी शक्ति तुम्हारे लिए स्वतन्त्र है। तुम्हारा स्वरूप त्रैकाल त्रैलोक्य में भी पराधीन नहीं है। जैसे—माता बालक को सुलाने के लिये मीठे—मीठे गीत या लोरियां गाती हैं अथवा क्षत्रियो में शौर्य जागृत करने के लिये रण—भेरी बजाई जाती है। उसी प्रकार आत्म—जागृति के लिये मैं परमात्मा हूं। मुझ में मुक्त होने की पूर्ण सामर्थ है। मैं उपाधि रहित शुद्ध ज्ञान चेतना रूप हूं। यह रागाधि विकारमेरा स्वरूप नहीं है, यह सब कर्म निमितिक हैं। इस भेद—विज्ञान से ज्ञान मात्र के आस्वादन को अनुभूति कहते हैं। यही शुद्ध नय का विषय है।

दूसरी विधि यह है कि अपनी आत्मा को शरीर—प्रमाण स्फटिक मणि की मूर्तिवत स्मरण कर

उसी के दर्शन में लवलीन हो चित्त को आत्म-सरोवर में डुबावे। विषयों से वैराग्य ले परिग्रह का लोंच कर; शान्ति, दया, क्षमा धारण करे। भिक्षा-भोजन करे। वन में एकान्त स्थान में निवास कर सदैव सप्त तत्वों का चिन्तवन करे। सदैव ब्रह्मचर्य-चर्या का आचरण कर, द्वादश तप, दश लक्षण धर्म और रत्नत्रय धर्म धारण करे। वीतराग भाव धारण कर परिषहों को भली प्रकार जीते। वीतराग जिनेन्द्र देव की अस्त्र-वस्त्र-शस्त्र-माला-मुकुट। अलंकारादि रहित, नग्न, निर्लेप, परम शान्त नासाग्र-दृष्टि, पद्मासन खड्गासन, निर्दोष, आत्मकल्याण का ध्यान कराने वाली मनोज्ञ बिम्ब में पूर्ण भक्ति करे। निरन्तर मन्द-परिणामी और भव्य-जीवों पर दयालु रहे। इन सब कारणों से भव-समुद्र-तट समीप आ जाता है। काल-लब्धि और गुरु कृपा से जब आप आपको जाने तब भवदधि से अवश्य पार हो जाओगे। ध्रुव सामर्थ्य के बल से वर्तमान विकारी अवस्था का क्रमशः नाश होकर अविकारी अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। जो वस्तु होती है वह स्वयं सिद्ध होती है। जैसे—कच्चे आम का स्पर्श कठोर, रस और गन्ध खट्टी तथा वर्ण हरा होता है। समय आने पर वही आम नरम, मीठा और पीला हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तन हो जाता है। ऐसे ही मिथ्या दृष्टि भी अपना भाव बदल कर, शुद्ध निर्मल परिणामी सम्यक्-दृष्टि हो जाता है। दुःख दूर होकर सुख हो जाता है। निन्द्यत्व अलग हो अतुल महिमाशाली बन जाता है। ऐसे ही चतुर्गति का मूर्तित्व बदल कर अमूर्तित्व रूप पंचम गति हो जाती है। सम्यक् दर्शन की ऐसी ही महिमा है।

जैसे कोई मनुष्य गम्भीर गङ्गा के प्रबल प्रवाह में बहने लगा। यद्यपि वह तैरना जानता है। तथापि प्रवाह की प्रबलता के कारण वह न निकल सका। कुछ दूर आगे प्रवाह की गति मन्द पड़ी। यदि इस समय वह चाहे तो सकुशल निकल सकता है, परन्तु यदि प्रमाद कर गया तो अवश्य

बहता हुआ समुद्र में गर्क हो जायगा। फिर उद्धार सर्वथा असम्भव है। इसी प्रकार मनुष्य-पर्याय पाकर गुरु—उपदेश, सम्यक्त्व की प्राप्ति, संयम-साधन-योग्य शरीर की स्थिति, पवित्र धर्म की दृढ़ता इत्यादि इन सब साधनों के होते हुये भी यदि पुरुषार्थ न किया जायगा, तो निःसन्देह अनन्त काल के लिये भव सागर में गर्क होना पड़ेगा। हे भव्यो! निरन्तर यही विचारो कि मैं चतुर्गति रूप अवस्थाओं से रहित, परमानन्द पूर्ण, चित्-पिण्ड, ज्ञाता—दृष्टा, निज स्वभाव परिणमन से उत्पन्न सुखामृत का पान करने वाला हूं। भव समुद्र पार कर मोक्ष रत्न तत्व द्वीप मे पहुंचने के लिये अपनी आत्मा ही समुद्र, आत्मा ही जहाज, आत्मा ही खेवटिया और यात्री तथा आत्मा ही रत्नद्वीप है। पारिणामिक भाव मयी समयसार ही जहाज, आवरण रहित शुद्ध परमानन्द स्वरूप आत्मा रत्नद्वीप, (मोक्ष) स्वयं वीर्य द्वारा निज लीन मय भावों को दृढ़ रखने वाली यह आत्मा खेवटिया और समय-समय विशुद्धता प्राप्त करने वाली आत्मा ही यात्री है जिसे पूर्ण, शुद्ध, स्वभाव रूप रत्नद्वीप मे पहुँचना है और वर्तमान अशुद्ध परिणामों मे तिष्ठने वाला आत्मा ही समुद्र है।

अनादि-काल से दो भिन्न स्वभावी चैतन्य (आत्मा) और शरीर एकमेक (एक क्षेत्रावगाही) रहने के कारण संसार मे उन्मत्त के समान कल्लोलें कर रहे हैं परन्तु जब भेद-विज्ञान का उदय हो जाता है तब जीव एकता का विच्छेद करने का प्रयत्न करता है। उस समय दोनों (जड़-चेतन) अलग-अलग हो जाते हैं। निर्विकार, ज्ञाता—दृष्टा, आनन्द स्वरूप, चैतन्य, आत्माराम समस्त जड़ परमाणुओं से पूर्णतः पृथक् दिखने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो जड़ स्तम्भ से एक दीप्तिमान पदार्थ अलग हुआ है। जैसे आचार्यवर श्री समन्त भद्र महाराज के वचन रूपी वज्र से शिव—मूर्ति फट कर उस में से श्री चन्द्र प्रभु जिनेन्द्र की मूर्ति का प्रादुर्भाव हुआ था। इसी प्रकार

यह आत्मा शुद्ध, पूर्ण शक्ति शाली, अनुपम, अविकारी, निजानन्द मय, चिदानन्द घन तथा शरीर चिन्ता से सर्वथा पृथक् है। वह अनादि अनन्त, अकृत्रिम, अपनी सत्ता का स्वामी और समता-रस पीयूष पान करने वाला है। इस संसार के जो प्राणी अनन्त चतुष्टय, दश धर्म तथा रत्नत्रय स्वरूप आत्मा की शरणजाकर उसकी भक्ति में लीन होते हैं वे ही निश्चय सुख का विलास प्राप्त करते हैं। उन्हें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक सृष्टि को देखते देखते ब्रह्मा, विष्णु महेश, जिनेश स्वरूप ब्रह्म की स्मृति हो जाती है। उनके हृदय में परम वीतराग भाव का उदय हो जाता है। वे समस्त पौद्गलिक भावों का तिरस्कार कर विचारते हैं कि मैं निज सत्ता का स्वामी, चिदानन्दघन और अनुपम गुण पूर्ण हूं। इस जगत के जीवों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। शिव सुन्दरी की प्राप्ति के हेतु सतत प्रयत्नशील रहना मेरा मुख्य कर्तव्य है। समस्त पर—पदार्थों से विरक्त सतत आनन्द मय आत्म-स्वरूप के सम्मुख होना मानों जगत से हट कर आकाश सदृश असंग आत्मा की अनन्त गुण रूप सृष्टि में प्रवेश करना है।

जिस प्रकार यह जगत अनादि, अनन्त और अकृत्रिम है उस प्रकार आत्मा रूपी सृष्टि भी अनादि, अनन्त और अकृत्रिम है। इस आत्म-सृष्टि के जीव दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सुख, चारित्र और दशलक्षण धर्म की शरण में लीन रहते हैं। जब यह आत्मा मोह कर्म के फंदे से दूर हो, आनन्द मयी, परम हितकारी अपनी अटल सम्पदा की शांति और सुखद भंडार में एकत्रित देखता है, तब अत्यन्त आनन्द में भरा हुआ नहीं समाता है। वह अपनी अनुभूति में मग्न हुआ अनुभव रस का सदा पान करता रहता है। जब आत्मा में समता भाव जाग्रत होता है तब न राग की लाली रहती और न द्वेष का नीलापन ही रहता है। अर्थात् वस्तु-स्वरूप अपनी अपनी अवस्था

को लिये स्फटिक मणि सदृश निर्मल, अन्तरङ्ग में झलक जाता है। यह अभेद्य, अछेद्य और मन वचन काय की गुप्त संयुक्त है। इसे बुद्धिमान जन शुद्धोपयोग या निर्विकल्प समाधि के नाम से पुकारते हैं। ऐसे भव्य जीवों के भावों में समदर्शित्व प्रकट हो जाता है और शुद्ध ज्ञान चेतना की अपेक्षा जीव मात्र में एकता प्रतीत होने लगती है। वस्तु का स्वभाव कभी नहीं बदलता। भले स्वर्ण के साथ कीट-कालिमा चिरकाल से मिली हो, तिल में तेल अदृश्य छिपा हो या तुष के भीतर तन्दुल ढका हो परन्तु जब द्रव्य दृष्टि से देखा जाता है तो सोना, सोना है, और मिट्टी मिट्टी ही है। तेल, तेल है और भूसी, भूसी ही है अथवा तन्दुल, तन्दुल है और तुष, तुष ही है। ऐसे ही जब मैं पुद्गलों से सम्बन्ध तोड़ तोड़ पृथक होऊँगा तब शुद्ध, ज्ञाता दृष्टा, परमानन्द मयी, परम कृत-कृत्य रूप ही अपने को देखूँगा। यही मेरा निज स्वभाव है। इस प्रकार परम शान्ति रस पूर्वक आत्मा जब अपने स्वभाव के अनुभव में तन्मय हो जाता है तब संसार का अभाव होता है निश्चयनय और व्यवहार नय का पक्षपात भी नहीं रहता। उसे तो नित्य यह आत्मा, आत्मा रूप में झलकता है।

जो जीव इस अतीन्द्रिय आनन्द मयी रस के स्वादी नहीं हैं। उनके अन्तरङ्ग में मोह की गहलता जम रही है, जिससे बेसुध हो भव-वन में भ्रमण करते हुए सदा त्रास पाते हैं। इसलिये मन—वचन—काय के अवलम्बन को परित्याग, अष्ट अविनाशी, रत्नत्रय और दश धर्म जिसमें सतत निवास करते हैं। जहां मुनि-श्रावक-धर्म तथा निश्चय से जो स्वरूपाचरण का स्थान है। उस आत्मा के अनुभव और वीतराग आनन्द मय स्वभाव से सदैव लीन रहो। उसी का ध्यान स्मरण करो। उसी में तन्मय हो निरन्तर उसकी सेवा करो। सदैव चिन्तवन करो कि चैतन्य स्वरूप

अनन्त गुणों का स्वामी हूँ। ज्ञान—दर्शन मेरा स्वभाव है। सदैव अनुभव-रस का पान करने वाला साधन से किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं है। बल्कि वहां तो अतीन्द्रिय आनन्द ही आनन्द है। उस आनन्दानुभव में किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है। वह पूर्ण स्वतन्त्र है। वहां तो साम्यभाव का ही दर्शाव है।

यह समता—भाव निराकुल और परम सुख का देने वाला है। मुझे जो लेना था, सो ले लिया और छोड़ना था सो छोड़ दिया। इस प्रकार समस्त विकारों को त्याग अपने स्वरूप में आरूढ़ होने से लोका लोक की समस्त सम्पदा ज्ञान में स्वयं प्रतिबिम्बित हो जाती है। आत्मा की अनन्त शक्ति का अनुभव आत्मा से ही होता है। जब यह आत्मा अपना उपयोग अपने में ही लगाता है, तब वह आत्मा स्वयं सम्यक् प्रकार अपने ही स्वभाव में झलकता है तथा अपने स्वभाव में आप ही विलास और तीन गुप्ति रूपी सुभग बालू (रेत) है। दया रूपी सहस्र-दल कमल खिल रहे हैं। वह गम्भीर क्षमा जैसा गहरा है। उस सरोवर में परीषह—जय की तरंगें उठ रही हैं। उसके जल में राग—द्वेष रूपी मल तथा कषाय रूपी झाग (फेन) नहीं है। मोह रूपी कर्दम का अभाव है। मरण रूपी भयङ्कर मगर—मच्छ उस सरोवर में नहीं हैं। अठारह दोष रहित, महर्षियों द्वारा वन्द्य है। उसमें आश्रव, संवर और निर्जरा रूपी जल झरने बहकर विलीन हो रहे हैं। उस परम पावन ह्रद में गणधर, मुनि, चक्रवर्ती, धरणेन्द्र और सुरेन्द्रादि भक्ति युक्त स्नान कर भव—भव के पाप मल को धो रहे हैं। ऐसा उत्तम तीर्थ अर्हंत ह्रद है।

हे भव्यो! ऐसे परम पवित्र तीर्थ स्वरूप अर्हत ह्रद में तुम भी स्नान कर भव—भव के पाप मैल धो डालो। अपने स्वरूप का निरीक्षण करो। तुम भी परमात्मा हो जाओगे। संसार तुम्हारा

पूजा करेगा। यह आत्मा ही बहिरात्मत्व को हटा अन्तरात्मा बन जाती है। खोजियों को वस्तु स्वरूप करता है। जिस प्रकार जल बिना मीन, पवन बिना जीवन और योग्य मन्त्री के बिना राज्य नहीं रह सकता उसी प्रकार उपयोग के बिना आत्मा आप में नहीं रम सकता।

इस जीव ने अनादि काल से पर वस्तु से प्रेम किया, जिस से नरक-निगोद, पशु, मानव और देव गति रूप भव भ्रमण किया। भूल से पर—वस्तु को प्रेम—पात्र समझा और उससे अनुराग किया। उसे अपना जाना-माना। जैसे कोई रस्सी को सर्प जान भयभीत होकर आगे वैसे ही चारों गतियों में भटकता हुआ व्यर्थ क्लेश और सन्ताप को सहता रहा। अपने आनन्द को अपने ही पास न जानकर उससे प्रेम नहीं किया। जिससे जन्म-मरण करना पड़ा। अब यह परमोत्तम शुभ अवसर प्राप्त हुआ। इस अवसर में निजात्म स्वरूप का निरीक्षण कर साक्षात चैतन्य स्वरूप आत्मा का अवश्य अवलोकन करो। बहुत इधर-उधर भटके परन्तु शान्त सुधारस सुख कभी भी कहीं न मिला। खोजते-खोजते आत्मा रूपी चन्द्रमा की सम्यग्दृष्टि 'कला' चमकती मिली है। उसके सहारे चारित्र रत्न का संयोग प्राप्त हुआ है। इस कला के प्रकाश में ज्ञान रूपी पर्वत की तलहटी में आत्मानुभव रूपी रमणीक सरोवर दृष्टि गोचर हो रहा है। उसका नाम अर्हत द्रह है। रुन्द-छन्द "अर्हन्महानदस्य त्रिभुवन भव्यजन तीर्थ यात्रिक दुरितं, प्रक्षालनैक कारण मति लौकिक कुहक तीर्थमुत्तम तीर्थम्" ॥ अर्थात यह अर्हत तीर्थ तीन भुवन में रहने वाले भव्यजन रूपी यात्रियों के पाप कर्म प्रक्षालन करने के लिये एक अद्वितीय कारण और उत्तम असाधारण तीर्थ है। इस तीर्थ के अमल व्रत और शील रूपी दो ढावा हैं। वह बड़ा विशाल है। उस में लोकालोक विलोकन करने वाला केवल ज्ञान रूपी निर्मल जल भरा हुआ है। उसमें गणधरादि ऋषी-राज रूपी राज-हंस पूजा तथा

ख्याति लाभ रहित स्वाध्याय रूपी मनोज्ञ शब्द—घोषणा कर रहे हैं। उस सरोवर में पंच समिति तीन गुप्ति हैं। दुखियों को सुखिया कर देती है। अनादिकाल से संसार के प्राणी मोह-जाल में उलझे आकुलित हो रहे हैं। जब पुरुषार्थ कर निश्चय स्वरूप के अकम्प ध्यान से अपने त्रिगुप्ति मय परम शान्त महल में शुद्ध दृष्टि से देखते हैं। तब उन्हें वहां क्षमा, मृदुत, शान्ति, निराकुलता, समता, शुचिता, चेतनता, वीतरागता, ऋजुता आदि महा मनोहर शुद्ध स्वरूप का दर्शन हो जाता है। फिर वे पुरुषार्थ को कभी नहीं छोड़ते। निरन्तर पुरुषार्थ करने से यह आत्मा अनन्त बल सम्पन्न हो ज्ञान रूपी धन का भंडार भर लेता है।

यह सम्यक्त्व रत्न से परिपूर्ण आत्मा कल्प-वृक्ष के समान है। इससे जो याचना करो वह देती है। चारित्र रत्न का अपूर्व तेज रखने वाली आत्मा, परमात्मा की जाति वाली होने से परमानन्दमय है। प्राणी अन्तरङ्ग में निश्चय नय के मनन से अपनी गुप्त शक्तियों का अनुभव करते हुये परम सुखी होते हैं तथा समस्त आकुलताओं से रहित हो शिव पद प्राप्त करते हैं। वह रत्नत्रय संयुक्त आत्मा एक परम सत्य ढाल है जो मोह के आक्रमण को दूर से ही उल्टा फेंक उसे व्यर्थ कर देती है। यही निश्चय पुरुषार्थ साधन है जो आत्मा को परमात्मा बना देता है। इससे क्षुधा, तृषादि समस्त रोग शान्त हो जाते हैं। कर्म समूह नष्ट होकर निर्विकल्प समाधि हो जाती है तथा सदैव निराकुल सुख प्रदान करता है। यह अनन्त बलशाली आत्मा चार निश्चय प्राणों अर्थात् सुख, सत्ता, चैतन्य और बोध को निरन्तराय सदैव अपने में रखता है। कभी भी इन प्राणों का वियोग नहीं होगा। सदैव शुद्ध जीवन-शक्ति व्यक्त रहती है। यही रत्नत्रय स्वरूप आत्मानुभव है। यही वह अमृत रस है जिसके पान करने से प्राणी का संसार में फिर आवागमन नहीं होता। रत्नत्रय की एकता रूप अवस्था के रस का रसिक हो जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, त्रिशल्य एवम् प्रमादि विकार स्थान नहीं पाते। आगम, युक्ति, गुरूपदेश और स्वसंवेदन ज्ञान से अपने को सबसे भिन्न अनुभव कर अपनी शक्ति की महिमा में लीन हो जाता है। इस समय जब परम पारिणामिक भावधारी निज स्वरूप को निर्मल दृष्टि से देखता है तब वचनातीत परमानन्द होता है। यही आत्मानुभव यथार्थ जीवन का परम मंगलमय फल है। इसके सेवन से ही निश्चय धर्म का मनन करने पर तृप्ति का लाभ होता है।

संसार के प्राणियों को अनादि कालीन मोह-मदिरा के पान करने से ऐसी गाढ़ निद्रा आई है कि जिससे उसके नशे में पड़े हुये उन्मत्त हो आपको (आत्मा) भूल रहे हैं। उन्हें यह आत्म गुरु जागृत कर कहता है, कि हे आत्मन्! तू किसी तीर्थ में मत जा। किसी गुरु की सेवा न कर। केवल एक निर्मल आत्मा का ही मनन कर। इसी से परमात्म-अवस्था की प्रकटता रूप प्रगति में अग्रेसर हो जायगा। जैसे उदासीन ब्रह्मचारी आत्मा जब अपनी निधि को पा लेता है, तब उनसे आप ही स्वरूप आप जाता है। उसे ज्ञात हो जाता है कि मैं ज्ञाता-द्रष्टा परमानन्दमयी हूं। मुझमें अनन्त गुण एक-एक प्रदेश में व्यापक हैं। मुझसे ये गुण कभी दूर न होंगे; इसलिये मैं नित्य हूं। अपने गुण-पर्याय के साथ एकमेक होने के कारण अभेद हूं। प्रत्येक गुण सर्वाङ्ग से अलग-अलग व्याप्त होने से भेदरूप हूं। अपने प्रदेशों में स्थिर रहने के कारण अपने प्रदेशों से व्यापक तथा अन्य द्रव्यों से व्यापक हूं। ज्ञान ज्योति में समस्त पदार्थों के झलकने के कारण मैं सर्व व्यापक हूं। इतना शक्ति सम्पन्न होते हुये जब वर्तमान दशा पर दृष्टिपात करते हैं, तो बड़ी ही लज्जा आती है।

अपने स्वरूप से भिन्न वस्तुओं को अपना मानने से ही राग-द्वेष मोह की परणति हो रही है। यही मान्यतायें आत्मा को मलिन कर रही हैं। इस मलिनता को दूर करने के लिये प्राणी श्री गुरु

आध्यात्म प्रेमी सन्त पुरुष के पास पहुँच वीतराग—निर्भ्रान्तता के उपदेश से अपनी आत्मा की निर्लेप करते हैं। यद्यपि व्यवहार से यह सन्त समागम है, परन्तु निश्चय से तो वहां केवल आत्म—ज्ञान के प्रवाहों का ही जमघट या मिलाप है, क्योंकि समस्त जीवों के मन—वचन—काय की ऐसी ही परणतियाँ हैं। आत्मा, गुरु के पास रह अपनी शक्ति का अनुभव करता हुआ, निश्चय आत्म—धर्म के मनन से परम सुखी हो जाता है।

आत्मा एक परम उत्कृष्ट वस्तु है वह आकाश के प्रदेशों को घेरे हुये है। जो आकाश को न घेरे वह कोई वस्तु संज्ञा ही नहीं। जो जहां सदैव रहता है वही उसका स्वदेश कहलाता है, अतएव आप का आत्मा ही स्वदेश है। अनेक गुणों का समुदाय ही वस्तु है। ये सब गुण उस वस्तु के प्रत्येक प्रदेश में व्यापक हैं। उन सब गुणों का स्वदेश वह समुदाय वस्तु है। उस वस्तु के अतिरिक्त अन्य आत्मा या अन्य पदार्थ उस लास आत्मा का परदेश है। स्वदेश में रहने से किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं होती अपितु अत्यन्त आनन्द होता है। इसलिये आनन्द दायक वस्तु से प्रेम करना स्वाभाविक ही है। अर्थात् अपने उपयोग को 'पर' से हटा, अपनी शक्ति प्रकट कर स्व स्वरूप में उत्साह पूर्वक जोड़ देना स्वदेश—प्रेम है। स्वदेशोन्नति के बिना निम्नता में निवास करना अत्यन्त लज्जास्पद है। अतएव - भक्त हो, उसी में प्रेम कर परमानन्द प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

संसार के आत्म—ज्ञान शून्य प्राणी राग—द्वेष मोह के उदय से चतुर्गति स्वरूप संसार में परिभ्रमण करते हुये आकुलित हो रहे हैं तथा मोक्ष—मार्ग को भूले हुए हैं। नेत्र—हीन मानव की तरह अन्धकार पूर्ण भयानक बन मे इधर-उधर भटकते ठोकरें खाते फिरते हैं। उस बन से निकलने का मार्ग नहीं पाते। यदि कोई ज्योतिवान मिल जाय तो वह उन्हें मार्ग पर लगा देवे, जिससे वे

अथानक बन से सकुशल बाहर निकल जायें । ऐसे ही जब इन जीवों को किसी भेद-विज्ञानी योगी का समागम मिल जाय, तो अवश्य वीतराग मयी स्थान में पहुँच जायें और केवलज्ञान प्राप्त कर लोक–शिखर के अधिवासी हो जायें । परोपकारी आत्म–गुरु की यथार्थ सेवा मनन, यजन, निरीक्षण, तल्लीनता और अनुभव, मात्र अनुभव गम्य है । आत्म—गुरु सेवा ही सम्यक्‌दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र है । यही सम्यक् मय, ध्यान—धारणा और श्रेष्ठ परम समाधि है । जो जीव मोक्ष के उपाय में निःशल्य हो संलग्न होते हैं, वे अवश्य स्वात्म—विभूति के स्वामी हो जाते हैं तथा अनन्त काल पर्यन्त निराकुल सुख में निमग्न रहते हैं ।

इस प्रकार संसार को अच्छी तरह समझ उसका असली स्वरूप विचारो तो ज्ञान होगा कि संसार षट् द्रव्यों का ही प्रपंच है । यह अपने स्वभाव के लिये अनादि निधन है । उन छहों द्रव्यों में एक आत्म-द्रव्य ही मेरे समान है । किसी आत्मा के प्रदेश अन्य आत्माओं से नहीं मिलते अतएव अवान्तर सत्ता की अपेक्षा से अनेकता है, तथापि शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से समस्त आत्माओं के गुणों का स्वभाव एक सा है । सब सामान्य और विशेष गुण संयुक्त हैं । सब सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप हैं उनमें किसी प्रकार के रागद्वेष और कषायों का अंश नहीं है । जब वह आत्मा अपने स्वभाव में लीन होता है, तब जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों के सम्बन्ध से चन्द्रकान्त–पाषाण से जल–धारा बहने लगती है, उसी तरह अन्तरङ्ग से आत्मानन्द की अमृत-धारा बहने लगती है । यही साक्षात् मोक्षमार्ग है और यही कालान्तर में मोक्ष स्वरूप हो जाती है ।

जिन जीवों ने अपनी दृष्टि—पर्याय—बुद्धि से हटा द्रव्य पर डाली है, उन्हें सदा सामान्य की अपेक्षा सब चेतन - अचेतन पदार्थों में एकता ही दृष्टि गोचर हुई है, क्योंकि सत्ता गुण सब

में व्यापक है। जीव में अनन्त गुण हैं, परन्तु लक्षणात्मक गुण ज्ञान—दर्शन और सामान्य गुण अमूर्तत्वादि हैं। इस प्रकार जीव अनन्त गुणों का समूह या पिण्ड है। जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव उष्ण है, उसी प्रकार जीव का ज्ञान-दर्शन स्वभाव है। इसलिये आत्मा ज्ञान-दर्शन से और ज्ञान-दर्शन आत्मा से भिन्न नहीं हैं अर्थात् आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वरूप है। यह ज्ञान दर्शन जीव का परिणाम है। यद्यपि जीवों के अनन्त भेद हैं तथापि अपनी अपनी सत्ता से सब स्वतन्त्र हैं। सब अपनी—अपनी गुण—पर्याय सहित हैं। अनादि काल से कर्म और आत्मा का बीज—वृक्ष की तरह सम्बन्ध चला आ रहा है। कर्मों के उदय फल से जीवों का जन्म-मरण होता है, तथा कर्मोदय के फल से कर्म बन्ध होता है। इसी से ही इन्द्रिय, शरीर, आयु, श्वासोच्छ्वास, क्रोध, मान, माया, लोभ, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, स्वर्ग—नरक, कुगति-सुगति, पुत्र, धन—सम्पत्ति इत्यादि सम्पूर्ण रचना होती है। कर्म के उदय से ही श्रीमान, पण्डित मुनीश्वर, बुद्धिमान, लोकपूज्य, कीर्तिवान, इन्द्र, चन्द्र, महेन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र, नागेन्द्र, तीर्थङ्कर, बलभद्र, नारायण, चक्रवर्त्यादि होते हैं। यह सब कर्मों का ही फल है। इस आत्मा के कर्म—बन्धन के कारण ही चतुर्गति में नाना प्रकार के दुःख भोगना पड़ते हैं। प्राणी दुःख दूर करने का निरन्तर उपाय करते हैं, परन्तु सच्चे उपाय के बिना दुःख दूर नहीं होता और दुःख सहा भी नहीं जाता, जिससे अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं।

जीवों के समस्त दुःखों का मूल कारण कर्म-बन्धन है और कर्म-बन्धन का अभाव ही मोक्ष है। अतएव कर्म-बन्धन का अभाव करना ही परम कल्याणकारी उपाय है। जिस आत्माका भला होता उसके मन में सदैव यही उत्तम विचार उत्पन्न होते हैं, कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है?

मैं कहां से आकर उत्पन्न हुआ? और मर कर कहाँ उत्पन्न होऊँगा? यहां चारित्र कैसे बन रहा है? मेरे निश दिन जो ऐसे भाव उत्पन्न हो रहे हैं, उनका भविष्य में क्या फल होगा? यहां जो मैं दुखी हो रहा हूं उसके दूर करने का उद्यम करूं, जिससे मेरा हित हो? मेरी निराकार आत्मा कथन, चिन्तवन, मनन और आंखों द्वारा देखने से पृथक है। मात्र अनुभव गम्य ही है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ या रूपातीत ध्यान भी ज्ञान–दर्शन गुण भरा हुआ है। वही मेरी आत्मा का स्वरूप है। उसे मैं आत्म-ध्यान द्वारा प्रकट करूँ।

स्वसंवेदन ज्ञान से शुद्ध, आनन्दमय, उपादेय स्वरूप स्वात्मा को मन—वचन—काय से भिन्न अनुभव करना निश्चय सम्यक् ज्ञान है। आत्मा द्रव्य, भाव और नो कर्म से रहित आनन्द स्वरूप है। मुमुक्षुओं को यही उपादेय है। इस प्रकार की दृढ श्रद्धा निश्चय सम्यक्दर्शन है। समस्त तृष्णा-वाञ्छाओं से रहित हो शुद्ध आनन्द स्वरूप अनुभूति और स्वात्मा मे अन्तःकरण से तन्मय होकर स्वात्मा में स्वात्मा की स्थिरता पाना परमार्थिक–चर्या या निश्चय-चारित्र कहलाता है। संक्षेप में ऐसा भी कह सकते हैं कि अपनी आत्मा का निश्चय होना, सम्यक्—दर्शन, अपनी आत्मा को जानना, सम्यक्ज्ञान और अपनी आत्मा में स्थिर हो जाना सम्यक् चारित्र है। ये तीनों आत्म स्वरूप हैं। इनसे बन्ध नहीं हो सकता। इसलिए हे भव्यो! व्यवहार रत्नत्रय को गौण कर अपनी आत्मा को निश्चय रत्नत्रय स्वरूप, परमोत्कृष्ट और अत्यन्त शुद्ध समझ अपनी आत्मा का अनुभव करो, तभी कल्याण होगा।

जो प्राणी शुद्ध ज्ञान की भावना सहित हो, समस्त पुद्गलादि पर द्रव्यों की आकांक्षा को दूर कर स्वात्मा में देदीप्यमान आत्मा को निर्विघ्न तल्लीन करेगा [illegible] द्वन्द्व की आकाँक्षा छोड़ केवल

स्वात्मा में लीन होगा तो मोक्ष का साक्षात् कारण है तप आत्मा में स्फुरायमान हो जायगा। ऐसा सम्यक् तप आराधना का स्वरूप है। जो पुरुष अपना उपयोग आराधना में लगाकर समय व्यतीत करता है वह अधिक से अधिक तीन भवों में अवश्य मुक्त हो जाता है। निर्विकल्प योगी का शुद्ध चिदानन्द मय स्वात्मा में विधि पूर्वक आत्मा का स्थापन करना निश्चय नय से सन्यास कहलाता है। समाधि रूप चूड़ामणि रत्न को धारण करने वाले अन्तरङ्ग और बाह्य परिग्रह से रहित जीव निर्विकल्प समाधि मे निमग्न हो परमानन्दामृत का पान करते हैं। वहां ध्याता और ध्येय का भी कोई विकल्प नहीं है। हे आराधक! महाव्रतों का पालन कर क्रोधादि कषायों का निग्रह करके विपरीत श्रद्धान रूप मिथ्यात्व मल को हटा अध्यात्म तत्व ज्ञान में तल्लीन हो जा और उसी का अवलोकन कर।

यह आत्मा सदैव अपने में ही अभिलाषा करता, अभीष्ट पदार्थों को जानता तथा अपने हित में सदैव तत्पर रहता है। जिन्होंने निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिङ्ग धारण किया है औत्सर्गिक श्रमण कहलाते हैं। जो योगी निश्चय सम्यक् रत्नत्रय के अभ्यास से अन्तिम समय में होने वाले समुच्छिन्न क्रिया प्रति पाति नामक शुक्ल ध्यान मे आरूढ हो बाह्याभ्यन्तर तप द्वारा कषाय और शरीर को कृष कर शरीर त्यागते हैं वे परम मुक्त हो जाते हैं। यह कथन श्रेणी उत्कृष्ट आराधना करने वालों की अपेक्षा मध्यम आराधना में अनागार मुनि रत्नत्रय के अभ्यास में लीन, संवर सहित निर्जरा करता हुआ प्राणों को छोड़ इन्द्रादि—पद के अभ्युदय से सुशोभित होता है। (शेष व्याख्या पहिले के समान ही है) वर्तमान काल के जघन्य आराधक ऊपर लिखे लक्षणों सहित हो, पंच नमस्कार का चिंतवन या उच्चारण करते हुये प्राणों को छोड़ते हैं; वे आठ भवों के मध्य में मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार आचार्यों ने उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार की समाधि कही है। बहुत से ऐसे आराधक

होते हैं जो काल-लब्धि पा, अष्ट कर्म-शृंखला को तोड़ केवल ज्ञान प्रगट कर उसी भव से मोक्ष चले जाते हैं। वे ही उत्कृष्ट साधक हैं। कितनेक मानव चार प्रकार की आराधना को धार लव आराधन कर बचे हुये पुण्य से सर्वार्थ सिद्धि विमान में निवास कर दो भव में मुक्त हो जाते हैं। जो जघन्य रीति से चार प्रकार की आराधना का आराधन करते हैं, वे सात-आठ भव में मोक्ष पा लेते हैं। जो तेजोलेश्या सहित आराधनाओं का चिन्तवन करते हैं और यदि चरम शरीरी हैं तो ध्यान के उत्तम अभ्यास से मोह-कर्म को नष्ट कर उसी भव में मुक्त हो जाते हैं, परन्तु यदि चरम शरीरी नहीं हैं तथा निरन्तर ध्यान का अभ्यास करते हैं उनके अशुभ कर्मों की निर्जरा होती रहती तथा प्रत्येक क्षण ऐसे पुरुष-रत्नों का आस्रव होता रहता है जिससे सौधर्मादि स्वर्ग में कल्प वासी देव-पद पाते हैं। वहां अनेक देव-देवी उनकी सेवा करते हैं। वहां दीर्घ-काल पर्यन्त इन्द्रिय और मन को प्रसन्न करने वाले सुख भोगते हैं। फिर आयु पूर्णकर उच्च गोत्र में मानव जन्म धारण करते हैं। अन्त समय में समस्त सम्पदा को त्याग दिगम्बर मुनि हो चार प्रकार की आराधना को आराध चार प्रकार के शुक्ल ध्यानों का चिन्तवन कर समस्त कर्मों का क्षय कर अक्षय मोक्ष-पद पाते हैं।

व्यवहारी छद्मस्थ अल्प ज्ञानी जीवों का आश्रय ले प्रयास कर चैतन्य चमत्कार मात्र, पर द्रव्यों से रहित, परम पदार्थ आत्मा का अपने अन्तरङ्ग में अवलोकन करना या उसका श्रद्धान करना तथा उस स्वरूप में लीन होना निश्चय सम्यक् दर्शन है। जब तक व्यवहार नय के विषय भूत जीवादि भेद रूप तत्वों का केवल श्रद्धान मात्र रहता है, तब तक निश्चय सम्यक् दर्शन नहीं हो सकता; अतएव तत्वों की सन्तति को छोड़ शुद्ध नय का विषय भूत केवल यह एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो। यह आत्मा समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्न है। द्रव्य—दृष्टि से यह किसी से

उत्पन्न नहीं हुआ। वह एक ज्ञायक भाव और ज्ञान स्वरूप है। उसी का भली प्रकार आचरण करना चाहिये। इसी कारण निर्मल, स्वच्छन्द स्वाधीन प्रवृत्ति रूप मुनि अत्यन्त प्रकाशवान ज्योति से अज्ञानान्धकार को दूर कर शुभाशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं। तुम भी समस्त 'पर' द्रव्यों से पराङ्मुख हो सम्यक् प्रकार एक निश्चय आत्मा का ही श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करो, जिस तरह हो सके शुद्ध, ज्ञान, दर्शन, आनन्द घन स्वरूप अपनी आत्मा में स्थिरता धारण करो। हे आत्मन्! तुम्हारा निज स्वरूप में स्थिर न होना बड़ा आश्चर्य कारक है। समस्त पर द्रव्यों से पराङ्मुख हो अपने स्वरूप में क्यों नहीं ठहरते?

निश्चय—नय से यह आत्मा आत्माश्रित ही है। इसी के द्वारा कर्मों से छूटते हैं। जो एकान्त और व्यवहार-नय के आश्रित प्रवर्त रहे हैं। वे कर्मों से कभी नहीं छूटते। अभव्य जीव यदि व्रत, समिति और गुप्ति रूप तेरह प्रकार चारित्र पाले तो भी निश्चय सम्यक् श्रद्धान और ज्ञान के बिना उसका चारित्र सम्यक् चारित्र नहीं कहलाता; अतएव वह अज्ञानी और मिथ्या—दृष्टि ही है। यद्यपि वह ग्यारह अङ्ग तक का पाठी हो जाता है तथापि उसका सब पढ़ना गुणकारी नहीं है— उसका धर्म-साधन तो संसार—भोग का ही कारण है। उसके हृदय में सत्यार्थ धर्म की श्रद्धा नहीं है। उसमें भेद—विज्ञान की योग्यता नहीं है। उसकी प्रतीति और रुचि अभूतार्थ ध" मे ही रहती है जिसके फल स्वरूप यद्यपि वह ग्रैवेयक तक की सुख भोग पूर्ण यात्रा कर आता है। तथापि एक सत्यार्थ धर्म के श्रद्धान के अभाव से वह कर्मों से नहीं छूटता। उसके हृदय से पुण्य रूप कर्म में ही श्रद्धा जमी रहती है। इसी से नवग्रैवेयक तक के सुख भोग कर संसार में पंच परिवर्तन करता रहता है।

अज्ञानी आत्मा संसार—चक्र में भ्रमण करता हुआ अहंकार से भरा हिंसा, असत्य, चोरी अब्रह्म और परिग्रह इन पंच पापों को मन—वचन—काय के योगों से सदैव करता रहता है। निश्चय—नय से दूसरे जीवों के प्राणों का वियोग या नुकसान दूसरों के द्वारा नहीं किया जा सकता वह तो उस जीव के कर्मों के उदय की विचित्रता से कदाचित ही होता है और नहीं भी होता। "मैं जीवों को मारता हूँ या सताता हूँ"। उसका यह अज्ञान मय अहंकार उसी के विशुद्ध चैतन्य प्राणों का घातक है। यही अहंकार—ममकार बन्ध का कारण हो भवान्तर में संग चला जाता है और वहाँ दुख पहुंचाता है। इसके विपरीत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह एक देश अथवा सर्व देश पुण्य-बन्ध कराते हैं। अपना अभिप्राय मात्र पुण्य या पाप-बन्ध का कारण है। अज्ञानता के कारण यह आत्मा अपने को भूला हुआ है। इस चतुर्गति रूप संसार में जितनी अवस्थायें और पदार्थ हैं, उन सबके स्वरूप अपने को मानता है। अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं पहिचानता। यह अध्यवसान अज्ञान रूप है। आत्मा समस्त पर द्रव्यों से भिन्न है तो भी मोह के प्रभाव से अपने को देव, मानव, नारकी, तिर्यन्च सुखी—दुखी, रंक—राव, बाल—वृद्ध स्वरूप समझ रहा है। ये अज्ञान अदर्शन और अचारित्र स्वयं अज्ञान रूप और शुभाशुभ कर्म-बन्ध के निमित्त हैं। तात्पर्य यह कि सभी अध्यवसान कर्म-बन्ध निमित्त हैं। जिनके ये अध्यवसान नहीं हैं वे ही मुनियों में प्रधान हैं। ऐसी विरली ही आत्मायें हैं।

समस्त अध्यवसान रहित मुनिवर निजात्मा की समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न, ज्ञायक भाव स्वरूप, ज्ञान—मात्र सत्ता रूप, द्रव्य-दृष्टि से किसी से उत्पन्न हुआ निरीक्षण करते और उसी का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करते हैं। उन निर्मल, स्वच्छन्द, स्वाधीन प्रवृत्ति के अन्तरङ्ग रूप मुनियों

में प्रकाशमान ज्योति जगी हुई है जिससे उनका अज्ञानान्धकार दूर होकर केवलज्ञान का प्रकाश फैल जाता है। ज्ञानी जन वस्तु का जैसा स्वभाव है वैसा ही जानते हैं। इसलिये वे राग द्वेष मोहादि विकारों से नहीं परिणमते और दूसरों द्वारा भी नहीं परिणमाए जा सकते हैं। ऐसा नियम है कि टंकोत्कीर्ण ज्ञायक भाव स्वरूप ज्ञानी, राग-द्वेष मोहादि भावों का अकर्त्ता ही है। जब यह आत्मा ज्ञानी हुआ तब वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना कि आत्मा शुद्ध है। यद्यपि द्रव्य—दृष्टि से अपरिणमन स्वरूप है तथापि पर्याय-दृष्टि से पर द्रव्य के निमित्त से राग-द्वेषादि रूप परिणमता है। ज्ञानी होने पर उन भावों का कर्त्ता—भोक्ता न हो केवल उदय में आए हुए कर्म फलों का ज्ञाता-दृष्टा रहता है।

अज्ञानी जीव अनादि काल से आज तक अपने शुद्ध स्वभाव से छूटा हुआ है और राग द्वेष भावों को करता हुआ कर्मों से बन्धता जाता है। यहां भव्य और अभव्य का अनुभव की अपेक्षा निर्णय है। आगम से मिलान करे तो अभव्यत्व केवली गम्य है। व्यवहार वचन से शब्द-श्रुत आचारांग आदि शास्त्रों का ज्ञान है परन्तु वस्तु का स्वभाव यथार्थ नहीं जानता। औदयिक भाव को अपना समझ कर परिणमता है और उन भावों को करता हुआ बार-बार कर्म-बन्ध करता है। दही बिलोते समय मथानी की रस्सी के समान खुलता—लिपटता रहता है। निवृत्ति रूप कभी नहीं होता है। जब यह आत्मा पर द्रव्य और अपने भावों का निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध समझ लेता है, तब समस्त पर द्रव्यों को त्याग देता है जिससे रागादि रूप भावों की सन्तति टूट जाती है। उस समय पवित्र आत्मा अपना ही अनुभव करता है। फिर धीरे-धीरे कर्म बन्धन को काट आप में ही प्रकाशमान रूप प्रकट हो जाता है। हे भव्यो! यदि तुम अपना हित चाहते हो तो तुम भी उन्हीं के समान कार्य करो जिन्होंने समस्त कर्म-बन्धनों को उन्मूलन कर डाला है।

यह आत्मा समस्त पर-द्रव्यों की परिपाटी को उल्लंघ कर युगपत् एक समय में अपने बल को प्रकट कर स्वसंवेदन ज्ञान युक्त अपनी आत्मा में स्थिर हो परमात्मा हो जाता है। केवल ज्ञान होने पर रागादि भाव नष्ट हो जाते और उनके नष्ट होने से बन्ध का कार्य नहीं होता फिर आत्मा को ढाकने वाला कोई आवरण नहीं रहता, अतएव अनन्त काल पर्यन्त धारावाही प्रभा प्रकाशवान रहती है। यही स्वानुभव का प्रभाव है। निर्विकार चैतन्य आत्मा का स्वभाव और विकारी बन्धों का स्वभाव दोनो को विशेष रूप से जानने वाले ही कर्मों से छूटकर मोक्ष पाते हैं। बन्दी खाने में बन्धे हुये मनुष्य के बन्ध काटना ही छूटना या मुक्त होना है। अज्ञानियों को आत्मा और बन्ध दोनों में परस्पर भेद नहीं दिखता। अनादि काल से एक पन कायम हो रहा है। यह आत्म तो अमूर्तिक है और बन्ध सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का स्कन्ध है, अतएव छद्मस्थ अवस्था में वे सहज से नहीं आते हैं। अनादि-अज्ञान से एक स्कन्ध ही दिखता है। ज्ञानी अपनी परम पैनी बुद्धि रूपी छैनी से दोनों (आत्मा और पुद्गल) को पृथक-पृथक कर देता है। ज्ञानी का यह स्वभाव ही है।

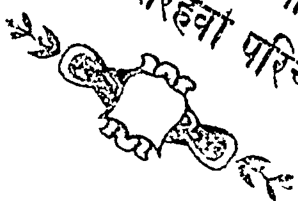
यह चेतन मात्र आत्मा का लक्षण है और राग-द्वेष मोहादि बन्ध के लक्षण हैं। ये दोनों ज्ञेय-ज्ञायक भाव की अत्यन्त निकटता से एक से दिखाई देते हैं। ज्ञानी इन दोनों की सूक्ष्म संधि को देख निष्प्रमाद हो बड़ी सावधानी से उस पर शुद्धबुद्धि रूपी तीक्षण छैनी रख ज्ञान रूपी घन की चोट लगाता है, जिससे आत्मा आत्मा और पुद्गल द्रव्य अलग अलग हो जाते हैं। वह ज्ञानी इन दोनों को स्पष्ट रूप से पृथक-पृथक अनुभव करने लगता है, चैतन्य भाव मात्र अनुभव कर ज्ञान ही में लीन रहना सिद्ध करना है। ऐसा करने से ही त्रिविध कर्म मल अर्थात् द्रव्य कर्म भाव-कर्म और नो कर्म दूर हो जाते और सिद्ध-पद प्राप्त हो जाता है। चैतन्य और ज्ञान स्वभावी आत्मा का महान आदर

करने से यह आत्मा समस्त कर्मों को नाश कर जन्म—जरा—मरण रहित हो परमात्मा हो जाती है। प्रत्येक आत्मा अपने शुद्ध आत्मीय पुरुषार्थ से परमात्म-पद प्राप्त कर सकती है।

जो पवित्रात्मा आपकी अनुभूति में निमग्न हो मुक्ति-वधू को व्याहना चाहे उसे अर्हंत-ह्रद में स्नान करने के लिये प्रथम परम सुगंधित भेद—विज्ञान रूपी उबटन लगा अभेद रत्नत्रय रूपी आत्म—रत्नाकर के निर्मल; सुधा सम मिष्ठ जल में खूब एकाग्रता से मल मल कर स्नान करना चाहिये। तदनन्तर स्व वीर्य रूपी गाढ़े निर्मल वस्त्र से अपना समस्त अङ्ग प्रक्षालन करे। फिर शुक्ल ध्यान रूपी निर्मल धोती पहिन वैराग्य रूपी चन्दन का तिलक शरीर रूपी दर्पण ले मस्तक पर लगावे। अपने अंग को चौरासी लक्ष गुण रूपी अमूल्य आभूषणों से सुसज्जित कर रत्नत्रय की एकाग्रता रूप देदीप्यमान मनोहर मुकुट सिर पर धारण करे। अपने कानों में समता—शान्ति रूपी कांतियुक्त कुण्डल पहिन, कंठ में उत्तम क्षमादि दश लक्षण रूप मनोहर मोतियों की माला धारण करे। दोनों सुदृढ़ भुज-दण्डों में स्वदया और पर दया रूपी बाजूबन्द पहिन भाव संवर और भाव निर्जरा रूपी रत्न-जड़ित कड़े पहिने। संयम रूपी कटि मेखला या करधनी कमर में धारण कर वीतराग चारित्र रूपी जामा में स्वसंवेदन रूप नाड़ा डाल अङ्ग पर धारण करे। स्वात्मानुभव रूपी स्वप्रेम में अनुरक्त हो कमर में चारित्र रूपी फेंटा कसे। शुद्धोपयोग रूपी ढाल और निजानन्द रूपी कटार हाथ में ले मनोवेग रूपी तुरङ्ग पर आरूढ़ हो स्वभाव रूपी लगाम अपने हाथ में रक्खे। सकल संयम और रत्नत्रय रूपी बरात सजा आनन्द रूपी वादित्रों के साथ स्फटिक मणि के समान आत्मा को अन्तरङ्ग में झलकाता केवल ज्ञान रूपी प्रकाश में अपने चौदहवें गुण—स्थान रूपी भवन से निकल शांत शुद्ध परिणाम रूपी मुक्ति-वधु महल में एक समय में ही पहुंच जावेगा ? उस समय आत्माराम रूपी

वर का अद्भुत शृङ्गार-बनावट देख मुक्ति-वधू उस पर मोहित हो उसे वर लेगी। वह सदा के लिये परमानन्दानुभव में मग्न हो लोक शिखर के अग्रभाग में स्थिर हो जायगा।

यही अष्ट कर्म रहित, अष्ट गुण मण्डित, निरंजन, निर्विकार, अखण्ड, अनुपत, प्रति पत्ती में रहित स्वभाविक सुख उस दिव्य आत्मा ने प्राप्त कर लिया है। यहं आत्मा चरम से किंचित न्यून रहती हैं; वह तरकस से निकले हुये बाण के समान निःसंग है। वह नित्य अविनाशी शुद्ध और सकल ज्ञेय ज्ञायक है। वही ज्ञायकाकार आत्मा सिद्ध महाराज हैं। ऐसी ही हम सब की आत्मा है। परन्तु उन्होंने समस्त कर्म क्षय कर दिये और पूर्ण शुद्ध हो अशरीर हो सिद्ध महाराज हो गये हैं और हम अष्ट—कर्म मल से लिप्त हुये संसार में नाना प्रकार के कष्ट भोग रहे हैं। शरीर और सम्पदा के ममत्वों मे दिन रात फंसे रहते हैं। यदि हम चाहे तो स्वानुभव द्वारा पुरुषार्थ कर कर्मों का क्षय कर सिद्ध भगवान हो सकते हैं क्योंकि उनकी और हमारी आत्मा एक ही जाति की है। हम भी पुरुषार्थ कर सिद्ध—पद प्राप्त करेंगे। इस प्रकार से ही तेरहवा परिच्छेद समाप्त हुआ।



चौदहवाँ परिच्छेद

❀ मङ्गलाचरण ❀

दोहा—सत्य सुधारस ज्ञानमय, जिनवर निज गुण लीन।
बार बार वन्दन करों, देवशास्त्र गुरु तीन॥

जो कि इस आत्मा के कर्म—फन्द अनादि सम्बन्ध होने से यह आत्मा विकार वान मालूम पड़ता है, लेकिन आत्म—स्वभाव में विकार नहीं है। यह आत्मा-ज्ञाता-द्रष्टा नित्य अविनाशी टंकोत्कीर्ण शुद्ध स्वभाव वाला है और अपने संचित कर्मोपाधि से विभाव रूप दीखता है, उस विभाव परिणति से अपने निज स्वरूप को भुला कर मोही पागल रूप होगया है, परन्तु जिस समय अपने स्वरूप का विचार करे, तब मालूम पड़े, कि मैं आत्माराम—विज्ञानघन परमात्मा हूं। शुद्ध परमब्रह्म स्वरूपी हरि शङ्कर हूं, मैं अनन्त गुणों की अपेक्षा से अनन्त नाम वाला हूं तथापि ममता रूपी महाराणी के संग से कर्म—बन्ध के सम्बन्ध से भ्रमण शील होकर अपने आत्म—गुणों का घात कर रहा हूं मेरी भूल से पर वस्तु में ममकार, अहंकार का प्रयोग कर आत्मीक सत्ता का अभाव पा कर रहा हूं, अब मैं उसको पुरुषार्थ के द्वारा दूर कर अपने परम पवित्र स्वभाव को प्राप्त होकर पूर्ण सुखी बन जाओ, यही मेरी असली अवस्था है। जिस प्रकार कर्दम में से मिला हुआ खानि का स्वर्ण और कालिमा आदि मलों से युक्त हुआ रहते हैं, जब बुद्धिमान सुवर्णकार सुनार उसे धूप—मसाला के द्वारा अग्नि में प्रवेश कर धोंकनी के द्वारा गला कर कालिमा आदि मलों से दूर कर शुद्ध स्वर्ण निकाल

लेते हैं। उसी तरह अनादि-काल से कर्म मल से लिप्त हैं। उस को पुरुषार्थ द्वारा कर्म—मल दूर कर अपने सहज स्वभाव को प्राप्त होकर पूर्ण सुखी बन जाता है। यही तो आत्मा की असली है और इस अवस्था में इस आत्मा को सच्चा सुख प्राप्त होता है।

यही सदा सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है इस उपर्युक्त रहस्य को समझ ने वाला प्रत्येक व्यक्ति नहीं जो कि आत्म-शुद्धि करने में अपनी रुचि रखता है और तत्व के स्वरूप को समझता है वह सांसारिक दुःखों से अवश्य छूट सकता है। इन छूटने का उपाय रत्नत्रय मय आत्म-प्रबोध है, विचार करे तो यह जीव अकेला ही नरक धरा में जाकर घोर दुःखों को सागरा पर्यन्त सहन करता है और यह जीव अकेला ही स्वर्ग में जाकर इन्द्र अहमिन्द्रादि देव पर्याय का सुख प्राप्त करता है तथा अकेला ही कर्म बाँधता है और आप ही विवेकी होकर सब कर्मों के आवर्णों को दूर कर केवल-ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष के सुखों को अनन्त काल भोगता है। तब वह तत्व ज्ञानी हमेशा आत्म-भावना को भाता हुआ विचारता है कि मैं एक चैतन्य स्वरूप आत्माराम हूँ। आत्मा ही एक मेरा उत्कृष्ट तत्व है वही एक परमब्रह्म-परमात्मा पर ज्योति है। नित्य आनन्द मई पद को देने वाला है। ऐसी भावना बार-बार स्मरण करने से अपने आत्मा को निरंजन चिदानन्द चैतन्य स्वरूप परम पदार्थ शान्त स्वरूप शरीर सहित सकल परमात्मा बन जाता है और आयु समाप्त होते ही यही आत्मा शरीर त्याग कर मुक्त हो जाता है। इस मुक्त आत्मा को ही निकल परमात्मा कहते हैं।

जब यह आत्मा मन रूप विषय बन में शुद्ध-भाव रूप सिंह जब तक जाग्रत रहता है, तब तक दुर्ध्यानि रूपी हिरण उस जङ्गल में नहीं प्रवेश कर सकता है। ऐसा न्याय है, बात यह है कि जितने महा पुरुष भूत-काल में सिद्ध हुये हैं और भविष्य में भी जितने अन्य सिद्ध पद को प्राप्त होंगे वह

सब इन भावों का ही महात्म्य है। इन भावों से ही अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्मा ही को अपनोध्येय बना लेता है और सर्व राग—द्वेषादि उपाधि से रहित आत्मा के द्वारा ही जान कर उस में ही स्थिर तिष्ठता है वही आत्मा मोक्ष-मार्ग में चलने वाला है। वही निजानन्द रूपी अमृत पान पी कर तृप्त होता है और जगत का स्वामी पूजनीय परमात्मा बन जाता है। इसलिये ऐसा विचार करो कि मैं एक हूं। मेरा कोई भी जड़ चेतनादि अन्य पदार्थ मेरा नहीं है। मैं शुद्ध ज्ञान दर्शन लक्षण वाल हूं। ऐसा सन्तों को सदा स्मरण करना चाहिये। कि यह प्रत्येक जीव अकेला है, सदा निराला स्वतन्त्र स्वाधीन हैं। अपने स्वभाव से एक जीव में न दूसरे जीव है न कोई परमाणु या स्कन्ध है, न कोई कर्म के भेद जो पुण्य—पाप है, न राग—द्वेष मोह की संकला है, न सुख दुःखादि है, न नारक, पशु, देवता और मानव है, न अन्न विषय है, न पांचों इन्द्रिय मन है, न स्त्री—पुरुष नपुंसक है, न बाल—युवा और वृद्ध है, न ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र है, न आर्य म्लेच्छ है न लघु दीर्घ है, न साधु गृहस्थ है, न बन्धन से जकड़ा है और न खुला है। प्रत्येक जीव से सब निराला शुद्ध-ज्ञाता-दृष्टा वीतराग अविनाशी सिद्ध परमात्मा के समान है। ऐसा सम्यग्ज्ञानी, सम्यक्दृष्टि आत्मीक सच्चे सुख का पहिचान लेते हैं वह मोक्ष प्राप्ति का प्रेमी बन जाता है और वह शीघ्र ही कर्म बन्धन से छूट जाता है; वह विचार करता है कि यह आत्मा जो शरीर में रहता है तथापि शरीर से भिन्न है और कर्म रहित अनन्त सुख स्थान तथा शुद्ध पवित्र है। जो ज्ञान विवेकी महानुभाव इस संसार देह भोगों से विरक्त हो कर अपने आत्म-कल्याण करने के लिये ध्यान तपश्चरणादि पवित्र कार्यों में इस शरीर को लगाते हैं या क्षीण करते हैं, वही इस शरीर धारण का यथार्थ लाभ लेते हैं और यही कार्य सब को करने योग्य है। समझिये जब संचित कर्म आज या कल अपने समय आने पर

सुख—दुखादि फल प्रदान कर खिर जाता है तब आत्मा में नवीन भाव पैदा होने लगता है और उनसे नवीन कर्म जंजाल फैल जाता है।

इस प्रकार अनादि काल से कर्म और उनके फल का क्रम बीज वृक्ष की तरह चला आ रहा है। यदि जो यह आत्मा अपने पूर्व कर्म फलों में मन—वचन—काय की हलन—चलन क्रिया नहीं करे, तो नवीन कर्म परमाणु नहीं आवेंगे पूर्व संचित कर्म भी बिना फल प्रदान दिये ही आत्मा से खिर जायेंगे। जब सर्वथा पृथक हो जायगा तब आत्मा अपने शुद्ध निजानन्द मय स्वभाव को प्राप्त होकर शरीर तज कर मुक्त हो जायगा और अनन्त सुख का भोक्ता बन जायगा। ऐसा आत्मा का स्वभाव ग्रहण करने योग्य है। यह स्वानुभव का महात्म्य है। स्वानुभव किसको कहते हैं, जो आत्मा बुद्धि विकल्पों को उलंघन कर पदार्थों के आश्रय को छोड़ कर ज्ञान का अवलंबन लेकर स्वात्म-ध्यान में रमते हैं। ऐसे स्थिर विचारात्मक भाव को स्वानुभव कहते हैं अर्थात् अपना मन ज्ञान का उपयोग अपने चैतन्य पदार्थ पर लगाता है ऐसी अवस्था में मन आत्मा में स्थिर होता है। स्वतः में संकलित शुद्ध ध्येय भाव को प्राप्त होता है। तब आत्मा अनात्मा का राग—द्वेष का ध्याता-ध्यान का सब विकल्प जाल दूर होकर आत्मा—आत्मा में रत होता है यही स्वानुभव है यही साध्य है। इनकी सहायता से ही सम्यग्दर्शन होता है।

जो सम्यग्दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम क्षयोपशम या क्षय से जिस समय आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसी समय आत्मा के कुमिति और कुश्रुति ज्ञान मिट कर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान स्वरूप हो जाता है इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान में काल भेद नहीं है। दोनों एक साथ ही होते हैं, यद्यपि ज्ञान अल्प अक्षर वाला है, किन्तु अल्प अक्षर वाले से जो पूज्य होता वही प्रधान होता है।

इसलिये दर्शन और ज्ञान में दर्शन ही पूज्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इसलिये पूज्य होने से सम्यग्दर्शन को पहले कहा है। उसके बाद सम्यग्ज्ञान को कहा है और सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता। इसी से चारित्र को अन्त में रखा है। तहाँ जो पदार्थ जिस स्वभाव वाला है उसका उसी स्वभावरूप से निश्चय होना तत्वार्थ है और तत्त्वार्थ का श्रद्धान न करना सम्यग्दर्शन है।

इस सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं। प्रथम सराग सम्यग्दर्शन दूसरा बीतराग सम्यग्दर्शन, जो प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य, ये भाव सराग सम्यग्दर्शन के सूचक हैं। जहाँ रागादिक भावों की तीव्रता न होने को प्रशम भाव कहते हैं, संसार शरीर भोगों से विरक्त होने को संवेग है। प्राणी मात्र को अपने मित्र समझना अनुकम्पा है, और आगम में जीवादि पदार्थों का जैसा स्वरूप कहा है जो भाव विशिष्ट भाववान् का श्रद्धान करना उसी रूप उन्हें मानना आस्तिक्य है तथा आत्मा के विशुद्धि का नाम बीतराग सम्यग्दर्शन है। जो बीतरागी प्रति बुद्ध ज्ञानी जन पर वस्तु में आसक्त या ममत्व बुद्धि नहीं धारण करते हैं, निज को निज और पर को पर मानते हैं। वही सम्यग्दर्शन है। जिनके शरीर से ममत्व छूट जाता है और अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा को शरीर पुद्गल के पिंड से भिन्न समझ लेता है तब आत्मा के निज ज्ञान–दर्शन स्वरूप में ही आत्म बुद्धि हो जाती है। तब वह जीवात्मा सम्यग्दृष्टि होकर तपश्चरण ध्यानादिक के द्वारा अपने आत्मा को शरीरादिक पर द्रव्य के बन्धन से सर्वथा पृथक कर लेता है और सदा के लिये मुक्त हो जाता है। इसलिये पर—पद को तज कर निज पद पाकर परमात्मा पद प्राप्त करने का प्रयत्न करो, क्योंकि यह जीवात्मा अनादि कालीन अज्ञानता के कारण कर्मोदय से पर्यायों से आत्म—बुद्धि धारण कर उसी को अपना आत्मा समझ

लेना है, इस तरह उसका यह अज्ञानात्मक संस्कार जन्म-जन्मांतरों से बराबर स्थिर दृढ़ होता हुआ चला आ रहा है और चला जाता है। परन्तु जो पुरुष पुरुषार्थ के द्वारा शुभ-अशुभ मन-वचन-काय को निरोध करके पीछे ज्यों आत्मा में स्थिर होता है। वह ध्याता पुरुष अपने आत्मा में स्थिर होना ही परम ध्यान है। बात यह है कि ध्यान ध्याता नित्य निरंजन क्रिया रहित निज शुद्ध आत्मा के अनुभव को रोकने वाली शुभ—अशुभ चेष्टा रूप काय की क्रिया रूप वचन को तथा शुभाशुभ अन्तरङ्ग बहिरङ्ग रूप वचन को और शुभाशुभ विकल्प समूह रूप मनतरङ्ग के व्यापार को कुछ भी मत करो। स्वाभाविक शुद्ध ज्ञानदर्शन परमात्म तत्व के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरण रूप अभेद रत्नत्रयात्मक परम ध्यान के अनुभव से उत्पन्न सर्व प्रदेशों को आनन्ददायक सुख के अनुभव रूप परिणति सहित स्वात्मा में तन्मय हो जाता है, वह निश्चय से परम उत्कृष्ट ध्यान है। उस परम ध्यान में स्थिर जीवात्मा को ही वीतराग परमानन्द सुख प्रति भाषता है वही मोक्षमार्ग का स्वरूप है।

सम्पूर्ण पदार्थों में शुद्ध नय से देखिये तो एक चैतन्य चमत्कार स्वरूपमात्र प्रकाशमान आत्मा ही है। परन्तु व्यवहारनय से देखिये तो आत्मा पाँच प्रकार करि अनेक प्रकार दीखे है, प्रथम अनादिकाल से कर्म पुद्गल के सम्बन्ध से कर्म पुद्गल में बन्धा हुआ स्पर्शरूप दीखे है। दूसरा भेद कम पुद्गलों के निमित्त से उत्पन्न भये जो नरनारकादि पर्याय तिनमें नानारूप दीखे है। तीसरा भेद शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद घटे या बधे है यह वस्तुस्वभाव है इसलिये नित्य नियत एक रूप न दीखे है। चौथा भेद दर्शन ज्ञानादि अनेक गुण सहित विशेष रूप दीखे है। पंचमा भेद कर्म के निमित्त से जो मोह, राग, द्वेषादिक परिणाम उत्पन्न होते हुये सुख दुःखादि रूप दीखे है। यह सब व्यवहार नय का विषय है। परन्तु वस्तु स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है सो स्याद्वाद वाणी से सधे है। क्योंकि यह आत्मा भी अनन्तधर्मा है इसमें

कितनेक धर्म तो स्वाभाविक हैं और कितने ही धर्म पुद्गल के सम्बन्ध या संयोग से उत्पन्न भये हैं। तहां कर्म पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुये वह संसारी जीव सुख दुःखादि भोक्ता होते हैं, इनके अनादि अज्ञानपना से पर्याय बुद्धि हो रही है। परन्तु अनादि अनन्त परद्रव्य से भिन्न सर्व पर्यायों में एकाकार हानि वृद्धि से रहित विशेषपना रहित नैमित्तिक भावों से रहित अनादि अनन्त एक आत्मा का ज्ञान से शून्य है।

इसके भेद को कहने वाला जिनागम है। उनको जानकर आत्मा को एक असाधारण चैतन्यरूप अखण्ड, नित्य निरंजन और अनादि निधन भाव है उसे जानने से पर्याय बुद्धि का पक्षपात दूर होकर निज स्वभाव का अवलम्बन लेकर कर्मबन्ध से निवृत्ति हो जाती है और संसार देह भोगों के सुख-दुःखों से छूट जाता है। इसलिये स्व–आत्मा का अनुभव करो। यह आत्मा चेतन द्रव्य है, इसमें ज्ञानादि अनन्त गुण हैं इनसे पर रूप शरीरादि पुद्गल द्रव्य है जोकि अपने समय पाकर पृथक् हो जाता है और नवीन पुद्गल परमाणुरूप पिण्ड बन जाता है। क्योंकि संसार में जो वस्तु बलवान् होती है वह दूसरे द्रव्य को अपनी तरफ खींच लेती है, फिर वह अवसर पाकर कभी कर्म पुद्गल बलवान् बन जाता है और कभी जीव द्रव्य बलवान हो जाता है। इस तरह जीव और कर्म पुद्गलों का अनादिकालीन से परस्पर विरुद्ध रूप सम्बन्ध चला आ रहा है। अतएव जिस समय कर्म बलवान होता है उस समय वह जीव कर्मों का उपकार करता है।

इस जीव के साथ औदयिक भावों की उत्पत्ति कर नये नये कर्मों की रचना रचता हुआ अपने अंग स्वरूप कर्मों का पोषण करता है, क्योंकि इस जीव द्वारा किये गये राग, द्वेष, मोहादि विभावभावों द्वारा परिणामों के निमित्त से अन्य कर्म पुद्गल वर्गणा स्वमेव आकर कर्मरूप पिण्ड परिणत हो जाता

है, उसकी शृंखला नहीं टूटती है। परिणमन स्वभावी जीव के साथ स्वयं होने वाले जो राग द्वेषादि रूप परिणाम है उनमें पुद्गल कर्म निमित्त पड़ जाता है तथा जिस समय जीवात्मा बलवान हो जाता है उस समय वह भी कर्म कलंक धोता हुआ अनन्त सुख स्वरूप मोक्ष महल की इच्छा करता हुआ अपने ज्ञानानन्द रूप शुद्ध सुख स्वभाव में स्थिर रहता है। इसलिये हे आत्मन्! तू लोक के समान अजान मूढ़ बनकर, दिखने वाले शरीरादि परम पदार्थों का उपकार कर रहा है, यह सब तेरा अजानपना है, अब तू पर के उपकार की इच्छा न कर अपने ही उपकार में सदाकाल लीन रहो परद्रव्य से क्या मतलब है।

जैसे कोई अज्ञानी प्राणी अज्ञान से अपने शत्रु को मित्र समझकर रातदिन उसकी सेवा चाकरी में लगा रहता है उसका सदा हित करता रहता है। उसका हित करते हुये समय अपने अहित या हानि हो जाने का कोई ध्यान नहीं रखता है उनहीं के हित साधन में ही अपना सर्वस्व लगा देता है। परन्तु जिस समय उसे इस बात का परिज्ञान प्राप्त हो जाता है कि यह मेरा मित्र नहीं किन्तु मेरा शत्रु है, तब ही से वह उसका उपकार करना त्याग देता है और फिर अपने ही हित मे प्रवर्तक करने में सावधान हो जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान अवस्था में इस चिदानन्द स्वभाव आत्माराम से भिन्न शरीरादि पर-पदार्थों के संयोग होने पर रात दिन उनके पालन-पोषण में सदा सावधान रहता है और उन्हें अपना समझते हुये उनके संरक्षणादि कार्यों में अनेक आपदाओं का भी ध्यान नहीं करता है जोकि ये मित्रादिक पर-पदार्थों में अपनी आत्मबुद्धि बदल दे। झूठी कल्पना बिलकुल छोड़ दे कि वह मेरे नहीं हैं और न मैं कभी उनका हो सकता हूँ। इस तरह यह आत्मा निज विवेक ज्ञान का आश्रय कर अपना हित साधन करने मे तन्मय हो जाय तब ही कल्याण होता है। जो जीव आरम्भ परिग्रह से रहित सुगुरु के उपदेश और उस उपदेश के अनुसार साक्षात्स्वात्म रूप स्वात्मानुभव से स्वपर के भेद को

जानते हुये कि यह चैतन्य स्वरूप आत्मा ही मेरा है और सर्व बाह्य पदार्थ भिन्न हैं यह सब जड़ पदार्थ हैं और पर हैं, वे मेरे कभी नहीं हुये और कभी नहीं हो सकते। जबतक इस तरह का भेद विज्ञान नहीं होता तब तक स्वपर का भेद विज्ञान नहीं हो सकता है। इस प्रकार के भेद विज्ञान में शास्त्राभ्यास प्रधान कारण है। इस शास्त्राभ्यास से स्व पर के लक्षणों की पहिचान होती है और भेदज्ञान ज्योति जाग्रत हो जाती है। इसलिये मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करने वाले पुरुषों को अवश्य ही स्व-पर का विवेक प्राप्त करना चाहिये। ऐसे जो नित्य आत्मा का अनुभव करता है वही ज्ञानीजन है। जो ज्ञान है वही आत्माराम है और आत्मा है सो ही ज्ञान है।

ऐसे गुणी गुण को अभेद दृष्टि में समक्ष जाते हैं और जब सर्व परद्रव्यों से आत्मा को भिन्न समक्ष लेता है तब अपने आत्मगुण पर्याय निर्विघ्न एकरूप निश्चल पर-वस्तु से भिन्न अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव हो जाता है। सो ही भावश्रुत ज्ञानरूप जिन शासन का अनुभव है। वह अनाकुल अन्तर रहित अविनाशी चैतन्य भाव कर देदीप्यमान सदा उद्विलास उदय रूप एक रूप दर्शाता है। वही आत्माराम है, यही स्वरूप ज्योतिर्ज्ञानानन्दमय एकाकार हमारे सदाकाल जाग्रत रहो ऐसे भेदाभेद के ज्ञान से ही साध्य की सिद्धि होती है सोही आत्मा है। परन्तु इस समय योगीराज चरम शरीरी नहीं है और तद्भव मोक्ष के कारण भूत, वज्र, वृषभ, नाराच से भिन्न अन्य संहनन का धारक है और सदाकाल ध्यानाध्ययन अभ्यास करते हैं। सदा आत्मचिन्तवन में उपयोग लगाते हैं। उस साधु के सभी अशुभ कर्मों की निर्जरा या संवर होता है और उस पवित्र आत्मा के पुण्य और पाप बिना फल दिये ही स्वमेव गल जाते हैं वह कर्म आत्मसमाधि की निर्मल ज्योति ज्वाला में भस्म हो जाता है तब उस ऋषिराज के शीघ्र ही स्व-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। वह पवित्रात्मा निरंजन परमात्मा बन

जाता है। पुनः भ्रमण नहीं करना पड़ता है, जब वह अध्यात्म योगी अपने स्वभाव में लीन होता है। तब मनुष्य तिर्यन्च देव तथा ज्योतिष व्यन्तर असुरादि कृत या शील धाम और वर्षादि महान घोर उपसर्ग या कर्मोदय जन्य विविध व्याधियों आदि का कोई स्मरण नहीं रहता, क्योंकि अपने स्वरूप में निमग्न अध्यात्म योगी के समस्त कर्मों के आस्रव का निरोध करने वाली निर्जरा शीघ्र हो जाती है। इस प्रकार इस आत्म—ध्यान की एकाग्रता से या चित्त-वृत्ति के निरोध से कर्मों की अनन्त गुणी निर्जरा होकर स्व—स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है। ऐसा आत्म-प्रबोध का महात्म्य है। जब यह आत्मा शुभाशुभ भावों की परिणति को त्याग कर अपने शुद्ध स्वरूप में विचरण करने लगता है। तब शीघ्र असंख्य भव सम्बन्धी कर्म-बन्धन शृंखला को काट कर स्वयं कर्मों से निर्मुक्त हो जाता है।

जिस प्रकारकमल की नलिनी पर बैठा हुआ तोता उस नलिनी को पकड़ कर जकड़े रहता है, किन्तु ज्यों ही उसे यह ज्ञान हो जाता है कि मुझे कमल की नाली ने नहीं पकड़ा, किन्तु मैं ही इसको स्वयं पकड़ा है और मैं मेरी पक्षी पने के उड़ाण को विस्मरण हो रहा हूं अर्थात् अपने गति स्वभाव को भूला हुआ हूं। जब चाहे उसे छोड़कर आकाश मार्ग में उड़ा सकता हूं। जब यह विवेक जाग्रत होते ही वह तोता कमलनिली के बन्धन से छूट कर आकाश मार्ग में उड़ जाता है। ऐसे ही यह प्राणी मोह रस पान कर अज्ञान असंयम के संयोग से संसार बन्धन को बढ़ाता है। इस परंपरा चक्र को चलाने वाला यह आत्मा ही है। क्योंकि स्वतन्त्र या धनादि कठोर तपश्चरण द्वारा समता—भाव युक्त उसमें स्वयं ही मुक्ति हो सकता है। अन्य कोई उसे बांधने या छुड़ाने वाला नहीं है। इस प्रकार आत्मा का गुरु आत्मा ही है। आत्मा यदि चाहे तो अपने को संसार का स्थाणा बनावे, या मोक्ष धरा में जा धरे, दूसरा कोई आत्म स्वभाव का कर्त्ता—धर्त्ता नहीं है। वह स्वयं ही शुभाशुभ और शुद्ध भावों

का कर्त्ता है और आपही में भोक्ता है।

परन्तु जिस समय इस जीव के शुभाशुभ निमित्त बस शुभाशुभ कर्मों का बन्ध पड़ता है। उसमें कार्मांण जाति की वर्गणाओं से भरा हुआ सब संसार कारण नहीं है और न चेतन—अचेतन पदार्थों का समूह बन्ध कारण है, न अनेक इन्द्रियों के विषय कारण हैं। परन्तु जिस समय जीव का उपयोग राग-द्वेष मोहादिक के साथ एकी भाव को प्राप्त होता है। उस समय राग-द्वेष परिणाम रूप यह क्रूर भाव ही बन्ध का कारण है, ऐसे जान कर ज्ञानी जन अपने स्वरूप में लवलीन होते हैं, तब द्रव्य प्राणों का परित्याग होने पर भी मृत्यु नहीं होती, फक्त पाँच इन्द्रिय तीन बल स्वासोच्छ्वास और आयु रूप दश प्राणों का वियोग होता है केवल शरीर का वियोग होता है आत्मा का नहीं; क्योंकि उसके चित्त शक्ति लक्षणात्मक ज्ञान दर्शन रूप भाव प्राणों का कदाचित्त भी अभाव नहीं होता; अतएव मरण भी नहीं होता और मरण नहीं होने से कृष्ण,सर्प, सिंहादि बन-चर जीवों से भी उस योगी को भय विदित न होता व; आत्म-ज्ञानी निर्भय रहता है।

वही ऋषिराज बलवन्त शाली साहसी सब अवस्थाओं में होने वाले दुःखों से भयभीत नहीं है और वह सदाकाल शान्ति महाराणी का राज फैलाता है वह दुर्गम और सुगम दोनों कार्यों को सहज ही सम्पन्न सहित कर सकता है। इस अभिप्राय से शुद्धोपयोग रूप आत्म-परिणामों में चिर संचित - कलि - कालिमा को दग्ध कर स्वसिद्धि को (स्वात्मो पलब्धि को) प्राप्त करा देने की सामर्थ्य रखता है। उनसे जीवों को स्वर्गादि संपत्ति के सुख की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। जैसे खेती कर ने वाला किसान समय पर जिस तरह धान उत्पन्न करने के लिये बीज बोता है। किन्तु धान के साथ उसे भूसा भाजी वगैरह अनायास ही मिल जाती है। उसी तरह आत्म-ज्ञानी, आत्म-ध्यान

या तपश्चरण के द्वारा ध्यान में अन्तर मुखलीन होता है, उस लीनता से निर्ग्रन्थ पद में इतना बल सामर्थ्य बढ़ जाता है कि उससे चिर—संचित कर्म कालिमा भी क्षण मात्र में दूर हो जाती है। इस योग की प्राप्ति में सुद्रव्य, सुक्षेत्रादि योग सामग्री का मिलना प्रबल कारण है, अतएव आत्मा को आत्म-ध्यानादि ही अनुपम योग है। इससे सर्व सिद्धि कार्य हो जाता है, ऐसा सर्वज्ञ देव की दिव्य-ध्वनी खिरी है।

यह जीव अनादि कालीन अविद्या महाराणी के संयोग से कर्मोदय जन्य पर्यायों में आत्म-बुद्धि धारण करता है। तब अपने निराकुल निजानन्द का स्वाद नहीं आता न अपनी अनन्त चतुष्टय रूप सम्पत्ति का ज्ञान होता है, उस फल स्वरूप अपने आत्मा को संसार परिभ्रमण को बढ़ाता जाता है और अत्यन्त संकट भोगना पड़ता है, जब पर द्रव्य में भिन्न अपनी आत्मा को समझ लेता है। तब बाह्य पदार्थों से अहंकार ममकार का प्रयोग रूप बुद्धि हीन हो होती है। जब तत्वार्थ का यथार्थ श्रद्धान होने से आत्मा में परम संतुष्ट हो कर साधक भाव की पूर्णता प्राप्त कर स्वयमेव साध्य रूप बन जाता है और भेद—ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तब सब रस-विरस, गोष्ठी कथा कौतुकादि सब नष्ट होकर विषय वासन छूट कर पर—वस्तु से ममत्व छूट कर शरीर के ममत्व नहीं रहता मौन ग्रहण कर लेता है और आत्मा सदा अपने शान्त रस में भीज जाता है और मन के सब विकार या चिन्ता-ज्वर भी दूर हो जाती है तब ही आत्मा पवित्र बन जाती है।

जब यह आत्मा अपने को सिद्ध समान शुद्ध—ज्ञान रत्न का सागर, धात—विधाता, शिव—शङ्कर, वीतरागी, परमानन्द स्वरूप मानता हुआ शुद्ध चेतन स्वरूप में स्थिरता को प्राप्त होता है। तब सोऽहम् २ की दृढ़ भावना द्वारा परमात्मा—पद के साथ जीवात्मा की एक बुद्धि हो जाती है।

तभी इस जीव को अपनी निज अनन्त चतुष्टय रूप निधि का परिज्ञान प्राप्त हो जाता है और वह अपने को वीतरागी परमानन्द स्वरूप मानने लग जाता है। उस अभेद बुद्धि से परमात्म-स्वरूप का चिन्तवन करते करते आत्मा अपने आत्म—स्वरूप में स्थिर हो जाता है, इसी को आत्म-लाभ कहते हैं। जिसके फल स्वरूप आत्मा अनन्त काल तक निराकुल अनुपम स्वाधीन सुख का भोक्ता हो जाता है। अर्थात् जब यह आत्मा सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय व्यापार को यथेष्ट प्रवृत्ति करने से रोक कर अन्तःकरण के द्वारा स्थिर हुये क्षण—मात्र के लिये अनुपम करने वाले जीव के जो चिदानन्द स्वरूप प्रति-भाषित होता है वही परमात्मा का स्वरूप है। ऐसे निरीक्षण करने से जो अन्तरङ्ग व लोकन किया जायगा, उसी के फल-स्वरूप शुद्ध चैतन्य मय परमात्म—स्वरूप का अनुभव हो सकेगा और इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों में भ्रमती हुई मनोवृति को रोके बिना कुछ भी तत्व सिद्धि नहीं होती। अतः आत्मानुभव के लिये उसी रोकने का सब से पहले प्रयत्न करना चाहिये वह प्रयत्न यह है कि जो परमात्मा वह ही मैं हूँ, जो स्वानुभव गम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है। इसलिये परमात्मा और आत्मा में अभेद है। तब मैं ही मेरे द्वारा उपासना करने योग्य हूँ, यही आराध्य—आराधक भाव की व्यवस्था है और सांसारिक कष्ट से छूटने का सद्य यही उत्तम उपाय है। यही कर्म पर्वत—चूर्ण करने का उत्तम वज्रपात है। यही सन्निपात रोग को साधने के लिये रामबाण औषधि है। यही षट खण्ड भूमि जीतने के लिये चक्र—रत्न है।

जो आप के परमात्म-पद प्राप्त करने की पूर्ण अभिलाषा है तो वह आत्मा शक्ति रूप से इस आत्मा में ही मौजूद है, किन्तु उसकी व्यक्ति प्राप्ति करने का उपाय यह है। कि इन्द्रिय विषय से विरक्त होकर ज्ञान और वैराग्य का सुदृढ़ अभ्यास करे इसके करने से आत्मा में एकाएक अद्भुत ज्ञान

ज्योति जाग्रत हो जाती है तथा उनकी साम्य छवि रूप शान्त मुद्रा चैतन्य स्वरूप आत्मा की चित्रपट प्रतिबिम्ब का चिह्न अपने हृदय में अङ्कित हो कर आ जाती है। इस प्रकार आत्म—स्वभाव के साधक कारणों को उपयोग में लगाकर स्वयं ही परमात्म—पद प्राप्त कर निजानन्द रस का पान करता हुआ अनन्त काल तक अनन्त सुख में मग्न होकर हरि, हर, ब्रह्मा, बन जाती है। इसलिये जिसका मन रूपी जल राग-द्वेषादिक कल्लोल से चञ्चल नहीं होता है। वही पुरुष आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता है। वही सर्वज्ञ सकल परमात्मा बन जाता है ऐसा जिनेन्द्रदेव का वचन है। जो आत्मा रागरहित परिणति से रहित शरीर से भिन्न मिथ्या मानता से हीन निज स्वरूप में स्थिर है, वही मन श्रेष्ठ है। वही आत्मा का वास्तविक रूप है। इस रूप से भिन्न आत्मा के भेद ज्ञान से शून्य मन है। वह आत्मा का विभ्रम है। उस राग-द्वेषादिक से रहित मन को धारण करना चाहिये और राग-द्वेषादिक के उत्थायमान मन को आश्रय नहीं देना चाहिये, जो कि वह मन सब बाह्य पदार्थों से हटाकर एक चैतन्य मय आत्मा की एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव रूप अनुभव करने में लग जाता है और उसी में तन्मय हो जाता है। जब ही दर्शन मोहादि कर्म उपशम, क्षय, या क्षयोपशम से इसके चित्त में विवेक रूपी ज्ञान ज्योति जाग्रत हो जाती है। तब स्व—पर स्वरूप का ज्ञायक होकर अपने आप ही प्रशान्त निजानन्द मय सुधा—रस का पान करने लग जाता है और उत्तम साधु बनकर अविनाशी आत्म—पद को प्राप्त कर सिद्ध भगवान बन जाता है। ऐसी आत्मा की अनुभव रचना है। जो पुरुष भेद—विज्ञान से हित होकर आत्म-स्वरूप की प्राप्ति करना चाहता है। वह दुद्धर तप करके भी निर्वाण पद को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है।

इसलिये कर्म-बन्धन से निवृत्ति होना चाहते हैं। तो आत्म—ज्ञान पूर्व किया हुआ इच्छा

निरोध रूप तपश्चरण ही कार्य कारी है। यही कर्म-बन्धन से छूटने का श्रेष्ठ उपाय है, क्योंकि जो द्रव्य जिस प्रकार अपने द्रव्य स्वभाव में स्थिर हैं और वह अपने जिस गुण के मध्य वर्ती हैं। वह द्रव्य अन्य द्रव्य या गुण विषे संक्रमण नहीं होते हैं। पलटना रूप होकर अन्य द्रव्य विषे नहीं मिलता है। वह अपने स्वभाव में ही स्थिर रहता है। यही वस्तु की मर्यादा है। परन्तु मूढ़ मानव चेतन तार हित आत्मा को दूसरे शरीर में अपने शरीर के समान या इन्द्रिय व्यापार वचनादि करता हुआ पर का आत्मा देखकर अपना मान लेता है। इस अपनी और परकी मान्यता से विभ्रम हो जाता है। परसे अपने निजत्व को व्यर्थ ही बुद्धि धारण कर आकुलित होता है, परन्तु वस्तु स्वभाव तो यह है कि जिस प्रकार पक्षीगण नाना देश को दिशाओं से आकर रात्रि में एक वृक्ष पर बसेरा करता है और प्रातःकाल होते ही सब के सब अपने अपने अभीष्ट स्थानों को चले जाते हैं। उनमें निजत्व की बुद्धि नहीं धारण करते हैं ऐसे ही जो भव्यात्मा वाह्य पदार्थों से अपने चित्त की वृत्ति को हटा कर अन्तरङ्ग में अपने ही त्याग ग्रहण की प्रवृत्ति क्रिया करता है और मोह जनित रागादि कषाय भावों को छोड़ता रहता है तथा अपने चैतन्य स्वरूप को अपनाता है। अपने शुद्ध स्वरूप में सदा काल स्थिर रहता है। वह आत्मा को मन के साथ जोड कर तन्मय कर लेता है और वचन—काय के व्यापारों को छोड़कर आत्म-चित्त बन करने में तल्लीन हो जाता है। यदि कार्य वस वचन—कार्य की क्रिया करनी भी पड़े, तो उसे उदासीन भाव के साथ जैसे रोगी अरुचित पूर्वक चिरायता, कुटकी, गिलो आदि कड़वी दवाई पीने वाले की तरह अनाशक्ति से कार्य करे। परन्तु अपना लक्ष्य से च्युत न होवे, ज्यों जिन्हें आत्मा का परिज्ञान होकर अपने आत्मा में आत्म-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। वह पर वस्तु को आत्म-रूप के चोर चपल आतिदुर्गति, पन्थ सहायता समझने लगते हैं। किसी को भी अपना आत्म समर्पण नहीं

करते हैं और न किसी में आशक्त ही होते हैं। वह तो सदा शरीरादि बाह्य पदार्थ इन्द्रियों के द्वारा देखता हुआ अपना स्वरूप नहीं मानता हूँ, किन्तु इन्द्रियों के बाह्य विषयों से रोक कर स्वाधीन करता हुआ उत्कृष्ट अतीन्द्रिय चैतन्य चमत्कार आनन्दघन-मय ज्ञान ज्योति प्रकाश को अन्तरङ्ग में सदा-काल देखता रहता है और सदा के लिये अपने उक्त स्वरूप का ही आराधन सदा किया करता है। अपनी बुद्धि का विषय बनाकर आनन्दमय आत्म—प्रबोध मय ज्ञान घन स्वरूप में लीन बना रहता है। ऐसा अनुभव का प्रताप है। वह अनुभवी आत्मा अपने आत्मा की भावनो बार-बार पवित्र बनाते बनाते अभ्यास परिपक्व हो जाता है। कि सुख समुद्र मेरी आत्मा का ही स्वरूप है, वह आत्मा से बाहर दूसरे पदार्थों मे कहीं भी नहीं है। उसकी आदत या हालत पलट जाती है।

वह अपने आत्म—स्वरूप के चिन्तवन मे ही परम सुख का अनुभव करने लगता है और उसे बाह्य इन्द्रिय विषय अपकारी आत्म—विस्मृति के कारण जानने लगता है और उनसे अलग अलिप्त रहना चाहता है और आत्म-स्वरूप का कथन करता रहता है। दूसरे को भी सुनाता रहता है, उस आत्म-स्वरूप के कथन को आत्मानुभवी पुरुषों से पूछता रहता है, या इच्छा करता है सदा-सावधान हुआ, आदर पूर्वक ज्ञान स्वरूपी आत्मा को परमात्म-पद प्राप्त हो जाओ, तथा तत्वज्ञानी सोचता है। कि मैं जिस आत्म—स्वरूप को शब्दों द्वारा दूसरे को बतलाना चाहता हूं सो तो सविकल्प है। आत्म—प्रबोध का शुद्ध स्वरूप नहीं है। जो आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप है वह शब्दों द्वारा बतलाया नहीं जा सकता है। वह तो स्व-संवेदन ज्ञान के द्वारा ही अनुभव किये जाने योग्य है। जब दूसरों को उपदेश देने से क्या लाभ है।

ये ही विचार उसे शरीरों की वला—मुखवादि से अलंकृत करने में उदासीन पना आ जाता है।

वह उनकी अनावश्यक चिन्ता को अपने हृदय गर्भ में स्थान ही नहीं देता, जो मन—वचन—काय इन तीनों को जब तक आत्म बुद्धि से ग्रहण किया जाता है। तब तक संसार वास बना रहता है। जब इन त्रियोग को आत्मा से भिन्न होने रूप अभ्यास किया जाता है। तब आत्मा का कल्याण होता है, तब संसार बन्धन से छूट कर मुक्ति को प्राप्त होता है ऐसा जैन—सिद्धान्त है। जिस समय जिस ज्ञानी को आत्म—स्वरूप का चिन्तवन करते करते अपने में ऐसा निश्चिन्त स्थिर हो जाता है, कि उसे यह क्रियात्मक संसार का ख्याल भी लकड़ी, पत्थर, रजकणादि की तरह स्थिर चेष्टा रहित सा जान पड़ता है, उसकी क्रियाओं का उस पर कोई प्रकार का असर नहीं होता। तब वह वीतराग—भाव को प्राप्त होता हुआ शान्ति समता—सुधार—रस सुख का अनुभव करता है। तब उसको मुक्ति की योग्यता प्राप्त होती है, ऐसा सिद्धान्त है।

विचार कीजिये यह शरीर ऐसे पुद्गल परमाणुओं से बना हुआ है कि जो सदा स्थिर नहीं रहते समय-समय पर पुराने परमाणु शरीर से बाहर निकलते जाते हैं और नये—नये परमाणु शरीर के भीतर प्रवेश करते रहते हैं। फिर भी आत्मा का और शरीर का एक क्षेत्रावगाह दूध पानी के मिलाप की तरह एकमेव सम्बन्ध हो रहा है, जो कि परमाणुओं के इस निकल जाने या प्रवेश पाने पर शरीर की बाह्य आकृति में किसी प्रकार का विशेष भेद नहीं पड़ता। वह प्रायः ज्यों का त्यों ही बना रहता है। इससे अज्ञानी मानवों को यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि यह शरीर ही मैं हूँ और यह मेरा ही आत्मा है। उनके अभ्यन्तर आत्म—तत्व में उन की दृष्टि नहीं पहुँचती है। जिस प्रकार पत्थर में रस्सी की रगड़ से उत्पन्न हुये चिन्ह बड़ी ही कठिनता से दूर करने में आते हैं। उसी प्रकार आत्मा में जमा हुआ मिथ्यात्व संस्कारों का भी दूर करना बड़ा ही कठिन हो जाता है; क्योंकि संसार में जितने भी

दुःख देने वाले प्रपञ्च उत्पन्न होते हैं वे सब के सब इस शरीर के साथ ही होते हैं।

जिस पुरुष के चित्त में आत्मस्वरूप की निश्चल धारावाही धारणा हो जाती है जब ही यह आत्मा आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाता है तब ही शुद्ध चैतन्यमय टंकोत्कीर्ण एक ज्ञातादृष्टा अभेद्य अनन्तानन्त शक्ति को लिये हुये शुद्ध हेम की तरह अपने चैतन्यस्वरूप से भिन्न शरीर पुद्गलों का पिण्ड समझ लिया जाता है, तब आत्मा के ज्ञानदर्शन गुणस्वरूप में ही आत्मबुद्धि हो जाती है, तब ही यह आत्मा सम्यग्दृष्टि होकर निर्ग्रन्थ रूप बनकर तपश्चरण ध्यानादि कार्य करता हुआ उस ध्यान के द्वारा अपने आत्मा को शरीर कर्मादि के बन्धन से सर्वथा पृथक कर लेता है। वह जानता है कि यह ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं तिनको चैतन्यस्वरूप आत्मा नहीं करते हैं। यह जाने है सो ही तो ज्ञानी है। जैसे गोरस में व्याप्त दही, दुग्ध, मीठा, खट्टा परिणाम है, तैसे ही ज्ञानावरणादि रूप परिणाम पुद्गल द्रव्य ते व्याप्यपणा कर विद्यमान होते हुये पुद्गल द्रव्य ही का परिणाम है जो गोरस के समीपस्थित मानव तिसके परिणाम को देखे और जाने है, ऐसे ही आत्मज्ञानी जन उन पुद्गलों के परिणामनिका ज्ञातादृष्टा है, कर्ता नहीं है, वह ज्ञानी ज्ञान ही का कर्ता है, ऐसे ही ज्ञानावरण कर्मपरमाणु को पलट कर दर्शनावर्णी कर्म या वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय सहित मोह, स्नेह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ नो कर्म, भावकर्म, मन, वचन, काय श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये सोलह समयसार के सूत्र के भेदज्ञानी अपने से पृथक समझता है यही ज्ञानी का लक्षण है। वे इस बन्धन से पृथक होता हुआ अपने आत्मस्वरूप से स्थिर होकर सदा के लिये मुक्त हो जाता है यही ज्ञानी का लक्षण है।

ज्ञानीजनों के संसारी लोगों के संसर्ग से वचन वर्गणा की प्रवृत्ति होती है। वचन की प्रवृत्ति

से मन की व्यग्रता होती है या चित्त चलायमान होता है, चित्त की चञ्चलता से चित्त में नानाप्रकार के विकल्पजाल उठने लगते हैं और मनोवर्गणा के स्कन्ध भ्रमित हुआ थका भ्रमण रूप हो जाता है। स्थिर नहीं रहता है। इसलिये योग में संलग्न होने वाले योगी को चाहिये कि वह लौकिक जनों के संसर्ग का परित्याग कर दे। खासकर ऐसे स्थान पर योगाभ्यास करने न बैठे जहां पर लौकिक जन जमा हों या उनका आवागमन बना रहता हो क्योंकि जहां लौकिक जन जमा होते हैं वहां वे परस्पर में कुछ न कुछ वार्तालाप किया करते हैं और बोलते २ शोर तक मचा देते हैं। उनकी इस वचन की वर्गणा सुनने से चित्त चलायमान हो जाता है और उनमें नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प उठने लगते हैं। वह वचन वर्गणा आत्मरूप के साधन में बाधक होता है। आत्मा को वह अपना अन्तिम ध्येय सिद्ध करने नहीं देते हैं। जो लोग आत्मानुभव से शून्य होते हैं उन्हीं का निवास स्थान गांव में होता है और आत्मदर्शी का स्थान निवास कानन में होता है या शून्य गृह चैतालय में होता है। वह सदा शुद्धात्मा का स्मरण किया करते हैं, जो वे वीतराग के कारण भूत चित्त की व्याकुलता को अपने पास फटकने नहीं देते हैं। इसलिये उन्हें न तो ग्रामवास से प्रेम है और न वन के निवास से प्रेम है। वे दोनों धाम को ही अपने आत्मस्वरूप से बहिर्भूत समझते हैं। वह तो शुद्धात्मस्वरूप को ही अपनी विहारभूमि बना लेते हैं और उस ही में रमे रहते हैं। इसलिये आत्मा का गुरु आत्मा ही है। जो भव्य सद्गुरुओं का हित करने वाला शुद्ध निर्मल समता रस से भरा हुआ उपदेश सुनकर अपने आत्मा को नहीं पहचानता है वह जन्म, जरा, मरण के दुःखों को सदा भोगता रहता है। वह संसार रूपी कीचड़ में ही फंसा रहता है। नरभव पाय विफल खोता है तथा दर्शन मोह का उपशम या क्षयोपशम होता है तब उस समय सद्-गुरुओं के उपदेश के बिना भी यह आत्मा अपने आत्म—स्वरूप को पहचान लेता है और

आत्म- अ ध

राग-द्वेषादि पर परिणति कषाय भावों को या विभाव-भावों को त्याग कर के स्वयं कर्म—बन्धन से छूट जाता है यह उत्तम आत्मा है। जो उत्तम आत्मा है वह अपने से भिन्न जो अर्हन्त सिद्ध परमात्मा की आराधना करके उन्हीं के समान परमात्मा हो जाते हैं।

जैसे दीपक से भिन्न तेल—बत्ती भी दीपक की आराधना करके दीपक स्वरूप हो जाती है। ऐसे ही यह आत्मा अपने चित् स्वरूप को ही आत्म-स्वरूप से आराधना करके परमात्मा हो जाता है। अथवा बाँस का वृक्ष अपने को अपने से ही रगड़ कर अग्नि रूप हो जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा आत्मा के आत्मीय गुणों की आराधना कर परमात्मा बन जाता है। क्योंकि बाँस के वृक्ष में अग्नि शक्ति रूप विद्यमान होती है और अपने ही बाँस रूप के साथ घर्षण का निमित्त पाकर अग्नि प्रकट हो जाती है। ऐसे ही आत्मा में भी पूर्ण ज्ञानादि गुण शक्ति रूप से विद्यमान होते हैं वे आत्मा का आत्मा के साथ संघर्षण होने से प्रकट हो जाते हैं। उस संघर्षण से ध्यान रूपी अग्नि प्रकट होकर कर्मरूपी ईंधन को जला देती है तब ही वह आत्मा परमात्मा बन जाता है। जिस पद से फिर लौटना नहीं होता है। पुनः जन्म लेकर संसार में भ्रमण करना नहीं पड़ता है। जो आत्मा अपने आत्मा को आत्म—स्वरूप में स्थिर करने का दृढ़ अभ्यास करता है उसको वचन अगोचर अतीन्द्रिय परमात्म-पद की प्राप्ति होती है, वह सदा के लिये अपने ज्ञानानन्द में मग्न रहता है, ऐसी प्रभुत्व की महिमा है। यह आत्मा वास्तव में सत पदार्थ है और सत का कभी नाश नहीं होता, पर्याय जरूर पलटा करती है। आत्मा एक अखण्ड और अविनाशी पदार्थ है। उसमें खण्ड तथा विनाश की कल्पना करना ही नितान्त मिथ्या है। जो कि आत्मा अनादि काल से अपने ज्ञान दर्शन स्वभाव परिणति को तजकर विभावरूप परिणति में लगा रहा है और अपने स्वभाव को मोहनीय कर्म के उदय से आपा को भूलकर

संसारी सुख-दुःखों को भोग रहा है और विपरीत मानता से एक—प्राणियों में अभी तक अलक्ष रहा है। जैसे खान में सोना मिट्टी मिला रहता है। ऐसे आत्मा भी अनादि काल से पुद्गल का सम्बन्ध में अमूर्त चैतन्य स्वरूप आत्मा मूर्त रूप के समान अचेतन स्वरूप आत्मा मूर्त रूप के समान होगया है। इसलिये मतिमान, अचेतन पौद्गलिक सम्बन्ध को अलग करना कर्तव्य है। जैसे स्फटिक शिला निर्मल होती है परन्तु उपाधियों के योग से मलीन दिखाती है। जो उस मलीनता को हटाने के लिये जितने भी प्रयत्न किया जाय, वह सब व्यर्थ है। ऐसे ही आत्मा भी स्वयं सिद्ध परमात्मा है।

लेकिन कर्मों—पाधि के संयोग से मलीन और कलंकित सी दिखती है। उस मलीनता को हटाने के लिये प्रयत्न किया जाय, तो भी वह सब यत्न निष्फल होता है। जैसे स्फटिक-मणि के पीछे हरा या लाल डाक लग रहा है उसी से वह मणि हरा, लाल दर्शता है। डाक दूर कर दिया जाय तो शुद्ध निर्मल दर्श जाता है। अमोल्य कीमत हो जाती है। ऐसे ही इस जीव को पुद्गल कर्म के संयोग से रूपी हो रहा है उस उपाधि युक्त आत्मा को देखने से उसका असली निज रूप मालूम नहीं पड़ता। जब कर्मों पाधि हटाकर देखें तो अपना आत्मा शुद्ध दिखता है। जीव और कर्म का बन्ध अनादि होते चला आ रहा है। जैसे वृक्ष में फल-फूल-पत्र शाखा, इनका सम्बन्ध होने के कारण होता है। बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से बीज फलता है, तथा अदृष्ट और छिलका ऐसे भिन्न भिन्न वस्तु का प्रबन्ध। किसी निमित्त से हुआ नहीं; अनादि-निधन सम्बन्ध है, इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि से चला आ रहा है। ये सब पुद्गलों का खेल है। लोक भर में पुद्गल परमाणु ठसा-ठस भरा हुआ है। परमाणु दो जाति के होते हैं एक स्व-जाति और दूसरा विजातीय है। अब पुद्गल परमाणु अपने सजातीय से पुद्गल परमाणु का बन्ध हो जाता है। इसे स्व-जातीय विकार या विभाव स्कन्ध कहते

है। जहां पर इस जीव के राग, द्वेष रूप भाव में पुद्गल परमाणु का कर्म रूप स्कन्ध होता है वहाँ पर विजातीय कृत पुद्गल विकार होता है। इस प्रकार की समझ में स्व-जाति विभाव रूप पुद्गल विकार से शुद्धात्मा भी कभी विकार भाव पैदा नहीं होता। [illegible]

इसलिये शुद्धात्मा अनन्त काल तक शुद्ध स्वभाव में रहता है। उस शुद्ध स्वभाव का अभाव कभी नहीं होता, उस शुद्ध स्वभाव को सादि अनिधन मानता है। जिसने संपूर्ण कर्मों को अलग कर अपने स्वरूप की सिद्धि करली है और संसार में कुछ भी करने को नहीं है। ऐसे कृत-कृत्य हुए को सिद्ध कहते हैं। वे सिद्ध भगवान अब दुःख की बीज भूत विभाव परिणति से रहित हैं। वे बाह्य वस्तु को छोड़कर अपने आत्म—स्वरूप में स्थित हैं, जिनका ज्ञान, संपूर्ण लोकालोक भर विस्तार को प्राप्त हो गया, वे समता के समुद्र अपने आत्मोत्थ आनन्द रूप निज-सौख्य के परमेश्वर निकल परमात्मा संसार के निमित्त भूत जो कर्म है। उन संपूर्ण कर्मों को नाश कर अपने स्व-क्षेत्र में स्थित हैं। ऐसे सिद्ध परमात्मा को हमारे मन शुद्धि के लिये निमित्त हो। इसलिये मैं स्मरण करता हूं। ऐसे सिद्धों को ध्यान पुरुष ध्येय बनाकर ध्यान करता है उस ध्यान करने वाले का मन शुद्ध, राग-द्वेष पर परिणति रहित होता हुआ चित्त निर्विकल्प रूप शुद्ध होता है, वही निमित्त भूत है। वे सिद्ध भगवान अपने शुद्ध भाव रूप सहज आनन्द स्वरूप, ज्ञान दर्शन रूप चैतन्य के समुद्र सुख सागर में मग्न हैं। ऐसे सिद्ध स्वरूप को अपने में स्थापना कर उसका ध्यान करते हैं और सोहं सोहं शोर करते हुए ध्वनि को उल्लंघन कर उन सिद्ध परिणति में मग्न होते हैं उस समय अपने में अनादि काल से चली आई विभाव परिणति को छोड़ कर सहज सिद्ध स्वरूप को अपने में संकल्प कर, शुद्धात्म परिणति में मग्न हो शाश्वत अव्याबाध निरञ्जन निरूपम आत्मोत्थ सुख को पावेंगे। तब ही जन्म सफल होगा। जो सिद्ध

मन-वचन-काय का योग अपने आश्रित कर आत्मा में स्थित होता है और ध्यान की एकता से कुशल है। वे अपने नित्य निरञ्जन शुद्ध स्वरूप आत्म-स्वभाव का आलंबन कर अपने मन में सिद्ध परमेष्ठी की स्थापना कर, मैं सिद्ध हूँ। इस प्रकार भावना करते करते उस ही में मग्न होकर तन्मय भाव को प्राप्त होना कल्याण कारी है।

इस प्रकार ध्यान करने वाला आत्मा स्वयं सिद्ध परमात्मा बन जाता है और तीन लोक के शिखर पर ईषत् प्राग भार भूमि पर जा विराजमान होते हैं और सिद्धात्मा बन जाते हैं। अर्थात् जो भव्य संसारी कार्यों को हटा कर अपने में सिद्ध स्वरूप को स्थापित करते हैं। जोकि करते करते इतना उस भावना में परिणत होते हैं। जो उस भावना से सिद्धात्मा का संकल्प किया था। उस संकल्प को भी भूल जाता है और उस ध्येय रूप आत्मा में तन्मय हो जाता। उस समय उसे निर्विकल्प समाधि होती है उस समय व्यवहार वानिश्चय नय का भी विकल्प टूट जाता है नहीं रहता है और ध्याता-ध्येय का भी विकल्प मट जाता है। इस प्रकार अद्वैत रूप निर्विकल्प भावना में सिद्धात्मा का अनुभव आता इसलिये उस ध्येय रूप सिद्धात्मा का संकल्प करने से सिद्धात्मा बन जाता है। सिद्धात्मा को निर्विकल्प कारण मानने में कोई दोष नहीं आता है। इसलिये सिद्ध समान सदा पद मेरो ऐसा जिन देव का वचन है।

हे भव्य निकम्मा को लाहल करि कहा साध्य है तू इस वर्ताव से विरक्त हो। एक चैतन्य मात्र वस्तु से ही सम्बन्ध कर उसमें लीन होकर देख, ऐसे छह मास अभ्यास कर जो काल लब्धि आगई हो तो तेरे हृदय सरोवर विषय पुद्गल द्रव्यों से भिन्न महा तेज प्रताप प्रकाशमान आत्मा की प्राप्ति होगी, इसलिये तू अपने एक आत्मा को आत्मा में ही अनुभव करो वह आत्मा चैतन्य शक्ति कर व्याप्त है।

और संपूर्ण पुद्गल परमाणु से भिन्न है। यह चैतन्य का अनुभव निराकुल है, यही आत्मस्वभाव है। परन्तु संसारी जन शुद्धज्ञानानन्द मय आत्मा को अज्ञान से व्याकुल होकर जैसे पवन का प्रेरया समुद्र कल्लोल सहित होता है या मृग भाडली जल जानता है। व रस्सी को सर्प मानता है, तैसे ही अज्ञानी अनेक विकल्प रूप क्षोभ को प्राप्त कर शुद्ध ज्ञान घन आत्मा को अज्ञान से भूल कर पर—द्रव्य को अपनाता है। सत्य स्वरूप को पहिचाने तो पुद्गलों से भिन्न आत्मा को परख ले, जैसे राजहंस की चोंच के प्रभाव से जल दुग्ध मिले हुये को अलग अलग कर दुग्ध पान करता है।

ऐसे ही योगी जन अचल चैतन्य धातु आत्मा का ही सदा आश्रय करता है। यही भेद—विज्ञान है तथा अग्नि कर तप्त जल उष्ण हो जाता है, परन्तु जल का स्वभाव ठंडा है। अपना स्वभाव नहीं तजता है या लवण और व्यञ्जन का स्वाद अलग २ है। ऐसे ही चैतन्य और पुद्गलों का भेद भिन्न २ है। आत्मा तो ज्ञान स्वरूपी है और क्रोधादि पुद्गल जड़ स्वरूप है। ऐसी भेद—विज्ञानी की शुद्ध दृष्टि है। अब कर्तापना का विवेचन लिखते हैं। जब इस आत्मा के योग और उपयोग व्याप्य—व्यापक भाव रहित तादात्म्य सम्बन्ध रहित, निमित्त, नैमित्तक भाव रहित तन्मय पना से हीन है। तब मन, वचन और काय योगों के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का चलना और ज्ञानोपयोग कषायों से संस्थित यह दोनों अनित्य सब अवस्था में व्यापक रहित क्रोधादिक पर द्रव्य स्वरूप कर्मनि को निमित्त मात्र करते, योग आत्मा के प्रदेशनिका चलन रूप व्यापार होना तथा उपयोग जो चैतन्य आत्मा का रागादि विकार रूप परिणाम होना। इस प्रकार दोनों का कदाचित्काल अज्ञान पने से आत्मा को कर्ता मानिये, परन्तु पर—द्रव्य स्वरूप कर्म का कर्ता कदाचित भी नहीं है। आत्मा को योग और उपयोग का कर्ता संसारी अवस्था में अज्ञान से माना गया है। ज्ञानी तो ज्ञान का ही कर्ता है।

आत्म-
प्रबोध

इसलिये तुम अपनी ज्ञान ज्योति को जाग्रत करो उसी से ही सब चलाचल का पता लग जायगा। जोकि अपने शुद्ध स्वरूप चिद्रूप भाव को अपने स्वरूप में कल्पित करके जो भावना करता है और उस ध्येय की भावना करते करते ध्याता—ध्यान ध्येयादिक के विकल्प को भी भूल जाता है तथा अपने स्वरूप में मग्न हो जाता है। उस समय स्वानन्द भाव से उत्पन्न हुये, जो भाव वही स्वानुभव है। वही परम सुख शान्ति देने वाला है, यह स्वानुभव भेद—विज्ञान से उत्पन्न होता है। उस समय से विचार तरंगें नहीं उत्पन्न होती हैं और द्वैतभाव का भी अभाव हो जाता है, आत्मा शुद्धा शुद्ध—विकल्प जाल से रहित होता है, राग—द्वेषादि परिणति आत्मा से छूट जाती है। पांचों इन्द्रिय के व्यापार भी बन्द हो जाता है, जब आत्मा आत्मा में स्थिर होता है। तब निष्क्रिय अवस्था हो जाती है। वही स्वानुभव कहलाता हैं, इसलिये इस विभाव परिणति का त्याग कर अपनी निजात्मा का अनुभव करो, अनुभव चिन्तामणि रत्न के समान है या अमृत—रस कूप के समान है येही अनुभव मोक्ष—मार्ग है या मोक्ष स्वरूप है। जोकि निश्चय नय से देखा जाय तो अपना आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त सुखादि स्वरूप है, तो भी अनादिकाल से कर्म बन्ध युक्त है। कर्म बन्ध के तीन भेद है। (१) द्रव्य कर्म बन्ध, (२) भाव कर्म बन्ध, (३) और उभय बन्ध, जो कर्म परमाणु आपस में बन्ध होकर अपने में आता है। उनको द्रव्य कर्म बन्ध कहते हैं। द्रव्य—कर्म जब निमित्त पाकर उदय में आते हैं तब भाव बन्ध बन जाते हैं और जब द्रव्य कर्म को आत्मा अपने प्रदेशों में सम्मिलित करता है। उसे उभय बन्ध कहते हैं, कर्म से आत्मा बन्ध जाता है। जैसे चुम्बक पाषाण की तरह और जीव से कर्म-बन्ध जाता है, उसे उभय बन्ध कहते हैं, जब सोही मानव अपने स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण अज्ञान के बल से पर-वस्तु के ऊपर ममताभाव करते हैं। वहां पर बन्ध होता है।

बन्ध का मूल कारण ममता ही है। इस ममता से सारे कर्म की पुष्टी होती है। वह ममता सब पापों की जननी है। इसलिये ममता को परिहार कर समता सखी से स्नेह करो इस निर्ममता से सर्व पापों का नाश हो जायगा और आत्मा शुद्ध बन जायगा, देखिये इस कर्मों के सम्बन्ध से यह आत्मा अनेक प्रकार दिखने लग जाता है परन्तु जब कर्म मल दूर हो जाता है। तब उसका वह निर्मल स्वरूप प्रत्यक्ष स्पष्ट अनुभव में आने लगता है और आत्मा से वह सर्व जटिल कर्म का सम्बन्ध छूट जाता है। तब वह शुद्ध अखण्ड चैतन्य स्वरूप आत्मा ही अनुभव में आता है। जैसे मल के सम्बन्ध से फटिक मणि के अनेक रूप दीखने लगता है तब उसका वह निर्मल स्वरूप स्पष्ट ही दर्शनी लग जाता है। यहां प्रश्न है कि आत्मा अमूर्तिक और कर्म मूर्तिक, तो अमूर्तिक आत्मा के मूर्तिक कर्मों से कैसे स बन्ध हुआ।

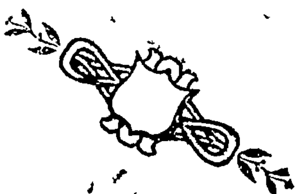
उत्तर—जब यह आत्मा मोह ममता अज्ञान अपथ्यादि क्रियाओं में सम्मिलित होकर अपने स्वरूप से च्युत होता है। तब ही कर्म बन्ध पड जाता है, जैसे भांग नशा वर्तनों को नशा नहीं करती है किन्तु जब जीव उसको पान करता है। तब पागल बना देती है, उस समय उसे हेयोपादेय का कुछ भी विवेक नहीं रहता है उसका ज्ञान मूर्छित हो जाता है। ऐसे ही यह आत्मा उभय बन्ध से बन्धा हुआ पुनः पुनः कर्म बन्ध करता है और जब यह आत्मा उभय मलों से मुक्ति हो जाता है। तब कभी कर्मों से नहीं बन्धता, जब संसारी जीवात्मा राग-द्वेष मोह सेना सहित होता है। तब ही कर्म-बन्ध परिभ्रमण का कारण स्वरूप हो जाता है। जब राग-द्वेष मोह के फन्दे में फंस जाता है या मद में वुध्यायमान होता हुआ परिणामों की परिणति को सम्हाल भूलने से राग-मोह मल के मद में वुध्यायमान होता हुआ परिणामों की सम्हाल भूलने से राग-द्वेषादि परिणामों की उत्पत्ति होती रहती है और उसके द्वारा शुभाशुभ कर्मों का आस्रव होता रहता है। अशुभ कर्मास्रव से नरकादि कुगति तथा

शुभास्रव से स्वर्गादि सुगति प्राप्त होती है, गतियों में जाने से शरीर की प्राप्ति होती रहती है, उन शरीर में उनसे इन्द्रियों के स्पर्शादि विषय वासना जागृत हो कर ग्रहण करती है और उन विषय ग्रहण से उनमें अच्छे या बुरे पन की कल्पना जाग्रत होती है, उसी का प्रभाव से संसार में प्राणी भ्रमण करना कार्य इस जीव का शुरू हो जाता है। इसी ही फन्दे में फंसा हुआ आत्मा अनादि काल से संसार चक्र में जन्म-मरण का कार्य करता रहता है और दुःख भोगता हुआ दुखी रहता है। कभी भी इसे आत्मा के वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं होती है।

इसलिये इस आत्मा ने सर्व प्रकार सदा काल राग-द्वेष मोह को त्याग देना ही इसका कर्तव्य है। इसी में ही इस आत्मा का कल्याण है। जो राग-द्वेष मोह ममता में रमता हुआ अपने को सुखी मानता है। वह जैसे पित्त-ज्वर से पीड़ित आत्मा उस दा ज्वर को मिटाने के लिये घृत शक्कर का सेवन करता है और अपने को स्वस्थ मानता है। वास्तव में वह निरोग स्वस्थ नहीं होगा वेदना ही बढ़ेगी, दुःखी ही होगा, जिस प्रकार जीव-जन्तुओं से भरे हुए वन में वन्हि लग जाने पर वृक्ष के ऊपर बैठे हुये मानव के समान यह अज्ञानी जीव दूसरों के सुखादि अवस्थायें देखकर सुखी मानता हुआ मग्न रहता है और अपनी भूल है। वन चिता लगी हुई मुझ को भी जला देगी, यह जङ्गल के जीव मेरे देखते देखते सब के सब जल कर भस्म हो गये हैं। मैं भी इस अग्नि में प्रवेश हो जाऊँगा, यह कालाग्नि मुझ को नहीं छोड़ेगी। ऐसे आई हुई विपत्ति को नहीं देखता है, ज्यों-ज्यों सुन्दर भोग भोगे जाते हैं। त्यों-त्यों तृष्णा बलवती बढ़ती जाती है और उन भोगों को बार-बार भोगते रहने पर भी यह तृष्णा नागनी कभी भी तृप्ति नहीं होने पाती परन्तु इतनी बढ़ जाती है। फिर उन से तृप्ति सन्तोष शान्ति समता कभी भी नहीं होती, जैसे अग्नि में कितने ही तृण काष्ठ घृत तैलादि क्यों न

आत्म-प्रबोध

डाला जाय, लेकिन तृप्ति नहीं होने पाती अथवा सकड़ों नदी जलों की भरी समुद्र में दाखिल हो जाओ, परन्तु वह समुद्र तृप्तता को नहीं प्राप्त होता ऐसे ही यह जीव भोगों को भोगते हुये तृप्तता को नहीं प्राप्त होता। इसलिये ज्ञानी विचार करता है कि जिस तरह अग्नि के संयोग से जल गरम होता है और तन को संतापित करता है। उसी तरह शरीर तत्संबन्धी इन्द्रियों के विषय भूत भोग्य पदार्थ मुझे संतापित करते हैं जिन्होंसे आत्मा दुखित होता है। जिन मोक्षार्थि मानवों ने इस तन का परित्याग कर निरा कुल सुख प्राप्त कर लिया है और उनहीं महा पुरुषों ने इन विषय भोग के त्याग का उपदेश दिया है। वही आत्मा धन्य है जो पुरुष ध्यान मे अहंआस्मि मैं हुं इस प्रकार अन्तर मुखाकार रूप से जो ज्ञान के द्वारा अनुभव होता है। उसके आत्मा की सत्ता जागृत स्वतः सिद्ध हो जाती है और जब आत्मा की सत्ता सिद्ध हो जाती है। तब वह आत्मा बाह्यभ्यन्तर जल्प का परित्याग कर एक चेतन्य परिज्ञान का साक्षात्कार कर लेता है, वहीं अपने को ज्ञेयपना और ज्ञातापना करता है। उसी का नाम स्वसंवेदन है, उसी को स्वानुभव प्रत्यक्ष भी कहते हैं। इस प्रकार आत्म—प्रबोध का चतुर्दश परिच्छेद पूर्ण हुआ।



पन्द्रहवाँ परिच्छेद

❀ मङ्गलाचरण ❀

दोहा—जिन वाणी में वीर ने, तत्व—ज्ञान दर्शाय।
वही सार सिद्धान्त है, श्रद्धा धर शिवपाय॥

व्यवहार नय से आत्मा अनेकान्त मूर्त तथा ज्ञान स्वरूप है। दर्शन, ज्ञानरूपी दो नेत्र जिनका स्वभावसमस्त विश्व के समस्त पदार्थों को युगपत एक समय में देखने—जानने का है। उसमें अनन्त धर्म गर्भित हैं, इसलिये वह अनेकान्त मूर्ति है। सर्व पदार्थों के समूह रूप लोकाकाश एवम् अलोकाकाश को सत्ता मात्र देखने की उसमें सर्व दर्शीत्व पूर्ण शक्ति है, परन्तु पदार्थों को उन्हें अपना करने की शक्ति आत्मा में नहीं है। उसमें मात्र केवलदर्शन रूप परिणमन होने की शक्ति है। इसलिये त्रिकाली शक्ति की प्रतीति में भी ग्राही जाती है। जिसे लोकालोक रूप सम्पत्ति की चाह हो, उसे आत्मा के निज गुण (केवलदर्शन और केवलज्ञान) की प्रतीति करना अनिवार्य है।

यह लोकालोक विलोक रूप महा सम्पदा आत्मा में कहीं बाहर से प्रविष्ट नहीं होती, अपितु केवलज्ञान दर्शन में समस्त लोकालोक झलक जाता है। पदार्थ जहां के तहां, जैसे को तैसे ही रहते हैं। वे अपने स्वभाव को नहीं बदलते। लोकालोक तो जहां का तहां ही है, परन्तु आत्मा में लोकालोक का

ज्ञान झलक रहा है। उसमें तीन काल और तीन लोक के सदस्य पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी ज्ञान प्रकाशी उत्तम आत्मा का निर्णय किये बिना जीवों को कभी आत्मो-पलब्धि नहीं हो सकती। इस प्राणी ने अनन्त काल मे समस्त वस्तुओं से अत्यन्त अनुराग किया, परन्तु—मैं स्वयं ज्ञान स्वभावी चिदानन्द ज्योति स्वरूप, निर्विकार, ज्ञाता दृष्टा, अपनी शक्ति मे परिपूर्ण हूं। इस प्रकार अपने आत्म–स्वभाव का कभी निर्णय नहीं किया। यदि निज शक्ति की ऐसी सम्हाल करता तो पराश्रय से छूट कर स्वाश्रय की लीनता से अल्प काल में ही सिद्ध - पद प्राप्ति हो जाता। अब तक जो अनन्त सिद्ध हुये और होंगे, वे सब निज शक्ति की सम्हाल के आश्रय या स्वाश्रय से ही हुये हैं।

इस लिये हे आत्मन्! तुझ में तेरी अनन्त शक्तियां एक साथ घृत—घट के समान ठसाठस भरी हुई हैं। तू ही शक्तिमान परमात्मा है। उसे व्यक्त करो। समस्त पराश्रय को त्याग निज स्वभावोन्मुख होकर शरण ग्रहण करो। इसी में तेरा कल्याण है। यह आत्मा लोकालोक मे व्याप्त नहीं है किन्तु अपने समस्त भावो में ही व्याप्त है। अर्थात अपने अनन्त गुण और आत्म–पर्याय स्वरूप स्व से भिन्न अन्तर में सर्व व्यापक ऐसा आत्मा का विभुत्व स्वभाव है। न तो शरीर आत्मा में व्याप्त है और न आत्मा शरीर मे व्याप्त है। बाह्य में जो राग-द्वेष मोह उत्पन्न हो रहा है, वह आत्ता का धर्म (स्वभाव) नहीं है। आत्मा इनमें कभी व्याप्त नहीं होता।

निखिल पर्याय आत्मा मे एक समय पर्यन्त मात्र व्याप्त है। किन्तु वह हमेशा व्यापक नहीं है। अस्तित्वादि गुण तो आत्मा मे त्रिकाल व्यापक हैं जो कि द्रव्य हैं, गुण हैं, पर्याय हैं, एकत्रय हैं। इस प्रकार की समझ में त्रिकाली आत्मा ही लक्ष्य में आती है। ऐसी आत्म–शक्तियों को निरन्तर त्रिकाली तत्व के सन्मुख देखने से यथार्थ निर्णय हो जाता है कि मेरी समस्त सम्पदा मुझ में ही है। सर्वज्ञ–पद

प्रकट होने की शक्ति मुझ में ही है। इस प्रकार आत्म–स्वभाव–सामर्थ्य की पूर्ण श्रद्धा करना चाहिये। यह अपूर्ण श्रद्धावाह उच्छल-कूद को रोकती और परणामों की ओर अन्तमुख कर देती है। आत्म-स्वभाव सम्मुख हुये बिना सर्वज्ञ-शक्ति प्रकट नहीं होती। आत्म-शक्ति-प्रतीति से मोक्ष-मार्ग आ जाता है। यही सम्यग्दर्शन सर्वज्ञ के लघुनन्दन है।

जो आत्मायें अपने स्वरूपोन्मुख हो अनुभव कर निज ज्ञान-विभव की प्रतीति करती हैं, वे ही आत्मायें मोक्ष-मार्ग में गमन करती हैं और समय या सर्वज्ञ हो जाती हैं। सम्यग्दर्शन का ऐसा ही महात्म्य है। निजानन्द रस लीन आत्माराम की श्रद्धा प्रतीति तथा उसमें रुचि रखना ही तो सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार निज–स्वभाव का पूर्ण निश्चय होना कि मैं स्वयं स्वभाव से परमात्म शक्ति का पुञ्ज हूँ। जितने सर्वज्ञ हुये हैं वे सब एकाग्रता से ही हुये हैं। मैं भी अपने स्वभाव में एकाग्रता कर परमात्मा बनूँ। मुझ में भी ऐसी सामर्थ्य है। मैं ज्ञाता-दृष्टा चिद्रूप हूँ। परमात्म—पद प्रकट करना मेरा स्वभाव है। ऐसा दृढ़ निश्चय होना ही मिथ्यात्व नाशक सम्यग्दर्शन प्रकट होने का श्रेष्ठतम उपाय है।

इस जीव ने अनादि काल से शुद्ध, निर्विकार, चैतन्य आत्मा का अनुभव न कर, मिथ्यात्व सन्तान द्वारा सतत कर्म—बन्ध किया है वे मूर्तिक कर्म जीव की सत्ता तिष्ठे हुये हैं। ये ही मूर्तिक, स्पर्शादिकवान कर्म नवागत मूर्तीक, स्पर्शादिकवान कर्मों को संयोगरूप स्पर्श करते हुए, अमूर्तीक अतीन्द्रिय निर्मल आत्मानुभव के विपरीत मिथ्यादर्शन या राग-द्वेषादि युक्त परणामों का निमित्त पा, वे अपनी ही स्निग्ध-रुक्ष परणति के उपादान कारण से एकमेक होने रूप बन्ध को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार परस्पर मूर्तिक कर्मों के बन्ध की अवस्था होता है। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा

जीव अमूर्तीक है तथापि व्यवहार नय अनादि कर्म—बन्ध की सन्तान चली आ रही है जिससे आत्मा मूर्तिक हो रहा है। अमूर्तीक सदा आनन्द मयी, एक चेतना लक्षणधारी; निर्विकार और स्वरस—स्वाद से विपरीत करता हुआ कर्म—बन्ध सहित आत्मा कर्म—वर्गणा योग्य पुद्गलों को अपने प्रदेशों में अवकाश देता है। अर्थात उन कर्मों को बांधता है। भाव यह कि निश्चय-नय से आत्मा अमूर्तीक है, परन्तु व्यवहार नय से मूर्तीक है। इसी से जीव के कर्म-बन्ध सम्भव है।

कर्म—बन्ध की अपेक्षा से आत्मा के साथ पुद्गलों का एकमेकपन सम्बन्ध हो रहा है, परन्तु लक्षण की अपेक्षा दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इसलिये एकान्त से जीव के साथ अमूर्तीक भाव नहीं है। उन पुद्गल—द्रव्यों में ऐसी आकर्षण शक्ति है कि (उनके स्पर्श रूक्ष, चिकने गुणों के कारण) पुद्गल द्रव्य का पुद्गल-द्रव्य के साथ अपने आप बन्ध हो जाता है। इस प्रकार पूर्व—बद्ध कर्म—पुद्गलों के साथ नवीन कर्म-पुद्गल बँधते जाते हैं। जीव के असंख्यात प्रदेशों में इन कर्म-पुद्गलों का अवगाहन होता रहता है। आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनन्त पुद्गल कर्म—वर्गणायें स्थित हो जाती हैं। आत्म—प्रदेशों एवम् कर्म-पुद्गलों का एक क्षेत्रावगाह रूप ही बन्ध है। जैसा स्निग्ध, रूक्ष आदि गुणों के कारण पुद्गलों का पुद्गलों के साथ स्कन्ध रूप बन्ध होता है, वैसा बन्ध नहीं होता। इस जीव के साथ इन कर्म—पुद्गलों की अवगाहना अनादि काल से बड़ी विलक्षणता से हो रही है, जिसके फल-स्वरूप पिण्ड-रूप एक कार्माण शरीर ही निर्माण हो रहा है। जोकि आत्म—प्रदेशों को नहीं त्यागता। अत्यन्त सूक्ष्म कार्माण और तैजस शरीर आत्मा के साथ सदैव बने रहते हैं।

जब यह आत्मा जिस स्थूल शरीर में जाता है तब उसके प्रमाणानुकूल सिकुड़ जाता है और उसी के साथ कार्माण तथा तैजस शरीर भी सिकुड़-फैल जाते हैं। इस प्रकार तैजस तथा कार्माण

शरीर की की रचना बनी रहती है। हां इतना अवश्य है कि पुराने कर्म—पुद्गल अपनी स्थिति पूर्ण कर झड़ते जाते तथा नवीन कर्म-परमाणु मिलते रहते हैं। इस प्रकार कर्मों का सम्बन्ध आत्म—प्रदेशों के साथ अनादि काल से प्रवाह रूप चला आ रहा है। जब जीव की मुक्ति होगी, तभी यह अनादि सम्बन्ध छूटेगा। आत्म—प्रदेशों से तैजस और कार्माण शरीरों का पृथक होना ही तो मुक्ति है। यदि संसारी आत्माओं के साथ यह अनादि कार्माण—शरीर—सम्बन्ध न होता तो नवीन कर्म-वर्गणाओं का कभी बन्ध न होता। सिद्ध—क्षेत्र में अनन्त कर्म—वर्गणाओं के होते हुये भी सिद्ध भगवान को कभी भी कर्म—बन्ध नहीं होता। जीवों के सब प्रदेश कार्माण वर्गणाओ से ठसा-ठस भरे हैं। अतएव जीवों को व्यवहार नय से मूर्तिक कहा है और यह बतलाया है कि मूर्तिक जीव और मे ही मूर्तिक पुद्गलों से बन्ध होना सम्भव है। इसी कारण ज्ञानी जीव बन्ध के यथार्थ स्वरूप को निश्चय कर अपनी आत्मा के निश्चय-स्वभाव की ओर ध्यान देते हैं। जिससे बन्ध के जाल से मुक्ति हो जाते हैं और निज स्वभाव का स्वाद लेते हुये उसी में मग्न हो जाते हैं।

जिस प्रकार तीन पदों के भीतर बैठा महान सम्राट तीनों पदों से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार औदारिक, तैजस और कार्माण रूप तीन शरीरों के भीतर बैठा आत्माराम सम्राट इन तीनों शरीरों से से भिन्न है, अतएव अपने को देह रहित अनन्य अनुभव करना ही बन्ध रहित होने का उपाय है।

यह आत्मा सम्पूर्ण पदार्थों को ग्रहण करने वाली, अखण्ड, एक रूप प्रकाशमान, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहित, प्रकट, शब्द पर्याय रहित, चैतन्य, अलिङ्ग, शुद्ध, केवल ज्ञान स्वरूप निराकार है परन्तु किसी अपेक्षा से अनादि काल से कर्म—बन्ध युक्त होने के कारण व्यवहार नय से अपने ही अनुभव गोचर अशुद्ध भावों की करने वाली है। ये अशुद्ध भाव अनन्त ज्ञानादि गुणामयी आत्म—स्वभाव

को ज्ञानावरणादि रूप हो ढांक लेते हैं। तब यह अशुद्ध आत्मा अशुद्ध भाव उत्पन्न करता है, और अशुद्ध आत्मा बन कर कर्मों का निरन्तर कर्म-बन्ध करता रहता है। जिसके फल-स्वरूप उन कर्मों के उदय से चतु गति रूप संसार में किसी एक गति को ग्रहण करता है। उस गति के अनुकूल स्थूल शरीर पाता है। उस शरीर के सम्बन्ध से इन्द्रियां होतीं और उन्हीं इन्द्रियों से उनके योग्य स्पर्शनादि विषयों का ग्रहण होता है। उन विषयों के ग्रहण से राग—द्वेष भाव उत्पन्न होते हैं और जन्म-जरा-मरण चक्र के भ्रमण में आत्मा की अनेक अवस्थायें होती रहती हैं। ये अवस्थायें अभव्य की अपेक्षा अनादि से अनन्तकाल पर्यन्त रहती हैं तथा भव्य की अपेक्षा अनादि होकर भी अन्त रहित हैं।

आत्मा में जब तक अनुभव जागृत नहीं होता, तब तक आत्मा की यही अवस्थायें होती रहती हैं। अतएव आत्मा की सुप्रतीति होना सब से प्रधान है। इसी सुप्रतीति से अनुभव की जागृति होती है। इस जागृति से । कर्म—बन्ध क्षय होकर मुक्ति दशा प्रकट होती है। यदि सब प्रकार मोह राज की राजधानी हट जाय तो आत्मा मोक्ष प्राप्त होजाय। बन्ध छुटा और मुक्ति हुई। राग—द्वेष मोह नष्ट होते ही आत्मा मे केवलज्ञान—ज्योति प्रकाशमान हो जाती है। आत्मा का स्वभाविक निज गुण देखना—जानना है। उस गुण का प्रकट होना ही केवल-ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकट होना है। यह केवलज्ञान एक सूर्य समस्त अन्य भावों के संसर्ग से रहित, एक शुद्ध ज्ञान समस्त द्रव्य, क्षेत्र—काल, भाव को सर्व प्रकार से एक समय मात्र में देख—जान लेता है। यह ज्ञान निज स्वभावरूप, स्वतत्वभूत, निरावरण, भेद रहित निर्विकल्प, समस्त भावों का सर्वोत्कृष्ट प्रकाशक है। ऐसी ही मेरी आत्मा है।

इसलिये सब प्रकार से इन्द्रिय, मन को संयम कर निज स्वरूप को समस्त पर-द्रव्यों से भिन्न समझ, योग को अचल कर, उपयोग से उपयोग की एकता करो।जिससे केवल ज्ञान सूर्य प्रकट हो जाय।

आत्मा का बार—बार स्मरण करो, ध्यान करो। ध्यान मे ही सर्व तप गर्भित है। विचार करो कि मैं अजर—अमर और अजन्मा हूं। सदा काल शास्वता, स्वसमयात्मक, शुद्ध, चैतन्य, निर्विकार, निर्विकल्प ज्ञाता-दृष्टा परमात्मा हूं। तात्पर्य यह है कि स्व-स्वरूप निरखने से शुद्ध, चिदानन्द आत्मा की प्राप्ति होती है। अतएव हे भव्यो! अन्तर्मुख होकर अपनी आत्मा मे ही स्थिर रहो और उसी का अनुभव करो।

संसारी जीव संसार की कुछ न कुछ सम्पदा पाकर उससे सुख पाने की इच्छा रखते हैं। यहां तक कि सम्राट—पद भी पाकर ऐसे तृप्त नहीं होते, परन्तु ज्ञानी जन सच्चे सुख का मार्ग निर्णय करने में ही सुख समझते हैं। जो जीव इन्द्रिय—विषय जन्य सुख में आर्त हैं। उन्हें शीतल आत्म-सुख कहां से प्रतीति मे आ सकता है? निजानन्द पूर्ण आत्मा तो अनन्त गुणा सुख का भण्डार है। योगी जन जिस आत्मोत्पन्न अनन्त सुख स्वरूप की सदैव इच्छा करते हैं। वह शुद्ध आत्म—द्रव्य संयोगी निज स्वरूप है। वह आत्म—स्वभाव अगम्य है तथा निजालम्बन का आधार है। उस स्वरूप के पद को जिनवर पद से बताया गया है। जिन—पद और निज—पद एक है। इनमें कोई भेद नहीं है। उस पद की प्राप्ति हेतु ही शास्त्र रचना, द्वादशाङ्ग की रचना की गई है। वह जिन वचन अत्यन्त दुर्गम है। उसे प्राप्त करने मे बड़े-बड़े बुद्धिशाली भी थक जाते हैं। मुनि जन उसमे ही सदा विश्राम करते तथा निशि-दिन लीन रहते हैं।

समस्त भव्य जीवों को सर्व प्रथम निज तत्व-निर्णय रूप कार्य करना योग्य है। जो शास्त्राभ्यास द्वारा भी वचन-निर्णय नहीं करते तथा सदैव विषय-कषाय, राग-द्वेष-मोह-मिथ्यात्व के फन्दे में फँसे रह कर सांसारिक कार्यों मे कुशलता दिखलाते हैं। वे अशुभोपयोगी मिथ्या—दृष्टि हैं।

आत्म-बोध

जो जीव सम्यग्दर्शन हीन तप, संयमशील, दान, दया, पूजा में तल्लीन, जैसे अन्न रहित तुष की चाह में लीन हैं वे शुभोपयोगी साधु हैं। अशुभोपयोग से शुभोपयोग तत्व शुभ अच्छा है। कभी पुरुषार्थ से शुद्धोपयोग की प्राप्ति भी हो जायगी। महान् पुण्योदय से यह मनुष्य-पर्याय पाई है। इस पर्याय से सर्व श्रेष्ठ शुद्ध सम्यक् दर्शन प्राप्त करना ही उत्तम कार्य है। उसकी प्राप्ति आत्मोन्मुख होकर निजतत्व निर्णय, पर-पदार्थ से भिन्नता, आत्म-तत्व में रुचि और तल्लीन होने से ही होती है। जब मन हटने लगे, तब विनय पूर्वक शास्त्र—स्वाध्याय करना चाहिये। शास्त्र-स्वाध्याय ही मन को स्थिर करने वाला महा सुकृत्य है। उसे कर्म-क्षय कर मोक्ष-स्थान में पहुंचाने का वायु-यान (हवाई जहाज) ही समझना चाहिये।

अर्हद्भक्ति, आगम-सेवन, गुरु—भक्ति, जिनागम—आज्ञा, देव—दर्शन, मूल—उत्तर गुणों का पालन, व्रत, शील, सन्तोष, दया, दान, क्षमा, वैयावृत्त, समता-सुधा-रस-पान, आत्म-शान्ति और सौजन्यता धारण कर निजानन्द में रमण करना इत्यादि अनेक कार्य शुभोपयोग के हैं। इन्हें करना चाहिये। फिर संसार समुद्र से पार होने के हेतु परम पवित्र रत्नत्रय रूपी श्रेष्ठ जहाज है। जिसका सम्यग्दर्शन रूपी चतुर केवट है जो जहाज को कुशलता पूर्वक खेता कर मोक्ष-नगर में पहुँचा देता है। हे भव्यो! यदि सच्चासुख चाहते हो तो प्रथम सम्यक् दर्शन रूपी खिवैया से भेंट करो। उससे अत्यन्त विनय पूर्वक स्नेह करो। वह परम मित्र मोक्ष-नगर में ले जाकर अपना, अनन्त काल पर्यन्त तुम्हारे ही पास रहेगा। यह रत्नत्रय रूप श्रेष्ठ जहाज समस्त विभावों से रहित हो आत्मा का आत्मा में ही रमण करना है।

जिस प्रकार लुहार कड़े लोहे को अग्नि में तपा उस पर तीक्ष्ण छैनी रख घन की चोट से

उस लोहे के दो खण्डकर देता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी आत्मा और बन्धभाव के बीच में अनुभव रूपी पैनी छैनी रख बीच की सूक्ष्म संधि—साध कर सावधानी से ज्ञान रूपी घन की चोटों से आत्मा और बन्ध—भाव अलग-अलग कर देता है। यह प्रज्ञा रूपी तीक्ष्ण छैनी उदय की सन्धि की छेदक होती हैं। तात्पर्य यह कि आत्मा की प्रज्ञा रूपी छैनी से बन्ध-भावों की समस्त संधियों का छेदक कर लेना ही सम्यग्दर्शन है। विकार और स्वभाव को भिन्न भिन्न जानने से ही मोक्ष-मार्ग की सिद्धि होती है। आत्मा के विभाव भाव अवस्था से ही बन्ध होता है। निश्चय द्रव्य-दृष्टि से देखने पर बन्ध और आत्मा भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं। यदि बन्ध और आत्मा को भिन्न भिन्न जान ले तो ज्ञान की एकाग्रता के द्वारा बन्ध को छेद कर शुद्ध आत्मा को देख लेता है; क्योंकि आत्मा और बन्ध में चेतक—चेत्य सम्बन्ध है। तो भी निश्चय से आत्मा और बन्ध के लक्षण भिन्न भिन्न हैं। तादात्म सम्बन्ध न होकर संयोग सम्बन्ध है।

अनादि काल से जितने सिद्ध हुये और आगे होंगे वे सब इसी भेद—विज्ञान के प्रताप से ही हुये हैं और होंगे। भेद—विज्ञान के अभाव से संसारी जीव कर्म-बन्ध से निरन्तर बँध रहे हैं। अतएव बन्ध का अभाव कर निज स्वभाव में रमण करो, तभी कर्म-बन्ध छूट जायगा। रागद्वेष मोह—सेना चिदानन्द आत्मा का धर्म नहीं है। अपने शुद्ध स्वरूप को कर्म-बन्ध रहित जाने बिना भेद—विज्ञान पैदा नहीं होता। पुण्य पाप की लहरों में ही लटका रहता है। जो ज्ञानी आत्मा पर विश्वास कर ज्ञान पर भार देता है, वही राग-द्वेष-मोह मल्लोंको सर्वथा नष्ट कर केवलज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश फैलाता है। जिससे मुक्ति मिलती है। जो ज्ञानी यह ज्ञान-शक्ति धारण करता है, वह स्वयं शुद्ध चारित्र को साध[illegible]ता है, क्योंकि वह ज्ञान वृत्ति से स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ है इसी से उसे सम्यक् चारित्र प्रकट

होता है। ज्ञान और वृत्ति अलग अलग हैं। ज्ञान-राज अबन्ध है और वृत्ति बन्धभाव है। "मैं ज्ञायक हूं।" इस प्रकार ज्ञायक भाव की पूर्ण दृढ़ता के बल से वह वृत्ति को तोड़कर अपने स्वभाव ज्ञान-राज में लीन हो जाता है। वह ज्ञानी क्षपक श्रेणी माँड के बल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष अवस्था को प्राप्त करता है अतएव प्रज्ञा रूपी तीक्ष्ण छैनी मोक्ष का साधन है।

जो वृत्ति उठती है उसे चेतना स्वरूप ज्ञान राज ज्ञान द्वारा पकड़ तत्काल छिन्न भिन्न कर देता है। जैसे अग्नि के संयोग से दुग्ध में ऊपर को उफान उठता है, परन्तु शीतल जल के स्पर्श से वह पीछे का पीछा अपना स्थान ले लेता है। मोक्ष का मूल भेद—विज्ञान है। राग को जान कर, राग से पृथक् रहने वाला ज्ञानी मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

यह मानव संसार अवस्था में नए नए आविष्कार करने, मशीने बनाने, विद्युत सम्बन्धी कार्य करने, बड़े-बड़े बांध बांधने, मोटर, हवाई जहाज, रेडियो आदि कार्यों में अपना बुद्धि-कौशल दिखलाता है। अपनी आत्मा के साधन में बुद्धि नहीं लगाता। उसे अपनी आत्मा की कोई खबर ही नहीं है। यह बड़े आश्चर्य की बात है। बिना आत्मज्ञान के अन्य कोई मोक्ष—मार्ग नहीं है। इस जीव में अनादि काल से आज तक किसी भी क्षण किसी जीव का कुछ भी भला-बुरा नहीं किया। मात्र निज का लक्षण चूक 'पर' की चिन्ता में व्यस्त रह निज-तत्व की कोई परवाह न करेगा, तो चिन्ताओं का बोझ वृक्ष पर ही बढ़ता जायगा। स्मरण रख 'कि' 'पर' की चिन्ता से 'पर' का कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, अपितु तेरी ही हानि होती है। 'पर' की चिन्ता तेरा स्वरूप नहीं है। अपने को पहिचानने से 'पर' की चिन्ता छूट जाती है। एक क्षण-मात्र का आत्मानुभव अनन्त भावों का नाशक है। आत्मतत्व को भली प्रकार समझने से वैराग्य की उत्पत्ति कषायों की मन्दता या क्षय अवश्य

होता है और स्वरूप को पुनः पुनः समझने की बुद्धि जाग्रत रहती है। शरीर छूटने का भय नहीं होता। यदि इस जीवन में शरीर स्थित रहने पर स्वभाव में रुचि नहीं की, तो समय पाकर शरीर त्याग कर जाने वाले जीव के साथ क्या किया? ममत्व में ही जीवन बिताया। वे सांसारिक वस्तुयें आत्मा के साथ न कभी गईं और न कभी जायँगी। आत्मा का ग्रहण सदा आत्मा से ही होता है। उसी को निरखो और परखो। यही उत्तम सार श्रुत तत्त्व है। त्रैलोक्य के स्वामित्व लाभ से आत्मज्ञान लाभ श्रेष्ठ है। क्योंकि आत्मज्ञान लाभ होने पर आत्मा मोक्ष का अक्षय सुख पाता है। सम्यक् दृष्टि जीव कर्म बन्ध को अपना स्वरूप नहीं मानता और न स्वयं रागद्वेष का कर्ता होता है। वह तो स्वभाव दृष्टि का बल रखता है जोकि कर्मों की निर्जरा का कारण है।

सम्यग्दृष्टि के योग की कर्म—निर्जरा का कारण कहा है। सो यहां पर सच्ची दृष्टि की महिमा बताई है। सच्ची श्रद्धा होने पर जो राग-भाव होता है वह केवल चारित्ररत्न की हानि पहुंचाता है। सच्ची श्रद्धा को कोई हानि नहीं पहुँचाता। सम्यक् चारित्र रत्न की अपेक्षा से छठे गुण स्थानवर्ती मुनि की शुभ वृत्ति को भी न्यून कहा है, तो फिर सम्यग्दृष्टि के अशुभ भाव की तो बात ही क्या है? यहां स्वभाव के बल से वह शुभ वृत्तियों को उल्लंघ कर पूर्ण शुद्धता प्रकट करेगा तथा अशुभ भाव को तो कदापि आदर न देगा। चारित्र रत्न की अपेक्षा से पूर्ण पर्याय होने से तृण तुल्य मानता है। ज्ञान की अपेक्षा से जितना राग है उसका वह ज्ञाता है, परन्तु उस राग को निर्जरा अथवा मोक्ष का कारण नहीं मानता। जैसे—जैसे पर्याय की विशुद्धता बढ़ती जाती है तैसे—तैसे राग दूर होता जाता है। जो निर्मल आत्मा रत्नत्रय में अपनी बुद्धि निश्चल रखता है, वह मोक्ष-मार्गी है। इससे विपरीत जो रत्नत्रय से बाह्य विचरते हैं और मिथ्या—मार्ग में स्थित हैं, वे सर्वथा निन्द्य हैं। इसलिये

जो रत्नत्रय से बाह्य विचरते हैं और मिथ्या—मार्ग में स्थित हैं, वे सर्वथा निन्द्य हैं। इसलिये

हे भव्य ! इस अमूल्य रत्नत्रय को प्रयत्न पूर्वक धारण करो। निजानन्द पूर्ण आत्मा रुचि और विश्वास करो। इस आत्म—स्वभाव में ही पूर्ण सुख है। निश्चय से तो यह आत्मा ही कल्याण स्वरूप है। गुणी जन इस आत्म–तत्व को कल्याण–मूर्ति कहते हैं। इसलिये हे भव्यो ! सर्व प्रथम आत्मा का निज गुण सम्यक् दर्शन प्रकट करने का अभ्यास करो।

देखो मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम गुण स्थान में मन्द कषाय के बल से द्रव्यलिंग धारण कर रुचि सहित शुभ भावों के अवलम्बन से नव ग्रैवेयक तक जाता है। सागर पर्यन्त रुचि पूर्वक भोग वहाँ से निकलकर मनुष्य-पर्याय या भोग-रुचि सहित मरण कर निगोद-राशि में चला जाता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि के शुभभाव भी पाप का मूल है। उसका शुभ भाव भी मोह के जाल में फँसकर भव-कानन में परिभ्रमण कराता। वह शुभ क्रियाओं को ही धर्म समझकर अज्ञानी हो जाता है। धर्म का मूल तो सम्यक्दर्शन है तथा सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है और इन दोनों सहित चारित्र सम्यक् चारित्र है। इन तीनों की एकता ही मोक्ष-मार्ग है।

सम्यक् दर्शन रूपी जमीन पर दुःख के बीज गिर भी जायें तो भी वे उस पवित्र भूमि से शीघ्र अंकुरित नहीं होते। उस पवित्र भूमि का ताप उसे जला देता है। उस भूमि से आनन्द के बीज सदैव स्वभावतः उत्पन्न होते रहते हैं। वही निर्मल पर्यायें हैं। जैसे—वर्षा का कर्दम युक्त जल समय पाकर अपने आप निर्मल हो जाता है। यद्यपि यह आत्मा का निज गुण नहीं है बल्कि पर्याय है। इसलिये इसे औपशमिक भावादिक की अपेक्षा लगाई जाती है। जिन-वाणी में कहीं कहीं अभेद नयों की अपेक्षा से आत्मा कहा गया है। इसका कारण यह है कि कहीं द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के लक्ष्य का विकल्प छुड़ाकर, अभेद द्रव्य का ग्रहण कराने का प्रयोजन है। व्यवहारिक रूप से द्रव्य गुण-पर्याय

में भेद नहीं है। इसलिये इस नय से द्रव्य गुण-पर्याय तीनों द्रव्य ही हैं। जब पर्याय-नय से द्रव्य गुण-पर्याय भिन्न भिन्न स्वरूप का विचार करना हो तो जो द्रव्य है, वह गुण नहीं और जो गुण है वह पर्याय नहीं होती। क्योंकि वे लक्ष्य भिन्न भिन्न हैं। जिससे वस्तु का ऐसा स्वरूप जान लिया, वह अभेद आत्म-स्वभावोन्मुख हो, समस्त भेदों के विकल्पों से दूर हो अभेद द्रव्य ही अनुभव में लाता है। क्योंकि यह सम्यग्दर्शन श्रद्धा-गुण की निर्मल पर्याय है। सम्यक्त्व—गुण की निर्मल-पर्याय सम्यक् दर्शन है।

शास्त्रों में कहीं कहीं सम्यक् दर्शन पर्याय को भी सम्यक्त्व कहा गया है। द्रव्य—गुण—पर्याय की भेद दृष्टि से देखने पर सम्यक्त्वादि आठ गुण नहीं बल्कि पर्यायें हैं इस प्रकार सम्यक् दर्शन श्रद्धा गुण की एक ही समय मात्र की निर्मल पर्याय है। द्रव्य-दृष्टि होने के उपरान्त यदि आत्मा में अस्थिरता शेष भी रहे तथा दो—चार भव भी होजायं तो भी वे भव बिगड़ते नहीं हैं। जैसे—युद्ध में शत्रुओं पर बाण-वर्षा कर चक्र-रत्न चला रहे हैं, नील, का पोत लेश्याओं वाले परिणाम (भाव) हो रहे हैं; तो भी उस समय नवीन भव की आयु का बन्ध नहीं होता। क्योंकि अन्तः करण में द्रव्य-दृष्टि की शक्ति अपरिमेय बढ़ रही है। इस दृष्टि से संसार-वृद्धि नहीं होती। एक समय मात्र का सम्यक् दर्शन अनन्त भव का क्षय करने वाला है। त्रैलोक्य और तीन काल में इसके समान महोपकारी अन्य कोई नहीं है। आत्म—कल्याणार्थियों को यह परम पवित्र सम्यक् दर्शन अवश्य प्रकट करना चाहिये। मानव—पर्याय का एक मात्र सार्थक कर्तव्य यही है।

सामान्यतः सम्यक्त्व हीन पुण्यात्मा से पुण्य-पाप रहित निज स्वरूप की सावधानी में स्थित आत्मा को उत्तम कहा गया है। सम्यक्त्व सहित जीव का नरक-निवास भला, परन्तु सम्यक्त्व रहित

...म कहा गया है। सम्यक्त्व सहित जीव का नरक—निवास भला, परन्तु सम्यक्त्व

जीव का देव लोक का निवास भी भला नहीं है। अतएव मानवों को सम्यक् दर्शन पूर्वक दान, पूजा, जप, तप आदि पुण्य कार्य करना चाहिये जिससे स्वतः ही साता वेदनी का उदय-काल आजाय और इन्द्र—नरेन्द्र—पद प्राप्त कर मोक्ष—लाभ हो। अनादि से स्व—स्वरूप समझने का अभ्यास न होने से सम्यक् दर्शन प्रकट करना कठिन प्रतीत होता है परन्तु यथार्थ में आत्मा का निजी स्वाभाविक गुण प्रकट करना कोई कठिन बात नहीं है। चतुर से चतुर कारीगर भी एक मुहूर्त में नवीन भवन निर्माण नहीं कर सकता, परन्तु आत्म—स्वरूप की पहिचान एक मुहूर्त मात्र में हो सकती है। आठ वर्ष का बालक एक मन का बोझ नहीं उठा सकता, परन्तु यथार्थ समझ के द्वारा अज्ञान का नाश कर स्व-द्रव्य में पुरुषार्थ कर केवल ज्ञान प्राप्त कर सकता है, क्योंकि 'स्व' में परिवर्तन करने के लिये आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र है। 'पर' में परिवर्तन करने के लिये आत्मा में कोई सामर्थ्य नहीं है। आत्मा में सदैव इतना स्वाधीन पुरुषार्थ बल विद्यमान रहता है कि यदि अनुकूल चले तो मोक्ष—धरा में पहुँच जाय और यदि प्रतिकूल चले तो दो घड़ी में सातवें नरक में जा निवास करे।

इस ज्ञान—स्वरूप आत्मा का स्मरण करने में, क्लेश, अर्थ व्यय, दूर देशान्तर गमन, अधिकारियों से प्रार्थना आदि कुछ नहीं करना पड़ता। इस आत्माराधना से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तथा असंख्यात कर्मों की गुण - श्रेणी निर्जरा होती है। फिर अनुक्रम से मुनि- अवस्था प्राप्त कर शुक्ल—ध्यान के बल से समस्त कर्मों का क्षय कर सिद्ध- पद प्राप्त हो जाता है। ज्ञान और चारित्र का बीज भूत यह सम्यक् दर्शन ही है। इसके बिना क्रिया जप, तप, कलङ्क रहित शून्य सदृश व्यर्थ है। चार आराधनाओं में प्रथम दर्शन आराधना ही है। यम, प्रशम भाव, तप, स्वाध्याय, स्तुति पाठ-पठन, जप, तप, होम, दान, पूजा आदि सब का आधार यही सम्यक् दर्शन है। बिना सम्यक् दर्शन के ये सब

व्यर्थ बोझ सदृश है। व्यञ्जन में फेरने के चमचे के समान है। आत्मा का कोई हित नहीं होता। खाली पुण्य-बन्ध ही होता है सम्यक्त्व पूर्वक स्वरूप प्रक्रिया भी आत्म-हितकारी है। वह पुण्य का अखण्डार भर जीव के साथ भवान्तर जाता है। इसकी उत्कृष्ट मर्यादा अर्द्ध पुद्गल परावर्तन तथा जघन्य मर्यादा अन्तर मुहूर्त है, फिर मोक्ष ही हो जाता है।

द्वादशाङ्ग वाणी के अनुसार सिद्धान्त समय सार सब प्रमाण वचनों में सार है। समय शब्द के तीन भेद हैं (१) शब्द समय, (२) ज्ञान समय (३) अर्थ समय रागद्वेष रहित यथार्थ अक्षर, पद, वाक्य रचना द्रव्य श्रुत रूप शब्द समय है। इसी शब्द श्रुत का (मिथ्यात्वभावों के नष्ट होने से) यथार्थ ज्ञान होना श्रुत रूप ज्ञान समय है तथा सम्यक् ज्ञान के द्वारा जो पदार्थ जाने जाते हैं। उसका नाम अर्थ समय है। अर्थ समय लोक—अलोक के भेद से दो प्रकार का है। जहां जीवादिक द्रव्यों का समूह है वह तो लोक है और जहां अकेला आकाश ही है उसका नाम अलोक है। ज्ञान, समय के भी ज्ञान और अज्ञान अनन्त है। किसी जीव के ज्ञान (शान्त) अन्त सहित है, किसी के अज्ञान शान्त अन्त रहित है। शुद्ध जीव द्रव्य में केवल ज्ञान की अपेक्षा अनन्त ज्ञान है। सम्यक् दृष्टि जीव के क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा शान्त (अन्त सहित) ज्ञान है। अभव्य मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अनन्त अज्ञान है तथा भव्य मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा शान्त (अन्त सहित) अज्ञान है।

ज्ञान का जानना आठ भावों से होता है। (१) ध्रौव्य भाव, (२) व्यय भाव, (३) भव्य भाव, (४) अभव्य भाव, (५) शून्य भाव, (६) अशून्य भाव, (७) ज्ञान भाव, (८) अज्ञान भाव। सिद्ध अवस्था में टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक एक रूप, शाश्वत स्वरूप, स्थिर भाव है और पर्याय रूप अगुरु लघुगुण षट्स्थान गुण हानि-वृद्धि अपेक्षा उच्छेद है। निर्विकार, चिदानन्द, एक स्वभाव परिणामों से अन्य भाव

है और अतीत मिथ्यात्वादि रागादि विभाव परिणामों से अन्यत्व भाव है शुद्ध आत्म—भाव अपेक्षा पर द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव अपेक्षा शून्य भाव है स्व चतुष्टय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, से अशून्य भाव, है। समस्त द्रव्य गुण—पर्याय समय प्रकाशक, समर्थ, सकल, विमल, केवल ज्ञान गुण विराजमान ज्ञानभाव हैं। विनिष्ट मतिज्ञानादि सद्गुण छद्मस्थ ज्ञान अज्ञान भाव है। ऐसा समझने से मोक्ष-अवस्था सिद्ध हो जाती है। इन भावों से सिद्धों को समझ कर श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन है। संसारी जीव अनादि—अविद्या के कारण 'पर' भावों को आत्म-स्वरूप जानता है तथा अज्ञानी हो रागद्वेष भाव रूप परिणमता है। काल—लब्धि या सर्वज्ञ वीतराग के वचनों को अवधारण कर मिथ्यात्व को नाश भेद—विज्ञान रूप सम्यक् ज्ञान-ज्योति प्रकट करता है। तत्पश्चात् चारित्र मोहनी का नाश कर शुद्धात्म से जान उसी में तल्लीन हो समस्त संकल्प-विकल्पों के अभाव से निज स्वरूप की एकाग्रता में तल्लीन हो जाता है, जिससे आगामी बन्ध का निरोध हो जाता और पिछला कर्म-बन्ध अपना रस देकर खिर जाता है। इस प्रकार अबन्ध अवस्था धारण कर मुक्त हो अनन्त सुख भोक्ता हो जाता है। इसलिए पदार्थों में रागद्वेष रहित (साम्य-भाव) सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों का जब एक बार परिणमन होता है तब मोक्ष—मार्ग होता है।

सकल कर्म-क्षय लक्षण मोक्ष स्वरूप है। जो निकट संसारी जीवों को होता है। जिनकी कषायें मूल सत्ता से क्षीण हो गई हैं उन्हीं को होता है। व्यवहार नय से षट्-द्रव्य, पञ्चास्ति काय, सप्त तत्व, नव पदार्थ सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की प्रतीति और दृढ़ता पूर्वक श्रद्धान व्यवहार सम्यक् दर्शन है उन्हीं पदार्थों का यथार्थ अनुभव सम्यक्ज्ञान है पंचेन्द्रिय के विषयों में दृढ़ रुचि नहीं, रागद्वेष रहित भेद-विज्ञानी, शान्त स्वभाव, समताभाव युक्त जीवों का जो परिणाम है वही सम्यक् चारित्र है।

मिथ्यात्व के उदय से पदार्थों का संशय, विमोह, विभ्रम रूप ज्ञान होता है । जैसे–रेल अथवा जहाज पर बैठे मानव को तटवर्ती स्थिर पदार्थ वृक्षादि चलते प्रतीत होते हैं यही विपरीत ज्ञान है । मिथ्यात्व के अभाव होने पर यथार्थ पदार्थ का ग्रहण होता है । उसी यथार्थ ज्ञान का नाम सम्यक् ज्ञान है । यही सम्यक् ज्ञान आत्म तत्व अनुभव की प्राप्ति का मूल कारण हैं । सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान की प्रवृत्ति के प्रभाव से निर्विकार आत्म-स्वरूप में लीन होना सम्यक् चारित्र है । इन तीनों भावों की एकता ही मोक्ष–मार्ग है । जिस प्रकार रोगी मानव को औषधि का दृढ़ श्रद्धान, ज्ञान और उपचार हो तो वह रोग से मुक्त हो जाय । ऐसा ही त्रिलक्षणी मोक्ष-मार्ग है । जब रत्नत्रय रूप आत्मिक स्वरूप में विचरण करना निश्चय मोक्ष–मार्ग है ।

जब आत्मा अत्यन्त निश्चल विशेष शुद्धात्म-तत्व में स्वरूप गुप्त होती है तब स्वरूप का आचरण करती है । स्वाभाविक और निश्चल दर्शन, ज्ञान और चारित्र होने से ग्रहणत्यजन की बुद्धि मिट जाती और विकल्प रहित हो जाता है । तभी यह जीव मोक्ष-मार्गी कहलाता है । इसी के निश्चय और व्यवहार रूप मोक्ष-मार्ग की साध्य–साधन भाव की सिद्धि होती है । निश्चय से जो पुरुष आपके द्वारा अभेद रूप आचरण करता है तथा अन्य कारणों के बिना आप ही आप को स्व-पर प्रकाशक चैतन्य शक्ति को जानता, आप ही के द्वारा यथार्थ देखता और अनुभव करता है । आत्मनिष्ठ वेद विज्ञानी आत्मा आप ही दर्शन, आप ही ज्ञान और आप ही चारित्र है । इस प्रकार गुण–गुणी के भेद से आत्म कर्त्ता, ज्ञानादि कर्म और शक्ति करण है, नियम से अभेद है । इस प्रकार रत्नत्रय स्वरूप आत्मा है । यदि आत्मा निज स्वभाव में निश्चल हो आत्मीक भावों का आचरण करे, तो सर्वथा निश्चय मोक्ष-मार्ग सिद्ध हो जाय ।

रत्नत्रय सराग और वीतराग के भेद से दो प्रकार का है। जो दर्शन ज्ञान, चारित्र राग लिये होता है। उन्हें सराग रत्नत्रय और जो वीतरागता लिये होता है वह वीतराग रत्नत्रय कहा जाता है। जैसे—अग्नि के संयोग से घृत स्वभावतः शीतल होने पर भी दाह का कारण होकर विरुद्ध कार्य करता है। उसी प्रकार राग के संयोग से रत्नत्रय बन्ध का कारण बन जाता है। जब पर समय की प्रवृत्ति छूट कर स्व-समय रूप स्वरूप में प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार रत्नत्रय सरागता के अभाव से साक्षात मोक्ष का कारण हो जाता है। अतएव हे भव्यो! निज स्वाभाविक भावों का आचरण करो। जिससे स्वसमय मोक्ष—मार्ग की सिद्धि हो।

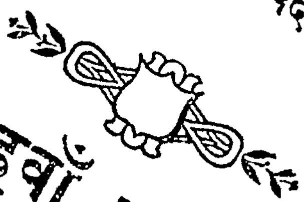
तप संयुक्त साधु बहिरङ्ग इन्द्रिय, प्राण संयम के द्वारा रागादि उपाधि रहित, ख्याति पूजा लाभ अनेक मनोरथ रूप विकल्प जाल ज्वाला रहित हो मन को निर्विकल्प करते हैं तथा संयम को स्थित करने के अथवा अनशनादि अनेक विधि बाह्य तप तथा समस्त 'पर' द्रव्य इच्छा निरोध लक्षण के द्वारा अभ्यन्तर तप करते हैं। एक आत्मस्वभाव से ही तल्लीन रहते हैं। कर्मपुञ्ज दाहक विशिष्ट संहनन आदि शक्ति के अभाव से निरन्तर ध्यान में लीन न रह सकने के कारण कभी शुद्धात्म भावना, कभी अनुकूल जीवादि पदार्थ प्रतिपादक आगम का अध्ययन करते हैं। कभी निर्दोष अरिहन्त, परमात्मा, परम देव तीर्थङ्कर, राम, भरत, सगर, पाण्डवादि त्रेसठ शलाका पुरुषों का चारित्र पढ़ते सुनते हैं जिससे अशुभ राग दूर होकर शुभ धर्मानुराग प्राप्त होता है। कभी भेदाभेद रत्नत्रय भावनाओं का चिन्तवन करते हैं।

गृहस्थावस्था में दान, पूजादि करने से अनन्त संसार असार भावों की कमी होती। यद्यपि तद्भव कर्म—क्षय नहीं होते। पुण्यास्रव परिणाम सहित निर्वाण नहीं होता तथापि भवान्तर में इन्द्रादि—पद

पाता औरवहां भी समस्त विभूति का तृणवत् समझता है। कभी पंच महाविदेह क्षेत्रों में जन्म ले सर्वज्ञ वीतराग जितदेव को देखता और धर्म में दृढ़ श्रद्धान करता है। चतुर्थ गुण स्थानवर्ती होता हुआ आत्म भावना में लीन हो देव लोक में सागरोपम पर्यन्त सुख भोगता फिर देवायु पूर्ण कर मनुष्य, भव, उत्तम कुल, निरोग शरीर, पूर्ण आयु, चक्रवर्त्यादि—विभूति पाता है परन्तु पूर्व भव—भावित शुद्धात्मा के बल से मोह, मान, माया, ममकार लोभादि नहीं करता और समस्त परिग्रह त्याग जिन दीक्षा ग्रहण करता है। जिन परिणामों से स्वर्गादिक सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं अर्थात् राग परणामों को त्याग, निर्विकल्प समाधि—विधान पूर्वक विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव से निजशुद्धात्मा में स्थित हो संसार सागर पार हो जाता है और अनन्त ज्ञानादि गुण लक्षण युक्त मोक्ष सुख भोगता है।

शुद्धात्मा अनुभूति लक्षण निश्चय मोक्ष मार्ग है। निश्चय मोक्ष मार्ग अनुष्ठान अशक्य हो तो भावना निश्चय साधक शुभ अनुष्ठान करो जिससे साराग सम्यक् दृष्टि होकर परम्पराय मोक्ष पाओ। इस प्रकार व्यवहार एकान्त निराकरण किया। निश्चय नय आलम्बन के बिना जो तपोधन आचरण युक्त षडावश्यकादि अनुष्ठान रत श्रावकाचरण योग्य दान, पूजादि करते हैं। वे दूषित और उभय भ्रष्ट हैं। निश्चय व्यवहार अनुष्ठान योग्य अवस्था न जान पाप ही बांधते हैं। जब शुद्धात्मानुष्ठान रूप मोक्ष मार्ग मानते हैं। तब चारित्र मोह के उदय और शक्ति के अभाव से शुभाशुभ अनुष्ठान रहित है और शुद्धात्म भावना संयुक्त शुभ अनुष्ठान रत पुरुष सदृश नहीं होता है। दान, पूजादि सराग सम्यक्त्व से व्यवहार सम्यक् दृष्टि होता है और परम्पराय मोक्ष जाता है। जो मोक्ष निमित्त सदैव उद्यमी है, संयम युक्त हो वैराग्य शिखर पर चढ़ने की जिसमें शक्ति है। जो घोर उपसर्ग रूप तप से संयुक्त है। वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत सिद्धान्त का श्रद्धानी, निश्चय और व्यवहार नय पूर्वक अनेकान्ती है। शुद्ध

चैतन्य स्वरूप आत्मा में स्थिर सावधान है। जिन आज्ञा प्रमाण जिसका माध्यस्थ भाव है। प्रमाद प्रवृत्ति को दूर करने हेतु सिद्धान्त के अनुसार क्रिया—काण्ड परणति रूपमापरि चन्त करने तत्पर रहता है। यथाशक्ति अपने द्वारा आपको जान आप में ही रमता है। ऐसा अनेकान्त वादी साधक निज—तत्व की स्थिरता के अनुसार क्रम—क्रम से कर्मों का नाश करता है। वह अप्रमादी हो अडोल अवस्था धारण कर कर्म—चेतना-शक्ति को खण्डित करता है। कर्म—फल चेतना का अनुभव दूर कर मात्र ज्ञान चेतना की अनुभूति से आत्मीक-सुख का अनुभवन करता है वह महापुरुष शीघ्र ही संसार समुद्र से पार हो समस्त सिद्धान्तों के मूल-भूत शास्वत पद का भोक्ता होता है। इस प्रकार अनेकान्त मय यह पन्द्रहवां परिच्छेद समाप्त हुआ।



सोलहवाँ परिच्छेद

® मङ्गलाचरण ®

दोहा—ज्ञाता—दृष्टा आत्मा, निजानन्द निज—रूप।
श्रद्धा धर सुमरन करो' होय जगत के भूप॥

यह प्राणी साता—असाता वेदनी कर्म के निमित्त से चतुर्गति रूप संसार—चक्र में फँस कर रिभ्रमण कर रहा है। संसार रूपी महा वन में भटकता जन्म-मरण कर रहा है। महारम्य मोक्ष-मञ्जरी

मदिरा-पान आनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, कृष्णा, नील- कापोत लेश्या भय परिग्रहा तथा आर्त–रौद्र ध्यान आदि कार्यों से अधोगति में गिरते हैं। जहाँ शान्ति - विश्राम लेश-मात्र भी नहीं है। निरन्तर महा अन्धकार ही अन्धकार रहता है। वहाँ अङ्ग-छेदन, अग्नि–जलन, असि-प्रहारादि अनन्त दुःख हैं। जिन्हें इस जीव ने अनन्त बार भोगे हैं। यह नरक-गति का दुःख केवलज्ञान ही गम्य है।

तिर्यञ्च-गति में जाने का कारण हिंसा, झूठ, चोरी, अन्याय कपट, प्रपञ्च, मायाचार आदि हैं। इनसे यह जीव, सिंह, व्याघ्र, रीछ, रोज, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गधा आदि तिर्यञ्च-तन को धारण करता है। इस गति में भूख-प्यास, शीत उष्णा, वर्षा, वध बन्धन, ताड़न-मारन, भार–वहन, अङ्ग छेदन इत्यादि दुख सहना पड़ते हैं। जिसे सभी प्रत्यक्ष देखते हैं।

मनुष्य गति में यह जीव विवेक हीन हो खाद्या-खाद्य का कोई विचार नहीं करता। काम के वश हो लज्जा को छोड़ माता, बहिन, पुत्री आदि को भी नहीं गिनता। अनेकों अनर्थ करता है। वो समस्त कार्य अनार्यों सदृश करता है। फल-स्वरूप आर्य खण्ड में ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, आदि कुलों में, मति-हीन, अज्ञानी, दरिद्री, रोगी, मानापमान सूचक कठोर वचन, सुनने वाला महा दुखी उत्पन्न होता है। नव मास पर्यन्त मल–मूत्र, युक्त गर्भाशय में दिन-रात मूर्च्छागत स्थित वेदना निरन्तर भोगता है, फिर जन्म ले की वेदना तो गर्भ–वास–वेदना से भी अनन्त गुणी है। जिस प्रकार स्वर्णकार जंती में से तार पकड़ कर खींचता है, उसी प्रकार बालक का जन्म होता है। तत्पश्चात बाल्यावस्था में मल - मूत्र, धूल मिट्टी में लिप्त रह भक्ष्याभक्ष्य भक्षण करता है। यह अज्ञानता एक दुःख ही तो है। युवावस्था में विषय विकारों में फँस जाते, प्रमाद, अभिमान, इष्टानिष्ट संयोग-वियोग आदि घट माला सी चलती रहती है। वृद्धावस्था आने पर समस्त इन्द्रियां अशक्त हो जाती, शरीर

माला सी चलती रहती है। वृद्धावस्था आने पर समस्त इन्द्रियां अशक्त हो जाती,

आत्म-प्रबोध

कांपता, मुख से लार टपकती, शारीरिक शक्ति मन्द पड़जाती। बाल सफेद हो जाते हैं। नेत्र और कान कमजोर पड़जाते हैं। श्वास दमा आदि रोग घेरे लेते हैं। स्वल्प काल में ही मृत्यु से भेंट हो जाती है। मृत्यु - काल की वेदना को सर्वज्ञ ही जानते हैं। ऐसे शरीर का होना तो न होने के ही समान है। अतएव मनुष्य भव मे आत्म-कल्याण कारिणी चार आराधनाओं को सम्यक् दर्शन पूर्वक धारण कर पुरुषार्थ करके भव-सागर को पार करो। यही आत्मा का सर्वोपरि एवम् सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।

देवगति में पारस्परिक हीनाधिक सम्पदा को देख अन्तरङ्ग ईर्षाभाव, मानसिक क्लेश होता है। पुण्य फल भोग एकेन्द्री पर्याय तक प्राप्त होती है। इस प्रकार देवायु भी व्यतीत हो जाती। इस प्रकार चारों गतियों में दुःख भोगना तथा त्रिविध-ताप सहन करना पड़ता है। सिर्फ पंचम-गति में ही शास्वत सुख की प्राप्ति है किसी ने कहा भी है—"पञ्चम गति सुख मिले शुभाशुभ का मेटो लेखा।" इस निविड़ अन्धकार में प्राणी इधर उधर भटकते हैं। कांच कञ्चन का बोध नहीं होता। विवेक के बिना यथार्थ वस्तु का ज्ञान नहीं होता। नेत्र होने पर भी अन्धकार में अन्धे सदृश भटकते हैं। लोभ, तृष्णा, माया उपद्रव खड़े जाते। इस प्रकार संसार - शकट - चक्र घूमा करता है। हे भव्यो! श्री जिनेन्द्र ने ज्ञानरूपी जो निर्विघ्न उत्तम मार्ग बतलाया है, उसी का अनुसरण करो। सकल सिद्धान्त का सार, सर्वमान्य समस्त प्राणियों का हितकारी और आत्मोद्धारक मार्ग पर चलो। जिस प्रकार अग्नि—ज्वाला समस्त पुद्गलों को भस्म कर देती है, परन्तु पानी से बुझ जाती है। वैसे ही निज स्वरूप को सम्हाल वैराग्य रूपी जल सींचने से भव- आताप बुझ जाती जाती है। अथवा जैसे—अन्धकार में दीपक के ले जाने से उसके प्रकाश में समस्त पदार्थ प्रतिभास जाते हैं। वैसे ही तत्वज्ञान रूपी विमल प्रकाश से मोहान्धकार पूर्ण संसार में सत्य वस्तु झलक जाती है। यह आत्मज्ञान ही परम दीपक है।

जिस प्रकार शकट—चक्र बिना दो बैलों के नहीं चलते, उसी प्रकार संसार शकट—चक्र भी बिना रागद्वेष के नहीं चलते। यथार्थ में तो ये रागद्वेष मोह ही संसार निवास का कारण है। यह आत्मा अनादि काल से संसार रूपी मैल से मलीन है। वह मलीनता इस जीव के प्रत्येक प्रदेश में व्याप्त हो रही है यदि प्राणी इस मलीनता को विषय—वासनाओं से दूर करना चाहे तो कदापि नहीं कर सकता। इस जीव को तो संसार में राग-रङ्ग और ऐश-आराम का ही उपदेश मिलता है। वहां चिदानन्द चेतन स्वरूप आत्मा को सत शान्त नहीं मिलती। गृहस्थों का घर पंच पापों से परिपूर्ण है। राग—रङ्ग, विषयभोग, निद्रा कलह का स्थान है। यदि इस स्थान को धर्म स्थान कहें तो फिर अधर्म स्थान किसे कहेंगे?

इस सांसारिक मलीनता को दूर करने में विशुद्ध भावों की उत्तरोत्तर वृद्धि ही समर्थ है। इस आत्म वस्त्र को अरिहन्त वचन रूप साबुन और वैराग्य रूपी जल न हो तो अन्य सामग्रियां कुछ न कर सकेंगी। समता, जप,तप, परोपकार, अल्प राग, पंच अणुव्रत, शास्त्र स्वाध्याय, उदासीन वृत्ति, अल्पारम्भ आदि सद्गुण संयुक्त पुरुष पवित्रता पूर्वक निजानन्द में रमण करते हुये काल व्यतीत करते हैं, व विचारते हैं—

यह सब संसार जल रहा है। इसमें लेश मात्र भी सार और सुख नहीं है। सुख तो निर्ग्रन्थ आत्म—ध्यानी, आधि व्याधि रहित, वीतरागी को है। वह शाश्वत मोक्ष का हेतु केवल लक्ष्मी का उपार्जन करता है। संसारी जीव तो केवल धन के उपार्जन के लिये छल, कपट, लोभ लालच और मायाचार में सदैव फंसे रहते हैं। सच पूछो तो वे उसका पूरा क्या अधूरा उपयोग भी नहीं करते। मात्र उपाधियों को ही भोगते हैं। पापों पार्जन करते हुए अचानक काल के गाल में समा अधोगति

...यों को ही भोगते हैं। पापों पार्जन करते हुए अचानक काल के गाल में सदा अधोगति

चले जाते हैं और वहां अनन्त संसार की वृद्धि करते हैं। मिला हुआ मानव भव निष्फल कर देते हैं। जिससे निरन्तर दुखी रहते और भव भ्रमण करते हैं।

जो सर्व प्रकार आरम्भ, परिग्रह से विरक्त हो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से अप्रतिबन्ध रूप से विचरते हैं। शत्रु, मित्र, कांच, कञ्चन, महल, मसान, शीत, उष्ण, निन्दा, स्तुति, जीवन, मरण, सुख, दुख, शहर, वनखण्ड आदि के प्रति समान दृष्टि रखते हैं। जिनका समय शुद्धात्म-ध्यान में व्यतीत होता है। जिनका मन स्वाध्याय तथा तत्व-चिन्तन में संलग्न रहता है। ऐसे कषाय कर्दम रहित जितेन्द्रिय निर्ग्रन्थ ही परम सुखी हैं। जिन्होंने घातिया कर्मों को क्षय कर अघातिया कर्मों को क्षपकर डाला है, जो अनन्त दर्शी-ज्ञानी हैं वे ही सम्पूर्ण सुखी हैं तथा वे ही समस्त कर्मों से भिन्न हो पंचमगति (मोक्ष) प्राप्त करेंगे। जो विवेकी इस परमसुख के विषय में विचार करेंगे एवम् तदनुकूल आचरण करेंगे, वे मुक्तात्माओं के अनन्त चतुष्टय स्वरूप शास्वत सुख का आस्वादन करेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं है। भैया हो ? महान् पुण्योदय से यह मानव पर्याय प्राप्त हुई है। भयङ्कर भावों में मत लगे रहो। इन भावों में रमण करते रहना मनुष्य पर्याय रूप रत्न का हारना है। तुम एक मुहूर्त भी चिन्तवन नहीं करते। यह तुम्हारी बड़ी भारी भूल है।

इस आनन्द घन आत्मा में जिस प्रकार से सच्चा सुख प्रकट हो सके उसे प्रकट करो। विचार करो कि मैं कौन हूं ? कहां से आया हूं ? और अब कहां जाऊँगा ? मेरा सच्चा स्वरूप क्या है ? यह संसारी सम्बन्ध किस कारण हुआ ? शान्त परणामों से विचारने पर निश्चय हो जायगा कि अपनी आत्मा ही नन्दन-वन सदृश शीतल, सुखदायक सुख का स्थान है। यह आत्मा ही कर्मों को दूर करने वाला है। अपनी आत्मा ही निर्मल शिव स्वरूप है। अब मैं इस महाभाग्य आत्मा को दुर्नय

में न जाने दूंगा। भोग सामग्री का तिरस्कार कर सज्जिनदेव, सद्धर्म और सद्गुरु का शरण लिया है। वह जिन देव कैसा है? कि पूर्व-भव में चक्रवर्ती, राजाधिराज, महामण्डलेश्वर होने पर भी संसार का यथार्थ स्वरूप समझ समस्त पुण्य-सम्पदा को त्याग देता है। आत्म तत्व की शोध कर वीतराग विज्ञानता के बल से घाति या कर्मों को चकचूर कर केवल दर्शन सहित निज स्वरूप में विहार करते हैं। शेष चार कर्म जली रस्सी सदृश रहते हैं। यथाख्यात चारित्र रूप उत्तम संयम का सेवन करते हैं। अन्य जीवों को कर्म-शान्ति के लिये निवारण मेघ ध्रुवत दिव्य-ध्वनि से महोपदेश देते हैं। जिनका अनन्त संसार नष्ट हो गया है ऐसे श्री मन्दर स्वामी पूर्व विदेह क्षेत्र में विराजमान हैं। वे ही सच्चे देव हैं।

जो आत्मा को अधोगति से रोक सद्गति को प्राप्त करा देता है, वही सद्धर्म है। श्री जिनेन्द्र भगवान ने इस सच्चे धर्म के मुख्य दो भेद बतलाये हैं अर्थात् पहला व्यवहार धर्म और दूसरा निश्चय धर्म। व्यवहार धर्म में दया प्रधान है। सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य तथा निर्ग्रन्थत्व ये चार महाव्रत दया की रक्षा के लिये हैं। दया के आठ भेद हैं (१) द्रव्य दया (२) भव दया (३) स्वदया (४) पर-दया (५) स्वरूप दया (६) अनुबन्ध दया (७) व्यवहार दया (८) निश्चय दया। अन्य जीवों को दुर्गति में जाते हुये देख अनुकम्पा बुद्धि से उपदेश देना भाव-दया है। यह आत्मा अनादि से मिथ्यात्व और मोह प्रत्येक कार्य यत्नाचार पूर्वक कर जीवों की रक्षा करना द्रव्य दया है। में फँसी है, जिससे निज तत्व की उपलब्धि नहीं होने पाती तथा जिनाज्ञा का परि-पालन नहीं होने पाता। ऐसा मन में विचार कर धर्म में प्रवेश करना स्वदया कहलाती है। षट्-कायिक जीवों की रक्षा करना पर दया है। सूक्ष्म विवेक से अपने स्वरूप का विचार करना स्वरूप-दया है। जिस प्रकार

गुरु-शिष्य को कठोर और कड़वे वचक कहकर उसे सन्मार्ग पर लगाता है, यही पर दया है। यद्यपि देखने में अयोग्य जान पड़ती है, परन्तु परणामों में करुणा ओत-प्रोत है इसी का नाम अनुबन्ध दया है। उपयोग और विधि पूर्वक दया पालन का नाम व्यवहार दया है। शुद्ध शाध्य उपयोग में एकता-भाव उपयोग का होना निश्चय दया का लक्षण है। इस व्यवहार धर्म से जीवों को सुख-सन्तोष और अभय आदि सब विचार पूर्वक देखने से आजाता है।

दूसरा निश्चय धर्म है जो अपने स्वरूप की अज्ञानता को दूर कर आत्मा को आत्मा से पहिचानता है। विचारता है कि संसार असार है। मेरा इसमें कोई नहीं है। मैं इससे भिन्न हूं। मैं परम ब्रह्म, असंग, अखण्ड, सिद्ध स्वरूप, अविनाशी आत्मा हूं। इस प्रकार आत्म-स्वभाव में प्रवृत्ति करना निश्चय धर्म है। ऐसा यह ध ँ तत्व है।

गुरु का स्वरूप है। जो स्वयं तरते और अन्यों को भी भव समुद्र से पार कर देते हैं। बिना उत्तम गुरु के तत्व ज्ञान स्व-स्वरूप, संसार स्वरूप, लोकालोक का ज्ञान आदि प्राप्त नहीं होता। सद्गुरु अर्हन्त भगवान की दिव्य ध्वनि के समान सद्उपदेश देते हैं। वे सदैव कंचन और कामनी के सर्वथा त्यागी हैं। नवधा भक्ति पूर्वक विशुद्ध आहार जल लेते तथा बाईस परीषहों को सहन करते हैं। क्षान्त, दान्त, निरारम्भी और जितेन्द्रिय होकर सिद्धान्त ज्ञान धन में सदैव निमग्न रहते हैं। धर्म साधन हेतु ही शरीर की रक्षा करते, निर्ग्रन्थ पंथ का पालन करते हुये कायर नहीं अपितु शूरसिंह होते हैं। वे रात्रि भोजन त्यागी, मौनी सर्व साधु समभावी, क्षमावान् ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, स्वाध्याय में रत, वस्तु-स्वरूप के वेत्ता, वीतरागी होते हैं ऐसे देवशाल गुरु, सप्ततत्व, नव पदार्थ, षट् द्रव्य, पंचास्तिकाय आदि का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

४। जिस आत्मा में निर्मल बुद्धि, माध्यस्थता सरलता और विशालता है, वही आत्म तत्व पाने का उत्तम पात्र है। उसे ही आत्मा के प्रति करुणा उत्पन्न होती है। वही पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को समझ मोक्ष पुरुषार्थ में लग जाता है। जितनी भी आत्मायें मुक्त हुई हैं। वे सब सर्वज्ञ के वचनों पर विश्वास कर उनके उपदेशानुसार मोक्ष मार्ग पर प्रबल अवलम्बन से हुई हैं। जिसमें रागद्वेष मोह भाव नहीं है, वही समस्त दोषों से रहित मोक्ष मार्ग का उपदेश कर सकता है।

५। यह जीव अनादि से ही रागद्वेष मोह के प्रबल फन्दे में फँसे अपने सम्बन्ध में किञ्चित भी विचार नहीं करने पाया। आर्य खण्ड, मानव पर्याय सम्पति युक्त उत्तम कुल निरोग शरीर और जैन धर्म पाकर, सन्देह रहित हो, सर्वज्ञ वचनानुसार मोक्ष मार्ग का आचरण करो। यही सच्चा मोक्ष मार्ग का उपदेश है। त्रिदोष रहित, अतिशय सहित तीर्थङ्कर देव के उपदेश से आत्म स्वभाव को स्वीकार करने से ही कल्याण है। जब तक सप्त प्रकृतियों का क्षयोपशम, उपशम या क्षय नहीं होता, तब तक सम्यक्दृष्टि होना असम्भव है। ये सप्त प्रत्यय जैसे जैसे मन्द होते जाते हैं। तैसे तैसे सम्यक्त्व का उदय हो जाता है। जीव की सप्त प्रकृतियों की ग्रन्थी छूट जाती है, उसे आत्म रत्न प्राप्त हो जाता है। इसीलिये तत्व ज्ञानियों ने इस ग्रन्थी को भेदन करने का बार बार उपदेश दिया है। जो आत्मा प्रमाद तज ग्रन्थी छेदन करेगा, वह अवश्य आत्म प्रबोध को प्राप्त करेगा। संसार ताप से अत्यन्त तपायमान आत्मा को शीतल करना ही कृत कृत्यता है।

यह आत्म रत्न अन्तरङ्ग शोधन से ही प्राप्त होता है। अतएव जैसे बने तैसे निरन्तर लगे रहकर उदास वृत्ति से रहो। यथा शक्ति उत्तम सत्य व्यवहार सहित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को करो मोह के माहात्म्य से ही यह जीवन प्रमाद में व्यतीत हो रहा है। इसके प्रभाव से

...को करो मोह के माहात्म्य से ही यह जीवन प्रमाद में व्यतीत हो रहा है। इसके प्रभाव से

मित्र द्रोही हो जाता है। विश्वासघात, दुष्ट व्यसन सेवन, मिथ्यादोषारोपण, हिंसा युक्त व्यापार, धोखा-धड़ी, चोरी आदि जितने भी संसार में प्रचलित कुकृत्य हैं यह मानव उन सब को बड़ी चतुराई से करता है। एक मात्र सम्यक्त्व ही आत्मा को इस अशुद्ध व्यवहार से रोकने में समर्थ है। वह आत्मस्थिति को सम्हाल उदय में आए पूर्व कर्मों को भोगता हुआ नूतन कर्म बन्ध नहीं होने देता। यही उत्तम आत्महित है। इसे प्राप्त किए बिना किसी ने न मुक्ति पाई है, न पा रहा है और न भविष्य में पायगा। इस एक मात्र मोक्ष पंथ को बताने के लिये श्री अरिहन्त देव ने असंख्य उपदेश और क्रियाकाण्ड बनाये हैं। हे भाईयो! तुम उन्हें ग्रहण करो। समस्त भेदों को दूर कर अन्तरङ्ग वृत्ति से निजात्मा पर गम्भीरता पूर्वक विचार करो।

जो आत्मा इन जड़ कर्मों में जितनी अधिक आत्म-बुद्धि करता है, अज्ञानता उतनी ही अधिक वृद्धि पाती है। आश्चर्य तो यह है कि कर्म स्वयं जड़ होने पर भी चेतन को अचेतन बना रहा है। यह चेतन, चेतना भाव को भूल उसी को निज स्वरूप मान रहा है। जो निर्मल आत्मायें कर्म-संयोग को या उसके उदय से उत्पन्न हुई पर्याय को निज स्वरूप नहीं मानतीं और पूर्व सत्ता में रहने वाले कर्मों के फल को बन्ध रहित परिणामों से भोगती हैं। वे आत्मायें उत्तरोत्तर ऊर्ध्व श्रेणी पर एक समय एक मात्र शुद्ध आत्मद्रव्य को प्राप्त कर लेती हैं। जो आत्मायें विनयी, सरल, लघुत्व भाव को पाकर सदैव सत्पुरुषों के चरण-कमलों में रहती हैं वे भी उन महात्माओं जैसी ऋद्धियां प्राप्त कर लेती हैं। इस आत्मा को केवली, श्रुत केवली या सद्गुरु का कभी संयोग नहीं मिला; नहीं तो निश्चय ही दिगम्बर पद ग्रहण कर रत्नत्रय आराध कर मोक्ष पा जाती। मोक्ष तो हथेली में है। अब भी अपने परिणामों की सम्हाल करो। जीवों से निर्वैर बुद्धि कर, मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भाव रक्खो।

गुणीजनों को देख हर्षित होओ। संसार ताप से संतप्त आत्माओं पर अनुकम्पा करो। सब जीवों से मैत्री भाव रक्खो। विपरीत श्रद्धा रखने वालों पर माध्यस्थभाव रक्खो। जगत के प्रतिबन्ध को भूल आत्म-हित में लग जाओ। आत्म-दर्शन में स्थिर हो समाधि भाव में रमण करो। यह परमार्थ भाव अन्तमुहूर्त मात्र का है।

जो साधु चैतन्य स्वरूप आत्मा को जान, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि तत्त्वों को भली प्रकार समझता है। वह कर्मों का संवर कर मिथ्यादर्शन से उत्पन्न होने वाली कर्म-रज को हटा, रत्नत्रय युक्त वीतराग पद पर आरूढ़ हो 'कैवल्य' प्रकट कर लेता है। फिर मन, वचन, काय के योगों को रोक समस्त कर्मों का क्षय कर निरञ्जनपद प्राप्त कर लेता है। परमात्मा का ध्यान कर परमात्मा बन जाना कोई कठिन नहीं है क्योंकि यह तो निज स्वभाव की ही बात है; परन्तु आवश्यकता है सच्ची समझ की, सच्ची समझ से ही शुद्धोपयोग की प्राप्त होती है। अखण्ड सिद्धान्त तो यह है कि संयोग, वियोग; सुख, दुख, हर्ष, विषाद, राग, विराग आदि द्वन्द्व योग किसी व्यवस्थित कारण को लेकर होते हैं। एकान्त पक्ष ही न मान बैठना। अनेकान्त दृष्टि रखना। नियम पूर्वक किये हुये अभीष्ट की सिद्धि शीघ्र होती है।

पठन की अपेक्षा मनन अधिक करो। जगत को देखने की अपेक्षा अनेक अन्तःकरण को देखो। आहार-विहार में अलुब्ध रहो। उपकार बुद्धि रख ऊँचा लक्ष्य रक्खो। वर्ताव में बालक, मे युवा और ज्ञान में वृद्ध बनो। सदैव बारह भावनाओं का चिन्तवन करो। प्रथम अनित्य भावना के स्वरूप का विचार करो। जिस प्रकार स्वप्न में देखी हुई एक भी वस्तु सत्य नहीं है, उसी प्रकार संसार की एक भी वस्तु सत्य नहीं है। सभी चञ्चल—चपल हैं। सब क्षणिक और विना शक्ति हैं। मात्र

आप अखण्ड अविनाशी हैं; अतएव शाश्वत नित्य वस्तु प्राप्त करो। हाथी, घोड़ा, विभूति वैभव, इन्द्रिय-सुख, बल-प्रताप, कुटुम्बादि सब अनित्य हैं। जैसे बिजली की चमक उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती है। अधिकार थोड़े दिन रहकर विनष्ट हो जाता है। आयु पानी के बुल-बुले के समान है। संसार का समस्त वैभव इन्द्र धनुष के समान है। जो देखते-देखते क्षण भर में लय होजाता है। मतलब यह है कि संसार की एक भी वस्तु नित्य नहीं है। सब विनाशीक ठाठ है।

दूसरी अशरण भावना है। संसार में प्राणियों को इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, औषधि, ऋद्धि आदि विद्यायें, कुटुम्बी जन आदि कोई भी मरने से नहीं बचा सकता। केवल एक उत्तम जैनधर्म ही शरण देने वाला है। उसी का महोपदेश श्रवण कर अनाथ से सनाथ हो। जैनधर्म के बिना भव वनी में भ्रमण करते हुए तेरी बांह पकड़ने वाला संसार में कोई दूसरा नहीं है। अनन्त अशरणता को त्याग, चैतन्य स्वरूप निजात्मा की सत्य शरण स्वीकार करो। तत्व-ज्ञान रूप आत्मस्वभाव का ही सेवन करो। अन्त में यही मुक्ति का मूल होगा। पुरुषार्थ करके कषायों को निर्मूल करो। परम दिगम्बर अवस्था धारण कर शुक्ल ध्यान में स्थित हो शुक्ल लेश्या उत्पन्न कर अनिवृत्ति गुण स्थान में स्थिर रहो। सुमेरु जैसा अचल और अकम्प भाव वाला उत्तम ध्यान का ध्याता मुनि समस्त कर्मों को क्षय कर अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करता है। उसे श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, दिगम्बर, भदन्त, दान्त, यति, तपस्वी, पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक आदि अनेक नामों से सम्बोधित करते हैं। ये समस्त आपकी आप ही शरण हैं, अन्य की शरण नहीं। जो मिथ्यादर्शनी को शरण्य रूप मानता है वह अधोगति का पात्र होता है। इसलिये निश्चय में तो आपको आपही शरण है और न व्यवहार से पंच परमेष्ठी शरण हैं।

तीसरा संसार भावना का चिन्तवन है। संसार के समस्त प्राणी मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से आवृत्त हैं, अतएव जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग नहीं देख पाते तथा भयानक संसाररूपी विषमवन में भ्रमण करते फिरते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पंच परावर्तन रूप संसार में अनादिकाल से भटक रहे हैं। संसार क्या है? कहां संसार है? किस भाव से संसार है? किस के संसार है? कितने काल तक संसार है? संसार के कितने भेद हैं? इन छह प्रश्नों पर कभी विचार नहीं करते। इस संसार में जन्म-जरा-मरण और मन, वचन, काय का भयङ्कर कष्ट है। इष्टानिष्ट का वियोग, योग, जन्य विकराल दुःख है। भयानक रोगों से उत्पन्न हुई पीड़ा सहन करना पड़ती है। भव-भ्रमण सम्बन्धी समस्त भावों को चतुर्गति में भोगा है। चारों गतियों में दुख का ही अनुभव किया कहीं भी सुख प्राप्त न हुआ। अब मैं संसार से कब छुटकारा पाऊँगा? यथार्थ में संसार मेरा नहीं और न मैं संसार का हूं। मैं तो मोक्षमयी हूँ। कैंचुली के त्याग से सर्प का विनाश नहीं होता इसी प्रकार संसार वास छूटने से आत्मा का विनाश नहीं होता। आत्मा तो अभङ्ग और असङ्ग है। ऐसा विचार निरन्तर आत्म-चिन्तन करो कर्म-क्षय कारिणी ध्यानाग्नि को घट में निरन्तर जगाओ। आत्म-दर्शन के द्वारा भौतिक पदार्थों को निज स्वरूप से भिन्न समझो। आत्मा को रागद्वेष मोहादि कलंकों से निर्मल करने हेतु जो प्रयत्न किया जाता है वही आत्मा का संयम रूप सदाचार है। बिना इसके मुक्ति मार्ग नहीं होता।

शुद्ध आत्मस्वभाव की प्रतीति अनुभव में है, उसे पहिचान अपने ही अज्ञान से परपदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि कर चतुर्गति रूप संसार में दुःख ही दुःख पाया और यथार्थ सुख की अनुभूति से वंचित रहा। इस लिये आत्म स्वभाव की अज्ञानता शुभाशुभ इच्छाओं को रोक आत्मा में एकाग्र होना

परमार्थ दृष्टि से उत्तम आत्म धर्म है। हे भव्यो ! इस आत्म धर्म को धारण करो। स्वल्पाहार, पद्मासन वीरासन सिद्धासन, कमलासन, पर्यङ्कासन, खड्गासन, आदि आसनों में से किसी एक आसन को दृढ़ता (जिससे मन इधर-उधर न जाय) धारण कर निद्रा को त्याग एकाग्रचित्त ध्यान करने से संसार निवास छूट जाता है। जब ऐसी वीतराग दशा में उपयोग स्थिर न रहे तब सम्यक् श्रद्धा ज्ञान पूर्वक शुभराग में प्रवृत्ति करो जिससे परम्परा मोक्ष लाभ हो। मन्दराग के उदय से यह शुभोपयोग होता है। जिसमें षट्कायिक जीवों की रक्षा का भाव आजाता है परन्तु इस राग भाव को हेय समझो क्योंकि यह सब व्यवहार धर्म है। निश्चय तो शुद्धोपयोग ही है और यही उपादेय है।

चौथी एकत्व भावना है। संसार में माता-पिता, भाई-भतीजे, सुत-दारा, स्वजन-परिजन, दास-दासी आदि जितने नाते हैं उनके मध्य में रोगी-दुःखी हुआ मृत्यु के वश में पड़ा तड़फता अकेला ही परलोक को गमन करता है। मित्र, कुटुम्बी, लक्ष्मी कोई भी साथ नहीं जाता। यह जीव अकेला ही शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और उनका फल भोगता है। अकेला ही आया और अकेला ही जायगा। कहा भी है। 'जन्मे मरे अकेला चेतन, सुख-दुःख का भोगी और किसी का क्या ? इस दिन यह देह जुदा होगी।" इस प्रकार विवेकी जन एकत्व भावना का निरन्तर चिन्तवन करते हैं।

पांचवीं अन्यत्व भावना है। इसका यथार्थ स्वरूप माता-पिता परिजन आदि को आत्मा से भिन्न समझता है। ये तो इसी लोक के सहायक हैं। संसार में प्राणी दूसरों के मरण का तो अत्यन्त सोच करते हैं। परन्तु संसार समुद्र में डूबती अपनी आत्मा का किञ्चित सोच नहीं करते। वह बड़ा आश्चर्य है। जब यह शरीर भी अन्य है तब स्त्री, पुत्र, मित्र, कुटुम्बी, तात-मात, धन-धान्य, बाग, बगीचे, हाथी, घोड़ा, रूप, लावण्य तो प्रत्यक्ष ही अन्य (जुदे) दिखते हैं। मैंने अपनी अज्ञानता

ऐसे ही इन्हें अपना मान रखा है। अतः अन्यत्व को सिद्ध कर एकत्व में रमण करो।

छठवीं अशुचि भावना का चिन्तवन करना है। नरक में निरन्तर दुख ही दुख है। तिर्यन्चों को बध-बन्धन, मारन-ताड़न, अतिभारारोपण, भूख-प्यास की विषम वेदना है। मनुष्य गति में अनेकों रोग-शोक, तृष्णा चिन्तायें हैं। देव गति में दूसरे की आज्ञा में रहने का मानसिक दुख है। द्रव्योपार्जन में बैर, भय, शोक, कलह, असंयत, व्यवहार आदि करना पड़ता है। संसार में समस्त अनर्थों का एक धन है। जो भी अशुभ की प्राप्ति होती है, वह सब इस धन की सन्तान है। कठिनाई से प्राप्त होने वाले सांसारिक इष्ट पदार्थ मारण, बन्धनादि भय सहित हैं। सार हीन और स्वल्प काल ठहरने वाले हैं। सेवन किए विषय भोग भी दुख देने वाले हैं। यह जीव मल-मूत्र युक्त माता के गर्भ में जरायु से लिपटा माता के भक्षण से उत्पन्न तीव्र दुर्गन्ध युक्त रस का पान करता है। माता-पिता के रज वीर्य से उत्पन्न हुआ हाड़, मांस, मज्जा, रुधिर, चमड़ा आदि महा अशुचिमय शरीर अशुचि ही जानो। यह शरीर मल-मूत्र की खान, रोग-जरा का स्थान और रक्त, पित्त, श्लेष्म का भंडार है। अत्यन्त स्वादिष्ट एवम् सुगन्धित मनोहर द्रव्य भी इसके सम्पर्क से अपवित्र और मलीन हो जाते हैं। स्नान से व्रत भंग होकर आत्मा भी मलीन होजाती है। आत्मा की मलीनता ही अशुचि है। इसलिए शौचाशौच का स्वरूप समझना परमावश्यक है। यह आत्मा ही पवित्र दर्शन तथा यथार्थ पवित्रता की बोधक है। ऐसा जान वैराग्य धारण कर ऐसा ध्यान करो जिससे इस अपवित्र शरीर को संग छूट जाय।

इस शरीर को अपवित्र मानने वाले धीर वीर साधु जन शरीर से अनुराग न कर ग्रीष्म-शीत वर्षादि की कठिन परीषह सहन करते हैं। धर्म-साधन हेतु शरीर स्थिति निमित्त दिन में एक बार

आत्म-प्रबोध

रुक्ष शुष्क भोजन एवम् गरम जल ग्रहण करते हैं। अपने पास कवर्दिका मात्र नहीं रखते। न वाहन और न अयोग्य वचन बोलते हैं। पंच समिति और त्रिगुप्ति इस प्रकार तेरह प्रकार का चारित्र पालते हैं। वे बाह्याभ्यन्तर द्वादश तप का आचरण करते हैं। निर्ममत्व और निरहंकारी हो सब प्राणियों के प्रति सम-भाव रखते हैं। सुख-दुख, जीवन-मरण, निन्दा-स्तुति तथा मानापमान आदि द्वन्दों में समान भाव रखते हैं। ऋद्धि, रस, सुख में अहंपद से विरक्त मन दण्ड, वचन दण्ड और काय-दण्ड से निवृत्त रहते हैं। कषाय चतुष्क, माया, मिथ्या और निदान त्रिशल्यों एवम् सप्त भयों से रहित हो आत्म-ध्यान में लीन रहते हैं। चाहे चन्दन से चर्चित कर अथवा तलवार का प्रहार करो; दोनों अवस्थाओं में सदा समभाव रखते हैं। ऐसे साधु शुद्धात्माचरण चारित्र के बल से परमानन्द पद को प्राप्त करते हैं।

सप्त आस्रव भावना है। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद, योग, रागद्वेष मोह; पांच इन्द्रियां, आहारादि संज्ञा, ऋद्धि-गौरव आदि की समस्त क्रियायें आस्रव हैं। इनके द्वारा कर्मों का आगमन होता है। इन्हीं आस्रवों के कारण ही प्राणी संसार सागर में गोते खा रहा है। ये ही त्याज्य और घिनावनी वस्तुयें अनुराग उत्पन्न कराते हैं। इन्हीं से स्व-स्वभाव में अप्रीति होती है। मोह, जीव के स्वरूप को भुला देता है। इन्द्रियों के विषय रोकने के लिये मन को वश में करना अत्यन्त आवश्यक है। यह जीव छिद्र युक्त नौका के सदृश कर्मास्रवों से भव समुद्र में डूब जाता है। यह कर्मास्रव ही महान् दुख का देने वाला है। बारह अविरत, पच्चीस कषायें, पांच मिथ्यात्व और पन्द्रह योग—ये सब ५७ कर्मास्रव प्रनालिकायें हैं। इन्हीं के द्वारा कर्मों का प्रवेश होता है। प्राणी इन आस्रवों सहित दुर्ध्यान से मरण कर सप्तम नर्क में तेतीस सागर पर्यन्त महान दुख भोगता है।

अब संवर भावना का स्वरूप करते हैं। सत्तावन भेद रूप कर्मास्रव की प्रनालिकाओं को सब प्रकार से रोकना अर्थात् कर्मों का प्रवेश न होने देना ही संवर कहलाता है। इन ५७ आस्रव द्वारों को बन्द करने हेतु तप, परीषह, जय, अनुप्रेक्षादि ५७ भेद रूप डाँट हैं। जिससे आस्रव रूपी छिद्र बन्द किये जाते हैं। सार यह कि ज्ञान, ध्यान, तप, वैराग्य में लीन आत्मायें नवीन कर्म बन्ध नहीं करतीं हैं। जैसे छिद्र रहित नाव में पानी प्रवेश करता तथा नौका निःसन्देह तट पर लग जाती है। डूबती नहीं है। जैसे तेज तुरङ्ग लगाम द्वारा रोक लिया जाता है वैसे ही इच्छादि इन्द्रिय कषायें भी तप और ज्ञान द्वारा रोकी जा सकती हैं। जो मुनि मन-वचन-काय पूर्वक इन्द्रिय विषय रोक, पंच समितियों को पाल प्रमाद रहित होते हैं वे नवीन कर्मों का आस्रव नहीं करते। साधुजन वन में एकाकी रह रत्नत्रय, दश लक्षण धर्म पालन कर अपने चित को किंचित भी चलायमान नहीं होने देते। लोहे और पत्थर का पिघलाना तो सरल और सुलभ है परन्तु साधु चित चलायमान करना अत्यन्त दुस्तर कार्य है। इस प्रकार संवर भावना का सदैव आदर करो।

इसके अनन्तर रत्नत्रय पूर्वक सम्यक तपश्चरण करने वाले साधुओं के कर्मों की निर्जरा होती है। यह निर्जरा एक देश और सर्व देश के भेद से दो प्रकार की है। संसार-भ्रमण करते सभी प्राणियों के क्षयोपशमनुसार जो निर्जरा होती है वह एक निर्जरा है तथा जो तप सहित मुनि के निर्जरा होती है वह सकल निर्जरा है। एक अकाम और दूसरी सकाम निर्जरा है। जो उद्यम पूर्वक निर्जरा होता है वही सार्थक निर्जरा है। द्वादश प्रकार के तपाचरण से अनादि कालीन संचित कर्म-पुञ्ज नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार काल-किट्टिमा मय स्वर्ण ताप से शुद्ध सौटंच का हो जाता है। कर्म-कालिमा रहित होने पर आत्मा निज स्वभाव में सु-स्थिर होकर सिद्धालय परमानन्दानुभव करता है। अतएव

...ते हैं। जिस प्रकार का ...
रहित होने पर आत्मा निज स्वभाव में सु-स्थिर होकर सद्...
है भव्यो। सतत निर्जरा भावना का चिन्तवन करो। संवर भावना की सार्थकता तभी होगी।

अब संक्षेप में लोकानुभावना का स्वरूप वर्णन करते हैं। लोक के स्वरूप की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के स्वरूप का विचारना लोक भावना है। यह लोक अनादिनिधन, अकृत्रिम अपने स्वभाव में स्थित, नित्य, षट् द्रव्यों से सम्पन्न, ताड़ वृक्षाकार है। धर्म अधर्म, लोकाकाश तथा जितने में जीव और पुद्गलों का गमना गमन होता है। उतना ही यह लोक है। इसके अनन्तर द्रव्य विश्राम रहित केवल आकाश है; जिसे अलोकाकाश कहते हैं। सामान्यतः यह लोक इसके मध्य में एक ही है परन्तु ऊर्ध्व, अधो एवम् तिर्यङ्ग के भेद से तीन हैं। गति, अस्तिकाय, द्रव्य, तत्व कर्म, पदार्थ इनकी गिनती चार, पाँच, छह, सात, आठ और नौ भेद वाला भी है।

यह लोक अधो, मध्य और ऊर्ध्व प्रदेश में क्रमशः वेत्रासन, झालर और मृदंग के आकार है। पूरा लोक एक राजू विस्तार से चौदह गुणा ऊँचा है। इस लोक में यह जीव अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगता है। इस अनन्त भव-सागर में जन्म-मरण का बार-बार अनुभव करता है। संसार की दशा बड़ी ही विचित्र है। माता मर कर पुत्री तथा पुत्री, माता, पति, पत्नी और पत्नी मर कर पति हो जाती है। इस प्रकार इस जीव ने संसार के समस्त प्राणियों से अनेक बार अनेक नाते किये हैं। किस किस से अनुराग और बैर नहीं किया? महान् ऋद्धिधारी इन्द्र अनुपम सुख सामग्री का भोग करता हुआ आयु पूर्ण कर कष्ट दायक गति में चला जाता है। स्वर्गादि पुण्य फल भोग ने का ही स्थान है। वहां की अवधि पूर्णकर एकेन्द्री तक हो जाते हैं। पं० भंगतराय जी ने भी कहा है कि—
भोग पुण्य-फल हो एकेन्द्री, क्या इसमें लाली। कुतवाली दिन चार वही फिर, खुरपा अरु जाली॥
ऐसे केल-स्तम्भ वत निस्सार, महाकष्टदायी लोक को धिक्कार है। हे भव्यो! इस प्रकार

आत्म-प्रबोध

लोकानुप्रेक्षा का चिन्तवन कर वैराग्य को दृढ़ करो और आत्म-ध्यान कर लोक शिखर पर जा अनन्त काल पर्यन्त शास्वत सुख का अनुभव करो। मानव पर्याय की सार्थकता इसी में है। यही सार है।

अब यहां बोधि-दुर्लभ भावना के स्वरूप का वर्णन करते हैं। इस अनन्त संसार में एक तो मनुष्य जन्म पाना ऐसा दुर्लभ है, जैसे समुद्र में एक ओर पड़े जुड़े के छिद्र में दूसरी ओर पड़ी सामिला का प्रवेश होना दुर्लभ है। यों तो निगोद से स्थावर और त्रस पर्याय पाना ही कठिन है। इस मनुष्य पर्याय को सुर पति भी तरसते हैं। यदि मनुष्य जन्म भी मिल गया तो उत्तम देश श्रावक कुल, सुसंगति, सर्वाङ्ग-पूर्णता और निरोगता शरीर, सामर्थता, विनय आचार्य, उपाध्याय साधुओं का महोपदेश श्रवण कर उसे धारण करना आदि बातें इस लोक में क्रम से मिलना महान दुर्लभ हैं। यदि ये सब बातें सुलभ भी हो जायँ तो सम्यक् दर्शन की विशुद्धि पाना अत्यन्त ही दुर्लभ है। क्योंकि यह संसार मिथ्या मार्ग की आकुलता से आकुलित है। रागद्वेष और मोह ये महा बलवान हैं इन्हीं का परिणाम यह संसार है। यदि समस्त सद्गुणों की आधार भूत यह बोधि - हाथ से संसार में छूट गई तो निश्चय पूर्वक पुनः प्राप्त होना कठिन है? अतएव हमें बोधि प्राप्त करने में किञ्चित प्रमाद नहीं करना चाहिए। इस उपशम, क्षयोपम, क्षायक और सम्यक्त्व रूप महान दुर्लभ बोधि को भव्य जीव ही पांचवीं करण लब्धि के अन्तर प्राप्त करते हैं। ऐसी निराकुल और शास्वत सुख-दायिनी बोधि का निरन्तर चिन्तवन और आदर करो।

अब यहां अन्तिम धर्म भावना के स्वरूप का विवेचन करते हैं। तीर्थङ्कर द्वारा उपदिष्ट उत्तम क्षमादि रूप दश-लक्षण धर्म समस्त जीवों का परम हितकारी है जिसमें सप्त तत्वों का विवेचना पूर्ण वर्णन है। वह एकान्त एवम् मिथ्यात्व से सर्वथा रहित मोक्ष का दाता है। जो मनुष्य इस धर्म को

शुद्ध भाव पूर्वक धारण करते हैं वे महा भाग्यवान् और पुण्यवान् हैं। जिस जीव को परम्पराय परम सुख की प्राप्ति होना है वही रत्नत्रय स्वरूप शुद्धात्म-धर्म को सेवन करता है। जैसे जैसे शान्ति, दया, क्षमा और वैराग्य भाव बढ़ता जाता है वैसे वैसे अविनाशी मोक्ष सुख के समीप पहुंचते जाते हैं। एक दिन ऐसा आता है कि सम्पूर्ण अक्षय सुख की प्राप्ति हो जाती है। सार यह है कि इस पंच परावर्तन रूप भव वन में अनादिकाल से भ्रमण करते हुये बहुत समय व्यतीत कर दिया। अब बड़ी कठिनाई से वीतराग अरिहन्तदेव द्वारा उपदिष्ट रत्नत्रय युक्त दश लक्षण स्वरूप धर्म पाया है। इस अवसर को प्रमाद में नहीं खोना चाहिये। आत्मोत्कर्ष का यह सुनहरा अवसर है। यदि अब चूके तो न जाने कितने काल में ऐसा अवसर मिलेगा। इस प्रकार निरन्तर धर्म-भावना का चिन्तवन करो। इसी में आत्म-कल्याण है। संक्षेप में यही वैराग्य जननी बारह भावनाओं का स्वरूप है, जिसका प्राणियों को निरन्तर चिन्तवन करना चाहिये।

जो पुरुष संहनन शक्ति के आधार पर पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के आश्रित जिस क्षेत्र में दर्शन, ज्ञान, चारित्र युक्त हो द्वादश तपों का आचरण करता है, वह उस क्षेत्र में सिद्धि को प्राप्त करता है। जिसे शरीर और भोगों से वैराग्य हो गया है। तथा उपसर्ग सहने की सामर्थ्य है, वह थोड़ा भी श्रुत पढ़ा हो, तो भी कर्म क्षय कर सकता है। रागी समस्त शास्त्रों का पाठी हो जाय, तो भी रंचमात्र कर्म क्षय नहीं कर सकता। आदि तुम संयम युक्त चारित्र पालते हो, तो भिक्षा-भोजन कर वन में रहो। अधिक मत बोलो। दुःखों को सहो। निद्रा को जीतो। समस्त प्राणियों में मैत्री भाव रखो। वैराग्य रूप परिणाम रख शील, सन्तोष, दया, क्षमा विज्ञानता धारण करो। आरम्भ, कषाय और परिग्रह को परित्याग करो। सदैव ज्ञान, ध्यान और तप में ही लीन रहो। स्वल्प काल में ही मोक्ष-लाभ

हो जायगा। बिना चारित्र पाले कर्म क्षय नहीं होते। अन्य जीव ज्ञान, ध्यान और चारित्र तीनों के मेल से संसार-सागर पार होते हैं। ज्ञान तो द्रव्य स्वरूप का प्रकाशक है, तप कर्मों का विनाशक और चारित्र रक्षक है। जिन मत में इन तीनों के संयोग से नियम से मोक्ष होता है।

सम्यक्त्व होने से यह वर्तमान ज्ञान ही सम्यक्ज्ञान हो जाता है। जिससे समस्त पदार्थों के स्वरूप की पहिचान हो जाती है। जिससे पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को अच्छी तरह जान लिया, वह पुण्य-पाप और हिता हित को भी जान लेता है। पुण्य पाप का ज्ञाता हो जाने से कुशील दूर कर शीलवान् बन जाता है। हे साधु! जिस क्षेत्र में कषायों की अधिक उत्पत्ति, आदर का अभाव, अधिक मूर्खता इन्द्रिय विषयोंका आधिक्य, विपरीत, शृंगारादि भावों युक्त अधिक स्त्रियां, क्लेश की अधिकता और उपसर्गों का बाहुल्य हो, तू वहां बिलकुल निवास मत कर, क्योंकि वहां तेरा चारित्र रत्न चुरा लिया जायगा। तू तो शैल शिखर या कंदरा, स्मशान भूमि, सूना घर, एकान्त स्थान या वृक्ष की कोटर में निवास कर। इसी में तेरा कल्याण है। मुनियों को, आचरण रहित देश, दुष्ट राजा का देश, जहां भिक्षा भी न मिले, रुचिवान श्रावक न हो, संयम का घात हो, ऐसे देश प्रान्त या स्थान को शीघ्र छोड़ देना चाहिये। सुसंगति-कुसंगति से सम्यक् दर्शन की विशुद्धि बढ़ती और नष्ट होती है। जैसे-सरोवर का शीतल जल कमल-पुष्प के संयोग से सुगन्धित हो जाता और अग्नि के संयोग से उष्ण और विरस हो जाता है।

रागद्वेष रहित मुनि कर्मों से नहीं बँधता। यह आत्मा जिस शुभाशुभ भाव को करता है, उसी भाव का करने वाला हो जाता है। जहां वस्तु से ममत्व है वहाँ बन्ध और जहां ममत्व नहीं वहीं मोक्ष है। यह न्याय है। संसार में चतुर्गति सम्बन्धी जीवों के शरीर के जो सुन्दर-असुन्दर, स्थूल-दुर्बल,

आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के आकार दिखाई देते हैं, वे समस्त आकार पुद्गलों के रचे हुए हैं जो कि जीव स्वभाव से सर्वथा सदैव भिन्न हैं। वे सब औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण शरीर के स्कन्ध हैं और उनकी रचना पुद्गलों से हुई है। अतएव आत्म-स्वभाव से भिन्न हैं। आत्मा तो असंख्यात प्रदेशी, अमूर्तिक, शुद्ध, चैतन्य मयी, परमानन्द स्वरूप है। वह इस पुद्गल मयी शरीर में तिल, बांस में अग्नि, ईख में रस के समान व्याप्त है। जिस तरह चतुर मनुष्य तिल से तेल, बाँस से अग्नि और ईख से रस पृथक निकाल लेते हैं। उसी प्रकार सत्पुरुष आत्म-तत्व को शरीर से अलग निकाल लेते हैं।

भरत क्षेत्र के इस अवसर्पिणी के पंचम दुखमा काल मे सम्यक् ज्ञानी का धर्म-ध्यान हो सकता है। वह आत्म-स्वभाव के ज्ञाता को ही होता है। इस समय में भी मन, वचन, काय को शुद्ध रखने वाले आत्म-ध्यानी मुनि हैं और इन्द्रादिक पद तथा लौकान्तिक देवत्व प्राप्त कर सकते हैं। फिर वहां से आकर मोक्ष लाभ कर सकते हैं। यदि इस काल में यथाख्यात निश्चय चारित्र नहीं हो सकता तो सराग चारित्र नाम के अपहृत संयम को पालन कर परम्पराय मोक्ष पा सकते हैं।

जो अपनी आत्मा को अपनी ही आत्मा में अपनी ही आत्मा द्वारा एक अन्तर्मुहूर्त मात्र प्रत्यक्ष रूप से देख लेता, अनुभव कर लेता है। वह स्वयं सर्वज्ञ हो जाता है। अर्थात सिद्ध आत्मायें समस्त कर्मों के अलग होने पर एक समय मात्र में लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हो जाती हैं। पूर्व के प्रयोग से घुमाये हुये कुम्हार के चाक की तरह या लेप रहित तूँबी सदृय कर्मों की संगति छूटने से, अथवा एरण्ड के बीज की तरह बन्ध के छूटने से या अग्नि शिखावत ऊर्ध्व गमन में कारणभूत धर्मास्तिकाय के न होने से नहीं जाते। लोकाग्र में तिष्ठे हुये इन्द्रिय-विषयों से अतीत, अविनाशी,

परम सुख को अनन्त काल भोगते हैं। आत्मा की स्वाभाविक अवस्था का रह जाना ही तो मोक्ष है। उस समय आत्मा के प्रदेशों में किसी भी जाति की पुद्गल-वर्गणा का सम्बन्ध नहीं रहता। शुद्ध स्फटिक या निर्मल जल अथवा शुद्ध रुई के वस्त्र के समान पूर्ण स्वच्छ होजाती है। सिद्ध आत्मा पूर्ण शरीर के आकर तनुवात वलय में ठहर जाती है। वे अपनी सत्ता को अन्य सिद्धों से जैसे वे अनादि से अन्य आत्माओं से भिन्न थे वैसी ही भिन्न रखते हैं। समस्त आकुलताओं का अन्त हो जाता है। अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति हो जाती है। उत्कृष्ट आठ गुण युक्त हो निराबाध सुख में तिष्ठते हैं। ऐसे सिद्ध महाराज को हमारा बारम्बार नमस्कार है।

सिद्ध भगवान बिना किसी सहायता तथा बिना कर्म के समस्त लोकालोक को अर्थात मूर्तिक अमूर्तिक द्रव्यों की त्रैकालिक अनन्त गुण–पर्यायों को युगपत देख–जान लेते हैं। यथार्थ में यह द्रव्यमोक्ष आत्मा के निज स्वरूप का विकास है। जो निर्विकल्प परम समाधि स्वरूप सामायिक नाम संयम में स्थित होने समर्थ होने पर भी उसको बड़कर, एकान्त पक्ष से सराग-चारित्र आचरण करने को मोक्ष का कारण मानते हैं। वह स्थूल पर–समय कहलाता है। तथा जो उस समाधि रूप सामायिक संयम में तिष्ठना चाह कर भी योग्य सामग्री को न पाकर शुभोपयोग का आश्रय करते हैं, वह सूक्ष्म पर-समय कहलाता है। जैसे केवल दर्शन, केवल ज्ञान जीव का स्वभाव है, वैसे ही निज रूप में स्थिर स्थिति रूप वीतराग चारित्र भी जीव का निज स्वभाव है। यथार्थ मे ये दोनों ही जीव-स्वभाव हैं। इसलिये स्वभाव में निश्चल स्थितिरूप चारित्र की ही भावना करना योग्य है।

इस जीव का अनन्तकाल संसार के कारण रूप भावों में ही व्यतीत हो गया। मोक्ष के कारणों के साधनों को कभी न जाना। इसलिये चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण किया। अब आत्मन् ! समस्त

...से जीव का अनन्तकाल सस र

...वनों को कभी न जाना । इसलिये चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण किया । अब आत्मन् ! समस्त पर - भावों को छोड़ कर अपने शुद्ध ज्ञानदर्शन रूप स्वभाव में स्थिर हो स्वानुभव जागृत कर, ताकि अभेद रत्नत्रय मयी निश्चल स्वभाव प्राप्त हो जाय । जैसा साध्य होता है वैसा ही उसका साधन होता है । जैसा आत्म-स्वभाव प्राप्त करना है वैसा ही आत्म-स्वभाव अनुभव करना साधन है । जो महापुरुष आदि मध्य और अन्त रहित स्वभावतः प्रकाशवान् शुद्ध ज्ञान का पुञ्ज ग्रहण-त्याग के विकल्पों से भिन्न, अन्य पदार्थों से भिन्न, अपनी सत्ता को भिन्न रखता हुआ निश्चल रूप से धारण करता है वही स्वानुभव में रमण करने वाला मोक्ष का साधक होता है । यथार्थ में तो आत्मा की उपासना शक्ति से ही कर्मों का क्षय होता है । इसलिये आत्मा के स्वभाव में आचरण करना ही मोक्ष-मार्ग है ।

निश्चय नय से तो यह आत्मा विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावधारी है, परन्तु व्यवहार नय से अनादि कालीन मोह कर्म के उदय से मति ज्ञानादि विभाव गुण या नर - नारकादि विभाव-पर्यायों में परिणमन करने से पर-समय रूप परणति हो रही है । जब यह आत्मा निर्मल विवेक ज्योति से प्रकट परमात्मा की अनुभूति रूप अनुभव करता है, तब स्व-समय रूप आत्मा के स्वभाव चारित्र में चलने वाला हो जाता है । इस प्रकार स्व-समय और पर-समय का स्वरूप समझना चाहिये । जब यह आत्मा निर्विकार स्व-संवेदन रूप स्व - समय में लीन होता है, तब कर्म बन्ध से छूट जाता है । यही स्व-समय आत्मा का स्वभाव (निश्चल चारित्र रूप) मोक्ष मार्ग है । असंयमी, अणुव्रती या महाव्रती सम्यक्दृष्टि आत्मानुभव के काल के अतिरिक्त या धार्मिक व्यवहार में भी अपना उपयोग लगाता है । यद्यपि चारित्र की अपेक्षा स्व-समय रत नहीं है परन्तु श्रद्धान ज्ञान की अपेक्षा पर समय रत भी नहीं है । वह भली प्रकार श्रद्धान रखता और जानता है कि आत्मा का हित स्वभाव में रमण करना ही है । उपयोग का आत्मा की भूमिका को छोड़ अन्य में जाना कषायोदय का कार्य है । सार यह है कि वह

इस भेद विज्ञान को भली भांति जानता है। जब वह निष्कषाय हो क्षीण–मोह गुण स्थान में शुद्धोपयोगी होजाता है, तब तत्काल घातिया कर्मों का नाश भाव मोक्ष रूप अरिहन्त परमात्मा हो जाता है। यह सब रत्नत्रय का ही माहात्म्य है। इसके विपरीत भेद विज्ञान विहीन मिथ्यादृष्टि आत्मीक आनन्द के स्वाद कौन जानता हुआ मिथ्या श्रद्धान, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रत रहता है, वह पर-समय रत है। उसका सम्पूर्ण परिवर्तन अनात्मभूमि में हो रहा है।

जिस प्रकार जल का स्वभाव शीतल और निर्मल है, परन्तु उसमें मिश्री की डली डाल देने से उसका स्वभाव मीठा और कुछ गंदला हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव तो रत्नत्रय रूप है, परन्तु दान, पूजा, परमेष्ठी की भक्ति आदि शुभ कर्मों के करने से अर्थात् शुभोपयोग से साता वेदनीय आदि पुण्य कर्म का बन्ध हो जाता है। तथा स्वभावतः शुद्ध जल में गंदले नमक की डली डाल देने से वही जल खारा और मैला हो जाता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व भावों (कषायों) में श्रद्धानादि भाव अशुभोपयोगी होकर पाप बन्ध के कारण हो जाते हैं। जो आत्मा निजानन्द रूपी निज स्वभाव से च्युत होकर माया, मिथ्या और निदान रूप त्रिशल्यों में फँस जाता है। उसके कर्मों की संवर और निर्जरा नहीं होती। यद्यपि पंच परमेष्ठी के भक्ति रूप पर-समय में आचरण करने वाले को साक्षात मोक्ष के कारण का अभाव है; तो भी वह भक्ति परम्पराय मोक्ष को देते हैं। जिसकी शुद्धात्मा की भावना से पूर्ण शोच है, वह उसकी [illegible] किसी भव में अवश्य निर्वाण लाभ कर लेता है। यदि कोई सम्यक् दृष्टि जीव तपश्चरण करते हुए अपनी शुद्धात्मा में वीतरागता सहित स्थिरता प्राप्त नहीं करता। अरिहन्त, सिद्ध, शास्त्र, गुरु आदि के राग में अनुरक्त है, वह उस भव में मोक्ष लाभ नहीं कर सकता, क्योंकि राग का अंश मात्र अभेद रत्नत्रय रूप मोक्ष

मार्ग में बाधक है। हां, इतना अवश्य है कि पुण्य-बन्ध कर स्वर्गादिक में चला जायगा। अतएव मुमुक्षुओं को स्वसमय में ही तल्लीन रहना चाहिये। जब योगी अपने निर्मल ज्ञान-नेत्र से अपने आपको कर्मों से भिन्न अनुभव करते हैं तब वे सम-भावों के आधार सुखी रहते हैं और वीतराग भाव को पाकर संसार सागर पार करके अजर—अमर पद प्राप्त कर लेते हैं।

यह संसार सागर जन्म, जरा, मरण आदि भयानक आपदाओं रूपी जलचरों से भरा हुआ है। वह वीतराग, परमानन्द मयी परम सुख को रोकने वाला है। उसमें शुभाशुभ विकल्प जाल रूपी उत्ताल तरंगें उठ रही हैं। आकुलता उत्पन्न करने वाली नाना प्रकार के मानसिक दुःख रूप बड़वानल उसमें जल रही है। ऐसे विषय भवोदधि का निश्चय और व्यवहार परस्पर साध्य साधक रूप से मानकर पार करना ही मोक्ष पुरुषार्थ का पूर करना है। यद्यपि निश्चय नय से रत्नत्रय रूप शुद्धात्मानुभव ही मोक्ष-मार्ग है, तथापि उसका लाभ व्यवहार रत्नत्रय की सहायता से ही होता है। इसलिये निश्चय रत्नत्रय साध्य और व्यवहार रत्नत्रय उसका साधक है। साधक का निर्विकल्प समाधि में तिष्ठना थोड़े समय ही सम्भव है। यदि अन्तर्मुहूर्त ठहर जाय तो उसे केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाय। जिसमें इतनी सामर्थ्य नहीं है वे व्यवहार धर्म को धारण करते हैं। शास्त्र-पाठ, तत्व-विचार, सामयिक जिनेन्द्र-स्तुति, गुरु-जनों की वैयाव्रत, सभाओं में धर्मोपदेश आदि शुभोपयोगी कार्य करके पुण्य बन्ध करते हैं। जब इन कार्यों में उपयोग नहीं रहता तब पाप-बन्ध ही होता है। अतएव व्यवहार धर्म अधर्म से बचाने तथा शुद्ध में पहुंचाने के लिए एक आलम्बन स्वरूप है।

पुनः पुनः अभ्यास की दृढ़ता से अवश्य आत्म-लाभ होता है। जैसे—अच्छे अनुभवी रत्न परीक्षक रत्न को देखते ही जैसा का तैसा सच्चा झूठा जान लेते हैं। ऐसे ही योगी को लगातार

भेद-विज्ञान के अभ्यास से शुद्धात्मा का अनुभव हो जाता है और वह प्रकाशमान आत्मा के स्वरूप में पहुँच, कर पदार्थ की परणति करने से शुद्ध-स्वभाव को लेता है। अतएव—

हे आत्मन् ! इन्द्रि-विषयों को त्याग, मन वचन, काय को शुद्ध कर एक शुद्ध रूप को या अपने से ही अपनी आत्मा को मनन कर। जिससे मोक्ष की सिद्धि प्राप्त हो। यह एक मात्र तुम्हारे ही हाथ की बात है। इसमें अन्य का आश्रय नहीं है।

आत्मा के मुख्य तीन भेद हैं। (१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा। बहिरात्मा तो देह और जीव को एक मानता है। उसे भिन्न वस्तु का कोई पता नहीं रहता। उसकी यह मान्यता अनादि कालीन अविद्या के गाढ़ संस्कार से बहुत ही दृढ़ होगई है। जब वह किसी भी शरीर को पाता है तब वह अपने को उसी रूप को मान लेता है। अपने को ब्राह्मण-क्षत्री, मुसलमान, निर्बल, बलवान्, धनी, निर्धनी, पुरुष, स्त्री, पंडित, मूर्ख, दाता, भिक्षुक, राजा साधु इत्यादि रूप माना करता है। इसी भांति देवगति में अपने को व्यन्तर, ज्योतिष, भवन-वासी, कल्पवासी आदि देव रूप मानता है। यह सब अनादि कालीन अविद्या का ही माहात्म्य है। इस अविद्या का इतना प्रबल संस्कार जम गया है कि जिस शरीर में जाता है उसी में आत्म-बुद्धि कर लेता है। इसलिये यह जीव बहिरात्मा हो रहा है। यदि अनादि की मूल का त्याग अपने ज्ञानानन्दमयी स्वरूप को पहचानने तो बहिरात्मपना छूट जाय और निजानन्द ही का अनुभव करे।

जो अन्तरात्मा हैं वे अपने आपको कर्म-बन्ध से छुड़ाते हैं। यह नियम है कि जो जिससे राग करता है, वह उससे अवश्य बँधता है। इसके जो जिससे विरागी होगा उसका उससे अवश्य संग छूटेगा। इसी नियम से सम्यग्दृष्टी बन्ध और देह से छूटता है और मिथ्यादृष्टि रागद्वेष मोह रूप प्रवृत्ति

से कर्म-बन्ध से बँध कर अपना मानव-जीवन नष्ट कर दुर्गति में चला जाता है। अन्तरात्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो समाधि लगाते हैं। उस समय मन, वचन, काय की क्रियायें बन्द हो जाती हैं किसी से वचनालाप भी नहीं होता यहां तक कि धर्म-चर्चा भी रुक जाती है। भीतर ही भीतर मन्द-मन्द जाप और पाठ-पठन बन्द हो जाता है। मैं ऐसा हूं। ऐसा था। ऐसा होऊँगा। मैं ज्ञान दर्शन चारित्र स्वरूप हूं इत्यादि विडम्बनायें (मानसिक विकल्प-जाल) बन्द होजाती हैं। जब सम्पूर्ण प्रवृत्तियां बन्द हो जाती हैं, तब आत्मा का उपयोग आत्मा मे ही लग जाता है और उसी में तन्मय हो जाता है। व्यवहार रत्नत्रय भी इसी से गर्भित हैं। यही रत्नत्रय धारण करने का लाभ है। देखा जाय तो वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है।

साधक विचारता है कि—आत्मा का स्वभाव अनुभव गम्य है। जो अपने स्वरूप के भीतर अपने ही आप स्वसंवेदन द्वारा स्व-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और उसमें पूर्ण प्रतीति करता वह अवश्य केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह जानता है कि जीव राशि की अपेक्षा अरिहन्त देव की आत्मा और मेरी आत्मा समान है। श्री अरिहन्त देव की आत्मा तत्तायमान स्वर्ण सदृश पूर्णरूप से शुद्ध है इसलिये उन्हें सर्व आत्माओं का ज्ञान हो जाता है। मेरी आत्मा का द्रव्यगुण तो सदा शुद्ध है परन्तु पर्याय शुद्ध नहीं है, इसलिये पर्याय को शुद्ध करूँ। अर्थात् क्षायक सम्यक्त्व सम्पन्न हो प्रमत्त और अप्रमत्त दशा धारण कर श्रेणी आरोहण करके केवलज्ञान प्राप्त करूँ। सार यह है कि इस आत्मा का पूर्ण शुद्ध स्वभाव (अरिहन्त के समान) स्थापन कर अरिहन्त बन जाओ। यहाँ ज्ञान और पुरुषार्थ दोनों साथ ही है। जैसे अपना मुख देखने को सामने स्वच्छ दर्पण रखा जाता है। वैसे ही आत्म स्वरूप के अवलोकनार्थ श्री अरिहन्त देव रूपी स्वच्छ दर्पण आदर्श रूप रखा है।

जो प्राणी अभेद अनुभव के द्वारा चिन्मात्र भाव को प्राप्त कर लेता है। उसका मोह स्वतः ही नाश हो जाता है अर्थात चिन्मात्र भाव की प्राप्ति और मोह का क्षय ये दोनों कार्य एक ही समय में होते हैं। जैसे सूर्य का उदय और अन्धकार का नाश एक ही समय में होता है। जिस प्राणी में सम्यक्त्व रत्न की प्रधानता है वही ज्ञाता हुआ, त्रैलोक्य प्रधान और पवित्र तीर्थ है। इस रत्न के होने स्वरस का अपूर्व आनन्द अनुभव में आता है। यह अनुपम सुख का दाता, अमृत स्वरूप और संसार समुद्र पार उतरने के लिये उत्तम जहाज है। श्री रामचन्द्र जी ने भी इस पवित्र रत्नत्रय का आराधन किया था—

एक दिन श्री रायचन्द्र अपने भाई लक्ष्मण के शरीर को त्याग कर विचारने लगे कि—यह संसार असार है। यह अनादि काल की रीति है कि जो जन्म लेगा, वह अवश्य मरेगा। संसार के चतुर्गति रूप समस्त प्राणी दुःखी हैं। संसार में लेशमात्र सुख नहीं है। यह स्त्री, पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ पानी के बुलबुले के समान शरीर समय पाकर अवश्य नष्ट हो जायगा। अहमेन्द्र, सुरेन्द्र, लौकान्ति आदि देवों को आयु के अन्त होने पर जन्म लेना पड़ता है। हर समय काल चक्र सिर पर मंडराता रहता है। जैसे सिंह तो सिर पर खड़ा है और हरिण हरित तृण चर रहा है। सभी जीवों की यही दशा हो रही है। प्राणी संसार में मृत्यु को साथ लिए जन्म लेता है। यह सब जानते हुए भी सावधान नहीं होता। यह बड़ा आश्चर्य है।

ऐसा विचार पुरुषोत्तम श्रीराम प्रति-बोध को प्राप्त हुये। वे सम्पूर्ण शोक को छोड़ इस प्रकार सुखी हुये जैसे बन्दीगृह में फँसा मानव बन्धन के दूर होने पर हर्षित होता है। उन्होंने अपने नए जन्म पाने का सार अनुभव किया वे विचारने लगे कि—

...र अनुभव किया वे विचारने लगे कि—

मनुष्य जीवन डाभ (तृण) की अणी पर ओस-बूँद के सदृश्य क्षण-मात्र में क्षय हो जायगा। मैंने मानव तन पाकर संसार के विषय-भोगों में व्यर्थ खोया। कौन किसका तात, मात, पुत्र, भाई, मित्र, कुटुम्बी है? किसकी यह धन-सम्पदा है? संसार की समस्त वस्तुयें अनन्त बार पाईं। प्राणियों से अनेकों नाते किये चक्रवर्त्यादि के पद पाये, परन्तु महा दुर्लभ ज्ञान-रत्न कभी नहीं पाया। मन में ऐसा विचार श्री गुरु के चरणों में जा बड़ी विनय पूर्वक श्री जैनेन्द्र दीक्षा ग्रहण की। पद्मासन स्थिर हो, सिद्ध-भक्ति पूर्वक केश-लौंच किये। वे तेरह प्रकार का चारित्र धारण कर मनो दण्ड, वचन दण्ड और काय-दण्ड को त्याग षट्कायिक जीवों की रक्षा और समस्त जीवों से मैत्री भाव की भावना में संलग्न हुये। दश लक्षण धर्म के धारक, श्री वत्स लक्षण से सुशोभित, तत्व ज्ञानी सकलगुण-भूषण सप्तभय और सकल दूषण रहित श्रीराम निज स्वरूप निरखते हुये आत्म-ध्यान में तल्लीन हुए। आचारांग की आज्ञानुसार श्रेष्ठ आचरण को धारण कर पंच उपवास के पश्चात पारणा करते थे। षष्ठम और सप्तम गुण स्थानोंमें अनेक बार आकर धर्म-ध्यान मे तल्लीन हुये।

निरभिमानी, अट्ठाईस मूल गुण चौरासी लक्ष उत्तर गुण और अष्टादश सहस्र शील धारक, साढ़े सैंतीस हजार प्रमाद दोष रहित परम तपोनिधि श्रीराम परीषह-जय करते हुये घोर तप करने लगे। वे समता रस पान करते हुये अचल पर्यन्कासन धारण कर शुक्ल लेश्या युक्त हो मोह क्षय करने लगे। वे ज्ञान-दर्शन भाव को अभेद मानते हुये शरीरादि पर पदार्थों को कर्म संयोगी समझते थे। इस प्रकार नायक सम्यक्दृष्टि श्रीराम ने अध्यात्म योग में स्थिर हो क्षपक श्रेणी में प्रवेश किया और जो पूर्व में कभी प्राप्त नहीं हुआ ऐसा अपूर्व करण नामक अष्टम गुण स्थान प्राप्त किया। अन्तर्मुहूर्त में उसे भी तजकर अनिवृत्त करन नामक गुण स्थान में प्रवेश किया। इस गुण स्थान के छह भागों में कुल मिलाकर

छत्तीस कर्म प्रकृतियों को क्षय किया। यथा—प्रथम भाग में (१) निद्रा निद्रा, (२) प्रचला प्रचला; (३) स्त्यान गृद्धि निद्रा, (४) नरक गति, (५) नरक गत्यानुपूर्वी, (६) स्थावर, (७) सूक्ष्म, (८) साधारण, (९) आताप, (१० उद्योत (११) तिर्यगत्यानुपूर्वि, (१२) एकेन्द्रिय जाती, (१३) द्विन्द्रिय जाती, (१४) तेहन्द्रिय जाती, (१५) चौइन्द्रिय जाती; (१६) तिर्यग्गति। इस प्रकार सोलह प्रकृतियों का क्षय किया। द्वितीय भाग में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध–मान माया, लोभ और प्रत्याख्याना वरण क्रोध, मान, माया, लोभ। इस प्रकार आठ प्रकृतियों का क्षय किया। तदनन्तर तृतीय भाग में नपुंसक वेद चतुर्थ में स्त्री वेद, पंचम भाग में छह नौ कषायों का क्षय कर छठवें भाग में अनुक्रम से पुरुष वेद और संज्वलन क्रोध, मान, माया। इस प्रकार छत्तीस प्रकृतियों का नाश कर बादर लोभ को सूक्ष्म लोभ किया। तदनन्तर सूक्ष्म लोभ कोक्षय कर सूक्ष्म साम्पराय नामक शुद्ध संयम को प्राप्त कर सूक्ष्म साम्पराय गुण स्थान पाया फिर मोहनीय को क्षय करने से क्षीण कषाय नामक गुण स्थान प्राप्त हुआ और एकत्व वितर्क अविचार नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान के बल से आत्मा में यथाख्यात संयम प्राप्त कर पांच ज्ञानावरण की, चार दर्शनावरण की तथा पांच अन्तराय कर्मों की प्रकृतियों को एक समय मे नष्ट किया। इस क्षीण कषाय गुण स्थान के द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला को क्षय करके त्रिकाल गोचर समस्त द्रव्य पर्याय का ज्ञाता, समस्त दोष रहित शुद्ध केवलज्ञान और केवल दर्शन प्रकट कर संयोग गुण स्थान पाया जिससे सम्पूर्ण लोकालोक की त्रिकालवर्ती समस्त गुण पर्यायों को युगपत एक समय मे अवलोकन किया। उसी समय अन्तराय रहित अनन्तवीर्य प्रकट हुआ। इस प्रकार पुरुषोत्तम श्रीराम ने अरिहन्त पद प्राप्त किया।

तत्काल इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। उसने अवधिज्ञान से जान लिया कि श्रीराम को

...त्काल इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ । उस...

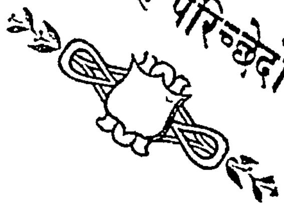
केवल ज्ञान आ है । तब कुबेर को केवली की शोभा संयुक्त गन्ध कुटी रचने की आज्ञा दी । कुबेर ने तत्क्षण आकर शृङ्गार, ताल, कलश, ध्वजा, चमर, श्वेत छत्र, दर्पण, स्तम्भ, गोपुर, निधि, मार्ग, वृक्ष, लता, उद्यान, धूप-घट आदि शोभा युक्त गन्ध कुटी की रचना की । उसमे अत्यन्त सुन्दर चार तोरण द्वार रचे । कल्प वृक्षों से उसकी शोभा और भी बढ़ गई । यथा स्थान नाट्य शाला, द्वादश सभा स्थल तथा गोपुरों से रमणीय समावशरण निर्माण किया । उस गन्ध कुटी में इन्द्रादिक समस्त देव विद्याधर चक्रवर्ती, मनुष्य, मुनि, आर्यिकायें, श्रावक, श्राविकायें, किन्नर, गन्धर्व, दिग्पति, चन्द्रमा, सूर्य, यक्ष, धरणेन्द्रादि आकर अपने योग्य स्थान पर बैठे ।

परम शान्तिस्वरूप, समस्त तत्वों के ज्ञाता, अनन्त शक्तिशाली, वीतरागी, परम दिगम्बर, संसारोद्धारक, ज्ञानकल्याणालंकृत, आताम्र नेत्र, कमलपाणि, पाप-मल रहित, परम तपोनिधि, अष्टादश दोष विमुक्त, भामण्डल सहित तीन छत्र सुशोभित, देवेन्द्र, मुनीन्द्र और नरेन्द्रों द्वारा वन्दनीय, निर्विकार सर्वज्ञ श्रीराम गन्धकुटी में सिंहासन से चार अंगुल अन्तरीक्ष विराजमान थे । इन्द्रादिक देव उच्च स्वर से स्तुति पाठ कर रहे थे । कोई मनोहर नृत्य कर रहे थे । अनेकों देव भेरी, मृदङ्ग, नगारे, झालर, घण्टा आदि वादित्रों से आकाश गुञ्जित कर रहे थे । अनेकों चन्द्रवदनी श्री ह्री, कीर्ति, सिद्धि, बुद्धि, तुष्टि, पुष्टि, स्वात्मोपलब्धि, शान्ति, कान्ति, क्षान्ति, अनुकम्पा, निःशंका, धृति, मति, मेधा, नामक देवियाँ अनुपम शृङ्गार किये हाव-भाव पूर्वक आनन्द में मग्न हो श्री जिनराज का यश-मङ्गलगान करती थीं । चतुर्निकाय के देव-देवाङ्गनाओं द्वारा वन्दित श्री जिनराज गन्धकुटी के मध्य में विराजमान थे । समस्त देव सोलह प्रकार के आभूषणों से विभूषित थे । उनके मुकटों की कान्ति से समस्त दिशायें देदीप्यमान हो रही थीं । उनके किरीटों में मयूर आदि अनेक प्रकार के चिन्ह थे ।

हे भगवान की वन्दना के लिए सपरिवार विविध वाहनों अर्थात सिंह, गरुड़, सारस, हंस, हाथी, घोटक, वृषभादि पर आसीन होकर आए थे। सभी हर्ष से जय-जयकार शब्द कर रहे थे। जिससे समस्त दिशायें ध्वनि-पूर्ण हो रही थीं।

सीता का जीव जो स्वर्ग में प्रत्येन्द्र हुआ था, कहने लगा कि हे प्रभो! आपतो कृत्य-कृत्य होकर मोक्ष पधार रहे हो। आपके अभाव में हम लोगों की रक्षा कौन करेगा? आप संयम श्री और तप श्री युक्त हैं। आपकी अनाक्षरी दिव्य-ध्वनि श्रवण कर प्राणीमात्र अपना कल्याण करते हैं। यथार्थ हो आप तारण-तरण हैं। श्रीराम भगवान की दिव्य-ध्वनि श्रवण करने के लिए इन्द्रादिक समस्त देव, विद्याधर, मनुष्य गन्धकुटी में उपस्थित थे। भगवान राम समस्त मुनियों के नायक, समस्त कर्मों के विनाशक अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी के स्वामी हुए। ज्ञान प्रकाशक श्रीराम भव्य जीवों को धर्म का महोपदेश दे, तुङ्गी-गिरि से मोक्ष पधारे। ऐसे जगदोद्धारक भगवान को हमारा मन, वचन, काय पूर्वक बारम्बार नमस्कार है।

इस प्रकार आत्म-प्रबोध ग्रन्थ इन सोलह परिच्छेदों में पूर्ण हुआ।



सत्रहवाँ परिच्छेद

❋ मङ्गलाचरण ❋

दोहा—सिद्ध शुद्ध सर्वज्ञ शिव, धर्मराज जिनराज ।
वीतराग बन्दों सदा, तारणतरण जहाज ॥

जोकि चैतन्यस्वरूप चिदानन्दमय, ज्ञानदर्शन, ज्योतियुक्त, ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग से मंडित, चैतन्यप्रकाश से परिपूर्ण, निज लक्षण, निरावर्ण, सुख स्वरूपी समीचीन रत्नत्रय स्वरूप, समयसार शुद्ध आत्मा की अनुभूतिमय सम्यक्त्व रत्न जोकि मुक्ति का कारण है और संसार समुद्र को सोस न करने वाला है। यही एक अकेला सम्यक्त्व सच्चे आत्मीक सुख का मुख्य कारण है। उस सम्यक्त्व को निर्मल करने के लिये हमेशा समता शान्ति दामा श्रद्धा भक्ति, आत्मानुराग, पर से भिन्न, निज स्वभाव का अनुभव, रागद्वेष क्रोधादि कषाय का अभाव; उपशम करने में तन्मय होकर विशुद्ध निर्मल बनाना चाहिये। क्योंकि जिस समय दर्शन मोहनीय और ४ अनन्तानुबन्धी का उपशम हो जाता है। जिस समय दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम होता है। उसी समय आत्मा से विभ्रम जो अज्ञान मिथ्यात्व दूर हो जाता है, और आत्मा में से इस अज्ञान का नाश होने से भेद-विज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस भेद—विज्ञान से स्वानुभूति प्राप्त होती है, यही स्वानुभूति स्वर्ग मोक्ष

का कारण है अर्थात स्वानुभूति का फल मोक्ष है। यदि पूर्व संचित कर्म बिलकुल क्षय न होने पाये। उसी भव में मोक्ष न मिले तो स्वर्गादिक अवश्य ही अपने आप उसे प्राप्त होते हैं। विशुद्ध आत्मा की अनुभूति होना ही सम्यक्त्व है, सम्यक्त्व और स्वानुभूति में परस्पर समव्याप्ति है। जहां सम्यक्त्व होता है। वहां स्वानुभूति अवश्य होती है, जब आत्मा के स्वानुभव रोकने वाले दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उपशम होता है। तब ही उनके लब्धि रूप सम्यक्त्व सुख हो जाता है तथा जिस समय आत्मा में आत्मगुण का अनुभव न किया जाता है। वही सम्यक्त्व की उपयोग दशा है। उस दशा में आत्मा अपने में स्थित रहती है और बाह्य पर द्रव्य से परान्मुख होती हुई अपना अनुभव करती है तथा सम्यक्त्व की उपयोग अवस्था का काल भी अन्तर्मुहूर्त ही रहता है। इसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

यह भी निर्मल होती है और आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने वाली है, परन्तु अधः करणादि तीन कारण हुये बिना दर्शन मोहनी कर्म का उपशम क्षय - क्षयोपशम नहीं होता है। यही दर्शन मोहनीय का नाश ही संसार के दुःख का नाश करने वाला है। स्वानुभूति ही सम्यक्त्व है, यही सम्यक्त्व मोक्ष का प्रधान कारण है। इसके प्रभाव से ही आत्म-स्वरूप प्रकट होता है और कर्म जाल कट जाता है। जो वीतराग परमशुद्ध निर्विकल्प परिणति है। वही निश्चय सम्यग्दर्शन है, वही एक आत्मा की शुद्ध एकत्व परिणति है। उसमें साध्य साधन का भेद भी नहीं है, व लक्ष्य-लक्षण भेद भी नहीं है। जहां आत्मा से सम्यक्त्व की अभिन्नता है, वहाँ कोई भिन्न कार्य कारण पना या सहकारी पना नहीं होता, सम्यक्त्व ही कारण है सम्यक्त्व ही कार्य है। वह तो परम सूक्ष्म विकल्पातीत है। आत्मा का सम्यक्त्व नाम का एक गुण है जो नित्य, वचनातीत है, केवलज्ञान द्वारा ही

…त्मा का सम्यक्त्व नाम का एक गुण है जो नित्य , वचनातीत है, केवलज्ञान …

जाना जा सकता है। वह अल्पज्ञानियों के ज्ञान का विषय सम्यग्दर्शन नहीं होता है क्योंकि आत्मा अमूर्तिक है, उसके गुण अमूर्तिक हैं, अमूर्तिक का ज्ञान केवल ज्ञानी को है, वह सम्यग्दर्शन मोहनी कर्म के उपशम होने के साथ ही आत्मा में स्पष्ट प्रकट होता है। वह होने पर सब गुणों का अपने रूप से शुद्ध परिणमन होने लगता है, जैसे इन्द्रनीलमणि को दूद में डालने से सारा दूद नीला ही प्रतीत होता है, उस ही प्रकार सम्यक्त्व के प्रभाव से आत्मा में सारे गुण निर्मल अनुभव होता है अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शन के साथ जितने भी आत्मा में गुण हैं। वे सब के सब परम निर्मल हो जाते हैं, यह उस सम्यग्दर्शन का विचित्र स्वभाव है। सम्यक्त्व ही एक मूल गुण है आत्म स्वभाव है। वही भव्य पुरुषों के द्वारा इस मनुष्य जन्म में आदर पाने योग्य है। सम्पूर्ण गुण शाली विवेकी भव्य पुरुषों के विकार नाश करने के लिये एक सम्यक्त्व ही समर्थ है। इसलिये इसे सदा हृदय में धारण करना चाहिये।

जैसे जल के बिना सरोर, कमल के बिना जल, सुगंध के बिना फूल, दांतों के बिना दन्ती, हँस के बिना नदी, जीव के बिना मृतक शरीर, नमक के बिना व्यञ्जन शोभा नहीं देता है। ऐसे ही द्रव्य क्षेत्रकाल भव भावरूप पंच परावर्तन शील इस संसार में सम्यत्व के बिना सब जीव अनादिभव भ्रमण से दुखी होकर घूम रहे हैं। जिस आत्मा के पास सर्व गुणों में श्रेष्ठ सम्यक्त्व गुण नहीं है उनका तीर्थ जाना जप करना, तप करना धर्म करना, दान देना, शील पालना, सुख भोगना, योग करना, भोग भोगना, ध्यान करना, विद्या पढ़ना सब निष्फल हैं। सम्यक्त्व के बिना देव, मानव, विद्याधर, पण्डित कोई भी श्रेष्ठ नित्य सुख पाने वाले नहीं हो सकते। सम्यक्त्व मंगल मूर्ति पाप, प्रणासक, कर्म रूपी वन को जड़ामूल से जलाने वाले एक संसार में सार पदार्थ है। जोकि अल्पज्ञानियों के उनका ज्ञान अमूर्ति सम्यक्त्वादि गुण नहीं ग्रहण कर सकते। सम्यग्दर्शन परम सूक्ष्म अतीन्द्रिय है अतः वह

केवलज्ञान द्वारा ही जान सकता है।

जब लक्ष्य का दर्शन ज्ञान हो जाता है। तब लक्षण का ज्ञान होता है लक्ष्य दर्शन बिना संसार मे लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता है, सम्यक्त्व जब मूर्तज्ञान द्वारा जाना ही नहीं जाता तो उसका लक्षण कैसे किया जाय, जिससे वस्तु पहिचानी जाय उसे लक्षण कहते हैं। वे लक्षण दो प्रकार के हैं। एक आत्मभूत, दूसरा अनात्मभूत। आत्मभूत लक्षण उसे कहते हैं। जो वस्तु को बतावे जैसे जीव का चेतनादि। अनात्मभूत लक्ष उसे कहते हैं। जो वस्तु में भिन्न होकर भी वस्तु स्वरूप बतावे, जैसे—लाठी वाले मानव को लावो, यहां अनेक बिना लाठी वाले पुरुषों से पुरुष विशेष को लाठी जुदी करती है, परन्तु लाठी पुरुष से भिन्न है। इस प्रकार भिन्न होकर जो वस्तु का बोध करावे वह अनात्मभूत लक्षण है। यह स्वात्मभूत लक्ष्य और लक्षण एक अभिन्न प्रदेश है और अनात्मभूत लक्षण एक अभिन्न प्रदेश है और अवात्मभूत लक्षण—लक्ष्य से भिन्न प्रदेशी है। इसलिये उस सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण नहीं किया जा सकता, उस का लक्षण ही होना कठिन है, क्योंकि विकल्प में लक्षण होने से वह निर्विकल्प नहीं रहता, आत्मा के समस्त गुण निर्विकल्प हैं, स्वयं सिद्ध है उसके गुण भी अमूर्तिक निर्विकल्प हैं, तो उनमें भेद कर लक्षण कैसे किया जा सकता है, आत्मा के अनन्त गुण हैं वे सब गुण आत्मा से अभिन्न होने पर भी अर्थ लक्षण प्रयोजन से आत्मा भिन्न है, आत्मा के ज्ञान-गुण से भिन्न और भी सामान्य गुण हैं वे सब गुण सामान्य और विशेष आदि सब विकल्पों से रहित हैं अर्थात् आत्मा में विशेष गुण तो दर्शन ज्ञान है और सामान्य असंख्यात या अनन्त गुण वे सब विख्यातीत हैं। ऐसे अनिर्वचनीय आत्म-तत्व होने पर भी व्यवहारियों के समझाने के लिये उसको वर्णन ज्ञान के द्वारा किया जा सकता है।

...द्वारा किया जा सकता है।

क्योंकि जिसको सम्यक्त्व या स्वानुभव हो गया है। वही उसका ज्ञान द्वारा कथन करने का अधिकारी है, सर्व सामान्य नहीं क्योंकि सम्यक् श्रद्धान हुये बिना यथार्थ में ज्ञान सम्यक् ज्ञान नाम नहीं पाता, मिथ्यात्व सहित ज्ञान होता है, वह केवल वाह्य पदार्थों की और अयथार्थ रूप से होता है। इसलिये ज्ञान में सम्यक्त्व पना सम्यग्दर्शन से ही आता है। जब जीव के मिथ्यात्व कर्म का उदय रहता है तब उसको ज्ञान का उपयोग आत्मा की ओर न लगकर पर-वस्तु की ओर ही जाता है। उस समय समीचीन श्रद्धान नहीं होता उस समय की श्रद्धा तो श्रद्धाभास कहलाती है। जो कि कभी काल लब्धि आदि कारण के मिलने पर जब दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम हो जाता है। तब निर्मल भावना हो जाती है। निर्मल भावना होने से श्रद्धा ही सत्श्रद्धा हो जाती है, श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, यद्यपि इन तीनों का होना कालक्रम से है। पहिले किसी वस्तु में श्रद्धा होती है, श्रद्धा होने के बाद रुचि जो कि आत्मीयपणा होती है, रुचि होने के बाद प्रतीति विश्वास होता है, इस तरह यह क्रम से होती है। फिर ये सब ज्ञान की पर्याय है, ज्यों ही आत्मा मे सम्यग्दर्शन पैदा होता ह। उसी समय स्वानुभूति ज्ञान चेतना शुद्ध ज्ञान परिणति स्वरूप पाचरण, समता शान्ति, क्षमा, शुद्ध चारित्र परिणति ये सब की सब साथी होती है और शुद्ध स्वानुभूति या ज्ञान चेतना का होना प्रारंभ हो जाता है। इसी तरह मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी कषाय का नाश होने पर स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट हो जाता है तथा परम समता भाव आत्मा मे जागृत हो जाता है इन तीनों की सहकाल होने से एकत्व अवस्था कहने में आती है, जैसे देहली सहर में दशहजार बिजली फोन है। एक बीट के दबाने से सब के सब एक मिनट में ज्योति जाग जाती है।

जिस समय आत्मा मे स्वानुभूति जागृत होती है। उसी समय आत्मा से भिन्न पर वस्तुओं का

पर रूप अनुभव हो जाता है, यही भेद विज्ञान है, इसी भेद–विज्ञान रूपी पैनी छैनी द्वारा अपने पराये भेद होता है। यह स्वानुभूति तत्वार्थ श्रद्धान पूर्वक होती है, इसलिये तत्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, यह कारण अपना से कहते हैं परन्तु स्वात्मानुभूति सम्यक्त्व का लक्षण है। इन दोनों लक्षणों में कार्य कारण भेद है। तत्वार्थ श्रद्धान और आत्म-श्रद्धान एक ही बात है, सच्चे देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वस्तुका या आप्त आगम गुरु का यथार्थ श्रद्धान सम्यक्त्व का बाह्य लक्षण है। व्यवहार कथन है। यथार्थ में निश्चय नय से अपनी शुद्ध आत्मा को निर्मल अनुभव ही सम्यक्त्व होता है। इसलिये व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्च्य सम्यग्दर्शन का साधक है क्योंकि व्यवहार में सात तत्व नौ पदार्थ सच्चे आप्तागम गुरुओं का श्र:ान सत् स्वरूप आत्म अनुभव करते हुये निश्चय सम्यग्दर्शन भी होने की संभावना रहती है परन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन सब प्रकार के विकल्पों से रहित और निज स्वरूप है। इसमें व्यवहार सम्यक्त्व कारण है। निश्चय सम्यक्त्व कार्य है। इस तरह जब आत्मा में सुख देन रूप सम्यक्त्व पैदा होता है [वह सम्यक्त्व श्रद्धान पूर्वक ही होता है, ज्योंकि बाह्य पदार्थ का भेद-विज्ञान व्यवहार चिन्तन करते करते इसरीति से आत्मा स्व-पदार्थ में तन्मय हो जाता है, तहां पूर्ण ज्ञानी के सम्यक्त्व उपयोग रूप ही रहता है किन्तु पर अल्पज्ञानियों के ज्ञान में व्यवहार से निश्चय परिणति हीन रूप संक्रमण भी होता है।

जब अपने को निज रूप से पर को पर रूप से श्रद्धान होता है। वही स्व–पर भेद–विज्ञानी स्वानुभूति का साधक है और जीवा–जीव के ठीक २ श्रद्धान से भेद–विज्ञान होता है और भेद–विज्ञान से शुद्धो पयोग की या आत्मा कीशुद्ध एकत्व परिणति प्राप्त होती है। उन में ही मोक्ष मिलता है। यह शुद्धोपयोग ही शुद्ध नय का विषय है। यही हमारे सद्भावनों, अर्थात संसार के समस्त प्राणी मात्र में

...की या आत्मा की शुद्ध एकत्व परिणति प्राप्त होती है। उन से हो मात्र ...
...पयोग ही शुद्ध नय का विषय है। यही हमारे मनावर्ती, अर्थात् संसार के समस्त प्राणी ...

हमारा समताभाव (व्यवहार से दुःख उन्मोचन-पना तथा निश्चय से आत्म-व्रत सब को देखना होता है) वही शुद्ध निश्चय नय का विषय है। वही शुद्ध स्वरूप दृष्टि है वही कल्याण का बीज है। जिसका लक्षण स्वानुभूति है, समता और शान्त आत्म-क्षमा से संयुक्त है चिन्म या नन्द को देने वाला है, ऐसा जो सम्यक्त्व है उसको भक्ति भाव से हृदय में विराजमान करता हूं।

इति सप्तदश परिच्छेद पूर्ण हुआ, आगे अष्टादश परिच्छेद प्रारम्भः।

अठारहवाँ परिच्छेद

❀ मङ्गलाचरण ❀

वन्दौं श्री अर्हन्तको वन्दौं गुरु जिन बैन।
रत्नत्रय व्यवहार कौं लिखौं सकल सुख दैन॥

जो मुनि पाप क्रियाओं का त्याग करके आमरण तक मन-वचन और काय योग से तथा कृत कारित और अनुमोदना से जीव समुदाओं का वध करना त्याग देता है। उनके अहिंसा महाव्रत पूर्ण निर्दोष पालन होता है। क्योंकि सब ही जीवों को दुःख प्रिय नहीं है ऐसे ही अपने को भी दुःख प्रिय नहीं है। ऐसा समझकर सर्व जीवों पर दुःख देने से निवृत्ति हो, तू आत्मोपन हो—दुःख के समय आगम के वचनों का स्मरण करो, आगे कहा हुआ विचार मन में मत लाओ।

कपूर का चूर्ण डालकर सुगंधित किया हुआ बर्फ के समान शीतल जल मैं पीऊँ, या कमल रजों से व्याप्त ऐसे अगाधि सरोवर में मत्त हाथी के समान प्रवेश कर निमज्जन करके स्नान करूँ, या ललाट मस्तक हृदय ऊपर ओले का समुदाय पड़ेगा तो बहुत ही आल्हाद हो, कमल शीत बालू का कोमल कोपल इनका किया हुआ बिछोना यदि मेरे को सोने के लिये मिलेगा तो मैं जीऊँगा अन्यथा मेरे प्राण चले जायेंगे, रात-दिन मेरे को प्यास सताती है। इस वास्ते यहां से सूर्य किरणों को दूर करो बर्फ बृष्टि होवो वायु बहने दो, मैं घृत संयुक्त मोदक खाऊँगा और शक्कर मिश्रत सुखोष्ण दूद मैं पीऊँगा या अग्नि में तपूँगा, ऐसा विचार दापक को योग्य नहीं मेरे ऊपर असाता वेदनी का बड़ा कोप हुआ है। पंचभरत, पंचऐरावत, और पंचविदेह, ऐसे १५ कर्म भूमि हैं।

संसार में मनुष्य जन्म प्राप्त होना उत्तम जाति बुद्धि मुनिपनां रत्नत्रय प्राप्त होना जहां संयम का पालन १५ कर्मभूमि में ही है कर्मभूमिज भोगभूमिज अन्तर्दीपज और संमूर्छिन ऐसे ४ हैं।

वहा तप करने में तत्पर होना जीवघात करना महान दोष है संपूर्ण जीवों का जीवन त्रैलोक्य के कीमत बराबरी का है जीवित का घात करना त्रैलोक्य घात के समान है, इस जगत में अणु से छोटी कोई वस्तु नहीं है और आकाश से भी बड़ी कोई चीज नहीं है, इसी प्रकार अहिंसा व्रत से दूसरा कोई बड़ा व्रत नहीं है। जैसे त्रैलोक्य का आधार आकाश द्रव्य है ऐसे ही व्रत गुण और शील ये सब अहिंसा के आश्रय से रहते हैं। अहिंसा के बिना शील जप तप नहीं टिक सकते हैं, अर्थात्—व्रत, शील, गुण, ज्ञान निष्परिग्रहता विषय सुखत्याग सर्व आचार सत्यभाषण य सर्व अहिंसा के बिना निष्फल हैं। और संवर निर्जरा का उदय भी व्यर्थ होते हैं। जो असत्य भाषण

...ी, श ल, गुरु ... बिना निष्फल है। और संवर निर्जरा का उदय भी व्यर्थ होते हैं। जो असत्य

से, न दी हुई वस्तु लेने से मैथुनसेने से और परिग्रह से पर को दुःख उत्पन्न होता है। परन्तु अहिंसा के पालने से इन सब दोषों का त्याग होता है इसलिये अहिंसा व्रत पालन करो सत्यवचनादिक अहिंसा के ही गुण हैं।

वस्तु उठालेना, रखना, छोड़ना, खड़ेहोना बैठना, शयन करना इत्यादि समस्त का॰ करते समय जिन्होंने प्रमाद का त्याग किया है, जिसने आरंभ परिग्रह का त्याग किया है जो प्रासुक अहार लेता है, ज्ञानाभ्यास करने में जिसने अपने चित्त को स्थिर किया है तीन गुप्तिओं का धारक निष्कषायपरिणामी प्रमादरहीतसंयमी साधु मे यह अहिंसा पूर्णता को प्राप्त होती है। आगे सत्य महाव्रतलि॰ विद्यमान वस्तु को नहीं कहना प्रथम असत्य वचन है, जो नहीं है उसको कहना यह असत्य वचन का दूसरा भेद है, जैसे देवों की अकाल मृत्यु नहीं है ऐसा आगम कहता है, परन्तु देवों की अकाल मृत्यु है; २ एक जाती के सत्य पदार्थ को अन्य जाती के सत्य पदार्थ कहना यह असत्य का तीसरा भेद है। जैसे बैल है इसका विचार न कर यहां घोड़ा है ऐसा कहना, जो निंद्य वचन बोलना वा पाप युक्त वचन बोलना यह सब चतुर्थ प्रकार का असत्य वचन है। गर्भयुक्त भाषण को कर्कश वचन कहते हैं, दूसरे के दोष दिखाने वाला वचन निष्ठुर भाषण है।

लौकिक मे गो-हत्या, ब्राहमण-हत्या स्त्रीवध इनसे निवृत्ति होना यदि, उत्कृष्ट धर्म समझा जाता है, तो सर्व जीवों पर दया करना यह उत्कृष्ट धर्म क्यों नहीं माना जायगा, विचार कीजिये, सर्व जीवों का सर्व जीवों के साथ पिता, पुत्र, माता, बहन पुत्री रूप संबन्ध अनेक भावों में हुआ है फिर मारने को उद्यत हुआ पुरुष अपने सम्बन्धी को ही मारता है तब जगत में सम्बन्धिओं

को घात करना अतिशय महानिंद्य माना जाता है। अर्थात् हिंसा विरक्त होना; हिंसा करने में परिणाम होना ऐसा विचार रखना ही हिंसा है। प्राणी के प्राणों का घातकरूना आदि हिंसा में सामिल है, प्रमाद परिणत आत्मा ही स्वयं हिंसा है और अप्रमत्त आत्मा ही अहिंसा है, आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है, ऐसा जिनागम में निश्चय किया है। जो रागद्वेष मूढ बन कर आत्मा जो कार्य करता है उससे हिंसा होती है, कुछ भी बड़ बड़ कहना उप हास्य वचन है। अर्थात् वाचाल होकर चाहे जैसा बोलना यह सब संक्षेप से गर्हित वचन है।

जिस वचन से प्राणी के प्राण पीड़े जाय उसको सावद्य वचन कहते हैं, जैसे इस जमीन को खोदो, इस भैंस ने पानी पीया है अब इस को पानी से धो डालो, फल, पुष्प, पत्ते तोड़ो अथवा मेरा बोलना योग्य है या अयोग्य है इसका विचार न करके वास दोष है या निर्दोष है कुछ विचार न करके परीक्षा के बिना ही कह देना यह सब सावद्य वचन है। जैसे चोर को यह चोर है ऐसा कहना, मर्मच्छेद करने वाला पुरुष वचन तू अनेक दोषों से दुष्ट है। मनको उद्विग्न करने वाली भाषा को कुटुक वचन कहते हैं। जैसे तू नीचजाती में पैदा हुआ है। तू धर्म रहित पापी है, जो बैर उत्पन्न करने वाला वचन जैसे तू गधा है तेरे को कुछ भी ज्ञान नहीं है। तेरे समान मूरख इस संसार में कोई नहीं है जिस वचन के बोलने से कलह हो जाता है वह कलह कारी वचन कहते हैं; जो मन को बोलना यह हीलन वचन त्रास पहुंचाने वाला क्लेश पैदा करने वाला बचन उत्रासन भाषा है, दूसरों की अवज्ञा करने वाले शब्द हैं। जैसे तुमको धिक्कार हो इस तरह अप्रिय वचन संक्षेप से लिखा तथा हास्य, भीति, लोभ क्रोध द्वेषादि से असत्य भाषण किया जाता है उनों को प्रयत्न पूर्वक से विशेष त्याग करके सत्य वचन का भाषण करो जोकि रत्नत्रय का उपदेश देने वाला असंयम से पराङ्मुख करने वाला

...ते, लोभ क्रोध हंसादि से असत्य भाषण किया जाता है उना ...
सत्य वचन का भाषण करो जोकि रत्नत्रय का उपदेश देने वाला असंयम से पराङ्मुख करने वाला

अन्य साधु को सद्धर्म में स्थिर करने वाला तुम बोलो, सामायिक, प्रतिक्रमण, वंदना, स्तुति वगैरह आवश्यक के काल के सिवाय अन्य समय को यही काल समझना चाहिये, और भक्त कथा राजकथा, चोर कथा और स्त्रीकथा तू मत बोल, क्योंकि दूसरे के असत भाषण सुनने पर भी मनमें अशुभ संकल्प उत्पन्न होकर महान कर्म बंध होता है। पानी, चन्दन, चन्द्र, मोती, वर्फ गुलाबपुष्प कमलपुष्प और चन्द्र कान्तिमणि ये पदार्थ लोगों को उतना आनन्द उत्पन्न करने में असमर्थ है, जितना आनन्द हितकर मधुर भाषण सत्य वचन जीवों को अधिक आनन्द देता है।

सत्यवादी को अग्नि जलाता नहीं, पानी उसको डुबाने में असमर्थ होता है, सत्य वादी को शैल से गिरने वाली नदी भी नहीं बहा सकती है। सत्य के प्रभाव से स्वमेव सर्व देवता वंदना करता है, और उनके सब सिद्धियां स्वमेव आकर प्राप्त हो जाती है, तथा सत्य के प्रभाव से व्यन्तर पिशाच भाग जाता है, सत्यवादी के संकट आये हुये दूर भाग जाते हैं। सत्यवादी के उपर लोक पुत्र माता के समान विश्वास रखते हैं, सत्यवादी लोक गुरु के समान समझे जाते हैं। सत्यवादी मनुष्य स्वजन के समान लोकों को प्रिय होता है। और जगत में उसका यश प्रसिद्ध हो जाता है। सत्य आश्रय से जप, तप, शील, संयमव्रत की वृद्धि होती है और शान्ति महारानी का राज फैल जाता है, सत्य का आधार पाकर सर्व गुण अपनी वृद्धि कर सकते हैं, देखिये जो मनुष्य शिखा रखने वाले हों, जटा धारण करने वाला हो, मुंडन करने वाला नग्न चीवर धारी हो यदि वह असत्य वचन बोलने से तृण के समान तुच्छ हो जाता है, और उसका चलन विटंबना आप ही समझनी चाहिये।

जैसे उत्कृष्ट अमृतोपम अन्न को विषनष्ट कर देता है, अथवा वृद्धावस्था तारुण्य को नष्ट करती है

ऐसे असत्य भाषण अहिंसादि गुणों का नष्ट करती है, तथा झूठ बोलने वाले मनुष्य की माता भी विश्वास नहीं करती है तब अन्य मानव असत्य भाषण दोष से शत्रु समान क्यों नहीं गिनेगे यह असत्य भाषण पापास्त्रव का कारण है इस असत्य के प्रभाव से वसु राजा नरक में चला गया। तुमारी कहावत;

२ जो साधु दूसरे के द्वारा नहीं दी गई छोटी या मोटी वस्तु को नही ग्रहण करते हैं उनके यह तृतीय व्रत होते हैं, अर्थात बिना दी हुई अणशला का दंतमल दूर करने को भी नही ग्रह कर सकते है तो अन्य वस्तु की कहा वात चौर लोभ वस हुआ जो जो वस्तु देखता है, वह प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ अकार्य को भी कर बैठता है और लोभ वस सर्व त्रैलोक की संपदा प्राप्त होने पर भी तृप्तता को प्राप्त नही होता जैसे

राजा रावन लोभ वश नर्क में गया, अविश्वास, अपकीर्ति, संक्लेश परिणाम तिरस्कार कलह, वैर, भय, शोक, वध, बन्धन, स्वजन से फूट, मित्र से फूट, और धन का नाश ऐसे पाप असत्य भाषण से उत्पन्न होते हैं। असत्य भाषण पाप कर्म के आगमन आस्त्रव दरवाजे के समान है। असत्य बोलने वाले को राजदंड देता है और देश में अपकीर्ति का ढोल वज जाता है इसलिये भव्य जीवों को असत्य भाषण का त्याग करके सत्य वचन बोलना चाहिये। आगे तृतिय व्रत को लिखे हैं।

लोभ के वश मानव न करने योग्य कार्य को कर बैठता है, श्री मंतके घरका, ताला तोडकर अन्दर प्रवेश करता है, और चोरी करता है उस चोरी करने से कारागृह में दुःख भोगता है और मृत्यु का कष्टतर भय उपस्थिति होने पर भी कुछ परवाह नही करता है। चोरी करने से चोर को ही उपद्रव होता है ऐसे नहीं, अन्य लोगों के ऊपर भी बडी विपत्ति आती है, धन का चोर के

द्वारा हरण होने पर उनको मरण तुल्य दुःख होता है हृदय पर शक्ति नामक शस्त्र का चोट लगने पर जैसा दुःख होता है वैसा धन हरण होने से दुःख होता है।

दूसरे के द्वारा अपना धन हरण होने पर मनुष्य पागल बन जाता है, ज्ञान रहित होता है और मेराधन मेराधन ऐसा शब्द बार बार कहता हुआ प्राणों का भी त्याग कर देता है, इसलिये धन मनुष्य का ग्यारवां प्राण है। धन के लोभ से मनुष्य जंगल पर्वत समुद्र, युद्ध, राज सेवादि में प्राणों का भी त्याग कर देता है अपना बांधव को भी मार डालता है, क्योंकि प्राणों से भी धन मनुष्यों को अत्यन्त प्रिय है। चोर महाजुल्मी होता है, चोर के हृदय में दया, लज्जा, दगे, विश्वास और गुणों का निवास नहीं होता है चोर अत्यन्त निंद्य और क्रूर कर्म भी धन के लिए कर देता है। धन से इन्द्रिय सुख की प्राप्ति पत्नी पुत्र संबंधीजनों के साथ जी सकता है यदि उसका धन चोरों ने हरण किया तो उसने उसका और उसके पत्नी पुत्रादिकों का जीवित हरण किया, हिंसादिक अन्य अपराध करने वाले के पक्ष में रहते हैं परन्तु बन्धु भी चोरी करने वाले के पक्ष में रहना नहीं चाहते चोरी करने वाले की माता भी आश्रय नहीं देती है पर द्रव्य हरण करना यह पाप आने के द्वार हैं जीवों को घात करने वाला हरिण पकड़ने वाला और पर स्त्री गमन करने वाला इनसे भी चोर अधिक पापी गिना जाता है चोर के जो स्वजन मित्र, और आश्रय से रहने वाले अन्य लोगों को भी यह चोरी बड़े संकट में गिरा देती है, उनका धन छीन लेते हैं, वही अपकीर्ति और दुःख में गिराते हैं चोरी करके चोर पकड़ा जाता है तब लोक जन उनका अंग अंग तोड़ डालता है, बांधना अनेक प्रकार से पीड़ा देना पराभव करना आदि चोरों को तकलीफ देते हैं, शोक, सर्वस्व हरण इन दुःखों को चोर प्राप्त होता है, चोर के मन में दिन रात भय रहता है उसको भय के

मारे निद्रा भी नहीं आती, वह हमेशा चारों तरफ भय युक्त हरिण के समान देखता रहता है आगते चूहे की ध्वनी सुन कर चोर भीतर से थर थर कांप ने लगता है, और डर कर दौड़ते समय गढ़ बड़ी से भूमी मे गिर जाता है, चोर का पैर कच्चा होता है जो बिना दिया हुआ तृण मात्र भी ग्रहण करता है वह अविश्वासी बन जाता है और तृण के समान हलका हो जाता है चोरी के पाप से मरकर चोर नरक को जाता है। और नरक वेदना को दीर्घ काल तक तीव्र वेदनाओं का अनुभव करता है।

तथा पाप क्रम से चोर पशुगति मे जन्म लेकर तीव्र दुःखों को दीर्घकाल तक अनुभव लेता हुआ भ्रमण करता है, अर्थात कुत्ता, सुवर, बिल्ली, गधा, काक, पक्षी गीध बिकल त्रयादिक योनिओं में भ्रमण करता है, मनुष्य भव में दरिद्री होता है, अन्तराय कर्म के उपार्जन से वह धन को नही भोग सकता, चोर कर्म से श्रीभूति राजा को पुरोहित दीर्घ कालतक संसार में भ्रमण किया। इसलिये योग्य दी हुई वस्तु का ग्रहण करना अर्थात देवेन्द्र, राजा, गृहस्थ, राजाधिकारी और साधर्मिकसाधु इन्होंने योग्य विधि से दिया हुआ मुनिपना की सिद्धि करने वाला ज्ञान ध्यान सयम तप की सिद्धि करने वाला पदार्थ ग्रहण करे अचौर्य महाव्रत का वर्णन पूर्ण हुआ।

आगे ब्रहमचर्य महाव्रत लि० ज्ञान दर्शन से वृद्धिंगत होता है उसे ब्रहमचर्य कहते है इस जीव का स्वरूप अनन्त पर्यायात्मक है ऐसा समझकर उसके स्वरूप में रमन होने की क्रिया करना उसको ब्रहमचर्य कहते हैं मुनि अपने आत्मा के स्वरूप का उनके ज्ञान दर्शन चरित्र वगैरह शुद्ध गुणों का विचार कर उसमें ही तृप्ति होता है इसलिए ऐसे मुनि का ब्रहमचर्य विशुद्ध होता है। और इन दश दोषों से अब्रहमचर्य होता है क्योंकि स्त्रियों का सत्कार करना उनके सत्कार शरीर पर

दोषों से अनर्थ होता है ज्या

आत्म-प्रबोध

प्रेम रखकर वस्त्र, माला, वगैरह पदार्थों से उनका सत्कार करना, उनको अलंकारादि पदार्थ अर्पण करना, अतीत स्मरण भूतकाल में किये हुए रति क्रीड़ाओं का स्मरण करना, अनागताभिलाष भविष्य काल में उनके साथ ऐसी २ रतिक्रीड़ा करूंगा, ऐसी अभिलाषा मनमें उत्पन्न करना, इष्टविषय सेवा मनो वांछित उद्यान वगैरह का उपयोग करना आदि दश प्रकार का अब्रह्म विष और अग्नि के समान है, यह अब्रह्म प्रारम्भ में बड़ा मिष्ठ मालूम होता है परन्तु अन्त में अत्यन्त कडुक है। काम दोष, क्रोधकृतदोष, शरीर की अपवित्रता, दुष्ट पुरुषों की सेवा, और धर्मभ्रंशदोष इन पांच कारणों से वैराग्य उत्पन्न होता है। इसलोक में और परलोक में जितने हिंसादिक दोष उत्पन्न होते हैं, वह सब मैथुन की इच्छा से उत्पन्न होते हैं।

काम से पीड़ित मनुष्य शोक करता है, रोता है, पश्चाताप करता है, खिन्न होता है और उसको दिन रात निद्रा भी नहीं आती। हमेशा स्त्री का ही चिन्तवन करता रहता है और कल्याण कारक धर्म को भूल जाता है। कामातुर मनुष्य अपने सम्बन्धीजनों से बिछुड़ा हुआ हमेशा काम रूपी पिशाच सताता रहता है, और जो मनुष्य कामवाण कर पीड़ित हुआ है उसको एक क्षण भी वर्ष के समान मालूम लगता है और उनके संपूर्ण अंग कृश होजाता है और अपना गाल हाथ के ऊपर रखकर दीन मुख से अतिशय चिन्तातुर हो जाता शरीर कांपने लगता है उन्मत्त होकर चिन्ता ज्वर से दुःखी हुआ काम चिन्ता से अर्तिरूप अग्नि में हमेशा जला करता है और पर्वत से गिरकर या रेलगाड़ी के तले या समुद्र में प्रवेश कर अथवा झाड़ की शाखा से फांसी लगाकर मरने की इच्छा करता है। इसकामेच्छा से जल मनुष्य व्याकुल होता है तब आपकी जाति और कुल का विचार नहीं करता है महत पुरुषों का भी वचन नहीं मानता है। अर्थात वह निर्लज्ज

होई और आततायी कार्य कर बैठता है बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है सज्जनो ने किये हुए उपकार को भूल जाताहै जाता है वह कामी मनुष्य को शोक समान गिनता है काम दोषों से व्याप्त हुआ पुरुष-आचार्य, उपाध्याय, गुरु और शिष्य वर्ग चतुर्वर्णस के प्रति कूल हो जाता है और त्रैलोक्यमें सार भूत श्रुत ज्ञान के लाभ को भी छोड़ बैठ ता है और अपनी सब पदस्थ खो देता है विषयों में पस कर रत्नत्रय को तिनक के समान त्याग देता है और वह सदा पंच पर मेष्ठी की निन्दा करता है जो कि पर लोकमें अशु भगति और अनन्त संसार की बृद्धि करता है, वह विषय से वने के लिये उच्च कुलीन और बुद्धी मान होकर भी विषयों में लुब्ध होकर ज्ञान, ज्ञान और कुलादि से हीन ऐसे नीच पुरुषों की सेवा करता है और धनिओं से किये गये अपमानोंको सहता है ऐसा विषयों के वस हो कर दुःख पाता है मानी मानव विषये बास नासे निर्लज्ज हो कर निंद्य कार्य करने लगते हैं ऐसा काम देव का महात्म्य है जो विषय वासना से खेदित हुआ मनुष्य में राग द्वेष मोह, अज्ञान, कषाय, परदोष का कथन करना, संक्लेश परिणाम, ईर्षा, स्पर्द्धा, हिंसा असत्य भाषण, चोरी, कलह, परोभव परीक्षा में निन्दा करना, रोक, शोक, धन नाश वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं, ये सब दोष कामी मनुष्य मे सुलभतय उत्पन्न होते हैं और दूसरे को भी पीड़ित करते हैं जैसे तिलकी पल्ली में अग्नि से तपी हुई सलाई प्रविष्ट होने से सब तिल जलकर खाक होते हैं वैसे मैथुन से बन करते समय योनी मे उत्पन्न हुए जीवों का नाश होता है। कामी मनुष्य ठंडी गर्मी, भूख, प्यास खराब आहार खराब सय्या और मार्गश्रम, इनसब को सहता है, अथवा स्वच्छन्द प्रवृति करने वाली स्त्रिया निरपराधि पती को अच्छे ज्ञान का या अपने ससुर का और पिता का भी घात करती है जो अपने स्वच्छन्द प्रवृत्ति में बाधक होगा उनका घात करदेती है, अर्थात आदर सत्कार उपकार गुण

…व पर क
…न स्वच्छन्द प्रवृत्ति मे बाधक होगा उनका घात करदेती है, अर्थात आदर सत्कार उपकार गुणा…

तारुण्य और सौंदर्य इत्यादिगुणों से पति युक्त होने पर भी यदि स्त्री जब पर पुरुष पर अनुरक्त आसक्त हो जाती है तब पती के इतने गुणों का कुछ विचार नहीं करती है जैसे राजा यशोधर की राणी समझना अथवा सिंहबल नामक मनुष्य गोपवती नामक दुष्ट ईर्षालु स्त्री थी उसने अपने सौत का मस्तक तोडकर अपने पती को भी भाले से मार डाला, जो पुरुष स्त्रियों पर विश्वास करता है वह व्याघ्र, चोर, आग, जलप्रवाह मदोन्मत हाथी, कृष्ण सर्प और शत्रु इनके ऊपर विश्वास करता है, ऐसा समझना चाहिये। कुटिल स्त्रीयों का चित राग द्वेष, मोह ईर्षा, असूया, कपट झपट, लपट, इत्यादिक दुष्ट भावों से मलीन होता है। इसलिये व्याघ्रादिकों मे विश्वास करना कथंचित अच्छा माना जायगा परन्तु कुटिला स्त्री पर विश्वास करने से सर्वथा अपना घात कर लेना है, वह स्त्री मधुर वचन बोलकर रति क्रीडा में अनुकूलता दिखाकर पुरुष का मन हरण या द्रव्य हरण करने में रत रहती है, अपने कार्य में हमेशा तत्पर रहती है। जैसा जैसा पुरुष स्त्री का आदर करता है वैसा २ वह उसका अनादर करती है। फिरतो तिरस्कार ही कर देती है। जैसे संध्या काल की लाली क्षणमात्र टिकती है ऐसे ही स्त्री मात्र की प्रीति क्षण मात्र रहती है अर्थात अल्पकाल प्रेम करके यह दोष स्त्रियों में रहता है। स्त्रियों का हृदय हमेशा पवन संचार के समान अतिशय चंचल रहता है। जगत में जितना तृण है जितनी समुद्र की लहरें हैं जितना बालु का समुदाय और प्राणिओं का केश समूह है उनसे भी अधिक तरुण स्त्रियों के विचार समुदाय उत्पन्न होता है, जोकि आकाश, जमीन, समुद्र, पानी, मेरु और वायु इन पदार्थों का तो कुछ परिमाण है, परन्तु स्त्री के मन में निरन्तर उत्पन्न होने वाले संकल्प विकल्पों का परिमाण जानना अशक्य है। जैसे बिजली पानी का बबूला और उल्कापात ये पदार्थ शिघ्र नष्ट होते हैं

वैसे ही स्त्रीयों की पुरुष पर प्रीति दीर्घ काल तक नहीं रहती है अतिशय विकराल क्रुद्ध हुआ काला सर्प, दुष्टसिंह, और उन्मत्त हाथी को भी मनुष्य पकड़ने मे समर्थ है परन्तु दुष्ट स्त्री का मन पकड़ने मे वे समर्थ नहीं है स्त्री कपट युक्तियों से पुरुष का मन हरण करती है अर्थात पुरुष का चित मधुर बचन से चोरती है। और पापयुक्त हृदय से उसका घात करती है। स्त्रियों के बचनों मे मधुरता और हृदय में विष रहता है कदाचित पानी में शिला तैरने लगेगी, अग्नि अपना दाहक स्वभाव छोड़कर ठंडी होगी तो भी स्त्रियों का मन कभी भी कपट छोड़कर सरलता नहीं धारण करेगा। सामर्थ्यवान पुरुष समुद्र का दूसरा किनारा प्राप्त कर सकता है परन्तु स्त्री का चित नहीं बस कर सकता है। क्योंकि स्त्री मधुर और सुन्दर होने पर भी कपट भय और दोषों से भरी हुई होने से अहित करने वाली ही है! स्त्री धन नाश का कारण है, देह में क्षय रोग उत्पन्न करती है सुगति की अर्गल होकर दुर्गति का मार्ग है, और अनर्थों का निवास है तथा दोष उत्पन्न करने का स्थान है। धर्माचरण मे विघ्न समान है। सुखों का नाश करने वाली मोक्ष मार्ग में अर्गला के समान है। पुरुष को बंधने केलिये जंजीर के समान है। पुरुष के चित्त को छेदने में बाण के समान है और भव समुद्र के मध्य डुबाने केलिये कीचड़ के समान है। जो चतुर पुरुष बालपन की व्यवस्था को विचार करेगा तब उसको मालुम होगा कि यह शरीर दुर्गन्ध पदार्थों से भरा हुआ है और इसमें दुर्गन्धस्वेद मूत्रादि पदार्थ निकलते रहते हैं मल की झोपडी के समान दुर्गन्धित है।

जो पुरुष स्त्री चरित्र संसर्ग विष के समान समझ कर उसका नित्य त्याग करता है वही महात्मा या वह जीव ब्रह्मचर्य में दृढ रह सकता है, संपूर्ण स्त्रीवर्ग में जो पुरुष सावधान रहता है

...स्त्री चरित्र संसर्ग विष के समान समझ कर उसका नित्य त्याग करता है...
वह जीव ब्रह्मचर्य में दृढ़ रह सकता है, मैथुन ... में जो पुरुष सावधान रहता...

वही ब्रह्मचर्य का पालन करता है, यह ब्रह्मचर्य व्रत चारित्र रत्न का मूल और सार है। जो व्रती यह विचारता है कि लोक मेरे विषय में क्या बोलते हैं, लोक मेरे तरफ किस निगाह से देखते हैं और मेरी प्रवृत्ति कैसी है ऐसा जो प्रतिदिन बार बार विचार करता है वही दृढ़ ब्रह्मचारी बन सकता है। जो स्त्री के तन रूप लावण्य से अपनी दृष्टि को जल्दी हटाता है वही ब्रह्मचर्य का रक्षण कर सकता है। जो मुनि स्त्री का गंध, शब्द रूप, रस, स्पर्श इनमें अपने मन को लगाता नहीं है वही ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। घर में रहने वाला ब्रह्मचारी विषय समुद्र के बीच में अवगाहन करता हुआ भी विषय जल से चित्त अलिप्त रहना आश्चर्य कारक है। जैसे जल में उत्पन्न होकर वहां ही वृद्धिंगत हुआ ऐसा कमल पानी से अलिप्त ही रहता है वैसे त्यागीजन विषयों में रहकर भी विषयों से अलीप्त रहता है यह कामाग्नि विषयरूपी वृक्षों का आश्रय लेकर प्रज्वलित हुआ है परन्तु तारुण्य रूपी तृण पर संचार करने वाले महात्माओं को यह जलाने में असमर्थ है वह ब्रह्मचारी महात्मा धन्य है। यह विषय रूपी समुद्र यौवन रूपी जल से भरा हुआ है। जिसमें स्त्रियों का मंद हास्य गमन कटाक्ष फेंक कर देखना यही इसमें तरंगें हैं, जो महात्मा स्त्री रूपी मगरों से ग्रसित न होकर इस विषय समुद्र को तीर जाते हैं वही साधु स्तुति के पात्र होते हैं। वही धन्य है। चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत का वर्णन पूर्ण हुआ –

पंचम महाव्रत निरूपण– जो साधु संपूर्ण अन्तरंग और बहीरंग परिग्रहों का मन, वचन काय, कृत कारित अनुमोदन से त्याग करते हैं उनके पांचवे परिग्रह त्याग महाव्रत प्राप्त होते हैं। तहां प्रथम अन्तरंग परिग्रह का वर्णन ऐसे है कि जीवादि सप्ततत्व नौ पदार्थों के स्वरूप पर श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद ऐसे वेद कर्म के तीन भेद हैं। स्त्री

वेद कर्म का उदय होने से जीवको पुरुष में अभिलाषा होती है, पुरुष वेदका उदय होने से स्त्री में अभिलाषा होती है। व नपुंसक वेद के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों में अभिलाषा उत्पन्न होती है हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ऐसे छः प्रकार के दोष हैं। और क्रोध, मान, माया, और लोभ ऐसा चार कषाय हैं, सर्व मिलकर अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद होते हैं। बाह्य परिग्रह दश प्रकार हैं, तहा धान्य उत्पन्न होता है वह क्षेत्र, वास्तुघर धन सुवर्णादि धातु धान्य चावल गेहूं, चना, मूग मटर वगैरह कुप्प वस्त्र भाड हिंग धणाया जीरा मिरच वगैरह दुपद दासी दास नोकर वगैरह चउपद हाथी घोडा गाय उंट वगैरह यानि पालकी बिमान इत्यादि शयन बिछोना आसन पलंग वगैरह ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रहरूप मल जब तक दूर न किया जायगा तब तक ज्ञान दर्शन सम्यक्त्व चारित्र वीर्य और अव्याबाधत्व वगैरह आत्मगुणों को ढकने वाला अंतरंग मल दूर करना एक प्रकार से असक्य ही है। जैसे ऊपर का छिलका निकाले बिना चावल का अन्तरंग मल नष्ट नही होता है वैसे ही बाह्यपरिग्रहरूप मल जिसके आत्मा में उत्पन्न हुआ ऐसे आत्मा का कर्म मल नष्ट होना एक प्रकार से अशक्य ही है, जब यह आत्मा लोभादि परिणामों से युक्त होता है तब बाह्य परि ग्रह का ग्रहण होता है, इस लिये जो मनुष्य बाह्य परि ग्रहण कर ता है तबही लोभा दि विकार स्वत ही आत्मा में उत्पन्न होते हुए वह परि ग्रह का स्वीकार संग्रह करता है अर्थात जब राग भाव लोभ, मोह, ममत्व उत्पन्न होते हैं तब इस आत्मा में बाह्य परि ग्रह ग्रहण करने की एक शक्ति बुद्धि उत्पन्न होती है अन्यथा नहीं, यह मेरा है, और यह तेरा है ऐसा भाव मनमें उत्पन्न होना मोह राग द्वेश कहा जाता है ये पदार्थ मेरे हैं, और अच्छे हैं ऐसा अभिप्राय: रहना संज्ञा है, परिग्रहो में तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होना गौरव कहलाता है, ये परिणाम जब आत्मा

पना और व्यापकता होना उद्योत शुद्धि है। उपयोग शुद्धि पांव उठाकर जिस स्थान पर रखना है। उस स्थान पर जीव जन्तु है या नहीं इसका विचार कर पाव रखना उपयोग शुद्धि है, आलंबनशुद्धि गुरुवंदना तीर्थवन्दना चैत्यवन्दना और यतिवन्दनादिकों काकारण तथा अपूर्व शास्त्रार्थ का ग्रहण संयमी के योग्य क्षेत्र को ढूढना वैयावृत्य करना अनियत स्थान में रहना स्वास्थ्य का संपादन करना मुनि के श्रम को दूर करना अनेक देशों की भाषाओं का अध्ययन करना भव्य जीवों को उपदेश देना इत्यादि कार्यों की अपेक्षा से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना इसको आलंबन शुद्धि कहते हैं। साधु ने वेग से गमन नहीं करना चाहिये मंद मंद भी गमन नही करना चाहिये, आगे चार हाथ जूड़ा प्रमाण जमीन देखकर गमन करना चाहिये, दूर अंतर पांव ही रखना, भय विस्मय का त्याग कर चलना योग्य है, इधर उधर न देखकर कूदना भागना ये क्रिया त्याग कर निर्विलपता रहित चपलता रहित बाहु नीचे छोडकर चलना चाहिये। तृण, पल्लवा दिकसे एक हाथ दूर रहकर गमन करना तथा पशु पक्षी मृगों को या वनचर जीवों को तकलीफ न देकर चलना योग्य है। विरुद्ध उत्पन्न तिरस्थानो में प्रवेश करते समय वहाके त्रसजीवों को अपने शरीर बाधान हो इसे लिये बार बार पिंचिछ काये शरीर स्वच्छ करके दूसरे शरीरों का धक्का नहीं लगे इस तरह चलना चाहिये। गो, बैल, कुत्ता आदि प्राणि ओं को परिहार करके गमन करो, तथाधान्य का भूसा गन्ना का भूसा शालि धान्य के छिलके, कज्जल भस्म गीला गोबर तृण ढेर पानी पत्थर फलक इन का परिहार करके गमन करना मुनाशिब है। चोर कलह तमासा नाटक चेटक इन्द्रजाल व्यापार मंडी इत्या दिक से दूर रहकर गमन करना यह मुनी की इर्या सम्मति है। सत्य वचन भषा समिति दश प्रकार हैं तहां जन पद सत्य, सम्मति सत्य, स्थापना सत्य, नाम सत्य,

रूप सत्य, भाव सत्य, और उपमा सत्य, अनेक देशों में प्रसिद्ध संकेत का अनुकरण करने वाला जो वचन उसको जन पद सत्य कहते हैं। जो जाते हैं उसको गो कहते हैं जो गर्जना करता है उसको गर्ज कहते हैं। सम्मति सत्य गजेन्द्र नरेन्द्र सुरेन्द्र महेन्द्र खगेन्द्र, इत्यादिक शब्द शुभलक्षण के द्योतक हैं। ऐसे शब्दों को सम्मति सत्य कहते हैं। स्थापना सत्य, अर्हम्, इन्द्र, चन्द्र, स्कंद, वगैरहा शब्द सद्भाव असद्भाव स्थापना के विषय हैं। इनको स्थापना सत्य कहते हैं, अरि हनन मोहनीकर्म का नाश होना, रजो हनन, ज्ञानवर्ण दर्शना वर्ण और अन्त राय नाश होना यह क्रिया अर्हंन् में पाई जाती है उस अर्हंन्त के समान प्रतिमा का आकार रहता है इसलिये अर्हंन्त की उसमें स्थापना करते हैं। ऐसा आकार रखकर मूलपदार्थोंकी उसमें स्थापना करना कि यह वही वस्तु है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है यह स्थापना सत्य समझना, नामसत्य जाति, द्रव्य गुण क्रिया इनकी अपेक्षा के बिना ही शब्द पदार्थ के साथ संबंध करदेना वह नाम सत्य है, जैसे जीवन क्रिया अचेतन पदार्थों में न रहते हुए भी उसको जीव कहना, तथा इन्द्र की देवत्व जाति पर मशैवर्य संपन्नता वगैरह गुणों का विचार न करके, व्यहार कलिये इन्द्रजीत कहदेना नाम सत्य है। रूप सत्य रूप शब्द प्रवृत्ति निमित का उपलक्षण है, जैसे कमल में नील गुणका प्रकर्ष देखकर उसको नील कमल कहना तथा चन्द्रमें सफेद पनाकी आधिक्यता देखकर उसको धवल कहना यह रूप सत्य है। प्रतीत्य सत्य किसी अन्य संबंधी पदार्थों की अपेक्षा से वस्तु स्वरूप का निर्णय करके वैसा कहना जैसे दीर्घ वस्तु देखकर दूसरी वस्तु स्व कहना प्रतीति सत्य है। संभावना सत्य वस्तु का वैसी वृत्ति नही होते हुए भी वैसी प्रवर्ति करने की उस पदार्थ में योग्यता है वह जान कर वैसी कल्पना करना जैसे यह आदमी अपनी दो भुजाओं समुद्र को तीर सकेगा ऐसा कहना वह संभावना सत्य है। व्यवहार सत्य वर्तमान काल

में उत्पन्न नहीं होते हैं तब परिग्रह का ग्रहण करने में वह उद्यत नहीं होता है तब कर्म बंध भी नहीं होता है, जो आत्मा– कर्म बन्ध से भय भीत है वह परिग्रह का त्याग करे, स्वेच्छा चार प्रवृत्ति योग्य नहीं है, इस लिये निश्चयसे परिग्रहका त्याग करना चाहिये यहां आचार्योंने आचेलक्य कल्प, दश कल्पों में प्रथम गिना है, परिग्रह ग्रहण करने से इह लोक संबंधी और परलोक संबंधी दोष उत्पन्न होता है, जिस वस्तु में संकल्प मेरा मेरा होता है उसका संरक्षण करना संस्कार करना आदि कार्य करना पड़ता है और रक्षादि करते समय हिंसा होती है, उसके लिये झूट कहना, बोलता है, निगहसी चुराता है चोरी भी करता है, मैथुन संज्ञा के कार्यों में प्रवृत्ति करता है, इस परिग्रह से अशुभ परिणाम होते हैं, फिर उन परिणामो से नर्कादि दुर्गति का बंध होता है, और दुःख रूप फल भोगन पड़ता है, इसलिये सुख चाह है तो संपूर्ण परिग्रह का त्याग करो, यहां पर वस्त्र के साथ संपूर्ण परिग्रह का त्याग जिसने किया वही मुनि माना जाता है इस लिये संपूर्ण परिग्रह का त्याग करना ही अचेलक्य शब्द का अर्थ है सर्व संग त्याग है ऐसा सिद्ध होता है।

यदि वस्त्र शस्त्र अस्त्र त्याग करने से अहिंसादि व्रत समुदाय मुनियों नहीं बन सकेगा, परिग्रह ग्रहण के निमित से यह जीव असि मषि कृषि आदि छहों कर्म करता है, जिससे जीवों की हिंसा होती है, असत्य भाषण होता है चोरी करना पड़ता है मनमें अमर्यादा इच्छा धारण करता है मैथुन प्रवृत्ति मे रत होता है, इसलिए जब परिग्रह का त्याग होता है तब ही अहिंसादिक व्रत निश्चल होजाता है जो परिग्रहवान से कोई मनुष्य धन करजा लेता है उस समय धन देते क्रोध आता है, परिग्रह पास होने से मान्यहूं में धन्य हूं ऐसा अभिमान उत्पन्न होता है, और धन को तजोरी या जमीन में छुपाता है, यह माया दोष है, एक पैसा का लोभ होते ही लाखों करोड़ों में मनसा

दौड़ जाती हैं, अतः द्रव्य का लाभ होना लाभका हेतु है। जो मैं सारी सादरिद्र को देखकर लोक हंसते हैं अतः यह धन हास्य का हेतु है। अपने धन संपदा को देखकर परिग्रहवान उसमें रति आसक्ति करता है, और उस संपत्ति का विनाश होने पर दुःखी होता है। यह मनुष्य धनार्थी गाता है, नाचता है, इधर उधर दौड़ता है खेत हाल से ना गरता है, और उसमें बीज बोता है, धान पकने पर उसको काटता है इतना कार्य परिग्रह के संग्रह केलिए करता है, परिग्रह संचय केलिए कपड़े धोते हैं या कपड़े सींते हैं या कपड़े बेचते हैं या कपड़े बुनते हैं और धन केलिए याचना करते हैं, सेवा चाकरी नोकरी जमादारी बिलादारी करते हैं, तथा गौ, महिष, बकरी भैंसा बैल हाथी, घोड़ा वगैरह प्राणियों का रक्षण करता है, व्यापार करता है ठका लेता है, शिल्पकार्य करता है रात दिन गाडी मोटर चलाने का काम करता है निद्रा का भी या खाना पाना भी भूल जाता है परिग्रह के लोभ से यह मनुष्य संग्राम में शस्त्रों की वृष्टि सहलेता है, मृत्यु को नहीं देखता है। धनार्थी जिसमें मगरमच्छ जल जन्तु विचरते हैं ऐसे भयानक समुद्र में भी यह प्रवेश कर जाता है। यदि यह प्राणी रण में काल के गाल मे चला गया तो सब परिग्रह और भोग पदार्थ किसके होंगे यदि युद्ध में वह नहीं मरा और हाथ पाव वगैरह अंग टूटने पर ऐसे मनुष्य की सब निन्दा करते हैं। इस परिग्रह के मध्य लुब्ध होकर उसके लिये भयंकर गुहाओं में प्रवेश करता है, और परिग्रह केलिये अकर्तव्य भी कर उठता है, शूरवीर पंडित जन सब मनुष्य धनवान के बस होता है, अभिमानी मानव भी इस धन के लिये घोर अपमान सहते हैं जो पूर्ण परिग्रह का संग्रह हुआ तथापि आसा पासी की प्राप्ति से तृप्त होता नहीं क्योंकि सदा लाभ होने पर परिग्रहों से लोभ बढ़ता ही रहता है, जैसे लकड़ियों से अग्नि की तृप्ति होती नहीं है, हजारों नदियों के जल मिलने पर भी समुद्र तृप्त नहीं

...तृप्त होता नहीं क्योंकि सदा लाभ हो पर प... बढ़ता है
...यों से अग्नि की तृप्ति होती नहीं है, हजारों नदियों के जल मिलने पर भी समुद्र तृप्त

होता, ऐसे ही त्रैलोक्य की सब राज संपदा प्राप्ति होने पर भी इस परिग्रहों के द्वारा जीवनत्री तृप्त होता नहीं है, परिग्रह को डाकू लूने में जोर से रोने लगता है मन से खिन्न होता है। चिन्ता करने लगता है। अर्थात् वस्त्रों में जूं समूर्छन जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार परिगह जीन्तुओं का उत्पत्ति स्थान होता है। तथा पदार्थ गहण करना जमीन पर रखना उसको शोधना बाहर लेजाना बाहर सुलाना, बांधना खोलना, फोड़ना, सटकना इत्यादि क्रिया करते समय प्राणियों को बाधा पहुंचती है। तथा छेदन करना बाधना वेष्टन करना, सुखाना, धोना, से जीवों को मर्दन संतापन और घात उत्पन्न होता है परिग्रह की सम्हाल मे स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्ध नहीं होती है, स्वाध्याय और ध्यान के बिना कर्मोंका संवरया निर्जरा के अभावमे सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव कैसे होगा, । यह परिग्रह की जालमे फसेहुए प्राणि को धर्मध्यानमें प्रवृत्ति चित्तकी एकाग्रहता से विमुख ही रहता है और परभव में दरिद्रि होता है। जो साधु परिग्रहका त्याग करता है उसके उद्धारता निस्पृहा वगैरह गुणों की प्राप्ति होती है। और रागद्वेष नष्ट होजाते है ताकिया सिपाका अभाव होजाता है इन्द्रिया वसमें होजाती है स्वाध्याय और ध्यानमें मन एकाग्रता हो जाता है। ज्ञायक सम्यग्दर्शन, केवल ज्ञान, यथाख्यातचारित्र आत्मा रमण होजाता है इसलिये निग्रन्थ मुनि राग द्वेषा दिस पाँसे मरे हुए पंचेन्द्रिय विषय रूपी वनमे सावधान रहते हैं और परिग्रहा से डरते है, और शीत उष्ण दिवाधा परिषह सपने से कर्म की निर्जरा होती। और शरीर से ममत्व छूट जाता है, जो परिग्रह का त्यागी है व.ो अपने विषय कषाय गुणों को क्षीण करता है और चिन्तार हित होजाता है तथाह विश्वास का पात्र है होजाता है निस्पृहि ही मनुष्य नगर मे वनमे सर्व स्थानो मे अपने स्वाधीन रहता है। उसको कहीँभी भय नही है। उसको खेती उद्योग धन्दा करने की चिन्ता नही रहती। परिग्रहों का

त्याग करने से मनुष्य सुखी होता है, जैसे अन्न खाने से क्षुधा मिटती है और स्वास्थ्य प्राप्त होता है, इस लोक उसको सुखी कहते हैं। परिग्रह त्याग करनेसे सुख मिलता है और परिग्रह ग्रहण करने से भव में दोष उत्पन्न होते हैं। इस लिये छिन्न कर मुनी को भविष्य कालीन वर्तमानकाल संबंधी और भूतकाल संबंधी संपूर्ण परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि त्रिकाल संबंधी परिग्रह रत्नत्रय विनाशक है, इनका मन वचन काय से विरक्त होकर शरीर का त्याग करे, यह उत्तम उपदेश है निर्ग्रंथ अवस्था में जो मुनि के सुख प्राप्त होता है, वैसा सुख चक्रवर्ती को भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि चक्रवर्ती का सुख राग भाव उत्पन्न करने वाला है। तृष्णा ज्वाला को बढाने वाला है। इसलिये मुनि के सुख प्राप्त होता है चक्रवर्ती का सुख उसके अनन्त भाग की बराबरी नहीं कर सकता है।

इस तरह पांचों महाव्रतों का वर्णन हुआ, जो आमरण में हिंसा नहीं करूंगा, असत्य भाषण नहीं करूंगा, दूसरे की दी हुई वस्तु में ग्रहण नहीं करूंगा, मैथुन सेवन नहीं करूंगा और परिग्रह स्वीकार इस प्रकार जो आत्मा में परिणाम उत्पन्न होता है उसको व्रत कहते हैं। रात्रि में आहार प्रसंग होने पर हिंसादिक पांच पापों की उत्पत्ति होती है। तथा यती धर्म नाश भी होता है आगे पंच समितियों का वर्णन प्रथम ईर्या समिति का निरूपण करते हैं, मार्ग शुद्धि, उद्योत शुद्धि, उपयोग शुद्धि और आलंबन शुद्धि ऐसी चार शुद्धिओं का आश्रय करके गमन करने वाले साधु के सूत्रानुसार ईर्या समिति पाली जाती है ऐसा आगम में कहा है। मार्ग की शुद्धि, चींटा चींटी वगैरह त्रस जीव तथा बीज अंकुर तृण हरे पत्र और कीचड वगैरह से रहित जो मार्ग है वह शुद्ध मार्ग माना जाता है। उद्योत शुद्धि सूर्य के प्रकाश में अधिक स्पष्ट

...चींटी वगैरह त्रस ... व तथा " जं अंकुर तथा हरे पत्र ... के प्रकाश में ... अधिक
...जो मार्ग है वह शुद्ध मार्ग माना जाता है। उद्योत शुद्धि सूर्य के प्रकाश में

हित करने वाला वचन सत्य वचन है। जो सत्य ही नहीं असत्य भी नहीं ऐसे वचन को सत्य वचन कहते है। यति गण उपर्युक्त दो प्रकार के वचन बोलते है। इन दो प्रकार के वचनों में असत्य व्यर्थ पना कठोरता निन्दा वगैरह दोषों का अभाव रहता है। ऐसे वचनों से पाप कर्मों का आगमन होता नहीं है मुनी गण सूत्रानुसार निर्दोष भाषण करते है इसको भाषा समिति कहते है। उपर्युक्त सत्य भाषण के विरुद्ध जो भाषण उसको असत्य भाषण कहते है। प्रमाद से प्राणी को पीड़ा होगी ऐसा भाषण बोलना वह असत्य भाषण, जिस भाषण से मिथ्या ज्ञान मिथ्या दर्शन और असंयम की उत्पत्ती में पदार्थ का वह परिणाम नहीं है तथापि भूतकाल में वह परिणाम न था अथवा भविष्य काल में वह उत्पन्न होगा तथापि वही यह पदार्थ है ऐसा समझकर जो वचन प्रवृत्ति होती है उनको व्यवहार सत्य कहते है जैसे भात पकाओ, चटाई बनाओ और भावसत्य अहिंसा लक्षण [illegible] परिणाम का जिस वचन से रक्षण होता है उसको भावसत्य कहते है जैसे जीवों को देखकर यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करो ऐसा उपदेश देना; या पल्योपम है, सागरोपम है यह उपमा सत्य है। वचन वर्णा चार प्रकार है सत्य वचन, मृषा वचन, सत्या सत्य वचन, और असत्या सत्य वचन, तहां सत्य पुरुषों का होगी वह भी असत्य भाषण है, जो भाषण अप्रशस्त है जिसकी सज्जनों ने प्रशंसा नहीं की वह असत्य भाषण समझना चाहिये। जिस भाषण में सत्यपन, और असत्य दोनों है उसको सत्य मृषा भाषण कहते है। सत्य असत्य और मिश्र भाषणा से जो भिन्न है वह असत्य मृषा भाषण। जिसका सत्य में नहीं कह सकते और असत्य भी नहीं मानी जाती और मिश्र भी नहीं कहा जाता है ऐसी भाषा को असत्य मृषा कहना चाहिये जैसे घी और खाँड से मिश्रित गाय का दूध शोभन है ऐसा कहना, दूध कोथा इत्यादि गुणों अपेक्षा से सत्य कह सकते है, और ज्वर बडा ने में वह कारण होगा इसकी अपेक्षा

से वह असत्य है। तथा अनक्षर वचन चुटकी बजाना अंगुलि से इशारा करना जिसको संकेत का मालुम है वह प्रतीति का निमित है। जिसको संकेत का मालुम नहीं है वह अ प्रतीत रूप है, इस तरह उभयात्म क भाषा समझना। आगे एषणा समितिलिखे हैं। उद्गम दोष उत्पादन दोष और एषणा दोष इन दोषों से रहित जोमुनी उपकरण आहार और वसति का स्वीकार करते हैं वे मुनी एषणा समिति को निरती चार पालते हैं। आगे आदा निक्षेपणा समिति लिखे हैं। बिना देखे और बिना भूमि वस्त्र कर के पदार्थ जमीन पर रखना, देखकर के भूमि स्वच्छ किये बिना पदार्थ उठा लेना अथवा रखना ये तीसरा भंग है, थोड़ा सा डाल लेना ये चौथा भंग है, इन चार दोषों का त्याग कर पदार्थों को उठा लेना या रखना आदा निक्षेपणा है। प्रतिष्ठापना त्यागने योग्य मूत्र पुरीषा दिक मलका निर्जन्तुक और निश्छिद्र जमीन में करने वाले मुनि प्रतिष्ठापन समिति का पालन करते हैं। इन पांच समिति ओंका पालन करने वाला मुनि जीव समुदाय से भरेहुए जगत में हिंसा दिक पाप कों से अलिप्त रहता है जैसे कमल जलमें रहता हुआ जलसे लिप्त नहीं होता है ऐसे ही यह जानना। अब मनोगुप्ती और वाग गुप्ति का लक्षण लिखते हैं। जोकि राग द्वेष से मन प्रवृत्त होना यह मनोगुप्ति का लक्षण है तथा असत्य भाषणादिक से निवृत्त होना अथवा मौन धारण करना यह वचन गुप्ति का लक्षण है जो नो इन्द्रिय मति ज्ञाना वर्णकर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसको हम मन कहते हैं अर्थात जो ज्ञान राग द्वेष से रहित होकर ज्ञान परिणत होता है तब मनो गुप्ति होती है रागादि कार्यों को योग कारण है उसका निरोध करने से मनोगुप्ति होती है। इस मनो-योग से जीवमें रागा दि परिणाम उत्पन्न होते हैं, उनसे कीर्ति लोकादर, स्वर्गादि सुखादि इच्छा धारण न करते हुए मनो योग को केवल आत्म कल्याण की भावना में रोकना रागद्वेषा दि कार्यों की मनो

योग से उत्पत्ती न होने देना इस को मनो गुप्ति कहते हैं। वचन गुप्ति ज्यो विपरीत अर्थ का कार करने में हेतु होगा या दूसरों के दुःख उत्पन्न करने में निमित्त होगा जिससे अधर्म की वृद्धि होगी ऐसे भाषण से परान्मुख होना यह वचन गुप्ती है। तथा व्यलीक असत्य, कठोर, आत्म प्रशंसा युक्त परनिंदा करने वाला पर प्राणियों के उपद्रव योग्य ऐसे भाषण से आत्मा निवृत्त होना वाक् गुप्ती है तथा संपूर्ण वचनों का त्याग करना मौन धारण करना वाक गुप्ति है। काय गुप्ति का स्वरूप औदारिकादि शरीर की क्रिया से परान्मुख होना काय गुप्ति है। अथवा हिन्सा झूट चोरी मैथुन आदि पाप क्रिया से दूर होना काय गुप्ति है। जो कि शरीर अपवित्र है असार है आपत्ति का कारण है मल मूत्र का स्थान है, ऐसा विचार कर उस शरीर से ममत का त्याग करना कायोत्सर्ग करना काय गुप्ति है। शरीर से ममत्व भाव को हटाना काय गुप्ति है। अर्थात् कायोत्सर्ग ग्रहण में जो शरीर की निश्चलता होती है उसको गुप्ति कहते हैं। खुलासा यह है कि कर्म ग्रहण जिस क्रिया से होता है ऐसे सम्पूर्ण शरीर क्रियाओं का त्याग करना तथा शरीर विषय वासना का ममता का त्याग काय गुप्ति है। तथा प्राणियों के प्राणों का वध न करना न दी हुई वस्तु लेना चोरी करना मैथुन क्रिया करना शरीर से परिग्रहों का ग्रहण न करना कायिक क्रियाओं से आत्मा का संरक्षण करना काय गुप्ति है। जैसे खेत के संरक्षण के लिये उसके कंटक, बाड़, झाड़ लगाये जाते हैं, अथवा शहर के संरक्षण के लिये कोट, खाई, परकोटा किया जाता है, ऐसे ही संवर करने के उपाय साधुजन तीन गुप्तियाँ पाप फंद से रक्षण करती है। ये मोक्षमार्ग के साधन हैं। जो साधू हमेशा ध्यान और स्वाध्याय में तत्पर रहते हैं उनके गुप्तिओं का संरक्षण होता है। जो ध्यान और स्वाध्याय में अपने निज में न नहीं लगाता है उसके गुप्तियां स्थिर नहीं रह सकेगी यह निश्चय है। इस प्रकार त्रयोदश व्यवहार चारित्रका

धारण करने वाला साधु इन व्रत समिति गुप्ति की संरक्षण करने के लिये भावनाओं का अभ्यास करते अतिचार युक्त नही होता है उसके व्रत हमेशा निरतिचार रहकर उत्तरोत्तर उन्नता वस्था की प्राप्ति होजाती है यह भावना तत्वार्थ सूत्र सप्तम अध्यामे कथन हैवडने से यहां न लिखा है इस व्यवहार रत्नत्रय को पालन करता हुआ साधु माया, मिथ्या निदान तीन शल्य का त्याग करदे निदान करने वाला मुनि भोग लिये अपनी धर्म रूपी संपत्ति को खोदेता है इस लिये तीन शल्य का त्याग कर, तपश्चरण में लगना चाहिये तप से ही संपूर्ण कर्मों की एक देश निर्जरा होती है जैसे सुवर्ण सम्मिलित पाषाण को अग्नी में तपाया धमाया हुआ कीट कालिमा मल रहित हो कर शुद्ध सुवर्ण हो जाता है उसी तरह यह जीव भी तप रूपी अग्नि से तपाया गया कर्मों से रहित हो कर शुद्ध हो जाता है। ज्ञान रूपी प्रचंड पवन कर शील समाधि संयम इन कर प्रज्वलित जो तप वह संसार के कारण भूत कर्मों को भस्म कर देता है, जैसे अग्नि, तृण पल्लव काठ आदि को भस्म कर डालती है, बहुत कालका संचय किया हुआ कम तप से नष्ट होजाता है, जब सब कर्मों कर रहित हो जाता है तब अतुल सुख पाता है, ऐसा तपस्या का महात्म्य है जो तप कर भोग का निदान करता है वह साधु अपना तपस्या रूपी खजाने को लुटा देता है। और संसारी बन जाता है चार गतियों में सदाई जन्म मरण किया करता है, संसार समुद्र की औपमा है इसमें जन्म मरण रूपी अगाध पानी भरा है और द्वेषादि जलचर भयंकर समुद्र के सम्यग्दर्शन सम्यक ज्ञान, सम्यक, चरित्र और सम्यक तप इन चार अवयवों से बनी हुई सम्यक आराधना रूपी श्रेष्ठ जहाज पर आरूढ होकर वह सत्पुरुष इस संसार रूपी समुद्र से उत्तीर्ण होजाते हैं अर्थात मुनि महाराज, सामायक, स्तवन, बन्दना तक्रमण, प्रत्या ख्यान आलोचना, विनय वैया व्रत, स्वाध्याय, का योत्सर्ग, अनु प्रेक्षा

चिन्तवन और एकाग्र चित्त को निरोध कर ध्यान मे लीन होते हैं तब ही व्यवहार चारित्र से निश्चय चारित्र का आलंबन से कर्मों की निर्जरा करने को उद्यमी होजाता है। जैसे गज, रथ, तुरंग, पियादे सामन्त, चतुरंग सेना से रण में राजा जीत पाजाता है ऐसे ही योगी राज, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप, ये चार आरधना के बल से, ज्ञाना वरणादर्शना वर्ण मोहनी अन्त राय कर्म इन चार घातियां कर्मों का नाश करके सर्व पदार्थों को प्रकाश ने वाला केवल ज्ञान प्रगट कर लेता है। भावार्थ जब समयग्द्रष्टि चौथे गुण स्थान प्राप्त करता है तब एक सौं शतरा प्रकृत्तियों में से तेतालीस प्रकृतियों को छोड देता हैं, अपेन को छोड कर श्रावक, पचपन को छोड कर प्रमत्त संयमी होता है आगे का अनुक्रम आगम से जानना, जो केवल ज्ञान आत्मा का निज गुण जागृत होता है तब किसी कारणों से यह ज्ञान अवात्म आती हैं। निश्चया त्मक होने से संसय रहित है, और सर्व ज्ञानो में श्रेष्ट हैं जोकि स्वयं आत्मा मे प्रवृत्त होता है अविनाशी अखंड अन्या वाद आत्मा का संपूर्ण स्वरूप है इसमें विचित्र द्रव्यो की सपूर्ण पर्याय भाषित होता है इस लिये अनेक रंगो से रंगा हुआ वस्त्र के समान यह केवल ज्ञान है, ऐसा केवल ज्ञान प्रगट होता है। जब आयु कर्म की समाप्ति होने पर योग निरोध करके अयोग के वली होने वाद वे अयोग के वली भगवान औदारिक शरीर सहित, नाम, कर्म, गोत्र कर्म, आयू कर्म, और वेदनीय कर्म इनचार अघा तिया कर्मों का क्षयकर कर्म रूपी रज रहित निर्मल सिद्ध भगवान बन जाता हैं। भावर्थ अयोगयि केवल अपने काल के दूसरे अंत समय में तेरह, प्रकृतियों का नाश कर शरीर छोड निर्मल सब संसार उपाधियों से रहित अनन्त गुण मयी सिद्ध परमात्मा हुए मोक्ष स्थान मे सदा विराजते हैं। वहां मोक्ष स्थान वाधा रहित परमअ तिशय विशाल सर्वात्म प्रदेश व्यापी वृद्धि हास रति, विस्तीर्ण, शाश्वत स्थान है, उसके ऊपर,

यही समस्त गुण रूपी रत्नों का करण्ड या रत्नाकर है। यह सर्वदर्शी, सर्व-हित-रूप, सर्वज्ञ सर्वत्र व्याप्त और परमेष्ठी पद में स्थित है। इसी का नाम परमात्मा, निरंजन, निर्विकार है। शुद्ध नय का विषय श्रुतज्ञान का पिण्ड ऐसा एक आत्मा ही है। मानव आत्मा के इस स्वरूप को न पहिचान, कर्मपटलों से आच्छादित हो, इन्द्रियों के विषय भोग में आनन्द मानता है जो कि विष मिश्रित अन्न के समान है। आत्मज्ञ दिगम्बर, वीतराग, निर्ग्रंथ मुनि की प्रशम मन्दकषाय रूप विशुद्धता में जो सुख है, उसका अनन्तवां भाग इन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्रों को प्राप्त नहीं होता। इसलिये गुणी पुरुषों द्वारा इस अतीन्द्रिय अनन्त चतुष्टय को अपने ही भीतर खोजना चाहिये।

इस आत्मा में ऐसी सामर्थ्य है कि शुद्ध ध्यान के बल से क्षणमात्र में कर्मरूपी ईंधन को भस्म कर समस्त पदार्थों को देख जान लेती है। इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो जाते और क्षणभर के लिए तीनों लोक में समता-रस फैल जाता है। आत्मा को छोड़ ऐसा सामर्थ्यवान् अन्य कोई पदार्थ नहीं है। यह अणिमा, महिमा, लघिमा आदि अमूल्य अनर्घ्य गुण रूपी रत्नों का सागर है। जब ध्यान से आत्मा में समतारस झरने लगता है तब मोहरूपी अग्नि मन्द पड़ने लगती अथवा बुझने लगती और संयम रूपी लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है। मित्रशत्रु, कँचकञ्चन निन्दा, प्रशंसा, वन नगर, सुखदुख, जीवन मरण, इष्ट अनिष्ट और अर्घावतारन असि प्रहार में साम्यभाव रखना ही समता का लक्ष्य है। इसके अवलम्ब से ही शुद्धोपयोग होता और अनन्त चतुष्टय युक्त मोक्षलक्ष्मी प्राप्त होती है। यह रागद्वेष मोहादि से भरा हुआ भयानक वन कर्मरूपी सिंह द्वारा सुरक्षित है। इसे महा सुभट मुनि ध्यानाग्नि से भस्म कर साम्यभाव रूपी जल से क्षणमात्र में बहा देते हैं। निजानन्दावलम्बी शांत साधु के चरण कमलों के प्रभाव

से परस्पर जाति विरोधी प्राणी भी वैर—भाव को छोड़ मित्र हो जाते हैं। जैसे मेघ वर्षा से वन की दावाग्नि शमन हो जाती है।

यतीश्वर समता परिणामों के द्वारा मोह रूपी मेघ पटल को दूर कर ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश से तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देख लेते हैं। ये तीनों लोक प्रचन्ड मोहाग्नि से धधक रहे हैं। इसे साम्य भाव-रूपी जल ही शान्त कर सकता है। संसारी प्राणी अनेक विषय वासनाओं में आस्था कर लिप्त हो रहे हैं, यह सब मोह राज की ही चेष्टा है। संयमी मुनिजन सम भावों के आधार से रागद्वेष और मोह के समूह को नष्ट कर आप अपने में ही परमात्म स्वरूप अवलोकन करते हैं। जब वे अपनी आत्मा को औदारिक, तैजस और कार्माण पुद्गल शरीरों तथा रागद्वेष मोह से रहित देखते हैं तब सम परिणामों में स्थिर स्थिति पालते हैं। उस समय उन पर चाहे पुष्प-वृष्टि करो या क्रोध प्रहार; गले में पुष्प माला डालो या सर्प डालो; इन द्वन्द्वों में वे रंच मात्र राग-द्वेष नहीं करते। ऐसा सम—भाव होने पर केवलज्ञान रूपी सूर्य का अखण्ड और अविचल प्रकाश फैल जाता है। ऐसे मुनिजन ही अपनी कल्याण—साधना में पूर्ण सफल होते हैं। उनके हृदय में महल—मसान, कीचड़—केसर चन्दन, शैय्या—कंटक, चर्म—रेशम आदि में समभाव की लीला फैल जाती है।

समता—भाव ध्यान का प्रधान अङ्ग है। ध्यान का आधार समभाव और समभाव का आधार ध्यान है। इसी से कर्म क्षय होते हैं। यही तो आत्म—कल्याण है। यह आत्मा व्यतीताक्ष, मूर्तिक पुद्गलों से रहित, निष्कलंक है। ऐसा स्मरण करने से विषयों से आसक्तता छूट जाती है। ऐसी आत्मा को कौन समझावे और यह किसको सम्बोधे? अतएव निर्मल दर्पण में पड़ते हुये प्रतिबिम्ब के

समान प्रभा वाले परमात्मा का ध्यान चिन्तवन करो। दृढ़ निश्चयी ध्यानी को स्वप्न में भी परमात्मा ही दिखलाई पड़ता है। अपना स्वरूप निश्चल, अशरीर, अमूर्त, निष्कलंक, चैतन्य, जगत गुरु, परमात्मा, परमज्योति, सम्पूर्ण विश्व का ज्ञाता—दृष्टा और ध्यान—ध्याता के भेद से रहित स्फुरायमान होता है। साधु जिस समय परमात्मा का ध्यान करता है उस समय उसे परमात्मा से अपने अलग पने का भान नहीं रहता। सब द्वैत—भाव नष्ट हो जाता है। इस समीचीन ध्यान के प्रताप से अनेक फलों से भरी ऋद्धियां-सिद्धियां स्वयमेव सिद्ध हो जाती हैं। इस जीव का प्रधान शत्रु मोह है। इसका अभाव होने से जन्म-मरण की सन्तति टूट जाती है। शेष कर्मों में संसार उत्पादन की शक्ति नहीं है उनका सत्व असत्व के समान हो जाता है। चार घातिया कर्मों (ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय) के नाश होने से अरिहन्त पद प्राप्त हो जाता है, शेष चार अघातिया (आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय) कर्म निस्तेज और भ्रष्ट बीज के समान अशक्त हो जाते हैं। देवों द्वारा पूज्य और चौंतीस अतिशय युक्त होने से अरहत संज्ञा है। उनकी आत्मा में अनन्त चतुष्टय, अनन्त विरति, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग आदि अनन्त गुण प्रकट हुए और स्फटिक मणि के पर्वत के मध्य से निकलते हुये अत्यन्त देदीप्य मान सूर्य-बिम्ब के समान, अपने शरीर प्रमाण ही शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लिया।

अरिहन्त परमात्मा कलंक दूर होने से निरंजन, सम्पूर्ण दोष दूर होने से निष्कलंक, सम्पूर्ण रोग दूर होने से निरामय और समस्त विघ्नों को नष्ट कर देने से विघ्न—विनाशी कहलाते हैं। जिन्होंने दुर्नय का अन्त कर अष्ट-कर्म नष्ट कर दिये, पूर्णतः अपने स्वरूप में स्थिर हो कृत-कृत्य हो चुके अर्थात अपना साध्य सि[illegible] लिया उन्हें सिद्ध परमेष्ठी कहते हैं। सिद्ध भगवान नित्य, निरञ्जन,

अष्ट-गुण संयुक्त, अनवद्य, निर्दोष, निर्लेप और सुख सागर में मग्न हैं। उन्होंने सर्वाङ्ग से समस्त पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों को जान लिया हैं। वे वज्र-शिला निर्मित अमग्न प्रतिमा के समान, पुरुषाकार एवं अशरीर हैं।

जो महा तपस्वी साधु पंचचार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप और वीर्य) का स्वयं आचरण करते तथा अन्य साधुओं से आचरण कराते हैं। उन्हें आचार्य परमेष्टी कहते हैं। ये चौदह विद्या—स्थानों केपारंगत और ग्यारह अङ्ग धारी अथवा आचारांग मात्र के धारी होते हैं। मेरु समान निश्चल पृथ्वी सदृश, सहन, शील, निर्दोष, निर्लेप और पवित्र छत्तीस गुण संयुक्त होते हैं। जिनकी बुद्धि परमागम के पूर्ण अभ्यास से निर्मल हो चुकी है, तथा सप्त—भय रहित, परम दिगम्बर, वीतरागी दयामय धर्म धारी हैं। जो सदैव प्रवचन रूपी समुद्र के उत्तम जल में स्नान कर पवित्र होते और उत्तम रीति से षट्—आवश्यक पालन करते हैं वे ही आचार्य परमेष्टी हैं। ये सिंह सदृश निर्भय शूर वीर सौम्य मूर्ति, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित तथा संघ में शिक्षा—दीक्षा और प्रायश्चित देने में पूर्ण कुशल होते हैं। आचार्य परमेष्टी समस्त परागम विशारद, समस्त व्रतों की रक्षा करने वाली क्रियाओं से पट्ट और शिष्यों को निरन्तर नवीन विचार सुनाते हैं। देश, काल और प्रसंगानुसार वस्तु—स्वरूप समझाने वाला निर्वाधक हितोपदेश देते तथा भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग में रुचि उत्पन्न कराते हैं। मन—वचन—काय को समस्त प्रवृतियां शुद्ध रख, दूसरों को जैन—शासन में आगमानुसार प्रवृत्ति कराने के लिये सदैव तत्पर रहना अपना कर्तव्य समझते हैं। अभिमानी और उद्धत नहीं होते। बड़े बड़े विद्वान आदर करते, स्वयं भी विद्वानों का बिनय पूर्वक सत्कार करते हैं। निश्चय व्यवहार नय एवम् लौकिक नीति के वेत्ता निर्मल—कोमल परणामी होते हैं। याचना, वांछा

और क्रोध रहित, द्वादश तप में तल्लीन, दश लक्षण—धर्म के पूर्ण प्रति पालक होते हैं। ये ही तेरह प्रकार के चारित्र को निर्दोष पालने वाले, अनेक श्रेष्ठ गुणों के भण्डार और सत्पुरुषों के उपादेय आचार्य गुरु हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी ग्यारह अंग चौदह पूर्व विद्या स्थान के पाठी, तत्कालीन परमागम के जानकर और व्याख्याता होते हैं। मुनियों को उपदेश देते और पढ़ाते हैं। परमागम का पूर्ण अभ्यास कर सदैव मोक्ष-मार्ग में स्थित रहते हैं। साधु परमेष्ठी, पाँच महाव्रत, पंच समिति तीन गुप्ति और शील के अठारह हजार भेदों को धारण करते हैं। चौरासी लाख उत्तम गुणों को पालन कर साढ़े सैंतीस हजार प्रमाद के दोषों को त्यागते हैं। राग-द्वेष-मोह पंचेन्द्रियों के विना, चार सज्ञाएं चार कषाय, तीन योग, सात गौरव और पन्द्रह प्रमाद को त्याग देते हैं। ये गज के सामान स्वाभिमानी या उन्नत, सिंह-सदृश पराक्रमी और वृषभ तुल्य भद्र परणामी होते हैं पवन जैसे विना रुकावट विचरने वाले, मृग की नाईं सरल और गज के सामान गोचरी वृत्ति करने वाले होते हैं। ये सूर्य के समान तेजस्वी, सकल तत्वों के प्रकासक, सागरवत गम्भीर और परिषह–जय समय मेरू में सरीखे अचल रहते हैं। चन्द्र जैसे शान्ति–दायक, मणि समान प्रभा-पुन्ज युक्त और पृथ्वी सरीखे सहन शील हैं। ये यति (सर्प के सामान दूसरे के बनाये हुए) अनियत आश्रम या वसतिका में निवास करते हैं। साधु परमेष्ठी परम दिगम्बर आकाश जैसे निरावलम्बी निर्लेप और निरन्तर परमात्म-पद के अन्वेषक होते हैं।

इस प्रकार पंचपरमेष्ठी पद का प्राप्त करना आत्मा का ही कर्तव्य है। मैं अपने स्वभाव से परिपूर्ण शुद्ध हूं: (यह निश्चय नय और यही मैं हूं। वर्तमान पर्याय रूप नहीं, यही सम्यक् दर्शन है।) ऐसी पूर्ण दृढ़ श्रद्धा से समस्त विकार दूर हो, आत्मिक–सुख प्रकट हो जाता है। पर के स्वामित्व

से संसार और निज-स्वभाव के आधार से मोक्ष प्राप्त होता है। स्वभाव की स्वामित्व पूर्ण एकता ही मोक्ष मार्ग है। यही अनुमान्य है। जो जानता है, वह ज्ञान है। जैसे—जिस वन में आम्र-वृक्षों की बाहुल्यता होती है, उसे आम्र-वन कहते हैं। प्रधान पदवी की अपेक्षा अज्ञान को भी ज्ञान कहा जाता है। जैसे पुत्रोचित कार्य न करने वाले को कुपुत्र (कपूत) कहते हैं। ज्ञान, प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनपर्यय-ज्ञान और केवलज्ञान के भेद से पांच प्रकार का है।

समस्त पदार्थों को एक काल में जानने वाला केवलज्ञान है। वर्तमान ज्ञान ही केवलज्ञान हो जाता है। जैसे:—द्वितीया का चन्द्रमा ही पूर्णमासी का चन्द्रमा होता है। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं। अर्थात द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। आचार आदि अंग पूर्व शब्द रूप तो द्रव्य श्रुत और ज्ञान-रूप भाव श्रुत है। श्रुत-ज्ञान अनादि, पूर्वापर विरोध रहित और अपार है। तहा विचित्र अर्थों से भरा द्रव्यार्थिक-पर्यायिक नयों तथा सद्भूत व्यवहारादिक उपनयों के सम्बन्ध से गहन है। वह ज्ञान मिथ्यात्व को दूर करने वाला और समस्त लोकको दिखाने के लिये नेत्रों के समान हैं। प्रथमानुयोग, करुणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के रूप से श्रुत-ज्ञान के चार भेद हो जाते हैं। यह इन्द्रों द्वारा पूज्य और स्याद्वाद रूपी उत्तम ध्यान का धारक है। यह सैकड़ों नयों से पूर्ण, सरस्वती का निवास गृह और विद्वानों को आनन्द उपजाने वाला है। ऐसे सिद्धान्त सागर के अमृत जल को हे भव्यो? कर्ण रूपी अञ्जलियों से निरन्तर पान करो आज्ञा विचय धर्म-ध्यान में प्रमाण, नय, विक्षेपों से निर्णीत स्थिति, उत्पत्ति और व्यय संयुक्त चेतन—अचेतन रूप तत्व समूह का सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रधान कर चिन्तवन करे। निर्मल, शब्द अर्थ से ही परिपूर्ण निर्बाधक श्रुत-ज्ञान का मनन करना चाहिए।

स्वभाव का परिणमन स्वभाव की भावना के आधीन है। जैसे आत्म-स्वभाव है वैसी ही भावना करना चाहिये। पूर्ण स्वभाव को जानकर पुरुषार्थ द्वारा इस पर्याय में ही कार्य करना चाहें तो कर सकते हैं। जिसने आत्म-स्वभाव नहीं समझा, वह ध्यान नहीं कर सकता। जिसने स्वभाव और विकार का रूप भिन्न भिन्न नहीं जाना वह विकार में ही तन्मय रहकर उसी की ही परम प्रतीति करता है उसी की भावना भाता है। निज स्वभाव की भावना से प्रति क्षण शुद्धता की वृद्धि होती है। यह न पंचम काल और भरत—भूमि पूर्ण ज्ञान होने को रोकती और न चतुर्थ-काल और विदेह क्षेत्र केवलज्ञान देने में समर्थ है। एक मात्र तुम्हारी पुरुषार्थ—हीनता से ही तुम्हारा स्वराज्य रुका हुआ है। तुम्हारा पूर्ण पुरुषार्थ तुम्हें केवलज्ञान वस्तु - प्रकट करने में समर्थ है। वह केवलज्ञान संयोग से पैदा नहीं होता अपितु तुम्हारे पास ही पूर्ण रूप से मौजूद है। अतएव समस्त बाह्य संयोग तज निरन्तर आत्म-स्वभाव भावना द्वारा पुरुषार्थ की वृद्धि करो। यही आत्म-कल्याण-मार्ग है।

वस्तु का स्वभाव अनेकान्त मय है यह अनेकान्त बिना सम्यग्ज्ञान के नहीं जाना जाता, अतः अपने ज्ञान को आत्म-स्वभाव की ओर लगा, सम्यग्ज्ञान बनाओ। वस्तु स्वरूप जैसा है वैसा ही है। वह कभी भी अन्य रूप न होगा। अर्थात् अन्तरङ्ग की विपरीत मान्यता को दूर कर आत्मा में रमण करना सच्चा आत्म—हित है। संसारी जीव देह-दृष्टि में मग्न हो रहे हैं उन्हें आत्म कल्याण की कोई चिन्ता नहीं है। शरीर और इन्द्रिय-विषय-पोषण में ही लगे रहते हैं। सम्यग्ज्ञान के अभाव में अज्ञान-भावों की ही पुष्टि में लगे हैं। शान्ति का पाठ पढ़ते ही नहीं, जिससे संसार-दुःखों की शृंखला कभी भी न टूटी और न टूटेगी। ज्ञेय-पदार्थों के जानने से ज्ञान उन पदार्थों के रूप नहीं हो जाता, वह तो एक मात्र ज्ञान रूप ही रहता है। इसीसे ज्ञेय-ज्ञायक भाव भेद-ज्ञान कर अपने ज्ञान स्वभाव में एकाग्र हो जाओ।

आत्म-प्रबोध

हे जीव ज्ञाता दृष्टा-भाव को भूल पर पदार्थों में एकत्व बुद्धि कर उन्हें इष्टानिष्ट मान रहे हो । अपने स्वभाव रूप सम्यक् चारित्र स्वभाव न होने से समस्त चारित्र मिथ्या चारित्र है । भेद—विज्ञान होने पर ही चारित्र का शुद्ध अंश प्रकट हो, मोक्ष-मार्ग रूप हो जाता है । इस संसार में अनन्त आत्माएं हैं । उनमें ज्ञान—गुण की अपना समस्त दशाओं में केवल ज्ञान है । जब वे निज-स्वरूप में स्थिर होती हैं तब वे तीन लोक के त्रैकालिक समस्त पदार्थों की समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष वत् जान लेती हैं । प्रत्येक आत्मा अपने स्वरूप में विद्यमान है । उसके अनन्त गुणों में प्रत्येक गुण स्वतन्त्र अपने ही स्वरूप में है अर्थात् अन्य गुण रूप नहीं होते । प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायों में से प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र है अर्थात् निज स्वरूप छोड़ कर पर—स्वरूप नहीं होती या एक अंश दूसरे अंश रूप नहीं होता । इस प्रकार अनेकान्त में कितनी स्वतन्त्रता है ? जो कि स्वतः से पूर्णता और अन्य से भिन्नता प्रकट करता है । वस्तु का जैसा परिपूर्ण निजत्व अस्ति-नास्ति रूप । ऐसा समझ से पर पदार्थ से अहंकार—ममकार दूर हो उदासीनता आ जाती और अपने स्वभाव में लीन होने से वीतरागता आ जाती है । यही अनेकान्त का फल और आत्म-ज्ञान-स्वभाव की महिमा है ।

हे आत्मन् ! यह परम सौभाग्य प्राप्त हुआ है । अब अपनी शुद्धि—सिद्धि सम्पन्न अनन्त-लक्ष्मी की सम्हाल करो तुम्हारी सम्पूर्ण सम्पदा तुम्हारे ही पास है । वह सर्वज्ञ के ज्ञान में स्पष्ट झलक रही है । ज्ञान की सामर्थ्य अपार है । पूर्ण श्रद्धा पूर्वक निज स्वभाव की महिमा प्रकट कर उसी में स्थिर होना ही जिन-दर्शन का मूल प्रयोजन है । जिनेन्द्र भगवान की दिव्य—ध्वनि और समस्त शास्त्रों का सार यही है कि अपनी चैतन्य, निजानन्द, ज्ञानदर्शन मय आत्मा की पहिचान कर उसी में स्थिर रहो सम्यक्दर्शन से समस्त आत्म गुण निर्मल हो जाते (और स्वतः स्वभाव अभेद रूप से अपने स्वरूप के

समस्त गुणों को जान लेते) हैं। जो सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा का अनुभव करते हैं वे मोह को कृश कर मोक्ष के सर्वथा निकट पहुंच जाते हैं। क्योंकि आत्म स्वभाव ज्ञाता दृष्टा होने से उसमें राग-द्वेष मोह का परिणमन नहीं होता। राग-द्वेष और मोह ज्ञाता—दृष्टा स्वभाव से भिन्न है। ऐसा भेद-विज्ञान प्राप्त कर पर-द्रव्य में इष्ट-निष्ट बुद्धि मत करो। एक मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहो। इसी का नाम सम्यक्चारित्र है। आत्मा का यही वीतराग भाव निराकुल सुख है।

कोई भी (द्रव्य) अपने अनुकूल स्वरूप में परिणमन कराने में परिणमित नहीं होता, तब क्रोध कषाय-भाव करने से क्या होगा? मात्र स्वतः ही दुखी होना है। अपनी ऐसी समझ के करने से कषाय—भाव दूर हो जाते हैं। आत्म—भाव की प्रतीति वर्तमान-काल में ही कर लेना चाहिये। ऐसे उत्तम और पवित्र कार्य में काल की अवधि बढ़ाना उचित नहीं है। जब यह आत्मा निज स्वभाव समझ ले, तभी मंगल—मुहूर्त है। तभी काल-लब्धि है। शास्त्र-समुद्र-मथन से एक चैतन्य रूपी रत्न ही प्राप्त करना है। अतएव तू उलटा-सीधा रागद्वेष में मत फंस। कुन्द—कुन्द स्वामी के वचनानुसार अपने स्वभाव को समझ पहिचान कर। इसीसे तेरा उद्धार होगा। शास्त्राभ्यास का प्रयोजन आत्म स्वभाव समझना है। इसे बिना समझे समस्त विद्या पानी में डूब गई के समान है। यदि पंडित होकर भी समस्त विद्याएं जिव्हाग्र रखीं, समस्त कर्मकाण्ड या पाँच सौ पैंतालीस मार्गणा—स्थान को भी ज्ञान रखा, आध्यात्मिक शास्त्रों के श्लोक भी कण्ठ में रखे और दान पूजा व्रतादि तप भी किया, परन्तु आत्म ज्ञान से दूर रहे तो आत्म शान्ति प्राप्त करने में असमर्थ ही रहे। जीवन पूर्ण कर संसार-समुद्र में डूब जाओगे। जैसे कोई अनेक विद्याओं का ज्ञाता पण्डित नाव में बैठकर नदी पार करने लगा। उसने खेवटियासे पूछा कि तुम कौन कौन विद्याएं जानते हो? उसने उत्तर दिया कि मैं तो सिर्फ नाव चलाने

... पूछा कि तुम कौन कौन विद्याएं जानते हो ? उसने उत्तर दिया कि मैं तो सिर्फ नाव चला-

और नदी में तैरने की विद्या जानता हूं। विद्या निधान पण्डित ने गर्व युक्त तिरस्कार भाव से कहा अरे तुमने अपना सारा जीवन पानी में ही खो दिया ? मैं तो देख अनेक विद्याओं में निपुण हूं। इतने में नाव में एक बड़ा छेद हो गया। तब खेवटिया ने पण्डित जी से कहा "अब नाव डूबती है आप अपनी विद्या चलावो"। पं०जी ने हताश होकर कहा "यह विद्या हम नहीं पढ़े"। इतना कहते ही ज्योंही नाव जलमग्न होने लगी त्योंही नाव का स्वामी फुर्ती से नदी में कूद पड़ा और तैरकर पार हो गया, परन्तु पण्डित जी विद्या समेत जल में डूब गये।

ऊपर लिखे दृष्टांत का तात्पर्य सिर्फ यही है कि जो आत्मा (खेवट के समान) न तो बहुत पढ़ा लिखा और न अधिक तपादिक भी करता है, परन्तु आत्मानुभव की सम्पूर्ण मूलभूत कला को जानता है। उसकी आत्मानुभव से शान्त बढ़ जाती है, और इस सत् विद्या के बल से स्वल्प कालमें ही मोक्ष चला जाता है। अतएव आत्म ज्ञान ही सच्ची विद्या है। इसे सीखना योग्य है। आत्म ज्ञान सहित, विशेष शास्त्र का अभ्यास, जप तप शील संयम और व्रतादि उत्तम शोभा पाते हैं। आत्मा ज्ञान स्वरूपी होने से ज्ञानी निरन्तर ज्ञानाभ्यास करते रहते हैं। ज्ञान आत्मा के साथ अभेद होने से निरन्तर आत्मा के ही साथ रहता है तथा आत्मा ही के साथ जाता है। आत्मा के साथ पर वस्तु नहीं जाती और न आत्मा उसे लेजा सकती है। वस्तु (पदार्थ) गुण पर्याय सहित होने से उसके गुण पर्यायों का कोई कर्त्ता हर्त्ता नहीं है। वस्तु अपनी गुण पर्यायों सहित अभेदित है। वीतरागी का शरीर कट जल रहा है या रोग से घिरा हुआ है तो भी वह दुखी न होकर निज स्वरूप में स्थिर हो केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष चला जाता है। उदाहरणार्थ तीन पाण्डव, गजमुनि और संजयन्त मुनि घोर परिषह सहते हुए निज कल्याण कर गए।

ज्ञान का विकास ज्ञान के ही अवलम्बन से होता है। सम्यक्दर्शन से श्रद्धा में वीतराग भाव

प्रारम्भ- प्रबोध

प्रकट होकर पश्चात् सम्यक्चारित्र रूप जैन धर्म प्रकट होता है, जिससे राग द्वेष मोह दूर हो जाता है। यह वीतराग भाव ही जैन धर्म है। इसमें कोई भी वस्तु इष्ट व अनिष्ट नहीं है, अतएव राग द्वेष मोह करना निष्प्रयोजन है। इनके द्वारा जीव को केवल कष्ट ही भोगना पड़ता है। इसलिए समता धारण कर आत्म चिन्तन करना ही योग्य है। इससे सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य का उदय होता और मोहरूपी अंधकार का नाश होकर आत्मा में अनन्तानन्त सुख प्रकट हो जाता है। चैतन्य रूप आत्मा ? तू समस्त पुद्गल द्रव्यों की पर्यायों से भिन्न ज्ञान दर्शन और आनन्द मय है। तू व्यर्थ प्रमाद कर कर्म बन्ध कर रहा है। पंचेन्द्रिय के भोगों की अभिलाषा का त्याग कर अपने स्वरूप का अवलोकन करो। आनन्दामृत सरोवर में स्नान कर कर्म मल को दूर करके आत्मा को निर्मल करो।

जिस योगी ने गुण—पर्याय सहित ज्ञान, दर्शन चैतन्य स्वरूप आत्मा को जान लिया, उसने समस्त पदार्थों को हस्त—रेखा सदृश देख जान लिया। चैतन्य रूपी आत्मा का तेज समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है। जिसका 'अहं' शब्द से अनुभव होता है। जो अपना स्वरूप ज्ञानानन्द, दर्शन स्वरूप समझता है वह कष्ट—दायक प्रदेशवत या आनन्द—दायक प्रदेश नगर में सर्वत्र आत्मानुभव में लीन रहता है। इस संसार में क्षण भर में धनी—कंगाल, राजा-रंक, सबल—निर्बल और स्वस्थ रोगाक्रान्त होकर मरण को प्राप्त होता है, अतएव धन, शरीर और बल जल के बुद-बुद के समान अस्थिर और नाशवान है। यह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धित, अपवित्र, मल—मूत्रादि से भरा, ऊपर से चर्म वेष्ठित है। यह कमल—पत्र के समान मुरझा कर नष्ट हो जायगा। बड़ा आश्चर्य है कि मूढ़ प्राणी इसे पवित्र मानते हैं। इससे स्नेह करते हैं। मूर्खो ! इस शरीर से ममता तज चैतन्य स्वरूप का अनुभव करो। जिससे इस शरीर की पुनः उत्पत्ति न हो। यह लक्ष्मी इन्द्रजाली खेल के

...न और

समान और कुटुम्बादि शत्रु-मित्र नाशवान है।

जिस प्रकार भूमि में बोया-बट-बीज, वृक्ष बन अनेक शाखा-प्रशाखाओं में मण्डित होकर फैल जाता है। उसी प्रकार शरीरादि पर-वस्तुओं में ममत्व करने से मोह पैदा होता और उत्तरोत्तर भवान्तरों मे चतुर्गति सम्बन्धी अनेक योनियों में भ्रमण कर नाना प्रकार के कष्ट भोगना पड़ते हैं। भुज्यमान आयु को भोगते और भवान्तर की आयु को बाँधते रहते हैं। समय समय आयु—कर्म का नाश होता जाता है। अनेक प्राणी मर चुके। स्वयं भी मरने वाला है। यह अज्ञानी जीव इस बात को जानता हुआ भी आत्म—हित नहीं करता, यह बड़े आश्चर्य की बात है। जिस प्रकार सूर्य दिन में तीन पलौती (प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल) करता है। इसी प्रकार समस्त पदार्थों की अवस्थायें बदल कर दूसरी अवस्थायें हो जाती है। पूर्व में रागद्वेष मोह व जो कर्म—संचय किया था, वह अपना समय पाकर नियम से उदय मे आता है। उसका कोई भी निवारण नहीं कर सकता। जो जीव शुभा—शुभ कर्म के उदय होने पर भी आत्म—कल्याण से नहीं चिगते; वे नियम से मोक्ष हो जाते हैं।

जिस पवित्र मनुष्य ने प्रसन्नता पूर्वक चैतन्य स्वरूप आत्मा की चर्चा सुन ली, वह भव्य निश्चय पूर्वक मोक्ष का पात्र हो जाता है। जो समस्त कर्मों से भिन्न परम परमात्मा को जानता है। वह परम ब्रह्म परमात्मा—स्वरूप ही हो जाता है अतएव पर—पदार्थों से ममत्व हटा कर स्व-स्वरूप में लीन होना चाहिये। इस शांति प्रधान आत्मा को एकान्त स्थान में ठहराने से मोक्ष होता है। जैसे पवन का वेग थमने से समुद्र का जल क्षोभ रहित हो जाता है। उसी प्रकार जब आत्मा से कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है, तब वह निज स्वरूप (विकार रहित) पाकर मोक्ष मे स्थिर हो जाता है। जैसे

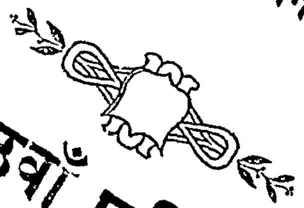
समुद्र स्वभावतः शान्त है उसी प्रकार निश्चय से आत्मा भी शांत ही है।

सम्यक्—दृष्टि सदैव चिन्तवन करता रहता है कि मेरी आत्मा में किसी भी प्रकार के कोई भी कर्म का सम्बन्ध नहीं है। मैं संयोग जनित समस्त कर्मों से मुक्त हूँ। मुझ में कोई द्वैत राग-द्वेष, कर्म और आत्मा, शुभ—अशुभ, पुण्य—पाप, सुख और दुःख, इस प्रकार द्वैत युक्त असिद्ध बुद्धि अद्वैत (निजानन्द, शुद्धात्मा) स्वरूप की प्राप्ति को रोकने वाली है। तथा काले, लाल, नीले और पीले अनेक रङ्ग वाले विकार युक्त मेघ—पटल अमूर्तिक आकाश में विकृति नहीं कर सकते। उसी प्रकार क्रोधादि कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने पर भी आत्मा में विकृति नहीं कर सकते। वह सदैव निर्विकार और निराकार रहेगी। जन्म—मरण शरीर के धर्म हैं आत्मा के नहीं। आत्मा और ज्ञान एक ही पदार्थ है यही दर्शन, चारित्र और उत्तम तप है। अर्थात शुद्धात्मा से भिन्न कोई दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप नहीं है। जो भव्य क्रिया, कारक के सम्बन्ध से रहित एक चैतन्य स्वरूप आत्मा की उपासना करते हैं उन्हें अवश्य मोक्ष—फल की प्राप्ति होती है। यह आत्मा ही शास्त्र समुद्र का उत्कृष्ट रत्न, मंगल स्वरूप, ध्येय, परम शरण और त्रिकाल वन्दनीय है। इसका ध्यान करने वाला चौरासी लाख उत्तर गुणों तथा छत्तीस, पच्चीस और अट्ठाईस मूल गुणों का धारी है। सर्वोत्कृष्ट पदार्थ यह चैतन्य स्वरूप आत्मा ही है।

आत्म—ध्यान के बिना कर्म दूर नहीं होते। कर्मों के संयोग से शरीर बना ही रहता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य, गंगा जल की कांवर में रखे भार वहन करता रहता है। उसी प्रकार शरीर के सम्बन्ध से निरन्तर जन्म—मरण होता ही रहता है। इसलिए भव्य जीवों को आत्म—ध्यान अवश्य करना चाहिये। यही आवश्यक क्रिया, उत्तम स्वध्याय और उत्तम तप है। इससे जन्म—मरण का

...थ । ...न्तर जन्म—मरण होता ही रहता है। इसलिए भव्य जीवों को आत्म–ध्यान
। यही आवश्यक क्रिया, उत्तम स्वध्याय और उत्तम तप है। इससे जन्म—मरण

रोग दूर हो जाता है। इस चैतन्य शुद्धात्मा रूपी किले में कर्म—शत्रु प्रवेश नहीं कर सकते। भव्य जीवों! को शुद्ध आत्मा का ही ध्याम करना चाहिये। आत्मा ही प्रबल विद्या, स्फुरायमान महा मंत्र और जन्म—जरा–मरण रोग नाशक श्रेष्ठ औषधि है। यही अविनाशी, अनन्त पूर्ण अनाकुल सुख को देने वाली है। इसी का निरन्तर मनन और ध्यान करो। इस प्रकार आत्म-प्रबोध का यह सप्तम परिच्छेद समाप्त हुआ।



आठवाँ परिच्छेद

❀ मङ्गलाचरण ❀

दोहा—कर रागादिक भाव को, भूलो आतम–राम।
तज दें यदि इस द्वैत को, पाओ शिव विश्राम॥

संसार रूपी प्रबल ताप से पीड़ित प्राणियों को इस शान्त आत्मा में लीन होने से ही सच्चा और पूर्ण विश्राम मिलता है। यद्यपि यह लोक षट्-द्रव्यों से भरा हुआ है तथापि उनको जानने योग्य सिर्फ एक आत्म—द्रव्य हा है। अन्य समस्त लोक जड़ ही है। यह आत्मा ही तीन लोक का महाराज है। जोकि निराकार, निरंजन और चिद्रूप है। वही मैं हूं। शुद्धात्मा शाँत स्वभावी और इच्छा रहित है। ये इच्छाएं ही मोक्ष सुख को रोकने वाली हैं। मोक्षाभिलाषी को यह सिद्धान्त

अटल करना चाहिये कि - मैं एक चैतन्य मात्र हूँ। निश्चय नय से मेरा अन्य पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार विचार कर शरीर, धन सम्पदा की चिन्ता तज राग-द्वेष मोहादि मलों से रहित हो चित्त को अपनी निर्मल आत्मा में ही लगाओ। इसी से निराकुल अक्षय सुख की प्राप्ति होगी। यह चैतन्य स्वरूप परम तेजधारी, आत्माराम, अत्यन्त, सूक्ष्म, स्वसंवेद्य, अमूर्तिक; एक और अनेक भी है। जिस प्रकार आकाश में लेखनी से लिखना कठिन है उसी प्रकार परमात्मा का वर्णन करना भी अत्यन्त कठिन है।

जो महा पुरुष ऐसी आत्मा का ध्यान करते हैं, वे धन्य हैं। उनकी पूजा-स्तुती इन्द्रादिक देव आकर करते हैं। सर्वज्ञ केवली भगवान ने शुद्धात्मा की उपासना का उपाय समता-रस-पान करना बताया है। उन्होंने बताया है। कि तुम्हारे स्वभाव से चैतन्य अभिन्न, अष्ट कर्मादि समस्त पर पदार्थों और आत्मा के संबंध से हुए विकारों से भिन्न है। केवली का ऐसा दिव्य उपदेश श्रवण कर भव्य जीव विचारता है कि संसार में अपने अपने गुण और पर्यायों को लिए जितने पदार्थ हैं, वे सब मुझ से भिन्न हैं। जो इस प्रकार निरूपण कर आत्म तत्व का अभ्यास कर अनुभव करते हैं वे नव केवल—लब्धि स्वरूप मोक्ष सुख को अवश्य प्राप्त कर लेते हैं। जिस ज्ञानी-ध्यानी का मन रूपी भ्रमर समस्त विकल्प रूपी पुष्पों को छोड़ निश्चय और आनन्द मय शुद्धात्मा रूपीकमल-पुष्प का रसास्वादन करता है, वह योगीश्वर देवों द्वारा पूज्य होते हैं। यह वचनातीत आत्म-ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है तथा अनुभव तो और भी दुर्लंघ्य है। इस आत्म-तत्व को बहु आरम्भी, बहु परिग्रही मनुष्य नहीं जान सकते; जान भी ले तो वर्णन नहीं कर सकते। कदाचित वर्णन भी करते तो अनुभव महादुर्लभ है। इस संसार में उत्तम कुल में निरोग जन्म पाकर शास्त्रज्ञान से वैराग्य संज्ञ,

जो पवित्र तप करता हुआ ध्यानामृत का आस्वादन करते हैं, वह मानो स्वर्ग—मय महलों पर मणिमय कलशों की पंक्ति स्थापित करता है। वह निर्मल बुद्धि मानव सम्यग्दर्शन को प्राप्तकर अकेला ही शिवपुर पहुंच जाता है। ऐसे मानव को धन्य है।

इस आत्मा में कभी तो दया, दान, पूजा, भक्ति, शील, संयमादि रूप शुभ प्रवृत्तियां होतीं, और कभी हिंसा, झूठ, चोरी, काम–सेवन और परिग्रह में अधिक तृष्णा के अशुभ भाव होते हैं; परन्तु ये सब शुभाशुभ प्रवृत्तियां आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। नवीन ही उत्पन्न हुई हैं। ये प्रवृत्तियां धर्म नहीं हैं। संसारी जीव पाप की अपेक्षा पुण्य को अच्छा मानते हैं। कभी कभी पाप से छुड़ाने के लिये पुण्य–संचय का उपदेश भी देते हैं, परन्तु ज्ञानी उस उपदेश को धर्म कभी नहीं मानते। क्योंकि आत्म-स्वभाव की अपेक्षा तो पुन्य-पाप दोनों ही स्वर्ण और लोहे की बेड़ी के समान संसार में बांधने वाले ही हैं। दोनों विकारी भाव हैं तथा आत्मा के अविकारी रूप से विरुद्ध हैं।

सम्यक्—दर्शन अनुपम सुख दाता; सर्व कल्याण का बीज और संसार—समुद्र से पार होने के लिये श्रेष्ठ जहाज है। इसे एक मात्र भव्य जीव ही प्राप्त कर सकते हैं। अन्तरंग की ओर सन्मुख हो, आत्म स्वभाव का आश्रय लिये बिना सम्यक् प्रतीत (सम्यग्दर्शन) नहीं होती। इस पंचम काल में आत्म ज्ञान और मुनि धर्म नहीं हो सकता, ऐसी मान्यता मिथ्या है। यह आत्म ज्ञान रूप धर्म आठ वर्ष का बालक अथवा वृद्ध, रोगी निरोगी, धनी दरिद्री समस्त अवस्थाओं और कालों में सु क्षेत्र या कुक्षेत्र में प्राप्त किया जा सकता है। जो मनुष्य तत्व ज्ञान नहीं प्राप्त करते उनकी पूजा। दान, दर्शन, जप–तप, त्याग और शील संतोष आदि समस्त क्रियाएं असत्य और निष्फल हैं। अतएव स्वानुभव द्वारा आत्म—लीनता अवश्य प्राप्त करना चाहिए। सम्यग्दर्शन

आत्म-तत्व निर्णय के बिना नहीं होता। कुल-रीत से धर्म की मान्यता करने से गृहीत—मिथ्यात्व दूर नहीं होता और बिना गृहीत मिथ्यात्व दूर हुए अगृहीत मिथ्यात्व नहीं हटता। जब तक अगृहीत मिथ्यात्व न हटे तब तक आत्म-धर्म प्रारम्भ नहीं होता।

वस्तु—स्वरूप तो यह है कि आत्मा पर का कुछ भी नहीं कर सकता। तभी चेतन-अचेतन तत्व अनादि, अनंत स्वयं सिद्ध हैं और अपनी अवस्था में परिणमन कर रहे हैं। अर्थात संसार में समस्त द्रव्यों (पदार्थों) की क्रिया स्वतंत्र अपने आप हो रही है। आत्मा अपने शरीर को चलाता न स्थिर कर सकता और न किसी को सुखी या दुखी कर सकता है। वह अपनी अवस्था में मात्र शुभाशुभ या शुद्ध भाव कर सकता है। वह अपने स्वरूप में सद्भाव रूप और दूसरी आत्माओं तथा जड़ पदार्थों के अभाव रूप ठहरा हुआ है। उस चैतन्य—पिण्ड में ज्ञान—दर्शन मय-वीतराग भाव ही प्रकट होते हैं। क्योंकि उसका ऐसा स्वभाव ही है अज्ञानी जीव वाह्य रुचि से अपनी अवस्था में विकार भावों का कर्ता बनता है। उसकी समस्त विकारी वृत्तियाँ आत्मा से अलग और अन्य हैं। आत्म-स्वभाव का ज्ञान होने से विकार के साथ कर्ता-कर्मत्व भाव दूर हो जाता और निर्मल वीतराग अवस्था का स्वामी हो जाता है। इसी का नाम ही आत्म-बोध है। इसलिए वस्तु का सत्य स्वभाव लक्ष्य में लेकर उसमें रुचि रखने से आत्मा में अपूर्व पात्रता प्रकट होती है। क्रोधादि रूप अशुभ भाव तथा दया, दानादि रूप शुभ भाव, दोनों ही आत्मा से भिन्न, आस्रव तत्व हैं। मैं तो ज्ञाता, दृष्टा, अविकारी और ज्ञान-प्रमाण हूँ। यद्यपि विकार मेरे ज्ञेय हैं। तथापि मैं उनसे सर्वथा भिन्न हूं।

अब यहां नव तत्वों का वर्णन करते हैं। जितना ज्ञान है उतना ही आत्म-तत्व या जीव-तत्व

अब यहां नव तत्वों का वर्णन करते हैं। जितना ज्ञान है उतना ही आत्म—तत्व या जीव-तत्व है। राग जीव—तत्व नहीं है। जड़ शरीर की समस्त क्रियायें अजीव—तत्व में शामिल हैं। पहिले लिख चुके हैं कि हिंसादि भाव पाप—तत्व और दया, दान, व्रतादि भाव पुण्य तत्व हैं। ये दोनों ही आस्रव—तत्व हैं। इस विकार आत्मा का अटकना या रम जाना ही बन्ध—तत्व है। अविकारी शुद्धात्मा के ज्ञान की एकाग्रता करना संवर-तत्व का स्वरूप है। संवर पूर्वक कर्मों का पृथक होने लगना निर्जरा—तत्व और पूर्ण शुद्धता (कर्म रहित) का प्रकट होना मोक्ष—तत्व है। पुण्य—पाप के विकल्प, देव—शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, पंच महाव्रत, पंच समिति और तीन गुप्तियां इस प्रकार व्यवहार रत्नत्रय का भाव यथार्थ में न तो आत्मा है और न उसकी पर्याय है। ज्ञान की अवस्था ही आत्मा की पर्याय है। ज्ञान आत्मा से अभेद होने के कारण ज्ञान ही आत्मा है तथा रागादि अनात्मा हैं। ज्ञान के अतिरिक्त जो श्रद्धा चारित्र आनन्द आदि अनन्त गुण हैं, वे सब ज्ञान में ही अभेद रूप से आ जाते हैं। क्योंकि ज्ञान कर्त्ता होकर किसी 'पर' का कुछ भी कार्य और विकार की उत्पत्ति नहीं करता। यदि कोई जीव एक समय—मात्र भी व्यवहार में रुचि करे तो उसकी समझ में आत्मा नहीं आ सकता है। इसलिये व्यवहार से प्रेम छोड़ निरन्तर ज्ञान स्वरूपी आत्मा की प्रतीति करो। इसी में आत्म—कल्याण है। आत्म दर्शन के साथ ही, ज्ञान-राज्य प्रकट हो जाता है। जैसी अरहन्त भगवान की आत्मा ज्ञान मात्र है। उसी प्रकार मैं भी ज्ञान—मात्र हूँ। अपने ज्ञान—स्वरूप को ही स्व ज्ञेय करने से आत्मा में सम्यक्ज्ञान प्रकट हो जाता है। और पूर्व की पंच लब्धियां जो व्यवहार रूप से सम्यक्दर्शन का कारण थीं, उनका अभाव हो जाता है।

आत्म ज्ञान मात्र है। ऐसा करने से रागादि भाव भिन्न और ज्ञेय रूप रहते हैं, परन्तु रागादि कारण और आत्मा का सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र कार्य ऐसा नहीं है। सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये

तीनों मोक्ष के कारण हैं और द्रव्य का आस्रव करने से ही प्रकट होते हैं। अतएव इनका आधार द्रव्य है और उस द्रव्य की प्रतीति करना सम्यक्दर्शन है, अतएव ज्ञान-मात्र रूप आत्मा से ही सन्तुष्ट रहो। ज्ञानी पुण्य-पाप रूप विकल्प—तरङ्गों से कदापि सन्तुष्ट नहीं होते बल्कि वे तो इन्हें त्याज्य समझ आत्म-रुचि से ही सन्तुष्ट होते हैं। ऐसे रुचिवान पूर्व काल में हो गये, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे। उनमें जो पूर्ण सर्वज्ञ हुए वे अरिहन्त देव, पूर्णता के साधक गुरु और उस पूर्णता का यथार्थ कथन करने वाली सरस्वति (जिन वाणी) या शास्त्र हैं। इस प्रकार देव, शास्त्र, और गुरु ही धर्म में निमित्त हैं।

आत्म-ज्ञान के उपरान्त अनेक जीवों को तीर्थंकर प्रकृति नाम कर्म का बन्ध उसी भव या अगले भव में होना है। कई जीवों को नहीं भी होता। मतलब यह कि तीर्थंकर भगवान सम्यक्दर्शन, ज्ञान सहित ही जन्म लेते हैं। इन्हें अपने चिदानन्द, शुद्ध स्वभावी आत्मा का ज्ञान रहता है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध, राग का फल होने से विकार ही है। वह आत्मा का धर्म नहीं है। जब तक आत्मा में वीतराग रूप परिणामों की स्थिरता नहीं होती तब तक आत्मा में राग रूप विकार विद्यमान रहता है। आत्मा सम्यक्दृष्टि है, परन्तु तीर्थंकर नाम कर्म जड़ है, अतएव सम्यक्दृष्टि इस कर्म का आदर नहीं करता। यहां पर सत्य समझ की मुख्यता है। भले ही त्यागादिक न हो सके, परन्तु अन्तरङ्ग में सदैव सच्ची समझ बनाए रखेगा। इसी के फल स्वरूप अल्प काल में उनके भव भ्रमण का अन्त आ जायगा। बिना यथार्थ समझ के भव-सागर से पार नहीं हो सकता। जैसे—रस्सी से घड़े को फांसकर कुए से पानी निकलने लिये उस रस्सी की गांठ को हाथ में अच्छी तरह पकड़े रहते हैं, तभी पानी निकलता है। यदि गांठ को हाथ से छोड़ दें तो कुछ भी न लगेगा। इसी प्रकार

चौरासी लाख योनि रूप कुए से आत्मा रूपी पानी बाहर निकालने के लिए सम्यक् श्रद्धा रूपकी गाँठ को बराबर पकड़े रहना चाहिए।

लक्ष्मी ? पुत्र-पौत्रादि पुण्य-पाप (पर द्रव्य) के फल हैं। इसमें आनन्द नहीं है। आनन्द तो एक मात्र चैतन्य स्वरूप आत्मा में ही है। उनके बिना जाने जितने क्रिया-काण्ड करो परन्तु उनमें कोई धर्म नहीं है। इसलिए यदि एक वार भी 'पर' वस्तु से ममत्व त्याग, ज्ञाता दृष्टा आनन्द मय निज स्वभाव का आराधन कर उसमें लीन हो जाओ तो तुम्हें अपूर्व आनन्द अनुभव प्राप्त होगा। जब तक आत्मा वीतरागता प्रकट न होगी, तब तक पुण्य-पाप के ही फन्दे में फंसे रहोगे। कदापि उद्धार न होगा। वस्तु स्वभाव का पहचानना ही कार्य कारी है। मात्र बाह्य संयोग के अनुकरण से कोई लाभ नहीं है। जैसे किसी मनुष्य ने जंगल में शीत के बचने के लिए बहुत से तृण-काष्ठ एकत्र कर चकमक से अग्नि प्रज्वलित कर शीत से अपनी रक्षा की। पास ही एक झाड़ पर बैठा बन्दर यह सब देख रहा था, उसने भी बहुत सा तृण—काष्ठ एकत्र किया और उसमें जुगनू पकड़ कर डाल दी इस प्रकार बाह्य—संयोग का अनुकरण किया। वस्तु-स्वभाव नहीं जाना। ऐसे ही ज्ञानी को राग द्वेष रहित चैतन्य स्वभाव का भान होता है। अज्ञानी को नहीं होता। वह तो मात्र बन्दर के समान बाह्य-संयोग का ही अनुकरण मात्र करता है। वस्तु-स्वभाव जो यथार्थ में धर्म है उसे नहीं जानता है। आत्म-तत्व को छोड़ बाह्य वस्तुओं से दुःख दूर न होकर उल्टा बढ़ता ही जाता है। इस-लिए मोह-ममत्व को तिलांजलि दे ज्ञान-दर्शन आनन्द मय, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही निरन्तर चिन्तवन करो। मनुष्य जन्म की सार्थकता इसी में है।

आत्मा चेतन तथा शरीर अचेतन होने से भिन्न-भिन्न हैं। अपनी अज्ञानता से ही एक रूप

प्रतीति हो रही है। जैसे खानि से निकाले हुए स्वर्ण में पाषाण, मिट्टी आदि बहुत से अन्य द्रव्य मिले रहते हैं, परन्तु अग्नि-संयोग से अन्य द्रव्य और स्वर्ण दोनों पृथक-पृथक हो जाते हैं। इसी प्रकार शुद्ध स्वर्ण रूप आत्मा भी ध्यानाग्नि से मोहादि अन्य विकार रूप द्रव्य को छोड़ देती है। दोनों पृथक-पृथक हो जाते हैं और शुद्ध समस्त पुद्गलों से भिन्न सत्य स्वरूप प्राप्त हो जाता है। वह जब ज्ञानी के क्रूर अशुभ कर्म का उदय आता है, तब वह उसे ममता मात्र से भोग लेता है। वह विचारता है कि मेरी दृष्टि तो अपने मुक्त स्वभाव पर स्थिर है। मैं अपने स्वभाव में जाग्रत हूँ। ये शुभाशुभ कर्म मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। इन बेचारे पुद्गलों का जोर तो पुद्गल शरीर पर ही है। मुझे आत्म दृष्टि चलायमान करने की इनमें सामर्थ्य नहीं है। मैं तो चैतन्य ज्ञाता दृष्टा हूँ और पुण्य-पाप में ज्ञान का ज्ञेय मात्र है ऐसा बार-बार चिन्तवन करने से बाह्य-संयोग स्वयं छूट जाता है। ऐसा मुनि-पद ही मोक्ष मार्ग है। ऐसा इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से मुनि-पद प्राप्त नहीं होता। ज्ञानी के अन्तरंग में विकल्प या 'पर' का स्वामित्व नहीं होता। वह अनादि वस्तु सत्य स्थिति समझता है। इस प्रकार आत्म निरीक्षण करते-करते इतनी उदासीनता सहज ही आ जाती है कि फिर वस्त्राभरण धारण करने की बुद्धि ही नहीं होती परम निर्ग्रन्थ दिगम्बर दशा हो जाती है। मुनि-पद त्रिकाल नग्न दिगम्बर वीतरागता सहित होता है। मैं ज्ञानानन्द स्वामी हूँ। मेरे में ही मैं शरण भूत हूँ। शरीरादि समस्त पुद्गल अशरण हैं इस प्रकार मुनि-जन अनित्य, अशरणादि बारह भावनाओं का निरन्तर अन्तरंग में चिन्तवन करते, परीषह सहते, और सदा निर्मल परिणाम रखते हैं। ऐसे सन्त केवल ज्ञान प्रकट कर मोक्ष-लाभ करते हैं। हे भव्यो! तुम भी अपनी आत्मा की प्रतिष्ठा से तुम भी भगवान हो जाओ, पर को त्यागकर 'सिद्ध समान सदा पद मेरा' समझो। ऐसी समझ

से तुम भी भगवान हो जाओगे। अपनी आत्मा में चिदानन्द चैतन्य प्रभु की स्थापना परमार्थ स्थापना है बाह्य में भगवान की स्थापना करना उपचार मात्र है।

इस चैतन्य प्रभु की लीला देखो! 'स्व' का जानने से 'पर' को जान लेता है। जो अपने आत्म-स्वभाव की महिमा प्रकट कर लेते हैं वह स्वभाव पद वचन अगोचर है। वह एक मात्र अनुभव करने की बात है। अरिहंत भगवान ने स्वयं वह पद प्रकट कर उसका पंथ प्रकट किया है मैं भी उसी पर चल उन्हीं के समान परम-पद में स्थिर हो जाऊँगा। जो अपने शुद्ध स्वभाव को क्रोधादि विकार—भावों से भिन्न मानता है, वह विकार का कर्त्ता नहीं होता। वह कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति नष्ट कर आत्मा को शुद्ध और निर्दोष बना लेता है। समस्त पुद्गलों की समस्त गुण पर्यायों से भिन्न आत्माराम इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। उसे ज्ञान द्वारा ही पहिचानना चाहिये। यही भव-भ्रमण के अन्त का मूल कारण कल्याण का बीज मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी सम्यक्दर्शन है।

आत्मा का त्रिकाल ज्ञान, दर्शन, चेतनादि अनन्त गुण संयुक्त विश्वास करने से अन्तरङ्ग में पूर्ण शांति प्रकट होती है। समस्त पुद्गलो से दृष्टि हट कर अमृत स्वरूप आत्मा का भान हो जाता है। जिसे आत्मा अनुपम आनन्दनुभव करना हो, उसे विचारना चाहिये कि मैं चैतन्य, अरूपी ज्ञान—स्वभावी, मिथ्या, मोह—मल रहित, राग—द्वेष से दूर तथा इन्द्रिय और मन के विषयावलम्ब से रहित सम्यक्दर्शन स्वरूप हूं। इस प्रकार ज्ञान—स्वभाव के सन्मुख होने से 'पर' की ओर से विमुखता होती जाती और आत्मा का अनुभव होता जाता है। जो इस अरूपी आत्मा को इन्द्रियों और मन द्वारा जानने योग्य पदार्थ मानते हैं वे सदैव इस भव—सागर में गोता खाते रहेंगे।

जो जीव इस आत्मा को समस्त पुद्गलों से भिन्न, चैतन्य, ज्ञाता—दृष्टा आनन्दमय अनुभव

करते हैं वे भूत, भविष्य और वर्तमान के समस्त पदार्थों को अनन्त पर्यायों सहित एक साथ एक समय में प्रत्यक्ष देख जान लेने वाले सर्वज्ञ हो जाते हैं सम्यग्दर्शन की ऐसी महिमा है। जब प्राणी पूर्ण स्वतन्त्र, पूर्ण प्रकाशित, पूर्ण आनन्द—घन स्वरूप आत्मा की पूर्ण पहिचान और अनुभव करता है तथा एकाग्रता की दृष्टि रखता है। तब उसे अगली पर्याय पुरुष की मिलती और तीन या चार भव में मुक्ति-पद प्राप्त कर अनन्तकाल को पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है। ऐसा अनुव का प्रसाद है। अनुभव चिन्ता—मणि रत्न है। अनुभव रस—कूप है। अनुभव मोक्ष—मार्ग है और अनुभव मोक्ष स्वरूप है।

इस प्रकार आत्म-प्रबोध का अनुभव-प्रेरक आठवां परिच्छेद समाप्त हुआ।



नवम परिच्छेद

—:०:—

❀ मङ्गलाचरण ❀

दोहा—चिदानन्द ध्यान की, महिमा अगम अपार।
एक मिनट का ध्यानसे, पहुंचे भव-दधि पार॥

आत्मा का ध्यान करने से स्व-स्वभाव जाग्रत हो जाता है। उस आत्म स्वभाव के जाग्रत होने पर, अभ्यास से आत्म-बल बढ़ने लगता है। उस समय जीव विचारने

लगता है कि यह संसार अनादि अनन्त है। परिवर्तनमान शीलता इसका स्वाभाविक है। जड़–रूप मिट्टी से घट और घट से मिट्टी रूप परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार जीवतत्व में परिवर्तन होता रहता है। विश्व के सब प्राणी नाना योनियों में पशु, पक्षी, मनुष्य देव और नारकी आदि की पर्यायों में परिवर्तन होते रहते हैं। जीव-द्रव्य में मूलतः दो प्रकार का परिणमन होता है। पहला शुद्ध परिणमन और दूसरा अशुद्ध परिणमन। यह अशुद्ध परिणमन जीव के साथ अनादिकाल से होता चला आ रहा है। जब तक उसे शुद्ध करने का प्रयत्न न किया जायगा, तब तक ऐसा ही चलता रहेगा। जो शक्ति जीव में है, वह शक्ति जड़ (पुद्गल) में भी है। पुद्गल के अणु एक समय मात्र में चौदह राजु गमन कर जाते हैं। जड़ भी अनादिकाल से परिणमन शील हैं। चैतन्य के सम्पर्क से उसमें भी मलीन परिणमन होता रहता है, परन्तु यह निश्चित है जड़ (अचेतन) सदैव जड़ ही रहेगा। वह कभी चैतन्यरूप न होगा। इसी प्रकार चैतन्य भी कभी जड़ नहीं होगा। इन दोनों (चेतन-अचेतन) के अशुद्ध परिणमन एक दूसरे को सदैव लिपटाये रहते हैं। यह जीव जब तक इस भेद को नहीं समझता तबतक उसको अपनाये रहता है यही अनादि सम्बन्ध है। इन दोनों के भेद को जानने का श्रेष्ठ एक ही उपाय है कि यह जीव चेतन या अचेतन को पूर्ण रूप से समझ ले इसे तत्काल आत्मा 'पर' वस्तु (पुद्गल) से भिन्न हो जायगी। परन्तु यह जीव अनादि से पुद्गल के सम्पर्क में रहने से उस पर ऐसा पक्का मजीठ जैसा रंग चढ़ गया है कि वह अपनी असली ज्ञानदर्शन आनन्दमय स्वरूप को नहीं समझने पाता और न अनुभव करने पाता है।

समस्त पर-भाव आत्म-स्वभाव से जुड़े हैं, परन्तु मदिरा से उन्मत्त हुए मनुष्य की नाई उसका ज्ञान इतना विकृत हो गया है कि वह अपने को भी नहीं पहिचान पाता। इन्द्रिय विषयों से उत्पन्न हुई

विषमवेदना को भोगता हुआ भी पर-परणति में रम रहा है और कर्म से बंधा हुआ रूप ही अपना स्वभाव समझ रहा है। इसी के फलस्वरूप कुम्हार के चक्रवत् चतुर्गति में भ्रमण कर रहा, फिर भी अपनी चाल को नहीं छोड़ता। मनुष्य-पर्याय पाकर भी आत्म-हित नहीं करता। ऐसा मनुष्य षट्काय या विकलत्रय में अनन्त बार जन्म-मरण करता है। जीव तो अनादि निधन है। समस्त लोकाकाश का तिल-मात्र एक प्रदेश भी ऐसा नहीं बचा जहां यह प्राणी जन्मा या मरा नहीं? इसी तरह पंच परा-वर्तन करता रहा है।

यदि राग-द्वेष मोहादि भावों से जीव में विकार उत्पन्न न हो तो आत्मा केवल देखने-जानने वाला ही रहे और न कर्म-पुद्गलों को अपना समझे। अपने को यथार्थ रूप देखने से संयोग-वियोग में सुख-दुःख नहीं होता। अपने ही ज्ञान को स्वसंवेदना ज्ञान, और अपने स्वरूप के अनुभव को ही सम्यक् दर्शन कहते हैं। इसके होने पर जीव दृष्टि-कोण ही बदल जाता है। सत्यावलोकन से राग-द्वेष मोह-ममता छूटकर पूर्ण अनुभव युक्त ज्ञान-ज्योति जागृत हो जाती है। अन्तकरण में शुद्ध विवेक होने पर जगत के समस्त पदार्थों से लालसा चली जाती है। ज्ञानी सदैव विचारता है कि जो मुझे कर्म-जन्य रोग है उसके लिए ये भोग औषधि-मात्र हैं। कब इससे छुटकारा हो? जैसे कारागृह में कैदी अधिकारी की आज्ञा से नाना प्रकार के खिलौने बनाता है, परन्तु हृदय में यही समझता है कि खिलौने मेरे लिए नहीं हैं। विवश हो, मुझे जेल-अधिकारी की आज्ञा से बनाना पड़ते हैं। मुझे तो जेल के नियमों का पालन करना कराना है कब इस जेलखाने से छूटूं? और अपने उदर-पूर्ति के धन्धे में लग जाऊं। इसी प्रकार विवेकी आत्मा संसार-वास करते हुए, यही विचारता है कि कब इससे छुटकारा मिले? ताकि मैं अपने स्वरूप की प्राप्ति में लग जाऊँ।

ऐसे प्रकाश से जीव को अपनी रूप रेखा का ज्ञान होता और यही ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि कर अपना स्वरूप समस्त पुद्गल कर्मों से निराला कर लेता है। तभी यह आत्मा परमात्मा हो जाता है। इस प्रकार परमात्मा होने की शक्ति प्रत्येक जीव में है अशुद्धात्मा संसारी जीव और शुद्धात्मा ही तो परमात्मा है। प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। मैं भी स्वतन्त्र आत्मा हूँ। न तो मैं आज तक किसी का हुआ और न कोई मेरा हो सकता है। ये सब पर्याय से होने वाले स्वार्थ के नाते हैं। अब मनुष्य पर्याय की आयु भी समाप्त होने को आई। दूसरों से क्या? इस शरीर से भी मेरा नाता टूट जायगा। अपना मार्ग अपने रूप की खोज में है इस सत्य विवेक से जीव समस्त पर—पदार्थों से अपना नाता तोड़ निज रूप में आ जाता है। यही सत्य का अवलोकन है।

आत्मा के गुणों का स्मरण—ध्यान करने से आत्म—ज्ञान होता है। कंटक—मय संसार में गुलाब—पुष्प के समान जीवन बिताने के लिये अद्वैत आत्मानुभव और ध्यानाध्ययन आवश्यक है। यही रत्नत्रय प्राप्त करने का परम साधन है। रत्नत्रय स्वरूप ही मेरा स्वभाव है। जो भव्य जीव आत्म—ज्ञान कर उसका अनुभव करते हैं वे निश्चय ज्ञानमात्र आत्मिक भूमि का आश्रय ले मोह को दूर कर, स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। अज्ञानी जीव आत्म—भूमि को न पाकर संसार—सागर में ही गोता खाते हैं उन्हें कभी भी मुक्ति का लाभ नहीं होता। अतएव ज्ञानार्जन करो, इसी से मुक्ति मिलेगी। ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश—पाताल जैसा अंतर है। अज्ञानी राग—द्वेष मोहादि भावों का कर्त्ता होता तथा ज्ञानी अपने को शुद्ध अनुभव करता हुआ उनका कर्त्ता नहीं होता। वही भेद विज्ञानी और जैन है। जैन—धर्म किसी व्यक्ति के कथन, पुस्तक या चमत्कार पर निर्भर नहीं है। जो अपनी आत्मा को मोह, मिथ्यात्वादि कषाय-भावों एवम् अन्याय और अभक्ष्य से बचाकर रखता है

वही जैन—धर्मी और जैन—दर्शन की महिमा को जानने वाला है। ज्ञानी-अज्ञानी कोई भी आत्मा पर-वस्तु एक परमाणु मात्र को इधर-उधर करने में समर्थ नहीं है फिर देहादि की क्रिया आत्मा के साथ कैसे हो सकती है॥

मुनि होने पर भी यदि कषाय—वृत्ति कम न हुई तो सब ढोंग और स्वाँग मात्र रहा। जो दूसरों का तो क्या? अपना उद्धार भी नहीं कर सकते। पत्थर की नौका के सदृश है। जैन—धर्म सत्य का अखण्ड और विश्व—धर्म है। इसका अनुभव मात्र आधार है। यह त्रिकाल अबाधित और सत्य रूप है, वस्तुएं और तत्व—ज्ञान अनादि-अनन्त है। जिसे वैसी श्रद्धा नहीं होती, उसे सम्यक् दर्शन, ज्ञान नहीं होता और बिना सम्यक् ज्ञान के सम्यक् चारित्र भी नहीं होता अर्थात् उसे मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है। संसार परिभ्रमण बना रहता है। विशुद्ध परिणामी ज्ञानी के हृदय में सतत ज्ञान रूपी दीपक के प्रकाशित रहने से, उसे आगम ज्ञान का नष्ट होने का भय नहीं रहता है। परन्तु सम्यक्-दर्शन धारी आत्मा के चार पद हैं यथा:—आत्मा है। वह वस्तु स्वरूप में नित्य है। और अवस्थाएं बदलती रहती हैं। शुद्धाशुद्ध भाव करने वाली और उन्हीं भावों को भोगने वाली है। आत्मा स्वयं सम्पूर्ण शुद्ध अवस्था प्रकट कर सकती है।

अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष का उपाय है और उसका साधन सामायिक है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से सामायिक चार प्रकार के हैं। जाति, गुण और क्रिया की अपेक्षा न कर किसी भी पदार्थ की सामायिक करना नाम सामायिक है। समस्त पापों से रहित परिणामों में परिणमित आत्मा के, सामायिक करने के समय जो शरीर का चित्रवत् आकार होता है, ऐसी स्थापना कर लेना स्थापना सामायिक कहलाती है। सामायिक रूप आत्मा के परिणाम का अनुभव तो हो चुका है परन्तु

...वाली है। सामायिक रूप आत्मा के परिणाम का अनुभव तो हो चुका है, परन्तु

वर्तमान में सामायिक रूप ज्ञान में परिणत नहीं हुआ, उसे द्रव्य सामायिक कहते हैं। सामायिक रूप आत्मा का ज्ञान जो वर्तमान में उपयोग रूप है, वही भाव-सामायिक है। जिस सामायिक में आत्मा पुण्य-पाप रूप विकल्प जालों से रहित शुद्ध वीतरागी है उसका फल, प्रतिदिन करोड़ों अशर्फियां (स्वर्ण—मुद्रा) दान करने के फल से अनन्त गुणा है। ऐसी उस अभेद स्वरूप की स्थिरता सच्ची सामायिक है। जिन्हें यथार्थ अभ्यास नहीं और आग्रह भी नहीं छोड़ना चाहते, उन जीवों को सच्ची सामायिक प्राप्त नहीं हो सकती।

यह आत्मा अनादि-काल से पर-वस्तुओं को अपनी मानता हुआ, अत्यन्त दुखी हो रहा है। यदि उसका आत्म-स्वरूप सम्बन्धी भ्रम दूर हो जाय, तो उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो जाय। शाश्वत, निराकुल और अतीन्द्रिय सुख ही आत्मा का निज-गुण है। आत्म-स्वरूप की यथार्थ प्रतीति, यथार्थ ज्ञान और उसकी स्थिरता (सम्यक्-दर्शन, ज्ञान-चारित्र) ही मोक्ष-मार्ग है। निश्चय से आत्मा का निज स्वरूप ही उसका शरण भूत है। व्यवहार—दृष्टि से पंच परमेष्ठी बाह्य शरण हैं। परमौदारिक शरीर वाले अरिहन्त भगवान, चार घातिया कर्मों को नाश कर, चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य युक्त अनन्त चतुष्टय के स्वामी हैं। उनकी अमृत वाणी से जगत् के जीवों का कल्याण होता है। समस्त लौकिक जीव उनका प्रभुत्व मानते हैं। इन्द्रादि देव उनकी स्तुति-वन्दना और प्रभावना करते हैं कुछ काल पश्चात् शेष चार अघातिया कर्मों को नष्ट कर, परम औदारिक शरीर को भी त्याग, वस्तु स्वभाव के अनुसार, उर्ध्व गमन कर सिद्धालय में जा पहुंचते हैं। यही सिद्ध भगवान हैं। उनके आत्म प्रदेश चरम शरीर से किंचित न्यून; पुरुषाकार सदैव अवस्थित रहते हैं। समस्त प्रतिपक्षी कर्मों का नाश होने से ज्ञान, दर्शनादि अनन्त आत्मिक गुण पूर्ण रूप

प्रकट हो जाते हैं। अरिहन्त भगवान के परमौदारिक शरीर के समस्त परमाणु निर्मल और कपूर के समान हो जाते हैं। उस शरीर में निगोद जीव नहीं होते। सिद्ध अवस्था होते समय परमौदारिक शरीर के समस्त परमाणु इधर-उधर बिखर जाते हैं। उनका नाश नहीं होता है। अब आचार्य, उपाध्याय और साधु का स्वरूप लिखते हैं।

जो मुनि शुद्धोपयोग मय आत्मा-द्वारा आत्मा का ही आत्मा का सतत अनुभव कर, निर्ममत्व हो ज्ञान-दर्शनादि स्वभाव को अपना समझते हैं। कभी मन्द राग के कारण शुभोपयोगी भी हो जाता है, परन्तु वे इसे हेय ही समझते हैं। शरीर-संस्कार क्रिया से रहित दिगम्बर सौम्य मुद्राधारी एकान्त वन-खण्ड, शैल, शिखर, नदी, सरोवर तट, तरु-कोटर या गम्भीर गुफा में निर्भय निवास करते हैं। बाईस परिषहों को सहते, प्रतिमावत निश्चल ध्यान करते तथा निरन्तर द्वादश प्रकार का तपश्चरण करते हैं। रत्नत्रय-स्वरूप धर्म रत्न शक्ति को बढ़ाने के लिये और शरीर स्थित हेतु सिद्धान्त की आज्ञानुसार दिन में एक बार अंजुली से निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं। धर्मोपदेश के लिए दिन में ही विहार करते हैं। दूसरों को दश-लक्षण-धर्मरूप शिक्षा दीक्षा देने वाले आचार्य महाराज पंचाचार धारण करने वाले होते हैं। पाठक (उपाध्याय) महाराज ग्यारह अङ्ग चौदह पूर्व के पाठी होते हैं। अन्य मुनि साधु कहलाते हैं। ये भी समस्त जैन शास्त्रों के ज्ञाता, प्रयोजन भूत अर्थ के जानकार होते तथा अपने स्वरूप का ध्यान करते हैं। ध्यान की तन्मयता न रहने पर शास्त्रादि का भी अध्ययन करते रहते हैं। बाह्य साधन रूप तपश्चरणादि क्रिया में निरन्तर लगे रहते हैं। कभी-कभी षट् आवश्यक क्रिया (भक्ति, वन्दना) में भी रत होते हैं। ऐसे आत्म-स्वभाव साधक साधु भी व्यवहार दृष्टि से शरणभूत हैं।

अहिंसा धर्म है "अहिंसा परमो धर्मः" शुद्ध ज्ञायक स्वभाव, चैतन्य, अखण्ड आत्मा में एकाग्रता रखना ही हिंसा अहिंसा की सच्ची व्याख्या ही नहीं जानते। वे तो इस जड़ शरीर से चेतन (जीव) के पृथक कर देने को ही हिंसा हैं, परन्तु यथार्थ में एक मात्र यही बात नहीं है। शरीर और चेतन तो सदा से पृथक ही हैं। यह आत्मा अपने शुद्ध, ज्ञायक—शरीर से अभेद रूप है। उसमें पुण्य - पाप की वृत्ति नहीं है। इस आत्मा को चैतन्य, ज्ञान–स्वभावी न मानकर, पुण्य - पाप रूप मान लिया है और चैतन्य, ज्ञान–दर्शन स्वभाव को पृथक माना। यही तो स्व-हिंसा हुई। इस प्रकार चैतन्य स्वभाव का खून करना वास्तविक हिंसा है। इसके विपरीति पुण्य - पाप को निज - स्वरूप न मानकर; केवल ज्ञान दर्शन और चैतन्यादि गुण–रूप मानना ही सच्ची अहिंसा है। यह चैतन्य तत्व बिलकुल निराला अनादि कालीन बान्धव साथियों का घात करने पर भी हिंसा नहीं करना सर्व श्रेष्ठ अहिंसा है। मिश्री खाकर गधे के मर जाने से कोई मिश्री खाना नहीं छोड़ देता। इसी प्रकार यदि कोई अपने स्वार्थ मय अभिप्रायः से स्वच्छन्द हो जाय, तो इसमें किसका दोष है? समाधि के समय मुनि - जन विचार करते हैं कि:—

परम वीतराग—दशा के अतिरिक्त मुझ में जो संयम, व्रत पालन करने की वृत्ति होती है, वह मेरे प्रत्याख्यान व त्याग में भंग रूप है। हमारा प्रत्याख्यान तो वीतरागता को प्रकट कर केवल ज्ञान को प्राप्त करने वाली है। वह उत्कृष्ट ज्ञान प्रकाश किसी के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता। हवा, दीपक की ज्योति को बुझा देती है परन्तु ज्ञान–दीपक की ज्योति को बुझाने वाला संसार में कोई पदार्थ नहीं है। सूर्य—प्रकाश अन्य क्षेत्र को भी प्रकाशित करता है, परन्तु केवलज्ञान रूपी सूर्य का

प्रकाश एक दम समस्त जगत को प्रकाशित कर देता है अर्थात् उसमें जगत् के त्रैकालिक समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। जिस प्रकार अनन्त जीवों से परिपूर्ण प्रदेशों में हिंसा का निवारण असम्भव है उसी प्रकार बिना ज्ञानराज (केवलज्ञान) के मोक्ष—प्राप्ति असम्भव है। द्रव्यलिंगी मुनि समस्त बाह्य-आचरण मुनियों के सदृश करता है, परन्तु उसे निज—स्वभाव का श्रद्धान नहीं होता। वह अज्ञानी, मिथ्या दृष्टि है तथा परमार्थ पन से शून्य है। वह अन्य की अन्य कल्पना करता है। वह मुनि श्रवणाभास मात्र है। वह ग्रैवेयक तक जाकर अनन्त काल पर्यन्त संसार में ही भटकता रहता है।

मिथ्यामय भ्रम को दूर कर यथार्थता को पहिचानना धर्म का प्रारम्भ उस यथार्थ स्वरूप में स्थिर होने का अभ्यास साधक दशा और आत्मा में पूर्ण स्थिरता को प्राप्त करना धर्म की पूर्णता है। अन्तरङ्ग में ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप को बिना जाने अर्थात् ज्ञान के विवेक भाव से रहित जो त्याग है, वह मोह और दुःख में ही सम्मिलित है। बिना यथार्थ स्वभाव का भान हुए वास्तविक त्याग वैराग्य नहीं हो सकता। अज्ञानी को राग में ही रुचि रहती है। उसे आत्म-वार्ता कदापि नहीं रुचती। जिसे निज स्वभाव का भान होता है, उसी को सच्चा त्याग-वैराग्य सूझता है। वही ज्ञानी या सम्यक्दृष्टि है। वही आत्मा को शरीर के साथ रहने पर भी पृथक् समझती है। प्रत्येक के अलग अलग लक्षण जानता है। आत्मा का धर्म आत्मा ही के आधार पर है, राग द्वेष के आधार पर नहीं है। धर्म अन्तरङ्ग से सम्बन्ध रखने वाला है। इस प्रकार के विवेक से ज्ञानी के पुण्य-पाप क्षण—क्षण में दूर होते जाते हैं अर्थात् सदैव निर्जरा ही होती रहती है। धर्म आत्मा का निज गुण है और गुण, गुणी के आधार है। इस जीव ने अनादि काल से इस प्रकार धर्म का स्वरूप नहीं समझा। जिसे स्वभाव स्वरूप धर्म की प्रतीति नहीं हुई, वह पर के आधार धर्म मानता है। मानो धर्म

कहीं बाहर से आता हो। अतएव अज्ञान को त्याग, सत्य को ग्रहण करो। यह हमारी वैभाविक परणति ही संसार भ्रमण का कारण है। शरीर और अन्य बाह्य पदार्थों में जो रागद्वेष और मोह पूर्ण बुद्धि हो रही है उसे दूर कर, ज्ञाता, दृष्टा, सच्चिदानन्द स्वभाव को जानना, मानना उसी में स्थिर होता ही आत्म—धर्म या जैन धर्म है ज्ञानी जन शारीरिक 'पर' द्रव्य के आधार पर अपनी शोभा नहीं मानते। उनकी शोभा तो उन्हीं के अन्तरङ्ग में है।

इच्छा परिग्रह है। जिसे इच्छा नहीं उसके परिग्रह भी नहीं है। आहारादिक की इच्छा आत्म स्वभाव की घातक है यही अधर्म भाव है। धर्मात्मा आहार ग्रहण तो करता है परन्तु उसकी ऐसी भावना नहीं रहती कि मैं सदैव आहार किया करूं। मेरा शरीर सदैव बना रहे। यदि उसकी ऐसी भावना रहे तो वह अधर्मी है। अज्ञानी जन आहार की मिठास में अपने स्वभाव को भूल जाते हैं। ज्ञानी कभी जड़ की भावना नहीं करते। वह आहार करना अपना स्वरूप नहीं मानता। वह तो आहार का केवल ज्ञायक ही रहता है। भूख तो केवल शरीर में है और वह शरीर की एक अवस्था है। आत्माराम को क्षुधा-तृषा, रोगादि बाधाएँ नहीं हैं। जो परमाणु—स्कन्ध अभी लड्डू रूप हैं वे ही थोड़े समय पश्चात मलरूप हो जाते हैं। "स्व" क्या है? "पर" क्या है? पुण्य क्या है? पाप क्या है? और धर्म (पुण्य पाप रहित) क्या है? इनके विवेक के विना धर्म का स्वरूप समझना कठिन है। सम्यक्त्वी जीव समझता है कि अभी शरीर टिकेगा, पुरुषार्थ में कमी है अतएव आहार ग्रहण करता है, परन्तु फिर भी वह धर्म को शरीर के आधार नहीं मानता उसके अन्तरङ्ग मे ऐसा 'न कार' विद्यमान है कि यह आहार विडम्बना न रहे। कब इससे पिण्ड छूटे? यह मेरा कर्तव्य नहीं है। मेरा स्वरूप तो चैतन्य, ज्ञान, दर्शन, आनन्दमय और अपनी आत्मा में स्थिर रहना है। तीन लोक तीन काल मे भी एक तत्व को दूसरे तत्व की

सहायता की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् सब स्वतन्त्र और स्वयं स्वआश्रित हैं। ज्ञानी को 'पर' का स्वामित्व नहीं है।

निश्चय दृष्टि से तो आत्मा का स्वभाव अखण्ड और परिपूर्ण है और व्यवहार दृष्टि से एक समय के लिये है। यह जीव अनन्त बार ग्यारह अंग और नव पूर्व का पाठी हुआ, परन्तु अपना स्वभाव नहीं जान पाया कि मेरा स्वरूप क्या है? और प्रत्येक समय में मेरा पूर्ण स्वभाव क्या है? अनादिकाल से स्वोन्मुख हो एक समय भी यथार्थता का अनुभव नहीं किया। विकारी पर्याय का सर्वथा नाश ही परिपूर्ण यथार्थ दशा या मोक्ष है। यह दशा बिना सम्यक् चारित्र के नहीं होती, सम्यक् चारित्र, सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के बिना नहीं होता, सम्यक् दर्शन ज्ञान आगम - तत्व - निर्णय बिना नहीं और आगम का निर्णय सर्वज्ञ—सत्ता के बिना नहीं होता है धर्म वस्तु का स्वभाव है। मैं ज्ञायक और ज्ञान स्वरूप हूँ। इस प्रकार ज्ञान का ही अवलम्बन अनेकान्त है। अनन्त ज्ञानियों ने भी यही कहा है।

हे जीव! तू पूर्ण वीतराग स्वतन्त्र सिद्ध और शान्ति पूर्ण है। तू समता भावी अपने आप प्रसन्न रहने वाला और 'पर' से रहित है। बाह्य प्रवृत्तियों की तरङ्गों से आन्दोलित समस्त विभाव-भावों को त्याग निज स्वभाव में स्थिर हो जाओ। हे शुभ भावनाओ! तुमने अशुभ के स्थानों को तो भर दिया है, परन्तु अब मुझे तुम्हारी भी आवश्यकता नहीं रही। अब मैं तुम से भी पृथक हो अपने ज्ञायक—ज्ञान—भावों में लीन होता हूँ। हे पूर्व सञ्चित कर्मो, तुमने भी उदय में आना चालू कर सत्ता में रहना बन्द कर दिया है। यह भी तुम्हारा परम उपकार ही है, कि जो मुझे पृथक होने में सहायक बन रहे हो। मैंने भी जान लिया है कि मेरा स्वरूप तुमसे बिलकुल जुदा और निराला है।

हे आत्मन् ! अपने सहजानन्द, ज्ञान स्वरूपी अनुभव में सदा स्वाधीन रहो। बाह्य से स्वाधीनता न कभी मिली और न मिलेगी। हे प्राणी ! इष्टानिष्ट संयोग की भारी भीड़ में रहकर, हर्ष—विषाद मत कर अपने में आप रहने वाली आत्मा 'पर' में निजानन्द को प्राप्त नहीं कर सकती। यही सर्वोत्तम श्रेष्ठ मान्यता है। अपने स्वभाव से जितना अधिक से अधिक लाभ लिया जा सके ले लो। उससे कमी कभी न आयगी।

समय व्यर्थ मत जाने दो। आयु कर्म आत्मा में नहीं, पुद्गल में है। वे समस्त 'पर' द्रव्य तो अपनी अपनी सम्हाल कर लेंगे। तू स्व द्रव्य में लवलीन होकर उसी में सतत रमण कर। यदि एक बार भी पूर्ण शुद्ध हो जाय, तो फिर कभी भी अशुद्ध न होगा। स्वभाव से तू शुद्ध है। पर्याय से ही तेरी अशुद्ध दशा हो रही है। दृष्टि में संसार और दृष्टि में ही मोक्ष है। ध्रुव स्वभाव पर जो दृष्टि है वही सम्यक् दर्शन, ज्ञान—चारित्र की निर्मल दशा का कारण है। क्षणिक इन्द्रिय सुखा भास के लिये अविनाशी आत्मा को मत भूलो और न विषयों में मत फूलो। भिन्नता का भान आवश्यक है। (ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः) जड़ कर्म और चैतन्य एक क्षेत्रावगाही होने पर भी बिलकुल पृथक पृथक हैं। वे शुभाशुभ भाव जन्म—मरण के दुःख दूर नहीं कर सकते। अपनी विपरीत मान्यता को बदलने से आत्मा शुद्ध हो जायगी। वीतराग स्वरूप की प्रतीति के साथ ही साथ जिन—बिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित जटिल कर्म भी क्षार क्षार हो जाते हैं। यह आत्मा अपने पुरुषार्थ से क्या क्या नहीं कर सकता ? वह तो कृत—कृत्य तक हो जाता है। जिस कर्म के बन्ध में वीर्य ने आत्मा के विपरीत कार्य किया। वह वीर्य आत्मा के अनुकूल कर्म नष्ट करने का कार्य क्यों नहीं करेगा ? निःसन्देह करेगा।

कोई भी कर्म आत्मा को पुरुषार्थ करने से नहीं रोक सकते । यह आत्मा चाहे जिस काल, क्षेत्र में अपना पुरुषार्थ कल्याण कर सकता है । जो जीव समस्त बाह्य प्रपंचों को त्याग, मन - वचन - काय गुप्तियों को पालन कर वीतराग चारित्र का अवलम्बन करता है । उसी की सच्ची सामायिक है । वह ध्यानाध्ययन में लीन हो अतएव सुखामृत पान कर, समस्त कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है । जिस प्रकार पग विहीन मनुष्य अत्युच्च कैलाश गिरि की शिखर पर नहीं चढ़ सकता । उसी प्रकार ज्ञान, ध्यान और तप रहित साधु कर्म क्षय कर लोक—शिखर पर नहीं पहुँच सकता है । वर्तमान काल में साधु जन रत्नत्रय पूर्वक आत्म—ध्यान कर सुर लोक के सुख भोग पुनः मनुष्य भव धारण करके तपश्चरण द्वारा कर्मों को क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं ।

यदि तुम भी इस अनुपम अतीन्द्रिय, शास्वत, सुख को चाहते हो तो सम्यक् दर्शन, ज्ञान पूर्वक; असंख्य प्रदेशी, अमूर्तिक स्वगृहीत, शरीर प्रमाण प्रकाशवान, शुद्ध आत्मा का निरंतर ध्यान करो इस आत्मा में निश्चय से मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, त्रिशल्य, षट्—लेश्या, जन्म-जरा-मरण, संस्थान, मार्गणा, लब्धि, बन्ध, उदय, स्पर्श रस, गन्ध, वर्ण, शब्दादि कुछ भी नहीं है । इस निरामय शुद्ध चेतन में द्रव्य, भाव और नो कर्म आदि कलंक नहीं हैं । इनका कथन न तो लिपि व्यवहार-नय की अपेक्षा निश्चय-नय की अपेक्षा किया गया है । इस आत्मा को अभूतनय से श्रुत के द्वारा जानो । इस अमूल्य रत्न को समुद्र में मत फेंको । नित्य आत्मा में ही रमण करो । यह कन्दर्प रूपी भयानक सर्प का विष मर्दन करने में महा मूल मन्त्र, मोह रूपी विशाल वृक्ष को जलाने में वज्रपात तथा संसार—सिंधु से पार होने के लिए सर्व श्रेष्ठ जहाज है । यह आत्मा सकल पुद्गल परमाणुओं से भिन्न, एक त्रिकाल पर्याय - विलोकी और लोकालोक प्रकाशक है । मन को एकाग्र कर निरन्तर इसका

साधन, चिन्तवन और रटन करो। जैसे मैल शोधक मसाले से वस्त्र निर्मल हो जाता है, वैसे ही निज तत्व के अवलम्बन से कर्म मल दूर हो जाता है।

अहो ? तनिक मुनि-दशा को तो देखो। मुनित्व और केवल में कोई अन्तर ही नहीं। जैसा शुद्ध स्वभाव है, वैसी ही पर्याय शुद्ध हो जाती है। यही प्रत्याख्यान है। तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट आत्मा का यथार्थ निर्णय परम परांपरा गुरुओं की परिपाटी से प्राप्त हुआ है। उसी का श्रद्धान करो। पर्याय बुद्धि को छोड़ दो। कर्तृत्व-बुद्धि के फल स्वरूप अनादि काल से संसार में भटक रहे हो। तुम तो वर्तमान अवस्था के नाशक हो। शुद्ध आत्मा का अनुभव ही सच्चा मोक्ष मार्ग है। जिस प्रकार मदोन्मत्त बलिष्ट सांड अपने तीक्ष्ण सींगों द्वारा बड़े भारी कचरे के ढेर को ऊपर उछाल-उछाल कर फैला देता तथा जोर से दलाँकता है। वह अपने मन में विचारता है कि मैंने कितने बल प्रयोग किया ? कितना कचरा फैला दिया ? उसी तरह यह जीव अज्ञानता से संसार में भारी उछल-कूद करता और अभिमान सहित बड़ा हर्ष मानता है। इसमें कोई सार नहीं निकलता है।

पूर्व में तुमने अनेक बार जैन नाम धारी मुनि का वेष बनाया है। यदि उस समय के पिच्छी कमण्डलु एकत्र किये जायँ, तो सुमेरु सदृश ढेर लग जाय। परन्तु अन्तरंग से मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ। इसी से संसार-दशा बनी रही। मिथ्यात्व युक्त मुनि की अपेक्षा, मिथ्यात्व-त्यागी गृहस्थ अनन्त गुणा उत्तम है। क्योंकि मिथ्यात्वी के तो अनन्त संसार-परिभ्रमण लगा ही रहेगा और मिथ्यात्व त्यागी अल्प काल में मोक्ष पा जायगा। यह तत्व-निर्णय रूप धर्म बालक, वृद्ध, युवा, रोगी, निरोगी, धनी, निर्धनी, आर्य मलेच्छ आदि सभी स्थानों और अवस्थाओं में प्राप्त होने योग्य है। जो जीव अपना हित करना चाहते हैं, उन्हें प्रथम तत्व-निर्णय कर लेना चाहिये। आत्म-दर्शन स्मरण करने में

न तो कोई क्लेश ही होता है और न धन ही खर्च करना पड़ता है। न देशान्तरों में जाना पड़ता। न किसी से प्रार्थना करनी पड़ती। न वीर्य का क्षय होता और न किसी तरह का क्षय होता है। वह अनर्थ या पापकारी भी नहीं है। उसे अङ्गीकार कर लेने से जन्म-मरण का दुःख नहीं उठाना पड़ता। आत्म-स्मरण का अचिन्त्य फल है। समझदार पुरुष स्वोन्मुख हो इस रत्न को क्यों नहीं परखते? यह तो अपने हाथ की बात है।

जिन्होंने भाग्योदय से मनुष्य पर्याय पाई है, उन्हें सर्व धर्म का मूल कारण सम्यक्दर्शन तथा उसका कारण तत्व-निर्णय और उसका भी जो मूल कारण शास्त्राभ्यास है, वह अवश्य करना चाहिये। जो ऐसे अलभ्य अवसर को व्यर्थ गमाते हैं, बुद्धिमान् लोग उन पर करुणा कर कहते हैं कि भाइयो! एक तो संसार में बुद्धि पाना ही दुर्लभ है फिर उसमें भी पर लोक के लिये बुद्धि का होना और भी दुर्लभ है। ऐसी उत्तम बुद्धि पाकर भी जो प्रमाद करते हैं, ज्ञानी जन उन्हें बहुत ही सोचनीय दृष्टि से देखते हैं। इसी लिए जिन्हें सच्चा जैनी होना है, उन्हें शास्त्र के आधार पर तत्व निर्णय अवश्य कर लेना चाहिये। जो बिना तत्व-निर्णय किए पूजा, स्तोत्र, दर्शन, तप, त्याग, वैराग्य शील, संयम, दान संतोष आदि सभी काम बड़ी तत्परता से करते हैं। उनके ये समस्त कार्य असत्य हैं। इसलिये परम्पराय गुरुजनों द्वारा उपदिष्ट स्वानुभव की युक्तियों का अवलम्ब ले आगम द्वारा जान कर तत्व- निर्णय अवश्य करो। जिन-वचन तो अपार हैं। गण—धर भी उनका पार नहीं पा सकते। इसलिए जो मोक्ष-मार्ग की प्रयोजन भूत रकम है। उसे निर्णय पूर्वक अवश्य जानो। शास्त्र-ज्ञान अनन्त है। काल स्तोक है और बुद्धि मन्द है। इसलिये यह विज्ञान सीखना चाहिये जिससे जन्म—मरण मिट जाय।

सत्पुरुषों को सर्व सुख के मूल कारण आप्त, अरिहन्त सर्वज्ञ का युक्ति पूर्वक भली भांति निर्णय कर आश्रय लेना चाहिये। उनके निमित्तों से अनेक प्रकार श्रुत ज्ञान को जान उसमें से सारभूत एक आत्म-तत्व को पहिचाने। तद्नन्तर मति, श्रुत—ज्ञान से बाहर झुकती हुई पर्याय के स्वोन्मुख होकर निर्विकल्प और निजानन्द-रसका अनुभव करें। जिस समय आत्मा परमात्मा-स्वरूप का दर्शन करता है, उसी समय सम्यक्—दर्शन स्वयं प्रकट हो जाता है। आत्म-प्रतीति होने पर विकल्प उठते ही नहीं हैं और आत्म-दर्शन हो जाता है। फिर सम्यक्दर्शन बना ही रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य भेष या मर्यादा में सम्यक्दर्शन नहीं हैं। शुद्धात्म-स्वरूप का संवेदन ज्ञान श्रद्धान, अनुभव, चारित्र अथवा साक्षात्कार जो कुछ है वह एक आत्मा ही है। उसी को अरिहन्त, सिद्ध, साधु वगैरह कहो, सब आत्मा में ही गर्भित हैं समाधिमरण, आराधना आदि नाम भी निज स्वरूप की स्थिरता ही हैं। आत्म-स्वरूप की इस प्रकार की समझ ही सम्यक् दर्शन हैं। यही आत्मा का धर्म है और भव रोग मिटाने का लघुतम प्रयत्न है। यह आत्मा ही आन्तरिक शान्त-रस की मूर्ति है।

सम्यक् दर्शन आत्मा का निज गुण है और गुण गुणी से पृथक नहीं होता। एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव ही सम्यक्-दर्शन है। हे जीव! तू परम पारिणामिक भाव रूप निरपेक्ष चैतन्य स्वभाव में श्रद्धा कर जिससे शुद्ध भाव प्रगट होकर अविनाशी पद प्रकट हो जायगा। इस ज्ञान स्वरूपी आत्मा के ज्ञान में सब को एक ही काल एक समय में जानने की शक्ति है। वह उस शक्ति का एक समय—मात्र में विश्वास कर सकता और एक समय में सब कुछ जानने के ज्ञान की सामर्थ्य प्रकट कर सकता है। ऐसी आत्मा में प्रबल शक्ति है। ऐसी शक्ति-सम्पन्न आत्मा को

मूल;- शरीर-मात्र पर दृष्टि रख तूने अनन्त काल से अनन्त जीवन व्यतीत किये, परन्तु भव—भ्रमण का दुःख ज्यों का त्यों बना रहा। अब सत्पुरुषों की आज्ञानुसार इस एक जीवन को आत्म—दृष्टि सहित होकर ऐसा व्यतीत कर, ताकि आगे कोई भव ही धारण न करना पड़े। क्योंकि आत्मा का ज्ञान-गुण त्रिकाल स्वभाव है। उसमें ज्ञान, श्रद्धा सुखादि अनन्त गुण हैं, और प्रत्येक गुण की एक एक समय की एक एक अवस्था है। वह किसी पर-वस्तु का ग्रहण-त्याग कदापि नहीं करता। उसमें ज्ञान दर्शन की अवस्था उपयोग रूप न होकर प्रत्येक समय का परिणमन है। अनादि काल से प्रत्येक समय में नवीन-नवीन विकार अब तक हुये। वे विकार तेरा स्वरूप नहीं है। तू सदैव ज्ञान स्वरूपी है। जिसने इस ज्ञान—स्वरूप का निर्णय कर लिया; उसका अनादि अनन्त नहीं रहा बल्कि अनादि सान्त हो गया।

यह जीव अपनी ज्ञान—स्वरूपी एकाग्रता द्वारा अपने अनादि सान्त विकार और अन्य या अन्य जीवों के अनादि अनन्त विकार को एक समय मात्र में जान सकता है। आत्मोन्मुख होकर बाह्य में तू कुछ भी ग्रहण—त्याग मत कर। अपने उपयोग को अपने स्वभाव में ला; एकाग्र हो तो वही केवल ज्ञान हो जायगा तथा संसार—परिभ्रमण का अन्त आ जायगा। यही सार है। अपनी आत्मा के समान संसार में अन्य अनन्त पृथक पृथक आत्मायें हैं और जीवत्व की अपेक्षा से एक जाति हैं। परन्तु समस्त आत्मायें मिलकर एक आत्मा नहीं है। इस विश्व में चैतन्य आत्मा के अतिरिक्त अनन्त जड़ पदार्थ ठसा—ठस भरे हुये हैं जो कि ज्ञाता—दृष्टा स्वभाव वाले नहीं हैं। एक आत्मा ही चैतन्य स्वरूप ज्ञाता-दृष्टा, ज्ञान—स्वभावी है। उसका स्वभाव भव-समुद्र से तरने का है। सूत्र है कि "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः"। यद्यपि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष-मार्ग है।

तथापि उसमे सम्यक्‌दर्शन ही मुख्य है। जिस आत्मा मे सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है उसमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र भी हो जाता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान मिथ्या ज्ञान है और चारित्र मिथ्या चारित्र है। सम्यग्ज्ञान मे ही (स्व–पर) भेद - विज्ञान होता है, जिससे उस ज्ञान में हेयोपादेय बुद्धि नहीं होती, और ज्ञान वस्तु स्वरूप को यथार्थ रूप जान लेता है। मिथ्या ज्ञान वस्तु—स्वरूप को यथार्थ नहीं जानता। सम्यग्दर्शन होने पर ही चारित्र में सदाचारता आती है वह न्या मोह रहित चारित्र है। आत्म—भावना से, विशिष्ठ चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान—चारित्र मोह युक्त विवेक शून्य और संसार बढ़ाने वाला है। इसी कारण विद्वानों ने ज्ञान–चारित्र से सम्यग्दर्शन को ही मुख्य माना है।

सम्यक्—दर्शन होने पर ही जन्म - मरण रूपी रोग मिटता है। सम्यक् दृष्टि ज्ञान रत्न से सुसज्जित हो चारित्र रथ पर चढ़ सम्यक् दर्शन सारथी को आगे कर स्वल्प काल में कर्म-शत्रुओं पर विजय पा जाता है। अर्थात सम्यक् दर्शन सहित जैसे ही सम्यक् चारित्र की पूर्णता हुई त्यों ही मोक्ष मार्ग स्वयमेव व्यक्त हो जाता है। (पाँचों सुज्ञान भी तत्काल व्यक्त हो जाते हैं)। जब तक सम्यक् - चारित्र की पूर्णता नहीं होती, तब तक पूर्ण ज्ञान और अनन्त सुख प्रकट नहीं होता। सार यह है कि सम्यक् दर्श और सम्यक्ज्ञान से जीव में पात्रता प्रकट होती और वह सम्यक् चारित्र का योग पाकर मोक्ष—मार्ग प्रकट कर देती है अतएव मोक्ष का साक्षात कारण सम्यक् चारित्र है क्योंकि वीतरागता इसी के द्वारा प्रकट होती है। वीतरागता होने पर ही मोह का अभाव होता है। उसके अभाव से अनात्मीय पदार्थों में आत्मीय और राग - द्वेष सम्बन्धी बुद्धि नहीं होती। कुमति,कुश्रुति और विभंगावधि की भी उत्पत्ति नहीं होती।

यह आत्मा जब अनात्मीय पदार्थों में आत्म-बुद्धि करता है। तब मिथ्या भाव सहित अनेक प्रकार के विकल्प और झूठी कल्पनायें करता है- जैसे कामला रोग वाला मनुष्य सफेद शंख को पीला कहता है। इसी प्रकार वह भी अन्य पदार्थों में निजत्व की कल्पना करने लगता है। यह अनादि से भूल चली आ रही है। जीव में जीवत्व नामक गुण उसकी समस्त पर्यायों में पाया जाता है। चाहे वह एकेन्द्री, विकलत्रय, पंचेन्द्रिय, गृहस्थ, सिद्ध, साधु, ब्राह्मण, वैश्य, नारकी, देव, तिर्यञ्च या मनुष्य हो यह अनादि निधन तत्व जीव को अजीव से भिन्न करने में साधक है। इसी के बल से जीव की सत्ता है। प्राणियों को यह बोध निरन्तर स्वाध्याय करने से ही होता है।

स्वाध्याय तप प्राणियों को संसार—समुद्र पार करने को उत्तम जहाज, कषाय रूपी अटवी को जलाने के लिये दावानल और स्वानुभव रूपी समुद्र की वृद्धि के लिये पूर्णिमा का चन्द्रमा है। भव्य जनों के हृदय कमलों को प्रफुल्लित करने तथा कर्म रूपी उल्लू को छिपाने के लिये प्रचण्ड मार्तण्ड मार्तण्ड है। कषाय - निग्रह करने को एक प्रबल योद्धा है। मोक्ष—मार्ग में संभाव - तप ही मुख्य है। इससे संवर होकर कर्मों की निर्जरा होती है। उपयोग की स्थिरता में स्वाध्याय प्रधान है। शास्त्र-ज्ञान और आत्म—ज्ञान जुदे जुदे हैं। चारित्र रत्न भेद ज्ञान से भिन्न है। उसके बिना परमार्थ का लाभ होना अत्यन्त कठिन है। शास्त्राध्ययन से ज्ञान-सूर्य का उदय होता है। यही मनोवृत्ति को पवित्र बनाने वाला और केवल ज्ञान लक्ष्मी का बीज मन्त्र है। आत्मा की अचिन्त्य शक्ति कर्मों से ढकी हुई है। उसे प्रकट करने के लिये भेद ज्ञान की विशेष आवश्यकता है। भेद विज्ञान आगमा-भ्यास से होता है। अतएव निरन्तर आगम का अभ्यास करो। विषयों से विरक्त होकर स्वाध्याय करने से ही कल्याण होगा। एकत्व परिणाम परिणत आत्मा ही मोक्ष का प्रधान कारण है। अतएव शुद्ध

स्वात्मा की ही उपासना करो।

समस्त पर—पदार्थों से ममत्व बुद्ध कर प्रत्येक स्थान तीर्थ—क्षेत्र समझो। आत्मा में ही गिरनार है, और आत्मा में ही मोक्ष है। इच्छा आकुलता की जननी है। वह निजानन्द, परमानन्द आनन्दघन आत्मा का दर्शन नहीं होने देती। आत्म-ज्ञान का मूल कारण मोह युक्त परिणामों की सन्तति का अभाव करना है। जहाँ तक बने अपनी आत्मा को रागादिक परिणामों के जाल से सुरक्षित रखो। आत्मा की ओर दृष्टि कर निरन्तर उसका निरीक्षण करो। प्रमाद, कषाय और योगों की चञ्चलता को दूर कर निज-भाव की ओर दृष्टि देने से आत्म—दर्शन हो जाता है। आचार्य महाराज सूर्यसागर का उपदेश है कि यदि अपना कल्याण चाहते हो, तो पर—पदार्थ से आत्मीयता का नाता तोड़ दो। साधक—बाधक सब अपनी ही परणति है। निरन्तर निज-परणति का प्रयत्न करो। प्रमाद, कषाय और शल्यों को निर्मूल कर बार—बार आत्म स्वरूप का निरीक्षण करो। चाहे वन में रहो चाहे मठ में परन्तु अपना निवास अपनी आत्मा में ही बनाओ। सावधान रहो! प्रमाद विषय—कषाय और मोहादिक डाकू तेरे रत्न न लूट लेवें। पर-पदार्थ से मूर्छा हटाने से सब–व्याधि मिट जाती है। अनादि काल से यह जीव मोह—मदिरा से उन्मत्त हुआ आपको भूला हुआ है तब कल्याण किसका और कैसे हो? इस मनुष्य भव में इतनी योग्यता है कि हम आत्मा को देख—जान सकते हैं। मोक्ष के लिये पर-वस्तु की आवश्यकता नहीं है। हमें स्वयं अपना पुरुषार्थ करना चाहिये। परिणामों की विशुद्धता से ही आत्म-कल्याण होता है। कल्याण के कारणों में सम्यक् ज्ञान मुख्य कारण है। दशलक्षण धर्म-पठन—स्तवन मात्र से आत्म कल्याण नहीं होगा वरन् आत्मा के विकृत, औदयिक, अनात्मीय भावों के त्यागने से ही होगा।

सम्यक् चारित्र (रत्नत्रय) की एकता ही मोक्ष मार्ग है। यदि रत्नत्रय की कुशलता हो जावे तो समस्त व्यवहार अपने आप छूट जावे। आत्मीक भाव के समक्ष मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, शल्य, निदान आदि नहीं ठहर सकते। जैसे सिंह के समक्ष गजेन्द्र, वृषभादि पशु नहीं ठहर सकते फिर गंदिगों की तो कथा ही क्या? रत्नत्रय में स्थित आत्मा स्व समय और आत्मा का पुद्गल प्रदेशों में संचरण करना 'पर' समय है।

संसार की अनुकूलता—प्रतिकूलता में अपना मन मत लगाओ। संसार कष्टों का निरन्तर चिन्तवन करो जिससे कर्म—बन्ध का अभाव हो और आत्मा में दृढ़ता आ जाँय। नेत्र वही है जिसमें वस्तु देखने की शक्ति हो, अन्यथा उसका होना व न होना दोनों बराबर हैं। इसी प्रकार ज्ञान वही है, जो वस्तु स्वभाव को जाने-समझे अन्यथा उसका होना व न होना दोनों बराबर हैं। श्रुत ज्ञान के द्वारा वस्तु स्वरूप को जान कर तदात्मक होने की चेष्टा करे। सम्यक् ज्ञानी मान - अपमान, रागद्वेष आदि उपद्रवों से कभी चलायमान नहीं होता, क्योंकि वह सब पर - पदार्थों का ज्ञाता - दृष्टा मात्र रहता है। जिस आत्मा में अन्य मात्र निर्मल ज्ञान का उदय हो गया वह कभी भी भव - भ्रमण का पात्र नहीं होगा। ज्ञान समस्त गुणों का प्रकाशक है। इसी के द्वारा विश्व का यथार्थ महोपकार होता है। आत्म के स्वरूप में जो चर्चा होती है, वही सम्यक् चारित्र है और वही वस्तु का स्वभाव है। व्रतों का आचरण या धारण करना भी चारित्र पालन करने के अर्थ है। यदि व्रताचरण न किया जाय तो व्रती और अव्रती में कोई अन्तर ही न रहे। मनुष्य भव की सफलता तो संयम - साधन में ही है और उसका साधन आत्मा से रागादि भावों की निवृत्ति है। यदि रागादि भावों की निवृत्ति न हो, तो समस्त किये दम्भ मात्र हैं। जिसे रागद्वेष मोह से निवृत्ति होकर इष्टानिष्ठ की कल्पना नहीं रहती तथा

में पद के अनुसार ही शाँति आती है। गृहस्थावस्था में वीतरागता की श्रद्धा तो हो सकती है; परन्तु उसका स्वाद नहीं आ सकता। जैसे—भोजन बनाने में भोजन का स्वाद नहीं आ जाता, वह तो चखने पर ही आता है। समस्त शुभाशुभ कारणों में समभाव रखना, परम शान्ति का साधन है। अपनी परणति विशेष ही शान्ति है। मूर्च्छा का त्याग कर आत्म-ज्ञान की चर्चा से शान्ति प्रकाश फैल जाता है। निजानन्द पाने से ज्ञान का उदय होकर शान्ति प्राप्त होगी। यह आत्मा 'पर' के सम्बन्ध से सदैव पृथक रहता है। ज्योंही हम उसे पृथक करने का भाव करेंगे, त्योंही शान्तिपथ पर पहुंच जायेंगे। पदार्थ को जानने-समझने का यही फल है। अनेक महानुभावों ने, तीर्थों की यात्रा की, मन्दिर निर्माण कराये, पञ्चकल्याणक बिम्ब प्रतिष्ठादि कराईं, षोडसकारण, रत्नत्रय, दशलक्षण और अष्टान्हिका-व्रत विधान किए। भरत के समान विधिवत व्रतों के उद्यापन किए, परन्तु इनसे उन्हें शान्ति की गन्धक तक न मिली। अनेकों ने महान् आर्य-ग्रन्थों का अध्ययन कर प्रकाण्ड पण्डितों में अपनी गणना कराई; परन्तु शान्ति-सागर की शीतलता ने उन्हें स्पर्श तक न किया। कई गृह-त्याग दिगम्बर बन समस्त क्रिया-काण्ड कर श्रेष्ठ तपस्वी कहलाए (जिससे कि अनेक महानुभाव संसार से मुक्त हुए) परन्तु उन पर शान्ति प्रिया या मुक्ति-लक्ष्मी का कटाक्ष दृष्टि-पात भी न हुआ। इससे सिद्ध होता है कि आत्म-द्रव्य की सत्य भावना से ही शान्ति प्राप्त होती है। अतएव निजानन्दमय स्वात्मोन्नति करो। अशान्ति को दूर हटाओ। ध्यान करते समय जितने शान्तभाव रखोगे उतने ही जल्दी संसार-ग्राह्य का नाश होकर, परम पद प्राप्त होगा। बिना ममता त्याग के समता नहीं होती और समता के बिना आत्मकल्याण नहीं होता। अतएव समता ही धारण करो।

ध्यान करने के लिये निर्जीव (सूखी) घास का आसन अथवा शिला, काष्ठ की चौकी, रेतीली

सम्यक् चारित्र (रत्नत्रय) की एकता ही मोक्ष मार्ग है। यदि रत्नत्रय की कुशलता हो जावे तो समस्त व्यवहार अपने आप छूट जावे। आत्मीक भाव के समक्ष मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, शल्य, निदान आदि नहीं ठहर सकते। जैसे सिंह के समक्ष गजेन्द्र, वृषभादि पशु नहीं ठहर सकते फिर गीदड़ों की तो कथा ही क्या? रत्नत्रय में स्थित आत्मा स्व समय और आत्मा का पुद्गल प्रदेशों में संचरण करना 'पर' समय है।

संसार की अनुकूलता—प्रतिकूलता में अपना मन मत लगाओ। संसार कष्टों का निरन्तर चिन्तवन करो जिससे कर्म—बन्ध का अभाव हो और आत्मा में दृढ़ता आ जाँय। नेत्र वही है जिसमें वस्तु देखने की शक्ति हो, अन्यथा उसका होना व न होना दोनों बराबर हैं। इसी प्रकार ज्ञान वही है, जो वस्तु स्वभाव को जाने-समझे अन्यथा उसका होना व न होना दोनों बराबर हैं। श्रुत ज्ञान के द्वारा वस्तु स्वरूप को जान कर तदात्मक होने की चेष्टा करे। सम्यक् ज्ञानी मान - अपमान, रागद्वेष आदि उपद्रवों से कभी चलायमान नहीं होता, क्योंकि वह सब पर - पदार्थों का ज्ञाता - दृष्टा मात्र रहता है। जिस आत्मा में ग्रन्थ मात्र निर्मल ज्ञान का उदय हो गया वह कभी भी भव - भ्रमण का पात्र नहीं होगा। ज्ञान समस्त गुणों का प्रकाशक है। इसी के द्वारा विश्व का यथार्थ महोपकार होता है। आत्म के स्वरूप में जो चर्चा होती है, वही सम्यक् चारित्र है और वही वस्तु का स्वभाव है। व्रतों का आचरण या धारण करना भी चारित्र पालन करने के अर्थ है। यदि व्रताचरण न किया जाय तो व्रती और अव्रती मे कोई अन्तर ही न रहे। मनुष्य भव की सफलता तो संयम - साधन में ही है और उसका साधन आत्मा से रागादि भावों की निवृत्ति है। यदि रागादि भावों की निवृत्ति न हो, तो समस्त क्रियें दम्भ मात्र हैं। जिसे रागद्वेष मोह से निवृत्ति होकर इष्टानिष्ठ की कल्पना नहीं रहती तथा

कषायों को कृष कर शांत मय परिणाम रखता है वही जीव उत्तम संयम का पात्र है। जब तक रागद्वेष मोह की आत्मा में कलुषता है तब तक चारित्र नहीं है।

मनोबल बड़ा प्रबल है। वह अनन्त जन्मार्जित कर्म कलंक क्षण–मात्र में पृथक कर देता है। आत्म—हित के विचारों का उत्पादक यह मन ही है। उसे इधर—उधर मत भटकने दो अन्यथा वह आत्म–हित में सहायता न पहुँच सकेगा। अन्तरङ्ग तप में सर्व प्रथम मनोबल की आवश्यकता है। यह प्राणी इसी मनोबल से महा पुण्य—शाली तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर संसार के जीवों का उद्धार कर देता है। जिसका मन, वचन, काय, बल श्रेष्ठ और वश में है। वह संसार में रहता हुआ भी सुखी है और परलोक में सुखी रहेगा। इसमें समझता और धीरता का सद्भाव है— आत्मा का यह उत्तम धैर्य गुण अन्तर्मुहूर्त में मुक्ति रमणी से समागम करा देता है। जो निज की समालोचना करते हैं। वे ही परम पद के भागी होते हैं। पर की समालोचना से आत्म–हित नहीं होता। दूसरों द्वारा की गई समालोचना को धैर्य पूर्वक श्रवण करने की क्षमता प्रकट करो। इसी से लाभ होगा। मनोवृत्ति की स्थिरता ही परम तत्व समझने में सहायक होती है। परम आत्म तत्व का जानना और परम तत्व रूप होना ये दोनों वस्तु स्वभाव भिन्न भिन्न हैं। जानने का कार्य क्षयोपशम से और (परम तत्व—रूप होना) स्थिरता मोह की कृशता से होती है। यदि चित्त को स्थिर करना चाहते हो, तो पर–पदार्थों का सम्बन्ध छोड़ दो। चैत्यालय में कोरा—हल्ला मत मचाओ। एकान्त में भाव सहित परमात्मा का गुणानुवाद गाओ।

वह मनुष्य, मनुष्य नहीं, जो निरोग, ज्ञानवान, लौकिक कार्यों में कुशल, धन—सम्पत्ति सम्पन्न होते हुये भी आत्म कल्याण करने से विमुख है। वह पशु समान है। पशु के सींग पूँछ है।

और उसके डाढ़ी, मूँछ है। बस यही अन्तर है। जिसने इस अमूल्य मानव जीवन से स्व पर शान्ति का लाभ नहीं लिया, उसका मानव जन्म अर्क तूल की तरह व्यर्थ गया। भव्यो! सब से ममत्व हटाकर अपना भविष्य निर्मल करो। यह मोह ही आत्मा के पतन का मूल कारण है। यद्यपि चारों गतियां आत्म-ज्ञान का कारण हैं तथापि संयम का उदय मानव पर्याय में ही होता है। आत्मा की निश्चल परिणति ही उत्तम दश धर्म है। मोह और क्षोभ रहित आत्मा में ही धर्म प्रकट होता है। धर्म का लक्षण निष्कषाय भावों में है। जिस जीव के मोह और क्षोभ का अभाव है। वही धर्मात्मा है। संकट और कष्ट के समय में भी धर्मात्मा धर्म को नहीं छोड़ते। जिसकी धर्म में पूर्ण श्रद्धा है, उसके समस्त विघ्न और उपद्रव मिट जाते हैं। जहां धर्मात्मा निवास करता है। वहां की वसुन्धरा तीर्थ हो जाती है। सब उसी की पद रज मस्तक पर लगाते हैं। समस्त जीवों की रक्षा करना धर्म है। जहां जीव, दया का अभाव है, वहां संसार से मुक्ति नहीं। शास्त्रों की कथा—वार्ता छोड़ो, प्रत्यक्ष अनुभव से देखलो। यदि तुम्हारे किसी अंग में सुई की अनी चुभाई जाय, उस समय तुम्हारी क्या दशा होती है? ऐसी ही दशा अन्य प्राणियों की भी होती है। इस जीव को यह धर्म ही संसार—बन्धन से छुटाकर, उत्तम सुख के स्थान (मोक्ष) में पहुँचा देता है।

यथार्थ धर्म तो निर्ग्रन्थ मुनि के ही होता है, और निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि वही है जिसके अन्तरङ्ग में भाव पूर्वक वीतरागता है। बिना अभ्यन्तर परिग्रह त्याग के बाह्य परिग्रह त्याग में कोई प्रतिष्ठा-मान्यता नहीं है। अभ्यन्तर परिग्रह के छूटने से बाह्य-परिग्रह तो अपने आप छूट जाता है। संयम धारण करना ही शांति का श्रेष्ठ उपाय है। जब यह जीव पराधीनता त्याग, स्वाधीन-पद पर आरूढ़ होता है, तब सच्चा सुख प्राप्त होता है। आपत्तियों और संकटों को सदैव समभाव से भोग लो।

पर मे परत्व और निज मे निजत्व को अच्छी तरह समझो। अभ्यन्तर बाध के बिना स्वप्न में भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। सन्तोषी जन सदा सुखी रहते हैं। सन्तोषामृत पान करने से जो तृप्ति होती है वह तृप्ति बाह्य-साधनों से नहीं होती है। जितनी इच्छा और आवश्यकतायें कम होंगी, उतना ही अधिक सुख होगा। जिसके पवित्र हृदय में कषाय-वासना नहीं है, वही सच्चा पूर्ण सुखी है। सुखी मनुष्य का व्यवहार सदैव अहिंसा स्वरूप, निर्मलता–सरलता युक्त होता है।

पुद्गलों का परिणमन पुद्गलों में ही होता है। न तो हम उसके कर्ता हैं और ग्रहण—त्याग करने वाले हैं। ऐसा जान कर भी जो देह, धन–सम्पत्ति से ममत्व नहीं त्यागते, वे उन्मार्गी जीव बाह्याडम्बर त्याग कर कभी सुखी नहीं होते। सच्चे सुखी वे ही हैं जो पर—पदार्थों के प्रपञ्चों से हट आत्मा की ओर ध्यान रखते हैं। सुख न संसार में है न मोक्ष में है और न कर्माभाव या कर्म–बन्धन मे है। वह तो अपने ही पास (अपनी आत्मा में) है आत्मा के साथ उस निराकुल सुख का तादात्म्य सम्बन्ध होते हुये भी तुम मोह वश इधर-उधर खोजते हो। जब समता और शांति—भाव का अनुभव होने लगे। तब ही अपना संसार - तट निकट आया जानो। अन्तरङ्ग—शान्ति के आस्वादन में मूर्च्छा की न्यूनता ही प्रधान कारण है। संसार में वही आत्मा शान्ति का लाभ ले सकता है, जिसने पर के द्वारा सुख—दुख होने की कल्पना को छोड़ दिया है। शान्ति का घर मूर्च्छा की निवृत्ति है। असंयमी जनों को ध्यानावस्था में भी शान्ति नहीं मिलती। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह की जितनी न्यूनता होगी, उतना ही शांति—राज फैलेगा।

कायरता त्याग उत्साह पूर्वक आत्मा का अवलोकन कर मोक्ष—मार्ग में लगना शान्ति का उपाय है। शान्ति कोई मूर्तिमान पदार्थ नहीं है बल्कि निराकुल अवस्था रूप परिणाम है। आत्मा

में पद के अनुसार ही शाँति आती है। गृहस्थावस्था में वीतरागता की श्रद्धा तो हो सकती है; परन्तु उसका स्वाद नहीं आ सकता। जैसे—भोजन बनाने में भोजन का स्वाद नहीं आ जाता, वह तो चखने पर ही आता है। समस्त शुभाशुभ कारणों में समभाव रखना, परम शान्ति का साधन है। अपनी परणति विशेष ही शान्ति है। मूर्च्छा का त्याग कर आत्म-ज्ञान की चर्चा से शान्ति प्रकाश फैल जाता है। निजानन्द पाने से ज्ञान का उदय होकर शान्ति प्राप्त होगी। यह आत्मा 'पर' के सम्बन्ध से सदैव पृथक रहता है। ज्योंही हम उसे पृथक करने का भाव करेंगे, त्योंही शान्तिपथ पर पहुंच जायेंगे। पदार्थ को जानने-समझने का यही फल है। अनेक महानुभावों ने, तीर्थों की यात्रा की, मन्दिर निर्माण कराये, पञ्चकल्याणक बिम्ब प्रतिष्ठादि कराईं, षोडसकारण, रत्नत्रय, दशलक्षण और अष्टान्हिका-व्रत विधान किए। भरत के समान विधिवत व्रतों के उद्यापन किए, परन्तु इनसे उन्हें शान्ति की गन्धक तक न मिली। अनेकों ने महान आर्ष-ग्रन्थों का अध्ययन कर प्रकाण्ड पण्डितों में अपनी गणना कराई; परन्तु शान्ति-सागर की शीलता ने उन्हें स्पर्श तक न किया। कई गृह-त्याग दिगम्बर बन समस्त क्रिया-काण्ड कर श्रेष्ठ तपस्वी कहलाए (जिससे कि अनेक महानुभाव संसार से मुक्त हुए) परन्तु उन पर शान्ति प्रिया या मुक्ति-लक्ष्मी का कटाक्ष दृष्टि-पात भी न हुआ। इससे सिद्ध होता है कि आत्म-द्रव्य की सत्य भावना से ही शान्ति प्राप्त होती है। अतएव निजानन्दमय स्वात्मोन्नति करो। अशान्ति को दूर हटाओ। ध्यान करते समय जितने शान्तभाव रखोगे उतने ही जल्दी संसार-नाह्य का नाश होकर, परम पद प्राप्त होगा। बिना ममता त्याग के समता नहीं होती और समता के बिना आत्मकल्याण नहीं होता। अतएव समता ही धारण करो।

ध्यान करने के लिये निर्जीव (सुखी) घास का आसन अथवा शिला, काष्ठ की चौकी, रेतीली

आत्म-प्रबो॰

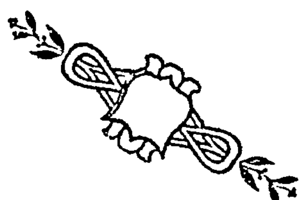
भूमि या शुद्ध भूमि होना चाहिये उस पर निश्चल पद्मासन या अर्धपद्मासन, सिद्धासन, वीरासन, कमलासन या कायोत्सर्ग हो नासाग्र–दृष्टि लगा शरीर को स्थिर करे। शरीर की स्थिरता से ही श्वासोच्छ्वास सम रहता तथा मन भी निश्चल रहता है। इस प्रकार सावधान हो, अपने शरीर के भीतर अपनी आत्मा को दुग्धवत् या शरीर प्रमाण निर्मल स्फटिक–मणि की मूर्ति समान अवलोकन करे और उसी में लवलीन हो जाओ। जब मन हटे जाय तो 'अर्हं जिनं सोऽहं, सिद्ध समं, अर्हन्त सिद्ध, ॐ" इत्यादि मन्त्र जपने लगो। जब मन्त्रों से मन हटे, तब वैराग्य पूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढ़े मनन करे सुने—सुनावे। आध्यात्मिक भजनों का गान करे, अथवा वैराग्य पूर्ण स्तोत्र पढ़े तात्पर्य यह कि उपयोग स्थिर रहे। ज्योंग जगत–जाल से विरक्त हो जाय। इसी से आत्म-ज्योति जाग्रत होती है। जो अपनी आत्माके द्वारा अपनी आत्मा को पुण्य–पाप रूप मन-वचन-काय के योगों को रोक, ज्ञान स्वभाव मे स्थिर करता है, वही शुद्ध आत्म—स्वभाव का अनुभव कर परमानन्द स्वरूप परमामृत का पान करता है। भेद–विज्ञान द्वारा चावल–तुष की तरह शरीरादि नौ कर्म एवम् अन्य पुद्गल द्रव्यों से आत्मा को पृथक करना चाहिये। जिस विवेक से आत्मा को भिन्न जाना गया उसी विवेक से इस आत्मा को ग्रहण करो। अपनी आत्मा को स्वानुभव रूप मोक्ष-मार्ग में एकता रूप विराजमान करो। इसी का भजन मनन ध्यान चिन्तवन और रमण करो। जिस आत्मा के भावों में रागद्वेष मोह और मन - वचन - काय की क्रिया नहीं है उसी के परिणामों में शुभाशुभ भावों को दग्ध करने वाली ध्यानाग्नि प्रज्वलित होती है, जिससे समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है।

ज्ञानी ध्यानी समस्त संसार - व्यवहार को इन्द्र जाल से समान समझता है। जिस योगी का लोक - व्यवहार सोता है उसी का आत्मानुभव जाग्रत रहता है। वही परमात्मा के समान परमात्मा।

हो जता है। जैसे—तेल भीगी रुई की वत्ती अपने से भिन्न दीपक की सेवा कर स्वयं दीपक बन जाती है। संसार के प्राणी उस समय तक दुःखाग्नि से तप्त रहेंगे जब तक कि उन्होंने अपने को आत्म–समुद्र में नहीं डुबाया। आत्म–सागर में अवगाहन करने से संसार के समस्त संताप मिट जाते और निराकुलसच्चा सुख शान्ति उपलब्ध हो जाती है। जैसे रत्नों में हीरा, सुगन्ध-द्रव्यों में मलियागिर या गोशीर चन्दन, मणियों में वैडूर्य मणि प्रधान है। उसी प्रकार साधु के समस्त तप व्रतों में आत्म-ध्यान प्रधान है। प्रत्येक जीव का स्वभाव ज्ञानमयी होने से प्रत्येक जीव में सिद्ध भगवान के बराबर ज्ञान है। उस पर मोह का परदा पड़ा हुआ है जिससे वह प्रकट नहीं हो रहा। जैसा–जैसा मोहावरण हटता है वैसा–वैसा ज्ञान और सुख प्रकट होता है। यह आत्मा हाथी में हाथी के शरीर प्रमाण और चिऊँटी में चिऊँटी के शरीर प्रमाण है। इसमें सम्पूर्ण विश्व में फैलने की शक्ति है। अर्थात स्वभाव की अपेक्षा लोक–व्यापी है। सभी आत्माएँ भिन्न भिन्न हैं। एक आत्मा का दूसरी आत्मा से सम्बन्ध नहीं है। सब अपनी अपनी सत्ता को लिये पृथक पृथक हैं। सब अपना अपना कल्याण कर सकती हैं। जैसे—गेहूं के दाने गुणों की अपेक्षा सब समान हैं। सब में उगने की शक्ति है, परन्तु सत्ता सब की अलग अलग है। जिस समय में कोई जीव (आत्मा) शरीर में आता उसी समय में कोई जीव शरीर छोड़ता। कोई दुखी होता तो कोई उसी समय में सुखी होता है। एक आत्मा दूसरी आत्मा मे मिलकर कभी एक मेक नहीं होती। सबकी सत्ता पृथक पृथक ही रहती है। न एक आत्मा (जीव) के खड होकर दो या अनेक आत्मायें हो सकती हैं।

जो आत्मा निरन्तर निज स्वभाव में स्मरण करता रहता है। वही संसार से मुक्त हो जाता है, क्योंकि ध्याता हुआ आत्मा अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में ध्याता है। ऐसा ध्यानी ध्यानाग्नि से

समस्त कर्म - काष्ठ को जला डालता है और निज स्वभाव रूप शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है। भावना भव—नाशनी है। जो व्रती संयम सहित अपनी निर्मल आत्मा की भावना भाता है; वह केवल ज्ञान प्राप्त कर संसार सागर से पार हो जाता है। आत्म - ज्ञानी जिस भाव से जिस स्वरूप का ध्यान करता है, उसी भाव से उसमें तन्मय हो जाता है। जब आत्म - ज्योति का अनुभव जागृत होता है तब आत्मानन्द ही आत्मानन्द झलकता है। अनन्त संसार का मूल कारण मिथ्यात्व ही है। इसके हटने पर ज्ञान निर्मल हो जाता और स्व—पर का स्वभाव यथार्थ जान लेता है। वह निर्मल ज्ञान रूपी करौंत से अम—बुद्धि को खण्ड-खण्ड कर डालता है। हे भव्यो ! बाह्य कोलाहल से कोई लाभ नहीं है। अपनी आत्मा में ही आत्मा का दर्शन कर, दर्शन—ज्ञान—मयी विशुद्धता से एकाग्र चित्त हो जाओ। इसी से सच्ची समाधि पाओगे। जिसका ध्यान निश्चल होता है उसी को सम—भाव प्राप्त होता है। ये दोनों परस्पर आधार हैं। अर्थात् ध्यान के आधार समभाव और समभाव के आधार ध्यान है। इस प्रकार ध्यान और उसकी विधि युक्त यह नवम परिच्छेद समाप्त हुआ।



दशम् परिच्छेद

॥ मङ्गलाचरण ॥

दोहा—देव-शास्त्र—गुरु, तत्व में, श्रद्धा राखनहार।
व्यवहारी सम्यक् सुधी, शुभ मय सब व्यापार ॥१॥
शुद्ध रूप अवलोक कर, हो यदि थिर निज रूप।
इकता हो त्रय रत्न की, होवे त्रिभुवन-भूप ॥२॥

आत्मा में अनन्तानन्त परिणाम हुआ करते हैं विद्वानों ने उनको स्थूल तीन जातियों में विभक्त किया है। प्रथम अशुभोपयोगी परिणाम द्वितीय शुभोपयोगी और तृतीय शुद्धोपयोगी परिणाम। आरम्भीय दो जातियों (शुभाशुभ) के परिणामों से क्रमशः पाप-पुण्य-बन्ध ही होता है अर्थात् संसार ही बढ़ाते हैं। एक मात्र शुद्धोपयोगी जाति के ही परिणाम ऐसे हैं जिनसे कर्मों का क्षय होता है। विवेकियों को उचित है कि वे सदैव अपने परिणामों की परीक्षा और सम्हाल करते रहें। अशुभोपयोग (पाप-क्रियाओं) से बचकर शुभोपयोग (पुण्य-कार्य) में चलें। फिर दृढ़ता आने पर इस पुण्य-रूप शुभोपयोग को भी हटा कर, शुद्धोपयोग को पधारने का प्रयत्न करें। जिस प्रकार धनिक अपने मकान

मे चोरों को प्रवेश नहीं होने देता, सदैव अपनी सम्पत्ति की रक्षा करता रहता है। उसी प्रकार ज्ञानी बन्ध कारक भाव रूपी चोरों को आत्मा में नहीं आने देता सदैव अपनी रत्नत्रय युक्त आत्मा की रक्षा करता रहता है। अशुभ भावों (हिंसा, झूठ, चोरी आदि) के त्यागने से जो पाप-बन्ध होता था वह रुक जाता है क्योंकि वह भेद विज्ञानी आत्मा शुभाशुभ रूप रागादि भावों से भिन्न जानता है।

मिथ्यात्व या मोह के द्वारा आने वाले कर्मों को रोकने के लिये सम्यक् दर्शन से लाभ लेना चाहिए। अविरत के द्वारा आने वाले कर्मों को रोकने के लिये पंच-महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) का अभ्यास करना उचित है। जो कर्म प्रमाद द्वारा आते हैं उन्हें रोकने को चार विकथाओं को त्याग कर धार्मिक और परोपकार मय कार्यों मे दत्त-चित्त रहो। इसी प्रकार कषायों से होने वाले कर्मों का आगमन रोकने के लिये शास्त्र-पठन-मनन, तत्व विचार, क्षमा, मार्दव आर्जवादि सन्तोष पूर्ण भावों का अभ्यास करना योग्य है। योगों को जीतने के लिये मन—वच-काय को स्थिर कर आत्म-ध्यान का अभ्यास करना श्रेष्ठ है। इससे पुण्य-बन्ध होता और अनुभव दशा में परम सहायक होता है। शुद्धता की ओर झुके भावों के प्रताप से नवीन कर्मों का संवर और पुरातन कर्मों की निर्जरा होती है। सिद्धान्त-शास्त्रों में व्रत, समिति, गुप्ति, दश-धर्म, बारह भावनायें बाईस परीषह जय, पंचाचार और द्वादश-तप संवर के साधन बतलाये हैं। शुद्ध आत्मीक अनुभव जितना-जितना बढ़ता जायगा, उतना-उतना, नवीन कर्मों का संवर और पुरातन कर्मों की निर्जरा होती जायगी। इसलिए हे भव्य जीवो! प्रातः मध्यान्ह, सायं और अर्द्ध-रात्रि में एकान्त स्थान पर बैठ समस्त विकल्पों से निवृत हो निश्चय-नय से आत्मा को सिद्ध समान शुद्ध विचार कर ध्यान का अभ्यास करो। ऐसा निरन्तर करने और संसार-भोगों से

वैराग्य - भाव रखने से एक ऐसा समय आयगा जिससे परिणामों में निर्मलता बढ़ने लगेगी और आत्मा में रुचि हो जायगी। इसके फल स्वरूप अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व का उपशम होकर उपशम - सम्यक्त्व का लाभ होगा।

सम्यक् - दर्शन रूपी सूर्य के प्रकाश से अज्ञान या मिथ्यात्व रूपी अन्धकार विलय हो जाता तथा रत्नत्रय प्रकट हो जाता है। यह स्वरूपाचरण चारित्र अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम से प्रकट होता है। इसके प्रकट होते ही स्वानुभव रूप दशा हो जाती और अपूर्व, अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ होता है। वह संसार की ओर पीठ देकर आत्मा की ओर झुक जाता है और योग - क्रिया को पुद्गल कर्म जनित जान वीतराग ज्ञाता दृष्टा होता हुआ, मनन करते करते स्वात्मानुभव से पहुँच जाता है। इसी समय वह व्यवहार तथा निश्चय दोनों पक्ष त्याग आत्मा को आत्मा - रूप ही मनन करता है। वही सम्यक् दर्शन का स्वरूप है। जब निश्चय—नय से मनन करने में प्रमाद आता है तब साधक व्यवहार नय पूर्वक सप्त - तत्वों का मनन करता है। यद्यपि आत्मा अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड होने से एक रूप है तथापि ज्ञान गुण की अपेक्षा ज्ञान रूप, दर्शन—गुण की अपेक्षा दर्शन रूप, चारित्र गुण की अपेक्षा चारित्र रूप, वीर्य—गुण की अपेक्षा वीर्य रूप आदि अनन्त गुण रूप है। वह स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध और कर्म—संयोग की अपेक्षा अशुद्ध है। निश्चय नय से आत्मा को आत्मा—रूप जानना सम्यक् ज्ञान है। जैसे सूर्य - बिम्ब पर मेघ - पटल छा जाने से प्रकाश अल्प दर्शता है तो भी समझदार जानता है कि सूर्य का प्रकाश इतना ही नहीं है, उसका तो पूर्ण प्रकाश है। मेघ—पटल के कारण प्रकाश कम है। सूर्य का स्वभाव ऐसा नहीं है। वह सूर्य के यथार्थ प्रकाश को संशय रहित जानता है। इसी प्रकार आत्मा रूपी सूर्य पर ज्ञानावरणादि कर्म रूप

मेघ—पटल छाये हैं। जिससे उसका ज्ञान रूपी प्रकाश कम या मलीन हो रहा है। वास्तव में तो वह पूर्ण प्रकाशवान और ज्ञानवान है। आत्मा का स्वभाव मलिन नहीं है। वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को संशय रहित जानता है। उसका यही जानना सम्यक् ज्ञान है।

चेतना लक्षण वाला जीव द्रव्य और चेतना लक्षण रहित अजीव द्रव्य है। इस प्रकार जीव अजीव नामक मुख्य दो द्रव्य सिद्ध हुए। यदि ये दो द्रव्य विपरीत—परिणत न होते, तो जीव को अपने से अपने को जानने में भूल न होती। यह अपने अस्तित्व से विरुद्ध स्वभाव वाले अजीव द्रव्य के अस्तित्व में अपना अस्तित्व मानकर भूल रहा है अर्थात् अपने स्वभाव की जानकारी न होने से मैं शरीर मन वचन रूप हूं। मैं उसका कर्त्ता हूं। मैं उसका भोक्ता हूं। इत्यादि अनेक प्रकार से अजीव द्रव्य में अपना अस्तित्व मान रहा है। इस तरह जीव अपने यथार्थ अस्तित्व परिज्ञान से च्युत होकर, पर में अपने अस्तित्व की मानता रूप भूल कर रहा है। जो केवली भगवान, श्री गुरु तथा शास्त्र को मानते हुये भी 'कर्म करें, सो करे नाहिं कोई" को भी मान्यता देते हैं, तो उनकी यह मान्यता मिथ्या श्रुत ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञान पराश्रय से होता है। स्वभाव में एकता नहीं है, विकार से एकता है। यही विकार बुद्धि पाकर ज्ञान को इतना हीन कर देता है कि निगोद—दशा हो जाती है। जो पूर्ण चैतन्य का आश्रय (स्वाश्रय) कर श्रुत-ज्ञान प्राप्त होता है। वह आत्मा में एकता कर क्रमशः बढ़कर केवल ज्ञान प्रकट कर देता है। आठों कर्म अचेतन (जड़) और आत्मा पूर्ण चेतन स्वरूप है। उसमें कर्म की अपेक्षा नहीं है, परन्तु वर्तमान शरीर एक समय पर्यन्त का विकार है। इसमें कर्म निमित्त रूप है। एक समय मात्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जिस प्रकार समुद्र स्वभावतः शान्त रूप है। उसकी चञ्चल तरङ्गें बाहिरी उपाधि हैं। उसी

प्रकार यह आत्मा सहज चैतन्य स्वरूप है। उसमें दिखाई देने वाले वर्तमान औदयिक भाव उसके मूल स्वरूप में शामिल नहीं। यदि आत्मा को मूल स्वरूप में देखा जाय तो उसके द्रव्य गुण में तथा वर्तमान भावों में भी विकार नहीं है। जैसे समुद्र का स्वभाव है कि वह मैल को अपने में नहीं रहने देता किन्तु उछालकर फेंक देता है वैसे ही इस आत्मा का स्वभाव आत्मा के स्वरूप में भी विकार—भाव रूपी मैल का प्रवेश नहीं होता है। ऐसा यह अद्भुत—स्वभाव आत्मा अपने द्रव्य गुण पर्यायों से पूर्ण है। वर्तमान पर्याय में अपूर्णता दिखाई देती है परन्तु यथार्थ में अपूर्ण नहीं है। पर्याय का लक्ष्य छोड़ द्रव्य—स्वभाव के लक्ष्य से पूर्ण एक रूप ज्ञात होता है। यह जीव अनादि से पर्याय बुद्धि होकर उसी की महिमा में ठहरा है और पर्याय जनित विकार को ही अनुभव किया है। इसके विपरीत निज स्वभाव में ठहर कर विकार रहित शुद्ध स्वभाव का अनुभव करता तो सच्चा सुख पा जाता।

संसारी प्राणियों के साथ अनादि—काल से कर्मों का संयोग चला आ रहा है। उनमें मोहनीय कर्म प्रधान है। इसके उदय से आत्मा के सम्यक् दर्शन गुण का घात हो जाता है। इसके मूल रूप दो भेद हैं। दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं—(१) मिथ्यात्व मोहनीय (२) सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय (३) सम्यक् मोहनीय। चारित्र मोहनीय के २५ भेदों में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रधान हैं। इनके उदय से दीर्घ काल-स्थायी कषायें होती हैं। जब तक इनका उदय दूर नहीं होता, तब तक आत्मा में सम्यक् दर्शन गुण प्रकट नहीं होता। इन कर्मों के आक्रमण को दूर करने के लिये व्यवहार सम्यक् दर्शन का सेवन करना चाहिये। सप्त तत्व का सच्चा श्रद्धान ही व्यवहार सम्यक्—दर्शन है। इसी के मनन से निश्चय सम्यक् दर्शन हो जाता है क्योंकि यह निश्चय सम्यक्त्व के होने में बाह्य निमित्त कारण

है । अन्तरङ्ग निमित्त कारण को अनन्तानुबन्धी चारों कषायें तथा मिथ्यात्व कर्म का उपशम होना है । जीव और अजीव इन दो तत्वों में छहों द्रव्य सत रूप आ जाते हैं, वे सदा से हैं और सदा रहेंगे । न उन्हें किसी ने बनाया है समस्त छह-द्रव्यों मे अस्तित्व, वस्तुत्व द्रव्यत्व प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व ये छह गुण सामान्य रूप से हैं । जीव लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है । आकाश एक अखण्ड और अनन्त द्रव्य है । पुद्गल के स्कन्ध अणु-भेद से अनेक आकार के हैं । बड़े-छोटे बनते हैं । एक परमाणु का आकार एक प्रदेश मात्र है । काल द्रव्य के कालाणु असंख्यात हैं जो कि लोकाकाश के प्रदेशों में एक—एक अलग—अलग हैं । कोई किसी में कभी नहीं मिलते । इसलिये प्रत्येक कालाणु का आकार भी एक प्रदेश मात्र है । धर्म, अधर्म और आकाश ये एक एक द्रव्य हैं और असंख्य प्रदेश हैं । इसी प्रकार जीव और पुद्गल अनन्त हैं । ऐसे तत्वों और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक् दर्शन है । देव-शास्त्र-गुरु की सहायता से ही पदार्थ का ज्ञान होता है ।

यह जीव मोह—मिथ्यात्व के उदय से रस्सी में सर्प-बुद्धि, पानी में चन्द्रमा और सिंह अपनी परछाईं को सच्चा सिंह मान रहा है । पक्षी दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को अन्य पक्षी, पित्त—ज्वर वाला मिष्टान्न को कड़वा, यद्यपि पर-स्त्री को स्व स्त्री मानता है । इसी तरह मोहान्ध प्राणी विषय सुख को सच्चा सुख जानता है, परन्तु सच्चा सुख तो निराकुल, सम्भावमय और स्वाधीन है और वही अपना स्वभाव है । जैसे अग्नि में उष्णता अग्नि से पृथक नहीं है । उसी तरह आत्मा भी गुण गुणी में सर्वज्ञितात्म रूप है । मिश्री की डली उपयोग से ही अपने मिठ स्वादका अनुभव कराती है ऐसे ही एक समय मात्र आत्मा, आत्मा का अनुभव, परमानन्द मय अनन्त सुख का अनुभव करा

देता है। इस लिये साधु समस्त परिग्रह त्याग एकान्त वन, पर्वत-कन्दरा में रह अपने परिणामों को शान्त कर अपने आत्मीक स्वभाव में प्रवेश हो आत्मीक रस का पान करते हैं। इसी में मग्न रह वीतरागता रूपी मात्र ताप से समस्त कर्म रूपी ईन्धन को क्षण—मात्र में भस्म कर मुक्ति पा लेते हैं।

जैन—सिद्धान्त ने स्वात्मानुभव की श्रेणियां बनाकर अविरत सम्यग्दृष्टि के स्वात्मानुभव को द्वितीया का चन्द्रमा कहा है। वही पञ्चम देश विरत गुण स्थान में अधिक प्रकाशित हो जाता है। फिर प्रमत्त विरत और अप्रमत्त विरत में और भी अधिक प्रकाश होता है। स्वरूप के ज्ञान सहित रागद्वेष दूर होने से शरीर की निर्ग्रन्थता हो जाती है। (उस समय पुद्गल परावर्तन का काल ही वैसा हो जाता है)। जब आत्मा के स्वकाल में भाव—निर्ग्रन्थता होती तब अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषाय कर्म के परमाणुओं का नाश हो जाता है। वह पुद्गल का स्वकाल है। यथार्थ में मुनि—दशा और वस्तु-स्वभाव दोनों एक हैं।। जिसने आत्म-स्वभाव की पहिचान कर ली वही वीतराग होने का पुरुषार्थ कर सकता है। स्वात्मानुभव का प्रकाश क्रमशः श्रेणी में कुछ अधिक, क्षीण मोह—गुण स्थान में इससे अधिक होकर संयोग केवली—अवस्था में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान पूर्ण हो जाता है। इस स्वात्मानुभव को ही प्रथम धर्म—ध्यान तथा शुक्ल ध्यान कहते हैं। यही शुद्धोपयोग कहलाता है।

स्वात्मानुभव में राग—द्वेष मोह से योगों की चञ्चलता और कषाय युक्त परिणाम बाधक है। जितनी जितनी चञ्चलता कम होती और कषाएँ हटतीं हैं उतनी उतनी स्वात्मानुभव की कला अधिक निर्मल होती जाती है। कषायों का अभाव शुद्धात्म चर्या को निष्कम्पता प्राप्त करा देता है।

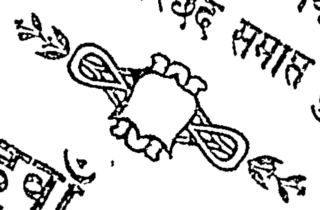
आत्मानुभव की प्राप्ति का एक उपाय यह भी है कि विश्व (स्व—पर) को व्यवहार नय से न देख निश्चय—नय से देखे, तो समस्त द्रव्य स्वभाव से जैसे हैं वैसे ही दिखेंगे। समस्त पुद्गल अपने स्वभाव में दिखाई देंगे, इसी प्रकार जीव परमात्मा के समान शुद्ध दिखाई देंगी। आप स्वतः परमात्मा के सदृश जान पड़ेंगे। इस दृष्टि से देखने पर राग—द्वेष मोह और कषाएं छोटे बड़े, ऊँच—नीच, स्वामी—सेवक, शत्रु—मित्र, निन्द—स्तुति आदि सब कल्पनाएं दूर हो जायँगी सिद्ध और संसारी जीवों का भेद—भाव मिट जायगा। अनुपम समताभाव रूपी सामायिक का उदय हो जायगा। फिर वह सम्यक्दृष्टि (स्व ज्ञाता—दृष्टा) अपनी आत्मा का उपयोग अपनी आत्मा में लगाने का अधिकाधिक अभ्यास करता है जिससे आत्म-बल बढ़ता है। जिससे निर्विकल्पता, और अपने स्वरूप में स्थिरता प्राप्त होती है। यही स्वानुभव की जागृति और निश्चय सम्यक् चारित्र है जो कि मन वचन काय के अगोचर है। मन का तो मानो मरण ही हो जाता है। उसका प्रभाव अस्त हो जाता है। वीतराग - विज्ञान स्वरूप आत्म - स्वभाव की उन्नति होने लगती है। जब तक आत्मानुभव नहीं होता, तब तक यह निश्चय सम्यक् चारित्र भी नहीं होता है। जितने अंश सम्यक् चारित्र है वह आत्मिक भाव का अपूर्व झलकाव है। उसमें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान भी सम्मिलित हैं। जैसे ही सम्यक् चारित्र होता कि स्वानुभव की एकाग्रता हो जाती है। यही रत्नत्रय की एकता मोक्ष मार्ग है।

यही एकता उत्तम संवर है। यही वह ध्यानाग्नि है जो पूर्व - बद्ध - कर्मों को दग्ध करती है। आत्मानन्द का स्वाद लाती आत्म-ज्ञान की पूर्ण निर्मलता होती और आज्ञानान्धकार का विनाश हो जाता है। इसी सम्यक् चारित्र के धारावाही अभ्यास से मोह विध्वंस होकर अनुक्रम से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय कर्म नष्ट हो जाते हैं। अनन्त सुख का प्रकाश फैल जाता

है और परमात्मा हो जाता है। यह सम्यक् चारित्र संसारी से सिद्ध अवस्था में बदल देता है। अतएव सदैव इसकी आराधना करो। निश्चय से तो सम्यक् चारित्र; आत्मा में पूर्ण स्थिरता लाने के लिये उपादान कारण है। उपादान कारण कार्य रूप वस्तु स्वयं हुआ करती है। सहकारी निमित्त कारण अनेक हो जाते हैं। जैसे—गेहूँ से रोटी अपने ही उपादान कारण से पलटती हुई, ऐसी है। निमित्त कारण चक्की, बेलन, अग्नि, तवा, आदि से हैं। उपयोग निश्चिन्त, निराकुल हो, निज रूप में रमण कर सके इसके लिये प्रथम व्यवहार सम्यक् चारित्र की आवश्यकता है। इसी से ऐसे निमित्त मिलेंगे। इस व्यवहार सम्यक् चारित्र की सहायता से जितना मन वचन काय की प्रवृत्ति को रोका जायगा तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जायगी। इच्छाओं को घटाया जायगा, उतना निश्चय सम्यक् चारित्र का प्रकाश फैलता जायगा। जो असली चारित्र न होकर निश्चय सम्यक् चारित्र के प्रकाश में सहायता हो, वही व्यवहार सम्यक् चारित्र कहलाता है। यदि कोई मनुष्य व्यवहार सम्यक् चारित्र ही पाला करे, उसके द्वारा निश्चय सम्यक् चारित्र का लाभ न करे, तो कोई उससे लाभ नहीं है। जैसे—रसोई की समस्त सामग्री क्रय कर, बना कर उदर न भर सके, तो उसका सब आरम्भ व्यर्थ है।

सागार और अनागार चारित्र के भेद से व्यवहार सम्यक् चारित्र दो प्रकार का है। जितनी कषाय कम होती जाती है उतनी वीतरागता बढ़ती और निश्चय सम्यक् चारित्र प्रकट होता जाता है। फिर प्रत्याख्यान कषाय को जीत साधु-पद में आने के लिये समस्त परिग्रह त्याग निर्ग्रन्थ हो जाता है। स्वानुभव का अभ्यास करते करते क्रमशः गुण—स्थान पे बढ़ते और अरिहंत-पद प्राप्त हो जाता है। फिर कुछ काल में समस्त गुण—स्थानों से बाहिर सिद्ध—पद प्राप्त होता

है। यही आत्म—प्रबोध - स्वयाता का महात्म्य है। यही जैन धर्म का सार है। प्राचीन काल में जितने साधु महात्मा हुए उन्होंने भी इसी गूढ़ आध्यात्म - विद्या का अभ्यास किया था और इसी का उपदेश दिया था। यदि सच्चा आत्म कल्याण चाहते हो तो इसका अभ्यास करो यही समय सार का गूढ़ रहस्य है। अपने ज्ञायक—स्वभाव को पहिचान उसी में स्थिर होना मोक्ष का निकट उपाय है। सम्यक् दर्शन - ज्ञान होने पर भी स्वरूप की स्थिरता के बिना मोक्ष—मार्ग नहीं होता। अतएव आत्मस्वभावोन्मुख हो उसका अनुभव करो। भेद - विज्ञानी सदैव अपने ज्ञान स्वभाव में जागृत रहता। समस्त रागद्वेष रूप परिणति को तिलाञ्जलि दे देता है। वह निश्चल रत्नत्रय स्वरूप आत्मिक स्थल में आश्रय पा सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह दशम परिच्छेद समाप्त हुआ।



ग्यारहवाँ परिच्छेद

⊛ मङ्गलाचरण ⊛

दोहा—अनुभव—रस को पान कर, काटि कर्म के फन्द।
सिद्धालय निवसत सदा, हुए आप निर्द्वन्द॥
शुद्ध-बुद्ध तुम जगत-पति, रहो सदा निष्काम।
नमों नियोग सुखहारि हूँ, पाऊँ आतम राम॥

अज्ञानता या विपरीत बुद्धि है। भेद-विज्ञानी उससे निकलने का मार्ग बतलाता है कि हे प्राणियो! अपनी सत्ता और शक्ति को यथार्थ रूप से समझो। तुम क्या हो? और क्या नहीं हो? 'स्व' से अनुरक्त और 'पर' से उदासीन रहो। उभय चैतन्य और देखने जानने वाली तुम्हारी आत्मा है— समता भाव युक्त अपनी परणति में स्थिर रहना ही इसका स्वभाव है। इसकी उपमा किसी संसारी पदार्थ से नहीं दी जा सकती। यही पुरुषार्थ का निर्विकार हो परमात्मा हो जाती है। अपनी आत्मा की सत्ता समस्त आत्माओं की सत्ता से स्वतन्त्र, एक, अलग है। जो प्राणी भेद विज्ञानी द्वारा इस ज्ञान को पाकर समस्त पर द्रव्यों से पृथक और विरक्त हो जाता है। यह निजात्मीक सत्ता में पूर्ण श्रद्धा कर, मन वचन काय की क्रियाओं को रोक अपनी आत्मा रूपी गुफा में आप ही निश्चल बैठ जाता है। फिर। ध्यानाग्नि प्रज्वलित कर आप पी अपने को उसमें डालकर तपाता है। वह इस स्वात्मीक तप को तप, अपूर्व परमानन्द-पीयूष पान करता हुआ अपने को सिद्ध भगवान के समान अनुभव करता है। जब यह ज्ञाता-दृष्टा भेद-विज्ञानी समस्त प्रपन्चों से रहित हो जगत को देखता है, तो उसे यह समस्त जगत सुन्दर उपवन सा दिखाई देता है। वह तो सिर्फ इसे देखता और जानता ही है, परन्तु मोही मानव उसमें आसक्त हो उसके फूलों की सुगन्ध लेता और फलों को चखता है। निरन्तर उसी में निमग्न रहता है। कभी इस वृक्ष की शरण ली कभी उस वृक्ष की शरण लेता फिरता है।

भेद-विज्ञान जीव, उस मनोहर उपवन में एक सुदृढ़ विशाल वृक्ष के तले समस्त पुद्गलों से अपना सम्बन्ध छोड़ निर्भय बैठ आत्म ध्यान में संलग्न हो जाता है। अपने में अपने को ही आप देखता है। भेद-विज्ञान के प्रताप से उसे ऐसी निर्मलता प्राप्त हो जाती है कि

जिसके द्वारा निज स्वभाव भाषा जाता और अपने स्वरूप को पहिचान लेता है। उसे अपनी आत्मा में ही निजात्मा का दर्शन हो जाता है शुद्धोपयोग का चित्र पर सा खिंच जाता है। उसे शुभोपयोग और अशुभोपयोग पुण्य—पाप रूपी सोने और लोहे की बेड़ियां प्रतीत होने लगती हैं। वह अनुपम समता धारी हो अपूर्व आनन्द का स्वाद लेने लगता है जो कि केवल अनुभव गम्य ही है। वह ज्ञानी सब ओर से मन मोड़, प्रमाद मरोड़, जगत से स्नेह तोड़, अपने शरीर से भी ममता छोड़, निज स्वभाव से नाता जोड़ उसी में स्थिर हो जाता है। वह विचारता है कि समस्त द्रव्य स्वभाव से ध्रुव, परिणमन शील और अपनी-अपनी गुण पर्याय लिये हैं। सब स्वतन्त्र हैं। अकर्ता, अभोक्ता, अविनाशी, अमूर्तिक, बन्ध—मोक्ष कल्पना से रहित, परमानन्द मय हैं। परमात्मा के समान मेरे स्वभाव में भी इच्छा, प्रयत्न, विकार और क्रिया नहीं है। यही स्वात्मानुभव और मोक्ष—मार्ग है।

जब यह ज्ञानी एक परमाणु द्वारा रोके गये प्रकाश के प्रदेश को देखता है तो उसे उसमें अनन्त सूक्ष्म स्कन्ध और जीव मेरे दृष्टि गोचर होते हैं। उसमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय पदार्थ और असंख्य कालाणु हैं। एक जीव घनांगुल के असंख्यातवें भाग में जघन्य शरीर की अवगाहन करता है। असंख्यात प्रदेश संकुचित हो इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि एक प्रदेश में संकुचित हुये कितने प्रदेश आ सकते हैं। इन संकुचित आत्म—प्रदेशों के साथ अनन्त तेजस और कार्माण वर्गणाएं रहती हैं। प्रत्येक वर्गणा में अनन्त शक्ति है। यद्यपि एक प्रदेश में छहों द्रव्य हैं तथापि प्रयोजन भूत एक मात्र जीव द्रव्य ही है। वह ज्ञाता, दृष्टा और ज्ञेय हैं। अन्य पांच द्रव्य, मात्र ज्ञेय हैं। जीव द्रव्य अनन्त हैं और अपनी-अपनी अलग सत्ता में हैं। स्वभाव से सब समान हैं। सब पर से रहित, मात्र

एक शुद्ध है। जो जीव अपने ही स्वभाव में तल्लीन हो जाते हैं उन्हें ही आत्मानन्द का पूर्ण अनुभव होता है। आत्मानुभवी महात्मा संसार में रहते हुये उससे भिन्न रहते हैं। वे अन्तरात्मा - जगत में सदैव जागृत रहते हैं। उन पर मिथ्यात्व, अविरत, क्रोधादि कषाय, योग और प्रमाद अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। तृष्णा ज्वाला और अविद्या की कालिमा, धुल जाती। इन्द्रिय - विषय - सुख की चाह और मोह मयी मूर्च्छा ग्रस्त हो जाती है। तात्पर्य यह कि संसार सम्बन्धी समस्त भावों का प्रलय ही हो जाता है वह स्वात्मानुभवी सन्त एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है जहां निजानन्द के अतिरिक्त अन्य कोई तरङ्ग नहीं उठती। वस्तु - स्वरूप यथार्थ झलकने लगता है। इस भेद—विज्ञान के प्रताप से सच्ची स्वतन्त्रता अपने ही भीतर झलक जाती है।

भेद—विज्ञान ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का मूल कारण है। निर्विकल्प समाधि उसका परिणाम है। स्वात्मानुभव रूपी कमल पर सम्यक्त्वी जीव रूपी भ्रमर आसक्त हो उस पर से हटना नहीं चाहते। यही वह समुद्र है जिसमें स्नान करने से रागद्वेष मोह रूपी मैल धुल जाता है। यह जीव इस आध्यात्मिक समुद्र में निरन्तर अवगाहन कर भव—ताप के सन्ताप से शान्त हो, सम रस पान करता हुआ समय सार का भोक्ता बन जाता है। मुनिजन सदैव आध्यात्मिक समुद्र में ही स्नान कर कर्म - मल धोते हैं। वे विचारते हैं कि यह जीवन दो प्रकार का है। एक तो शुभ और दूसरा अशुभ। एक ओर क्रोध का दौर दौरा तो दूसरी ओर समता महारानी का साम्राज्य। एक तरफ मान की मदोन्मत्तता, तो दूसरी तरफ मार्दव-गुण की नम्रता। एक दिशा में माया - मिथ्यात्व का जाल फैल रहा है, तो दूसरी दिशा में सरलता का साफ मैदान दिखाई देता है। एक तट पर लोभ रूपी के विष की वासना आकुलित कर रही है। तो दूसरे तट पर परम सन्तोषामृत बरस कर निराकुल

कर रहा है। एक बाजू असत्य असुर ने अपना विकृत स्वरूप बना रक्खा है, तो दूसरी बाजू सत्य, समुद्र की लहरें शान्ति पहुंच रही हैं। एक पंक्ति में असंयम, अन्याय और अभक्ष्य-सेवन की प्रेरणा कर रहा है। तो दूसरी पंक्ति मे संयम रूपी वीतराग—भाव मोक्ष-मार्ग में सहायता हो रहा है। एक तरफ इच्छाओं का विस्तार बढ़ कर लोभ का डङ्का बज रहा है, तो दूसरी तरफ इच्छा रहित शान्ति-सागर उमड़ रहा है। एक ओर अत्याग-भाव, कृपणता फैली, त्याग भाव रूपी पर्वत पर से नीचे गिरा रहा है, तो दूसरी ओर त्याग, उदारता बढ़ी, स्व-परोपकार के लिये सर्वस्व त्याग की महा महिमा जागृत कर रहा है। एक दिशा मे परिग्रह, मोह के फन्दे में फंसा दूसरे का दास बना रहा है। तो दूसरी दिशा में आकिंचन धर्म मोह फन्द छुड़ा परिग्रह से विरक्त कर त्रैलोक्य वन्द्य स्वामी बना रहा है। एक ओर कुशील, क्षणिक इन्द्रिय-सुख की चाह में विह्वलकर रहा है, तो दूसरी तरफ ब्रह्मचर्य रूपी पवित्र शील-भाव ब्रह्म में रमण कर मंगलमय निर्वाण का दर्शन कर रहा है। इस प्रकार वह गङ्गा यमुना सरीखी दो धाराएं बहती देखता है।

उत्तम ध्यानी उन दोनों धाराओं का शुद्धात्म सद्भाव रूप संयम प्रकट करता है और भेद-विज्ञान जन्य ज्ञान रूपी पवित्र एक धारा में प्रवेश कर परमानन्द अनुभव करता है। वहां सिद्ध—संसारी शुद्ध या अशुद्ध अवस्था का कोई विचार नहीं रहता। समरस रूपी एक ही धार प्रवाहित होती है। द्वैतभाव का सर्वथा अभाव हो जाता और अद्वैतता जागृत हो जाती है। इसी को स्वात्मानुभव, स्वसंवेदन या स्वरूपाचरण कहते हैं। यही आत्मा—ध्यान है। इसी को कर्म-दग्ध करने वाली ध्यानाग्नि कहते हैं। जैन—सिद्धान्त में यही मोक्ष-मार्ग है। जबतक 'ज्ञानी' इन्द्रिय दृष्टि से संसार को देखता है तो यह जगत् जड़-द्रव्य मयी जान पड़ता है। वह जीव द्रव्य को नहीं प्रयोजन

मूत समझता है। वहां न कोई गुण स्थान और मार्गणाएं दृष्टि आती हैं। कर्म-बन्ध के कारण ही जीवों के नाना भेद हो रहे हैं। जैसे-रङ्ग मिश्रित पानी नीला, पीला, लाल, हरा दिखाई देता है। वास्तव में इन चारों रङ्गों में पानी निर्मल द्रव्य एक ही है। इसी तरह जीव द्रव्य एक ही है। देवता नारकी, मनुष्य, तिर्यंच कर्म जन्य अवस्थायें (पर्यायें) हैं। वह ज्ञानी कर्म जनित अपनी समस्त अन्तरङ्ग-बाहिरङ्ग अवस्थाओं से उदास हो, एकाकार ज्ञान-चेतना के स्वाद में निमग्न हो जाता है। चारित्र आदि गुणों को धारण करता हुआ भी वह उनकी तरफ से राग रहित हो जाता है। केवल एक अभेद और अनुभव गम्य, अखण्ड आत्मा के अमृत रस का पान कर अक्षय, अतीन्द्रिय सुख शान्ति का भोग करता है। वह अनुभवानन्द वचनातीत है।

उस—भेद विज्ञान के प्रताप से जीव आत्म-ज्ञान प्राप्त कर आत्मत्व हो जाता है। वह जगत रूपी क्षोभ पूर्ण उद्यान से दूर हो साम्य पूर्ण शुद्ध गुण रूपी वृक्षों से सुशोभित अनिर्वचनीय आनन्द दायक उपवन पहुंच जाता है। वहां न कोई शिष्य है और न गुरु। ज्ञानी प्रज्ञा—चक्षु खोल देखता है कि मेरा आत्मा रूपी रत्न पुद्गलों के ढेर में ढंका लुप्त प्राप्त हो रहा है। किसी भेद-विज्ञानी की सहायता से जब उसे उस रत्न की झलक दिख जाती है तब उसे अपूर्व अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। जैसे कोई अवधि ज्ञानी किसी दरिद्री को उसके घर में गड़ी स्वर्ण की अदृट निधि को बतलादे। इस कथन पर विश्वास कर जब वह खोद कर पा लेता है, उस समय उस दरिद्री को जो आनन्द होता है वही आनन्द उस आत्म-तत्व खोजी को होता है। यद्यपि स्वर्ण निधि परोक्ष है, परन्तु उसका शुद्धात्मा रूपी अमूल्य रत्न उसी के पास है तथा प्रत्यक्ष है। उसकी आत्मा उसे झलक रही है। सुख—शान्ति और वीर्य की प्रकटता उसी ज्ञान का अंश है। इसी कुछ

प्रकटता से लक्षण से लक्ष्य का निश्चय कर समस्त कर्म–पुञ्ज को दूर करने से निजात्मरत्न का पूर्ण प्रकाश झलक जाता है। वीतराग भाव होने से ही कर्म–रज दूर होती है। अतएव विद्वानों को वीतराग - भाव की प्राप्ति के लिये उद्यम शीघ्र होना चाहिये।

शाश्वत परमानन्द मय निर्वाण सुख को उपादेय मान निरन्तर उसी पर लक्ष्य रखना ही आत्म—कल्याण है, क्योंकि यह लक्ष्य वीतरागता की वृद्धि करता है जैसे—कीचड़ की फंसी लकड़ी को यदि मूठ हाथ में है। तो वह बल पूर्वक खींचने से निकल ही आयगी। ऐसे ही आत्मा की निशानी ज्ञान—चेतना है। निरन्तर इसी का लक्ष्य रखना आत्मा को अपनी ओर करना है। जिस पदार्थ को प्राप्त करना हो उसे ही उपादेय मान उस पर निरन्तर लक्ष्य रख, प्रयत्न करने से प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा भी प्राप्त हो जाती है। भेद- विज्ञानी आत्माओं के मध्य स्थित आत्मा के सर्वाङ्ग स्वरूप का दर्शन कर लेता है। जैसे लौकिक भेद ज्ञानी को सर्प और रस्सी, व्यञ्जन और उसमें पड़े नमक, तथा दूध और जल इनके अलग अलग भेद झलक जाते हैं। सार यह है कि संसार के समस्त प्रपंचों को छोड़, एक अपनी आत्मा से नाता जोड़ केवल एक अपने आप को ही ज्ञान में ला। आपका ही आप अनुभव करें। निरन्तर उसी में तन्मय रह अपना समस्त जीवन बितावें।

इस धारावाही चारित्र के प्रभाव से निरन्तर राग - द्वेष के अंश छूटते और वीतरागता के अंश बढ़ते जाते हैं। कर्म–मल अधिक अधिक दूर होता जाता है। एक समय ऐसा आ जाता है कि शुद्ध आत्म रत्न प्राप्त हो जाता है। फिर योगी मन–वचन–काय के योगों को गुप्त कर एक अत्यन्त प्रच्छन्न गुफा के भीतर प्रवेश कर आत्म - स्वरूप संवेदन करता हुआ अपनी आत्मा का दर्शन

करता रहता है। इसी परमानन्द मय स्वसंवेदन को साम्य भाव, समाधि-आत्म-परिणमन, स्वरूपाचरण रत्नत्रय की एकता, स्वात्मध्यान या सामायिक कहते हैं। यह आनन्द स्वानुभव गम्य ही है।

किसी फल युक्त आम्र—वृक्ष के तले पद्मासन बैठा हुआ निजानन्दी आम के फल को देखकर विचार करता है कि इस फल में केवल रस ही सार है। शेष सब निःसार और त्याज्य है। उसे श्रद्धान होने से परम संतोष होता है। वह भेद-ज्ञान-दृष्टि से देखता है कि इसी प्रकार मुझ में आत्माराम ही एक सार है। मैं सिद्ध समान शुद्ध—बुद्ध हूँ। स्फटिक मूर्तिवत् निर्विकार, आकाश सदृश निर्मल, पवन समान असंग, सूर्य के समान परम तेजस्वी और समुद्र जैसा अनन्त गुण रूपी रत्नों की हूँ। मेरे साथ जो पुद्गल का सम्बन्ध दिख रहा है उससे मैं सर्वथा पृथक् हूँ। इस भेद—विज्ञान रूपी पैनी छैनी से आत्मा और पुद्गल पृथक् पृथक् हो आत्मा के गुण पर्याय आत्मा में रह जाते और पुद्गल (अनात्मा) के गुण और पर्याय पुद्गल में रह जाते हैं। ऐसी सामायिक के प्रभाव से कर्मों से भारी हुआ जीवात्मा अपने को हल्का अनुभव करता है। धीरे-धीरे उस ज्ञानी की पर्याय दृष्टि बन्द हो जाती और द्रव्य-दृष्टि का विकास लगता है।

कोई महात्मा राग—द्वेष को विदा कर एकान्त में विचारता है, कि मैं क्षीर—समुद्र के समान शुद्ध हूँ। मुझमें मेरी सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य की सत्ता नहीं है। सब पदार्थ सदैव अपनी मर्यादा में रहने वाला होता है। उसमें अगुरु-लघु नामक गुण रहता है। जिससे वह अपने अनन्त गुणों के समुदाय को कभी नहीं त्यागता। वह ज्ञानी महात्मा परम निस्पृह और निर्द्वन्द हो अपने ही शुद्ध आत्मोद्यान में रमण करता है। वह अपने आप को देख आप ही अपना दर्शन करता है। शरीर रूपी मन्दिर में विराजमान चैतन्य-मूर्ति, निर्विकार परमात्मा की झलक पाता और

उसी में तन्मय हो जाना परमात्मा का दर्शन कर लेना है। संसारी प्राणी पंचेन्द्रियों के विषय-सेवन में फंस भारी क्लेश उठाते हैं। निरन्तर मोह में गलते रहते हैं। तृष्णा—दाह से दुखी रहते हैं। इस तृष्णा—दाह को शमन करने के लिये स्वानुभव रूपी शीतल जल की परम आवश्यकता है। जो आत्मा के निश्चय स्वरूप में लक्ष्य कर मन—वचन-काय की क्रिया को रोक देता है। उसे ही स्वानुभव रूपी अमृत प्राप्त हो जाता है।

इस प्रपंच पूर्ण संसार में आत्मा पर अनन्तानन्त तैजस-कार्माण वर्गणायें अपना अड्डा जमाये हैं। जब देखो तब पच्चीस कषायों का रङ्ग झलकता ही रहता है। कभी वीतराग रूप शुद्ध निजात्मा का अनुभव नहीं होता। यदि जीव, इन समस्त विभाव भावों को दूर कर, शुद्ध वीतराग भाव का अंश मात्र स्वाद ले, तो भेद-ज्ञान झलक जाय। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से परिणति निज में ठहरने लगती है और निजात्मा का दर्शन हो जाता है। इस प्रकार वह निजात्मा का दर्शन पा पूर्ण संतोष—लाभ करता है। यह आत्मा स्वभाव से ज्ञाता; दृष्टा आनन्दमयी होते हुये कर्म-बन्ध के कारण अपने स्वभाव को भूला है। परम शान्त और शीतल होने पर भी कषायाग्नि की ताप से तप्त हो रहा है। आप स्वयं परमानन्द मय है। तथापि इन्द्रिय जनित विषय-सुखों में आनन्द मान रहा है। अजर-अमर होने पर भी अपने को बूढ़ा और मरने वाला समझ रहा है। उसकी ऐसी समझ अज्ञानता से ही हो रही है। यदि अज्ञानता दूर कर स्वाश्रय ले तो भेद विज्ञान प्रकट हो जाय। निजात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर न समझे। वह स्वयं को सिद्ध समान जानने लगे। पर्याय-दृष्टि छोड़ द्रव्य दृष्टि से देखने से छोटे बड़े का भेद निकल जाता है। जैसे ऊँचे पर्वत पर खड़े मनुष्य को पर्वत के नीचे खड़े मनुष्य या अन्य पदार्थ छोटा दिखाई देता है। पर वास्तव में वे

जैसे हैं वैसे ही हैं। भ्रम-बुद्धि से ही परस्पर कुछ का कुछ देख—जान रहे हैं। विवेक दृष्टि वाला इस दृश्य पर विश्वास न कर सत्य को खोज लेता है। इसी तरह अभूतार्थ दृष्टि से नारकी, तिर्यंच, नीच और देव—मानव ऊँच दिखते हैं। मानवों में भी दीन, दुखी, मजदूर, मालिक राजा, रंक दिखाई पड़ते हैं। भेद—विज्ञानी आत्मा तो प्रत्येक को समान (एक रूप ही) देखता है। उसे कोई भेद-भाव नहीं जान पड़ता क्योंकि भेद-विज्ञान की दृष्टि से सम्पूर्ण पदार्थों का सार भूत 'निज-स्वरूप' का ही विचार किया जाता है।

भेद—ज्ञानी, अविनाशी आत्मा झलकने पर बार-बार यही विचारता है कि अब मैं सब से नाता तोड़ निज सत्ता से ही सम्बन्ध जोड़ूं। अब मुझे पंचपरमेष्ठी से भी कोई काम नहीं और जीवादि सब तत्वों का भी कोई विकल्प नहीं रहा। मैं तो एकाकार निजात्मा में ही आत्मीयता मान कर परम निस्पृह और निर्द्वन्द्व हो अपने ही आत्मोद्यान में निर्भय रमण करता हूँ। इस आत्म-वन में रमण करते हुए न कोई हिंसक सिंहों का भय है न प्रमाद रूपी वन चर जीव आक्रमण करते न पंचेन्द्रिय विषय रूपी मृगी मन को लुभाती है। वहां न तो कषाय रूपी काक, न संकल्प विकल्प रूपी भ्रमर और न हास्यादि नव नो कषाय रूपी दंशमशक ही पीड़ा पहुँचाते। न तो विषयाशक्ति रूपी शीत है और न तृष्णा रूपी आताप है। वहां तो समता, शान्ति और निराकुलता रूपी मन्द-सुगन्ध पवन बहती है। सम और परमानन्द साम्राज्य दृष्टि गोचर होता है। जो धर्मात्मा अपनी आत्मा के निर्विकार स्वरूप पर लक्ष्य है मन-वचन—काय की क्रिया से दूर हो जाता है। उसे स्वनुभवामृत पीने को मिल जाता है। यह सब भेद विज्ञान के प्रताप से ही होता है।

जो अपने आत्म—स्वरूप की दृष्टि में एकाग्रता प्राप्त कर लेता है वह अवश्य मोक्ष नगर

पहुंच जाता है । यह तो स्वात्म - समाधि है । जो कर्म—बन्ध को काटने के लिये तीक्ष्ण कुठार है । अथवा मोक्ष - महल में पहुँचाने की निश्चल सीढ़ी है । इसी पर आरोहण हो परम शुद्ध प्राप्त किया जाता है । भेद—विज्ञानी को यह सरल, साम्य - दृष्टि परमात्मा के समान निर्विकार ज्ञाता - दृष्टा बना देती है । साधु सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता रूप, परम साम्यभाव रूपी स्व - समय या ज्ञान चेतना में तन्मय हो जाता है । इस भेद—विज्ञान के प्रताप से पर्याय दृष्टि का मोह मिट जाता और द्रव्यार्थिक - दृष्टि का वैराग्य जागृत हो जाता है । यह दृष्टि तत्वों के अभ्यास के साथ साथ उनमें श्रद्धा और विवेक से उत्पन्न होती है । ज्ञानी जन आत्म—ध्यान की धूनी रमा आत्मा को निर्मल करके परमात्म—पद लाभ करते हैं ।

भेद—विज्ञानी अनेक संयोगों के भीतर आत्मा को आत्मा रूप और अनात्म (पुद्गल) को पुद्गल रूप देखता है । वह अनात्मा से दृष्टि फेर जब एक मात्र निज आत्म द्रव्य को देखता है तब समस्त आत्माओं में सदृशता देखता । यही सम्पूर्ण समुदाय एक ज्ञान सागर स्वरूप बन जाता है । ज्ञानी इस ज्ञान—सागर से रमण करता हुआ साम्य भाव रूपी जल से अपना कर्म मल धोता और निराकुल परमानन्द का सुख पाता है । स्व स्वरूप स्वाद लेना ही मोक्ष—मार्ग । यही सप्तम गुण—स्थान तक धर्म—ध्यान और अष्टम गुण—थान से शुक्ल ध्यान है । यही स्वानुभव अविरत देश विरत, प्रमत्त स्थान या अप्रमत्त गुण स्थान वर्ती साधु का स्वरूप है । उन समस्त आत्मायें परम शुद्ध, निजानन्द सागर में निमग्न, कृत्य—कृत्य परमात्मा रूप दिखाई पड़ती हैं । अतएव, समस्त प्रपन्च छोड़, अपनी निवृत्ति मय, परम शान्ति पूर्ण स्वानुभूति रूपी कुटिया में विश्राम करो । आत्म—प्रेमी—भेद—ज्ञान रूपी पैनी छैनी से समस्त - पर द्रव्य को अलग कर आप से, आप में,

अपने लिए, आप का ध्याता है और आप में आप ही तन्मय हो स्व-स्वरूप ही समाधि प्राप्त कर अकथनीय आनन्द अनुभव करता है।

ज्ञानी महात्मा जब इस जगत को भेद—विज्ञान की दृष्टि से देखता है। तब जगत निर्माण करने वाली समस्त द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से पृथक पृथक और स्वतन्त्र दिखती है। एक में दूसरी द्रव्य का नास्तित्व और अपना आस्तित्व है। प्रत्येक द्रव्य आस्तित्व - नास्तित्व या भाव - अभाव रूप है। एक जीव का द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव दूसरे जीव के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न है तथा अन्य परमाणु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पृथक है। यह अखण्ड, चित्, पिण्ड, ज्ञान—करण्ड आत्मा अनुभव गम्य ही है। इस प्रकार वह महात्मा अपने एकत्व को पा, ज्ञान रूपी गंगा में बार-बार स्नान कर अनुपम आनन्दामृत का स्वाद लेता है।

कोई ज्ञानी आत्मा बरसते हुये जल को देख विचारता है कि यही पानी गर्मी से भाफ बन कर उड़ जाता और उपर आकाश में मेघ बन जाते और मेघ ही बरसने पर पानी हो जाता है। ऐसा विचारता हुआ, वह जगत के पदार्थों के स्वभाव पर दृष्टि—पात करता है, तो उसे ज्ञात होता है कि द्रव्यों में परिणमन शक्ति है जिससे वे समय समय पर अपनी पर्याय पलटा करते हैं और नये से पुराने होते रहते हैं। मूल द्रव्य का न कभी उत्पत्ति होती और न कभी विनाश होता है। पुद्गल और जीव के मेल से ही नाना प्रकार के शरीर हैं जो कल्पित मात्र रहते हैं। यदि पुद्गल—स्कन्ध निकाल लिया जाय तो आवागमन बन्द हो जाय। शरीर धारणा करना बन्द हो जाय। ऐसा होने से अशुद्ध भावों का संचार भी बन्द हो जायगा और आत्मा निज स्वभाव में स्थिर करने लगेगा। वह अपनी आत्मा से आत्मा को देखने-जानने लगेगा जिसका [illegible]

...पर रहती है । वह निःसन्देह अपने इच्छित स्थान को पहुँच जाता है । यही आत्म—प्रबोध आत्मा का निज स्वभाव है । इस आत्म-प्रबोध से ही आत्मा का कल्याण होता है । इस आत्मा के स्वभाव में चित्त को एकाग्र करना ही आत्म—ध्यान है जो कि अन्तरङ्ग - तपों में प्रधान तप है । इसी से अष्ट कर्म क्षय होते हैं ।

यह संसार कष्ट—कर्मों की नाट्य - शाला है । उसमे सैं कर्मों का नाटक देखने वाला हूं । ज्ञातावरणी कर्म के उदय से बहुत सा ज्ञाय ढंका रहता है । जितना उसका क्षयोपशम होना है उतना ज्ञान प्रकाशवान होता है । दर्शनावरणी के उदय से आत्मा का दर्शन (देखने) गुण ढँका रहता और क्षयोपशम के अनुसार प्रकट रहता है। मोहनीय कर्म के उदय से एकान्त, विपरीत विनय संशय, और अज्ञान मिथ्यात्व भावों के धारी प्राणियों का संगम मिलता है । अन्तराय कर्म के उदय से आत्मिक, बल प्रकट नहीं होने पाता । जब ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है तब केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है । संज्वलनादि षोडस कषायों और हास्यादि नव, नौ कषायों इस प्रकार पच्चीस कषायों के तीव्र, मन्द और मन्दतर उदय के अनुसार राग—द्वेष भावों की विचित्रता देखने में आती है । आयु—कर्म के उदय से यह जीव शरीर मे कैद रहता है । शरीर चाहे देव नारकी का हो अथवा मनुष्य तिर्यन्च का । नाम कर्म के उदय से सुभग—कुरूप आदि नाना आकार का शरीर प्राप्त होता है । गोत्र कर्म के उदय से जीव ऊँच - नीच योनि मे जन्म लेता है । वेदनीय कर्म साता या असाता रूप से उदय मे आकर साता अथवा असाता पहुँचाने वाले पदार्थों का सम्बन्ध मिलाता है । इस प्रकार अष्ट कर्मों ने संसार को नाटक—घर बना रक्खा है । यदि इन्हें आत्मा से ...क समझा जाय तो ये सब भेष (स्वांग) दृष्टि गोचर न हों । समस्त जीव एकाकार, शुद्ध,

ज्ञान—दर्शन मय समान दिखलाई पड़े। यही साम्य—भाव है।

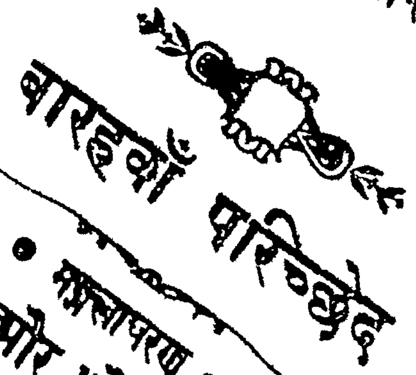
पिण्डस्थादि चार प्रकार के ध्यान भी ध्यान करने के साधन हैं। इस शरीर में स्थित जो आत्मा है उसका ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान है। उसकी पृथ्वी आदि पाँच धारणायें हैं। इस प्रकार निर्बन्ध, निर्विकल्प, अपनी शुद्ध आत्मा के अन्तरगत ही क्रीड़ा करते रहने से स्वात्मानुभव प्रकट होता है। तभी स्व-संवेदन गम्य अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। तभी कर्मों का समस्त प्रपंच आत्म-स्वभाव से पृथक होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह भव-सागर से पार ही हो गया। जैसे बम्बई जाने वाले मनुष्य को बम्बई का टिकिट प्राप्त हो जाय और वह बम्बई जाने वाली गाड़ी पर सवार हो जाय, तो उसे पक्का भरोसा हो जाता है कि अब मैं बम्बई पहुँच ही गया। ऐसे ही सम्यक् दर्शन मोक्ष पुरी का टिकिट है उसके प्राप्त होने पर स्वानुभव रूपी गाड़ी पर सवार हो मोक्ष पुरी पहुँच ही जाता है। सम्यक्त्वी आत्मा उस इन्द्र—धरणेन्द्र, चक्रवर्ती या साधु मुनि से उत्तम है जिसे सम्यक्त्व—रत्न का लाभ नहीं हुआ। सम्यक्त्वी को इन्द्रादि, चक्रवर्तियों की सम्पदाएं भी तुच्छ भासती हैं। उसके हृदय में मुक्ति रमा की मनोहर छवि निरन्तर निवास करती है। जब आत्मा में स्वानुभव ज्योति जाग्रत होती है, तब मन-वचन काय की प्रवृत्ति रुक जाती है, क्योंकि ये तीनों आत्मा से भिन्न पुद्गल—द्रव्य की अवस्थायें हैं। वहां तो अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा का वेदन मात्र भोग किया जाता है।

जो अमर बनावे वही अमृत है। स्वानुभव अमृत है। वह आत्मा को आवागमन से रहित बना देता है। इस स्वानुभव रूपी गुफा में सिद्धों का सदैव निवास रहता है। स्वानुभव का शरण ही उत्कृष्ट शरण है। यह नारकी को तीर्थंकर बनाने में समर्थ है। स्वानुभवी जीवन्मुक्त है। जो

अपनी आत्मा का दर्शन करता है, वही परमात्मा का दर्शन करता है। जो अपनी आत्मा को जानता है, वह परमात्मा को जानता है। जो अपनी आत्मा का अनुभव करता है, वह परमात्मा का अनुभव करता है। अतएव हमें अपनी ही आत्मा का दर्शन, ध्यान और अनुभव करना चाहिये। वीतराग भाव के रसिकों को अपना उपयोग निज स्वभाव पर लगाना चाहिये। पूर्व काल में तीर्थङ्कर, बलभद्र, महाराजाधिराज, चक्रवर्ती, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, व्यापारी, महामण्डलेश्वरादि इसी स्वानुभवानन्द से उत्साहित हो गृह-जंजाल समस्त परिग्रह को छोड़ आत्म कल्याण में तत्पर हुये और परम पद को प्राप्त हुये हैं। जो तत्व ज्ञानी हुए जीवन का उपयोग मोक्ष-साधन में करता है, वह धन्य है। जब व्यवहार नय को गौण कर निश्चय नय का अवलम्बन लिया जाता है। तब अद्वैत भाव प्रकट हो जाता है। समस्त जीव शुद्ध और सिद्ध स्वरूप प्रतीत होते हैं। आनन्द का स्रोत वह निकलता है।

आत्मा पर ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों के परदे पड़े हैं। यही कार्माण शरीर है। दूसरा तैजस वर्गणाओं से बना तैजस शरीर और तीसरा आहार वर्गणाओं से बना औदारिक शरीर है। आत्मा इनसे भिन्न है। जो भव्य आत्मायें अपनी सूक्ष्म दृष्टि इन तीनों शरीरों से बाहर ले जाते तथा आत्म-स्वभाव में प्रवेश करते हैं, वे ही निजानन्द रस का पान करते हैं। उन्हें ही अलक्ष्य वस्तु का ज्ञान स्वलक्ष्य में प्राप्त होता है। वे ही देवेन्द्र-वृन्द, नरेन्द्र-धरणेन्द्र आदि द्वारा वन्दनीय हैं। इसी के चिन्तवन से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिन्हें अपनी ऐसी आत्मा में रञ्च-मात्र भी भ्रान्ति है, वे बहिरात्मा हैं। वे इन्द्रियों द्वारा स्पर्श ग्रहण करने वाला आत्मा समझते हैं। परमात्मा तो शुद्ध स्फटिकवत्, निर्लेप, निर्द्वन्द्व, अशरीरी, कर्म रहित, ज्ञाता-विज्ञाता, अक्षोनिधि, इन्द्रार्चित, ज्ञान-पुञ्ज,

सर्वज्ञ, वीतराग है। जो शरीरादि रूप आपको समझते तथा सदैव व्यवहार धर्म में ही प्रीति करते और लगे रहते हैं। उन्हें चैतन्य स्वरूप ज्ञान—दर्शन—चारित्र मय आत्म - तत्व का दर्शन नहीं होता। जिसने आत्म—तत्व साध्य किया, उसने ही रत्नत्रय का यथार्थ सन्धान किया समझो वही त्रैलोक्य पूज्य हो जाता है। अतएव आत्मा को ज्ञाता—दृष्टा आनन्द घन समझो इसी से आत्म—जागृति होकर, शुद्धोपयोग हो जाता है। जिससे मुक्ति प्राप्ति होती है। इस प्रकार आत्म—प्रबोध ग्रंथ का यह एकादशम परिच्छेद समाप्त हुआ।



बारहवाँ परिच्छेद

• मङ्गलाचरण •

दोहा—उत्पति व्यय और ध्रौव्य सह, निराबाध भगवन्त।
परमानन्द पद पाय निज, जोहिं ध्यावत संत॥

आत्म—ज्ञानी इष्टानिष्ट - आत्म - विरुद्ध वस्तु से ममत्व हटा अपनी आत्मा का ही चिन्तवन करता और उसीसे स्नेह करता है। वह जिनवर के मार्ग को उपलब्ध कर निजात्मा में रत रहता है। जो स्वात्मोपलब्धि प्राप्त करते हैं, वे ही परम्पराय मोक्ष जाते हैं। ज्ञानी समस्त विषय - वासनाओं से उदास हो मन - वचन - काय के व्यापार रोक द्रव्य, भाव नो कर्म, ख्याति, लाभ, पूजा, कषायें तथा

पंचेन्द्रिय—विषय व्यापार को त्याग देता है। वह माया मिथ्यात्व और भोगाकांक्षा रूप निदान शल्य–त्रय त्याग देता है। समस्त विभाव भाव के परिणामों से रहित हो निरन्तर निजात्मा का ध्यान करता है। उस योगी को सहज वीतराग स्वरूप समस्त पर-द्रव्य से भिन्न निजात्म–तत्व ही उपादेय है। यह आत्मा अतुल सुख निधान और प्रधान तीर्थ स्वरूप है। हे आत्मन्! तू ही तीन लोक पूज्य परमात्मा है। मुनि–जन तेरा सदैव यश गाते हैं। ये बेचारे पुद्गल (जड़) कर्म तेरा क्या बिगाड़ सकते हैं? तुम तो चैतन्य हो। अपनी ही भूल से भटक रहे हो। उसे दूर कर आत्मा को आत्मा और जड़ को जड़ जानो। यही भेद विज्ञान तुम्हारा कल्याणकारी है। अपनी श्रद्धा को प्रत्यक्ष कर संसार का अभाव करो। देखो सीता के जीव प्रतीन्द्र ने सोलहवें स्वर्ग से आकर मुनि रामचन्द्र जी को कितना मोह में फंसाना चाहा? पर क्या वे फंसे? अपितु उसी समय केवलज्ञान प्रकट कर मोक्ष पधारे। कमठ के जीव (देव) ने आकर श्री पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के ध्यान में कितने विघ्न किये? परन्तु वे रंच–मात्र चलायमान न हुये। भयानक उपसर्ग को सहन कर श्री सम्मेद शिखर परम धाम को पधारे। देखो, शिवभूति मुनि को "तुष-मास भिन्न ज्ञान" से आत्मा - अनात्मा का भेद–विज्ञान हो गया था। जिसके प्रताप से उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया।

हे आत्मन्! तुम अपने उपयोग में इतने दत्त-चित्त हो जाओ ताकि बाह्य में मन-वचन-काय की भी सुधि न रहे। यह सब उपयोग का ही खेल है। धन्य है उस शुद्धोपयोग को जिससे केवल अन्तर्मुहूर्त मात्र में समस्त कर्मों का क्षय कर केवल ज्ञान सूर्य का प्रकाश फैला देता है। अतएव विषय कषायों से विमुक्त हो सतत आत्म—निरीक्षण करो। आत्म ज्ञानी नरक में भी नारकियों द्वारा नाना प्रकार के कष्ट भोगते हुये अन्तरंग में निज रस की गटागटी करते हैं। यदि मोक्ष–लक्ष्मी की

वाञ्छा है तो समस्त विकल्प जाल को दूर कर-अमल, अक्षय, अतुल्य, निखिल गुण निकेत निजानन्द स्वरूप का ध्यान करो। संसार में मिथ्यादृष्टि अनेक कष्ट उठाते हैं। सम्यक्दृष्टि तो अतीन्द्रिय आत्मीक उत्तम सुख को पहिचानते हैं इसलिये सदैव मोक्ष मार्ग में चलते हैं। वे निरन्तर स्व समय में ही रत रहते हैं। मिथ्यादृष्टि बाहिरात्मा हैं तथा निरन्तर पर समय में ही रत रहते हैं। शुद्ध नय से अपने भावों का आप ही कर्त्ता भोक्ता है परन्तु भेद बुद्धि के द्वारा भी अभेद बुद्धि हो जाती है। बाहिरात्मा जीवों के अनादि- बन्धन उपाधि के कारण निरन्तर स्निग्ध परिणाम होते हैं। तथा स्निग्ध परिणामों से पुद्गल स्कन्ध आकर्षित हो आत्म से लिप्त हो जाते हैं। जिससे नर-नरकादि गतियां प्राप्त होती हैं। देहादिक होने से इन्द्रियों के विषय जागृत होते और उनसे वस्तु-स्वरूप में रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। इसी रागद्वेष द्वारा फिर स्निग्ध परिणाम होते और कर्म-बन्ध होता रहता है। वही बिलोने की मथानी की रस्सी की तरह खुलना और लिपटना होता रहता है। कभी भी शान्ति नहीं मिलने पाती। यही पुण्य पाप की रचना है। आत्मा अनादि निधन कर्म जाल रूपी संसार चक्र भ्रमण करता रहता है। पुद्गल परिणाम के निमित्त से जीव परिणमन होता और जीव के परिणाम के निमित्त से पुद्गल परिणमन होता है। ज्ञानी जीव पर-वस्तु का स्वभाव जानकर निर्विकल्प हो जाते और शाश्वत पद में लीन होने हेतु अपनी आत्मा में अन्तर्मुख हो जाते हैं। ऐसा यह समय सार है।

हे आत्माराम! तू इस संसार में जो प्रीति या अप्रीति दायक वस्तु का स्वरूप है उससे विमुक्त हो निजात्म रस से परिपूर्णता की ओर उन्मुख हो निरीक्षण कर जिससे तुझे यथार्थ निज स्वरूप प्राप्त हो जायगा। यह सम्पूर्ण तत्वों का सार भूत समय सार है, जो कि पंचम गति का देने वाला है।

एक यह ज्ञायक भाव ही कार्य-कारी है। इस मनोहर पंचम भाव को ही स्मरण—आचरण कर, जिससे चिरन्तन - संचित - कर्म - पुञ्ज कट जाएंगे। अतएव सम्पूर्ण तत्वों का सार एक समय सार जान निर्ग्रन्थ—पद पर पहुँच निजात्मा - तत्व आराधान करो। यही मोक्ष—मार्ग है। निर्ग्रन्थ साधु ही मन—वचन—काय रूप तीन क्रिया से रहित या निर्दण्ड हैं। ये परम पदार्थ व्यतिरिक्त समस्त पदार्थ हेय—ज्ञेय समक्ष उनसे अपने परिणाम हटा लेते हैं। अतएव वे ही निर्द्वन्द्व हैं। प्रशस्ता-प्रशस्त समस्त राग द्वेष मोह के अभाव से निर्मल तथा निश्चय से औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कर्माण पंच शरीरों के प्रपच से रहित निःकल हैं। चतुर्दश परिग्रह के अभाव से निर्लेप निश्चय-नय से सम्पूर्ण कलंक मल मुक्ति करने में समर्थ हैं। सहज परम पारिणामिक भाव वीतराग-सुख—समुद्र में निमग्न, आत्म ज्ञान गात्र, मात्र पवित्र शरीर होने से निर्दोष हैं। शल्पत्रय के अभाव से निःशल्य, निज परम तत्व की भी वांछा के अभाव से निःकाम हैं। इस प्रकार निर्ग्रन्थ लिंग, समयसार को ही उपादेय समझने वाले निश्चय चारित्र साधक मोक्ष मार्गी हैं।

भव्य जीवों की जैसी जैसी काल—लब्धि निकट आती जाती है। तैसी तैसी उनकी मोह अर्थ सामग्री न्यून होती जाती है। ऐसा ही वस्तु—स्वभाव है। भावना - भव नाशिनी है अतएव स्पशुद्धात्मा की निरन्तर भावना करो। यह आत्म शील का मूल, मोक्ष - लक्ष्मी निवास गृह कल्पपुञ्ज संयतक, ज्ञान ज्योति स्वरूप है इसका निरन्तर, स्मरण करो। यह कार्य समयसार व कारण समयसार शुद्ध ज्ञान चेतना सहज फल रूप होती है। यह निज कारण परमात्मा संसार या मुक्तावस्था में सदैव एक रूप ग्रहण करने योग्य है। चार आराधनादि आचरण पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्त, दश लक्षण धर्म, द्वादशानुप्रेक्षा, वाईस परीषह जय, और पञ्चाचरण

अपहृत संयम है जो कि शुभोपयोग अथ सराग चारित्र है। इसे ही व्यवहार चारित्र कहते हैं। निर्ग्रन्थ लिंग सहित इसको आचरण निश्चय चारित्र का साधन बन जाता है, परन्तु बहिर्विषय होने से त्याज्य है। इस सब का त्याग करना भाव लिंग है। इस निर्ग्रन्थ भाव लिंग के पांच भेद हैं। शुभाशुभ कर्मास्रव को नाश करने के लिये दोनों क्रियायें निरोध निश्चय चारित्र धारण किया जाता है। अतएव भव्य जीवों को निरन्तर शुद्धात्मा की भावना करना चाहिये। भेद–विज्ञानी ही निश्चय रत्नत्रयात्मक होते हैं।

कदाचित चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से चारित्र धारण करने में असमर्थ हो तो विषय कषाय त्यागने तथा परमात्म–पद प्राप्त करने के हेतु पंचपरमेष्ठी के गुण – स्तवन आदि विधानों को परम भक्ति पूर्वक करो। भोगों की आकांक्षा रहित परिणामों के द्वारा अपनी हित-श्रुति धारण कर पलाल की तरह विशिष्ठ पुण्य को प्राप्त करो, फिर आयु पूर्ण कर स्वर्ग में देवेन्द्र पद या लौकान्तिक देव की विभूति प्राप्त कर उसे भी जीर्ण तृण के समान मानते हुये वहां से चय कर कदाचित पंच महा विदेह क्षेत्र में पहुंचे तो वहाँ प्रत्यक्ष समवसरण देखोगे। अहो! ये श्री वीतराग अरहन्त देव हैं और ये भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक श्री गणधर देव हैं। मैंने जो पूर्व भव में अरिहन्त या गणधर देव का नाम सुना या वह प्रत्यक्ष देखा। इस मान्यता से हृदय में दृढ़ श्रद्धान हो जायगा अर्थात सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हो जायगी। यह चतुर्थ गुण-स्थान की अवस्था यद्यपि अविरत अवस्था होगी तथापि भोगों के भोग में उदासीन परिणामों से धर्म–ध्यान पूर्वक जीवन व्यतीत होगा और वहाँ से चय कर कदाचित तू तीर्थंकरादि पद भी प्राप्त कर लोगे। पूर्व–भव में जो भेद-विज्ञान की वासना द्वारा धर्म-ध्यान किया था उस संस्कार के बल से संसार के प्रति मोह

शुद्धि नहीं रहेगी। संसार की समस्त दुःख रूप अवस्थाएं देख हेयोपादेय का बोध हो जायगा और जिन—दीक्षा धारण कर लोगे।

वन का आश्रय ले दिगम्बर—अवस्था में निज शुद्धात्मा का ध्यान करने से आत्मानुभव प्रकट होगा। ध्यान उत्तम संहनन वालों को भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय के लिये नहीं होता। ध्यान बोध—बीच में कुछ समय तक रहता है, परन्तु भावना अधिक समय तक रहती है। उस समय विचार करे कि मुझ से शरीरादि वस्तु भिन्न है। यह आत्मा जन्म जरा मरण से रहित ज्ञान स्वभावी और चैतन्य है। इसे पर की सहायता नहीं चाहिये। इसमें रागद्वेष नहीं है। यह बाह्य समस्त प्रपंच और क्रिया-काण्ड व्यवहार से रहित है। इस ध्यान-ध्येय का विकल्प नहीं है। यह परम तत्व अशुद्ध विषय भेद कल्पना से रहित निज स्वरूप है। इस प्रकार स्वाश्रय पूर्वक अद्वैत भाव में तन्मय होने से ही कल्याण होगा। पर पदार्थ के आश्रय से जो विकार भाव की उत्पत्ति होती है उसे आत्मा का द्वैत भाव कहते हैं ज्ञान इस जीव का मूल स्वभाव है अतएव निरन्तर ज्ञान राज की आराधना - भावना करो। चिरकाल तक किसी पदार्थ की आराधना या भावना करने से एक दिन उसकी अवश्य प्राप्ति हो जाती है। निरन्तर ज्ञान की आराधना करने से अल्प श्रुत ज्ञान हट कर सकल प्रत्यक्ष केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जायगी। ज्ञान में मग्न होना ही प्रधान कार्य है। केवल ज्ञान आत्मा का निज स्वभाव है जो कि घातिया कर्मों के अभाव से ही उपलब्ध होता है और सदैव जैसा का तैसा रहता है। कभी भी पुनः कर्म-मल लिप्त नहीं होता। इसका ही नाम सम्यक् ज्ञान है।

जो जीव भले प्रकार शुद्धात्मा को पहिचान लेते हैं, वे, शुद्धात्म—स्वरूप को भी प्राप्त कर लेते

हैं। संसार के प्राणी अपनी अनादि कालीन भूल से अपने शरीर को आत्मा मान रहे हैं। शरीरोत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति तथा शरीर नाश होने में अपना नष्ट होना समझ रहे हैं। यह मिथ्यात्व घोर संकट का देने वाला है, परन्तु प्राणी उसी के सेवन में सुख मान रहे हैं। यह सर्वथा पूर्ण भूल है। नाशवन्त शरीर या अन्य पदार्थों के संयोग - वियोग में क्या हर्ष - विषाद ? राग द्वेष मोह रूप परणति को न रोकना तथा उसे निज परणति समझना, यही तो अपनी शक्ति का खोना है। संसार के समस्त पदार्थ और इन्द्रिय विषय क्षण भंगुर हैं। एक मात्र वीतराग विज्ञान भाव आत्म-हित कारण है। इसी ही निराकुल, पूर्ण सुख की प्राप्ति होती हैं। अतएव इस अनादि कालीन भूल को दूर करो।

आत्मा द्रव्य स्वरूप से तो नित्य है, परन्तु पर्याय रूप से समय समय अपनी अवस्था बदलती, तथा शुभाशुभ भावों को करती भोगती है। अपने पद में तो यह ज्ञान-दर्शन—चैतन्यादि अनन्त शक्ति युक्त है, परन्तु अनादि कर्म मल से उसकी समस्त शक्तियां आच्छादित हो रही हैं। शक्तियों का विकास होना तो दूर रहा बल्कि मोह जाल में इतनी फंसी है कि उसे निज स्वाभिक स्वरूप का स्मरण तक नही होने पाता। किञ्चित् कर्मों के क्षयोपसम से जो कुछ थोड़ा—बहुत ज्ञान प्रकट होता है उसी को अपना पूर्ण स्वरूप समझ सन्तुष्ट हो जाता है। इन्हीं संसारी जीवों में से जो अपनी आत्म - निधि की सुधि पा खोज कर, भेद—विज्ञान पूर्वक ध्यानाग्नि प्रज्वलित कर समस्त कर्मों को भस्म कर देते हैं उनकी आत्मा निर्मल, स्वभाव रूप हो जाती है और वे परमात्म पद को प्राप्त कर लेते हैं। प्रथम चार घातिया कर्मों के क्षय होने पर जीवन्मुक्त अर्हन्त सकल परमात्मा कहलाते हैं। तदनन्तर जब शरीर से सम्बन्ध छूट जाता है तब सिद्ध या निकल परमात्मा हो जाते हैं। श्री

अरिहन्त परमात्मा दिव्य-ध्वनि द्वारा संसार के जीवों को उनकी आत्मा का स्वरूप तथा मोक्ष—मा बतलाते हैं, जिससे उन्हें अपने कल्याण का मार्ग सूझ जाता और अपने हित साधन में उनकी प्रवृत्ति होने लगती है।

छद्मस्थ अल्प ज्ञानी जीव आगम प्रमाण से जो आत्मा का श्रद्धान करते हैं वही निश्चय सम्यक्दर्शन है। जब तब व्यवहार नय के विषय भूत जीवादि भेद रूप तत्वों का केवल श्रद्धान रहता है तब तक निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता। इस लिए तत्वों की सन्तति छोड़ शुद्ध नय का विषय भूत एक आत्मा ही उपादेय है। जिस समय अनुभूति स्वरूप आत्मा का उदय होता है तब समस्त कर्म—बन्ध छूट जाते हैं। अतएव अनन्त अविनाशी चैतन्य, ज्ञान स्वरूपी आत्मा का अनुभव करो। ज्ञान की उत्पत्ति आप ही, आपको जानने, या गुरु के बतलाने अथवा काल—लब्धि आने पर होती है। उपदेश दाता के मिटने पर भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। जैसे सोया हुआ मनुष्य या तो आप ही जाग जाता है अथवा दूसरे द्वारा जगाये जाने पर जागता है। अज्ञानी जीव रागादि भावों सहित मन-वचन-काय की क्रिया किया करता है, अतएव निरन्तर कषायानुसार कर्म रज से लिपटता रहता है। जैसे शरीर पर तैल आदि सच्चिक्कण पदार्थ को लगाकर धूल पर स्थित होने से शरीर पर अवश्य धूल लिपट जाती है।

विद्यमान शरीर का निश्चय पूर्वक नाश होगा और आत्मा अन्य शरीर मे निवास कर लेगी, क्योंकि वह अविनश्वर है। वहां उसे जन्मान्तरों के कर्मों के संस्कार के प्रभाव से सांसारिक सुख-दुख भोगना ही पड़ेंगे। अमूर्तिक विज्ञान मय आत्मा अनुभव का विषय है। यह संसार की बुद्धि, ज्ञान की परिधि के बाहर की वस्तु है। ज्ञान—स्वभावी आत्मा अमूल्य और अखण्ड वस्तु है।

आत्म-
बोध

इसका अतिरिक्त अङ्गीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। संसारी पर्याय—बुद्धि दूर कर विचारने से ज्ञान होता है कि चैतन्य स्वरूप आत्मा संसार के समस्त पुद्गल पदार्थों से भिन्न आनन्द घन आदि अनन्त गुण मय है। उसकी उपलब्धि के लिये सांसारिक मोह—जाल का परित्याग कर, गृहवास छोड़ दिगम्बर मुद्रा क्यों न धारण करूँ? और पंच महाव्रत रूप प्रशस्त—पद स्वीकार करूँ, जिससे कर्म—राशि चूर्ण होकर निर्वाण लाभ हो। संसार से उपेक्षा वृत्ति, और आत्म—विश्वास कर सम्यक्ज्ञान के उज्वल प्रकाश में अचिन्त्य तेजोमय आत्म—स्वरूप की उपलब्धि होती है। प्रत्येक मानव में यह अचिन्त्य शक्ति विद्यमान है और वह पूर्ण शुद्ध आत्म-तत्व को प्राप्त कर सकता है। सिर्फ परम पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

मिथ्यात्व और मोह की सेना राग–द्वेषादि तथा इन्द्रिय-विषय-सेवन की आशक्ति ही, आत्मोद्धार की मानव का आगे कदम नहीं बढ़ने देती। मोह के प्रभाव से मानव पागल सा बन शरीर में ही आत्मा बुद्धि किए है। उसके ह्रास—विकास में ही अपना ह्रास विकास समझ रहा है। यह अज्ञानता है। उन अविवेकियों की समस्त क्रियायें निःसार हैं और उनका मिथ्याज्ञान प्राण हीन है। उनकी आत्म—श्रद्धा हीन बुद्धि आत्म-कल्याण नहीं करा सकती। जैसे पंगु अन्ध और आलसी उद्यम जैसे दूर लोय। आत्म—तत्व की उपलब्धि देवेन्द्र, नरेन्द्र, महेन्द्र के वैभव से भी अधिक मूल्यवान है। इस आत्मोद्धार की विद्या को पाना भी अत्यन्त दुर्लभ है। योग विद्या को प्राप्त करने वाले योगिराज आत्म—प्रबोध को प्राप्त कर भव व्याधियों का उन्मूलन कर देते हैं - वीतराग-वाणी का परिशीलन और सन्त–समागम से सज्जनों की दृष्टि निर्मल हो जाती। जिसके सद्भाव से दुःखाग्नि में जलते हुए नारकी भी विलक्षण आत्मिक शान्ति पा अपने को कृतार्थ मानते हैं तथा इसके अभाव में

वैभव पूर्ण सुख सामग्री तथा वर्णनातीत लौकिक सुखों में निमग्न देव—राज भी उस शांति से वञ्चित रहते हैं। आत्मा अतीन्द्रिय है। इस लक्ष्य से इन्द्रियों का अवलम्बन छूट जाता है। यही इन्द्रिय विजय करना है।

मन को स्थिर कर अन्तरङ्ग में विचारे कि मैं समस्त पर—द्रव्यों से भिन्न, नित्य, असङ्ग, ज्ञायक, पूर्ण प्रकाश मय एवम् शुद्ध एक हूं। शरीरादि संकल्प—विकल्प मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसा निरन्तर अभ्यास करने से शुद्ध, शास्वत निज स्वरूप अपने ही अन्तरङ्ग मे विराजमान, रत्नत्रय स्वरूप आत्मा प्रकट हो जाती है। अतएव पर्याय रूप हो रही विकृत आत्मा को स्वभाव रूप में बदलने का निरन्तर प्रयास करो। चौरासी लक्ष योनियों में नर पर्याय पाना अत्यन्त दुर्लभ है। बार—बार यह पर्याय नही मिलती है। जैसे समुद्र में गिरा चिन्ता-मणि रत्न पुनः पाना अत्यन्त दुलभ है। आत्म-कल्याण का कार्य मानव—पर्याय से ही होता है। व्वहार से निमित्त को उपकारी कहा है, परन्तु निश्चय नय से अपना उपादान कारण ही अपना उपकार करता है। हे भव्यो! तुम्हारी शक्ति तुम्हारे लिए स्वतन्त्र है। तुम्हारा स्वरूप त्रैकाल त्रैलोक्य में भी पराधीन नहीं है। जैसे—माता बालक को सुलाने के लिये मीठे—मीठे गीत यो लोरियां गाती हैं अथवा क्षत्रियो मे शौर्य जाग्रत करने के लिये रण—भेरी बजाई जाती है। उसी प्रकार आत्म—जागृति के लिये मैं परमात्मा हूँ। मुझ में मुक्त होने की पूर्ण सामर्थ्य है। मैं उपाधि रहित शुद्ध ज्ञान चेतना रूप हूं। यह रागादि विकारमेरा स्वरूप नहीं है, यह सब कर्म निमितिक हैं। इस भेद—विज्ञान रो ज्ञान मात्र के आस्वादन को अनुभूति कहते हैं। यही शुद्ध नय का विषय है।

दूसरी विधि यह है कि अपनी आत्मा को शरीर—प्रमाण स्फटिक मणि की मूर्तिवत स्मरण कर

आत्म-प्रबोध

उसी के दर्शन में लवलीन हो चित्त को आत्म-सरोवर में डुबावे। विषयों से वैराग्य ले परिग्रह का लोंच कर; शान्ति, दया, क्षमा धारण करे। भिक्षा—भोजन करे। वन में एकान्त स्थान में निवास कर सदैव सत तत्वों का चिन्तवन करे। सदैव ब्रह्मचर्य-चर्या का आचरण कर, द्वादश तप, दश लक्षण धर्म और रत्नत्रय धर्म धारण करे। वीतराग भाव धारण कर परिषहों को भली प्रकार जीते। वीतराग जिनेन्द्र देव की अस्त्र—वस्त्र—शस्त्र—माला—मुकुट। अलंकारादि रहित, नग्न, निर्लेप, परम शान्त नासाग्र-दृष्टि, पद्मासन खड्गासन, निर्दोष, आत्मकल्याण का ध्यान कराने वाली मनोज्ञ बिम्ब में पूर्ण भक्ति करे। निरन्तर मद्र-परिणामी और भव्य-जीवों पर दयालु रहे। इन सब कारणों से भव-समुद्र—तट समीप आ जाता है। काल-लब्धि और गुरु कृपा से जब आप आपको जाने तब भवदधि से अवश्य पार हो जाओगे। ध्रुव सामर्थ्य के बल से वर्तमान विकारी अवस्था का क्रमशः नाश होकर अविकारी अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। जो वस्तु होती है वह स्वयं सिद्ध होती है। जैसे—कच्चे आम का स्पर्श कठोर, रस और गन्ध खट्टी तथा वर्ण हरा होता है। समय आने पर वही आम नरम, मीठा और पीला हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तन हो जाता है। ऐसे ही मिथ्या दृष्टि भी अपना भाव बदल कर, शुद्ध निर्मल परिणामी सम्यक्-दृष्टि हो जाता है। दुःख दूर होकर सुख हो जाता है। निन्द्यत्व अलग हो अतुल महिमाशाली बन जाता है। ऐसे ही चतुर्गति का मूर्तित्व बदल कर अमूर्तित्व रूप पंचम गति हो जाती है। सम्यक् दर्शन की ऐसी ही महिमा है।

जैसे कोई गमनुष्य गंभीर गङ्गा के प्रबल प्रवाह में बहने लगा। यद्यपि वह तैरना जानता है। तथापि प्रवाह की प्रबलता के कारण वह न निकल सका। कुछ दूर आगे प्रवाह की गति मन्द पड़ी। यदि इस समय वह चाहे तो सकुशल निकल सकता है, परन्तु यदि प्रमाद कर गया तो अवश्य

बहता हुआ समुद्र में गर्क हो जायगा। फिर उद्धार सर्वथा असम्भव है। इसी प्रकार मनुष्य-पर्याय पाकर गुरु—उपदेश, सम्यक्त्व की प्राप्ति, संयम-साधन-योग्य शरीर की स्थिति, पवित्र धर्म की दृढ़ता इत्यादि इन सब साधनों के होते हुये भी यदि पुरुषार्थ न किया जायगा, तो निःसन्देह अनन्त काल के लिये भव सागर में गर्क होना पड़ेगा। हे भव्यो! निरन्तर यही विचारो कि मैं चतुर्गति रूप अवस्थाओं से रहित, परमानन्द पूर्ण, चित्-पिण्ड, ज्ञाता—दृष्टा, निज स्वभाव परिणमन से उत्पन्न सुखामृत का पान करने वाला हूं। भव समुद्र पार कर मोक्ष रत्न तत्व द्वीप में पहुंचने के लिये अपनी आत्मा ही समुद्र, आत्मा ही जहाज, आत्मा ही खेवटिया और यात्री तथा आत्मा ही रत्नद्वीप है। पारिणामिक भाव मयी समयसार ही जहाज, आवरण रहित शुद्ध परमानन्द स्वरूप आत्मा रत्नद्वीप, (मोक्ष) स्वयं वीर्य द्वारा निज लीन मय भावों को दृढ़ रखने वाली यह आत्मा खेवटिया और समय-समय विशुद्धता प्राप्त करने वाली आत्मा ही यात्री है जिसे पूर्ण, शुद्ध, स्वभाव रूप रत्नद्वीप में पहुँचना है और वर्तमान अशुद्ध परिणामों में तिष्ठने वाला आत्मा ही समुद्र है।

अनादि-काल से दो भिन्न स्वभावी चैतन्य (आत्मा) और शरीर एकमेक (एक क्षेत्रावगाही) रहने के कारण संसार में उन्मत्त के समान कल्लोलें कर रहे हैं परन्तु जब भेद-विज्ञान का उदय हो जाता है तब जीव एकता का विच्छेद करने का प्रयत्न करता है। उस समय दोनों (जड़-चेतन) अलग-अलग हो जाते हैं। निर्विकार, ज्ञाता—दृष्टा, आनन्द स्वरूप, चैतन्य, आत्माराम समस्त जड़ परमाणुओं से पूर्णतः पृथक् दिखने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो जड़ स्तम्भ से एक दीप्तिमान पदार्थ अलग हुआ है। जैसे आचार्यवर श्री समन्त भद्र महाराज के वचन रूपी वज्र से शिव—मूर्ति फट कर उस में से श्री चन्द्र प्रभु जिनेन्द्र की मूर्ति का प्रादुर्भाव हुआ था। इसी प्रकार

यह आत्मा शुद्ध, बुद्ध, पूर्ण शक्ति शाली, अनुपम, अविकारी, निजानन्द मय, चिदानन्द घन तथा शरीर चिन्ता से सर्वथा पृथक है। वह अनादि अनन्त, अकृत्रिम, अपनी सत्ता का स्वामी और समता-रस पीयूष पान करने वाला है। इस संसार के जो प्राणी अनन्त चतुष्टय, दश धर्म तथा रत्नत्रय स्वरूप आत्मा की शरणजाकर उसकी भक्ति में लीन होते हैं वे ही निश्चय सुख का विलास प्राप्त करते हैं। उन्हें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक सृष्टि को देखते देखते ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जिनेश स्वरूप ब्रह्म की स्मृति हो जाती है। उनके हृदय में परम वीतराग भाव का उदय हो जाता है। वे समस्त पौद्गलिक भावों का तिरस्कार कर विचारते हैं कि मैं निज सत्ता का स्वामी, चिरानन्दघन और अनुपम गुण पूर्ण हूं। इस जगत के जीवों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। शिव सुन्दरी की प्राप्ति के हेतु सतत प्रयत्नशील रहना मेरा मुख्य कर्तव्य है। समस्त पर—पदार्थों से विरक्त सतत आनन्द मय आत्म-स्वरूप के सम्मुख होना मानों जगत से हट कर आकाश सदृश असंग आत्मा की अनन्त गुण रूप सृष्टि में प्रवेश करना है।

जिस प्रकार यह जगत अनादि, अनन्त और अकृत्रिम है उस प्रकार आत्मा रूपी सृष्टि भी अनादि, अनन्त और अकृत्रिम है। इस आत्म-सृष्टि के जीव दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सुख, चारित्र और दशलक्षण धर्म की शरण में लीन रहते हैं। जब यह आत्मा मोह कर्म के फंदे से दूर हो, आनन्द मयी, परम हितकारी अपनी अटल सम्पदा की शांति और सुखद भंडार में एकत्रित देखता है, तब अत्यन्त आनन्द में भरा हुआ नहीं समाता है। वह अपनी अनुभूति में मग्न हुआ अनुभव रस का सदा पान करता रहता है। जब आत्मा में समता भाव जागृत होता है तब न राग की लाली रहती और न द्वेष का नीलापन ही रहता है। अर्थात् वस्तु-स्वरूप अपनी अपनी अवस्था

को लिये स्फटिक मणि सदृश निर्मल, अन्तरङ्ग में झलक जाता है। यह अभेद्य, अछेद्य और मन वचन काय की गुप्त संयुक्त है। इसे बुद्धिमान् जन शुद्धोपयोग या निर्विकल्प समाधि के नाम से पुकारते हैं। ऐसे भव्य जीवों के भावों में समदर्शित्व प्रकट हो जाता है और शुद्ध ज्ञान चेतना की अपेक्षा जीव मात्र में एकता प्रतीत होने लगती है। वस्तु का स्वभाव कभी नहीं बदलता। भले स्वर्ण के साथ कीट-कालिमा चिरकाल से मिली हो, तिल में तेल अदृश्य छिपा हो या तुष के भीतर तन्दुल ढका हो परन्तु जब द्रव्य दृष्टि से देखा जाता है तो सोना, सोना है और मिट्टी मिट्टी ही है। तेल, तेल है और भूसी, भूसी ही है अथवा तन्दुल, तन्दुल है और तुष, तुष ही है। ऐसे ही जब मैं पुद्गलों से सम्बन्ध तोड़ तोड़ पृथक होऊँगा तब शुद्ध, ज्ञाता दृष्टा, परमानन्द मयी, परम कृत-कृत्य रूप ही अपने को देखूंगा। यही मेरा निज स्वभाव है। इस प्रकार परम शान्ति रस पूर्वक आत्मा जब अपने स्वभाव के अनुभव में तन्मय हो जाता है तब संसार का अभाव होता है निश्चयनय और व्यवहार नय का पक्षपात भी नहीं रहता। उसे तो नित्य यह आत्मा, आत्मा रूप में झलकता है।

जो जीव इस अतीन्द्रिय आनन्द मयी रस के स्वादी नहीं हैं। उनके अन्तरङ्ग में मोह की गहलता जम रही है, जिससे बेसुध हो भव-वन में भ्रमण करते हुए महा त्रास पाते हैं। इसलिये मन—वचन—काय के अवलम्बन को परित्याग, अष्ट अविनाशी, रत्नत्रय और दश धर्म जिसमें सतत निवास करते हैं। जहां मुनि-श्रावक-धर्म तथा निश्चय से जो स्वरूपाचरण का स्थान है। उस आत्मा के अनुभव और वीतराग आनन्द मय स्वभाव में सदैव लीन रहो। उसी का ध्यान स्मरण करो। उसी में तन्मय हो निरन्तर उसकी सेवा करो। सदैव चिन्तवन करो कि चैतन्य स्वरूप

अनन्त गुणों का स्वामी हूँ। ज्ञान—दर्शन मेरा स्वभाव है। सदैव अनुभव-रस का पान करने वाला साधन से किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं है। बल्कि वहां तो अतीन्द्रिय आनन्द ही आनन्द है। उस आनन्दानुभव में किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है। वह पूर्ण स्वतन्त्र है। वहां तो साम्यभाव का ही दर्शाव है।

यह समता—भाव निराकुल और परम सुख का देने वाला है। मुझे जो लेना था, सो ले लिया और छोड़ना था सो छोड़ दिया। इस प्रकार समस्त विकारों को त्याग अपने स्वरूप में आरूढ़ होने से लोका लोक की समस्त सम्पदा ज्ञान में स्वयं प्रतिबिम्बित हो जाती हैं। आत्मा की अनन्त शक्ति का अनुभव आत्मा से ही होता है। जब यह आत्मा अपना उपयोग अपने में ही लगाता है, तब वह आत्मा स्वयं सम्यक् प्रकार अपने ही स्वभाव में झलकता हैं तथा अपने स्वभाव में आप ही विलास और तीन गुप्ति रूपी सुभग वालू (रेत) है। दया रूपी सहस्र-दल कमल खिल रहे हैं। वह गम्भीर क्षमा जैसा गहरा है। उस सरोवर में परीषह—जय की तरंगें उठ रही हैं। उसके जल में राग—द्वेष रूपी मल तथा कषाय रूपी झाग (फेन) नहीं है। मोह रूपी कर्दम का अभाव है। मरण रूपी भयङ्कर मगर—मच्छ उस सरोवर में नहीं हैं। अठारह दोष रहित, महर्षियों द्वारा वन्द्य है। उसमें आश्रव, संवर और निर्जरा रूपी जल झरने बहकर विलीन हो रहे हैं। उस परम पावन द्रह में गणधर, मुनि, चक्रवर्ती, धरणेन्द्र और सुरेन्द्रादि भक्ति युक्त स्नान कर भव—भव के पाप मल को धो रहे हैं। ऐसा उत्तम तीर्थ अर्हंत द्रह है।

हे भव्यो! ऐसे परम पवित्र तीर्थ स्वरूप अर्हत द्रह में तुम भी स्नान कर भव—भव के पाप मैल धो डालो। अपने स्वरूप का निरीक्षण करो। तुम भी परमात्मा हो जाओगे। संसार तुम्हारी

पूजा करेगा। यह आत्मा ही बहिरात्मत्व को हटा अन्तरात्मा बन जाती है। खोजियों को वस्तु स्वरूप करता है। जिस प्रकार जल बिना मीन, पवन बिना जीवन और योग्य मन्त्री के बिना राज्य नहीं रह सकता उसी प्रकार उपयोग के बिना आत्मा आप में नहीं रम सकता।

इस जीव ने अनादि काल से पर वस्तु से प्रेम किया, जिस से नरक-निगोद, पशु, मानव और देव गति रूप भव भ्रमण किया। मूल से पर—वस्तु को प्रेम—पात्र समझा और उससे अनुराग किया। उसे अपना जाना-माना। जैसे कोई रस्सी को सर्प जान भयभीत होकर भागे वैसे ही चारों गतियों में भटकता हुआ व्यर्थ क्लेश और सन्ताप को सहता रहा। अपने आनन्द को अपने ही पास न जानकर उससे प्रेम नहीं किया। जिससे जन्म-मरण करना पड़ा। अब यह परमोत्तम शुभ अवसर प्राप्त हुआ। इस अवसर में निजात्म स्वरूप का निरीक्षण कर साक्षात् चैतन्य स्वरूप आत्मा का अवश्य अवलोकन करो। बहुत इधर-उधर भटके परन्तु शान्त सुधारस सुख कभी भी कहीं न मिला। खोजते-खोजते आत्मा रूपी चन्द्रमा की सम्यग्दृष्टि 'कला' चमकती मिली है। उसके सहारे चारित्र रत्न का संयोग प्राप्त हुआ है। इस कला के प्रकाश में ज्ञान रूपी पर्वत की तलहटी में आत्मानुभव रूपी रमणीक सरोवर दृष्टि गोचर हो रहा है। उसका नाम अर्हत् द्रह है। स्कन्द—छन्द "अर्हन्महानदस्य त्रिभुवन भव्यजन तीर्थ यात्रिक दुरितं, प्रक्षालनैक कारण मति लौकिक कुहक तीर्थमुत्तम तीर्थम्" ॥ अर्थात् यह अर्हंत तीर्थ तीन भुवन में रहने वाले भव्यजन रूपी यात्रियों के पाप कर्म प्रक्षालन करने के लिये एक अद्वितीय कारण और उत्तम असाधारण तीर्थ है। इस तीर्थ के अमल व्रत और शील रूपी दो ढावा हैं। वह बड़ा विशाल है। उस में लोकालोक विलोकन करने वाला केवल ज्ञान रूपी निर्मल जल भरा हुआ है। उसमें गणधरादि ऋषी-राज रूपी राज-हंस पूजा तथा

ख्याति लाभ रहित स्वाध्याय रूपी मनोज्ञ शब्द—घोषणा कर रहे हैं। उस सरोवर में पंच समिति तीन गुप्ति हैं। दुखियों को सुखिया कर देती है। अनादिकाल से संसार के प्राणी मोह-जाल में उलझे आकुलित हो रहे हैं। जब पुरुषार्थ कर निश्चय स्वरूप के अकम्प ध्यान से अपने त्रिगुप्ति मय परम शान्त महल में शुद्ध दृष्टि से देखते हैं। तब उन्हें वहां क्षमा, मृदुत, शान्ति, निराकुलता, समता, शुचिता, चेतनता, वीतरागता, ऋजुता आदि महा मनोहर शुद्ध स्वरूप का दर्शन हो जाता है। फिर वे पुरुषार्थ को कभी नहीं छोड़ते। निरन्तर पुरुषार्थ करने से यह आत्मा अनन्त बल सम्पन्न हो ज्ञान रूपी धन का भंडार भर लेता है।

यह सम्यक्त्व रत्न से परिपूर्ण आत्मा कल्प—वृक्ष के समान है। इससे जो याचना करो वह देती है। चारित्र रत्न का अपूर्व तेज रखने वाली आत्मा, परमात्मा की जाति वाली होने से परमानन्दमय होते हैं तथा समस्त आकुलताओं से रहित हो शिव पद प्राप्त करते हैं। वह रत्नत्रय संयुक्त आत्मा एक परम सत्य ढाल है जो मोह के आक्रमण को दूर से ही उल्टा फेंक उसे व्यर्थ कर देती है। यही निश्चय पुरुषार्थ साधन है जो आत्मा को परमात्मा बना देता है। इससे क्षुधा, तृषादि समस्त रोग शान्त हो जाते हैं। कर्म समूह नष्ट होकर निर्विकल्प समाधि हो जाती है तथा सदैव निराकुल सुख प्रदान करता है। यह अनन्त बलशाली आत्मा चार निश्चय प्राणों अर्थात सुख, सत्ता, चैतन्य और बोध को निरन्तराय सदैव अपने में रखता है। कभी भी इन प्राणों का वियोग नहीं होगा। सदैव शुद्ध जीवन-शक्ति व्यक्त रहती है। यही रत्नत्रय स्वरूप आत्मानुभव है। यही वह अमृत रस है जिसके पान करने से प्राणी का संसार में फिर आवागमन नहीं होता। रत्नत्रय की एकता रूप अवस्था के रस का रसिक हो जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, त्रिशल्य एवं प्रमादि विकार स्थान नहीं पाते । आगम, युक्ति, गुरूपदेश और स्वसंवेदन ज्ञान से अपने को सबसे भिन्न अनुभव कर अपनी शक्ति की महिमा में लीन हो जाता है । इस समय जब परम पारिणामिक भावधारी निज स्वरूप को निर्मल दृष्टि से देखता है तब वचनातीत परमानन्द होता है । यही आत्मानुभव यथार्थ जीवन का परम मंगलमय फल है । इसके सेवन से ही निश्चय धर्म का मनन करने पर तृप्ति का लाभ होता है ।

संसार के प्राणियों को अनादि कालीन मोह-मदिरा के पान करने से ऐसी गाढ़ निद्रा आई है कि जिससे उसके नशे में पड़े हुये उन्मत्त हो आपको (आत्मा) भूल रहे हैं । उन्हें यह आत्म गुरु जागृत कर कहता है, कि हे आत्मन् ! तू किसी तीर्थ में मत जा । किसी गुरु की सेवा न कर । केवल एक निर्मल आत्मा का ही मनन कर । इसी से परमात्म-अवस्था की प्रकटता रूप प्रगति में अग्रेसर हो जायगा । जैसे उदासीन ब्रह्मचारी आत्मा जब अपनी निधि को पा लेता है, तब उनसे आप ही स्वरूप आप जाता है । उसे ज्ञात हो जाता है कि मैं ज्ञाता-दृष्टा परमानन्दमयी हूं । मुझमें अनन्त गुण एक-एक प्रदेश में व्यापक हैं । मुझसे ये गुण कभी दूर न होंगे; इसलिये मैं नित्य हूं । अपने गुण-पर्याय के साथ एकमेक होने के कारण अभेद हूं । प्रत्येक गुण सर्वाङ्ग से अलग-अलग व्याप्त होने से भेदरूप हूं । अपने प्रदेशों में स्थिर रहने के कारण अपने प्रदेशों में व्यापक तथा अन्य द्रव्यों से व्यापक हूं । ज्ञान ज्योति में समस्त पदार्थों के झलकने के कारण मैं सर्व व्यापक हूं । इतना शक्ति सम्पन्न होते हुये जब वर्तमान दशा पर दृष्टिपात करते हैं, तो बड़ी ही लज्जा आती है ।

अपने स्वरूप से भिन्न वस्तुओं को अपना मानने से ही राग—द्वेष मोह की परणति हो रही है । यही मान्यता आत्मा को मलिन कर रही है । इस मलिनता को दूर करने के लिये श्री गुरु

आध्यात्म प्रेमी सन्त पुरुष के पास पहुँच वीतराग—विज्ञानता के उपदेश से अपनी आत्मा की निर्मल करते हैं। यद्यपि व्यवहार से यह सन्त समागम है, परन्तु निश्चय से तो वहां केवल आत्म—ज्ञान के प्रवाहों का ही जमघट या मिलाप है, क्योंकि समस्त जीवों के मन—वचन—काय की ऐसी ही परणतियाँ हैं। ज्ञानी, गुरु के पास रह अपनी शक्ति का अनुभव करता हुआ, निश्चय आत्म—द्रव्य के मनन से परम सुखी हो जाता है।

आत्मा एक परम उत्कृष्ट वस्तु है वह आकाश के प्रदेशों को घेरे हुये है। जो आकाश को न घेरे वह कोई वस्तु संज्ञा ही नहीं। जो जहां सदैव रहता है वही उसका स्वदेश कहलाता है, अतएव आप का आत्मा ही स्वदेश है। अनेक गुणों का समुदाय ही वस्तु है। वे सब गुण उस वस्तु के प्रत्येक प्रदेश में व्यापक हैं। उन सब गुणों का स्वदेश वह समुदाय वस्तु है। उस वस्तु के अतिरिक्त अन्य आत्मा या अन्य पदार्थ उस आप आत्मा का परदेश है। स्वदेश में रहने से किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं होती अपितु अत्यन्त आनन्द होता है। इसलिये आनन्द दायक वस्तु से प्रेम करना स्वाभाविक ही है। अर्थात् अपने उपयोग को 'पर' से हटा, अपनी शक्ति प्रकट कर स्व स्वरूप में उत्साह पूर्वक जोड़ देना स्वदेश—प्रेम है। स्वदेशोन्नति के बिना निम्नता में निवास करना अत्यन्त लज्जास्पद है। अतएव - भक्त हो, उसी में प्रेम कर परमानन्द प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

संसार के आत्म—ज्ञान शून्य प्राणी राग—द्वेष मोह के उदय से चतुर्गति स्वरूप संसार में परिभ्रमण करते हुये आकुलित हो रहे हैं तथा मोक्ष—मार्ग को भूले हुए हैं। नेत्र—हीन आनन्द की तरह अन्धकार पूर्ण भयानक वन में इधर-उधर भटकते ठोकरें खाते फिरते हैं। उस नेत्र से निकलने का मार्ग नहीं पाते। यदि कोई दयावान मिल जाय तो वह उन्हें मार्ग पर लगा देवे, जिससे वे

अथानक जल से सकुशल बाहर निकल जायें। ऐसे ही जब इन जीवों को किसी भेद-विज्ञानी योगी का समागम मिल जाय, तो अवश्य वीतराग मयी स्थान में पहुँच जायें और केवलज्ञान प्राप्त कर लोक–शिखर के अधिवासी हो जायें। परोपकारी आत्म–गुरु की यथार्थ सेवा मनन, यजन, निरीक्षण, तल्लीनता और अनुभव, मात्र अनुभव गम्य है। आत्म—गुरु सेवा ही सम्यक्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। यही सम्यक् त्रय, ध्यान—धारणा और श्रेष्ठ परम समाधि है। जो जीव मोक्ष के उपाय में निःशल्य हो संलग्न होते हैं, वे अवश्य स्वात्म—विभूति के स्वामी हो जाते हैं तथा अनन्त काल पर्यन्त निराकुल सुख में निमग्न रहते हैं।

इस प्रकार संसार को अच्छी तरह लखकर उसका असली स्वरूप विचारो तो ज्ञान होगा कि संसार षट् द्रव्यों का ही प्रपंच है। यह अपने स्वभाव के लिये अनादि निधन है। उन छहों द्रव्यों में एक आत्म-द्रव्य ही मेरे समान है। किसी आत्मा के प्रदेश अन्य आत्माओं से नहीं मिलते अतएव अवान्तर सत्ता की अपेक्षा से अनेकता है, तथापि शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से समस्त आत्माओं के गुणों का स्वभाव एक सा है। सब सामान्य और विशेष गुण संयुक्त हैं। सब सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप हैं उनमें किसी प्रकार के रागद्वेष और कषायों का अंश नहीं है। जब यह आत्मा अपने स्वभाव में लीन होता है, तब जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों के सम्बन्ध से चन्द्रकान्त–पाषाण से जल–धारा बहने लगती है, उसी तरह अन्तरङ्ग में आत्मानन्द की अमृत-धारा बहने लगती है। यही साक्षात् मोक्षमार्ग है और यही कालान्तर में मोक्ष स्वरूप हो जाती है।

जिन जीवों ने अपनी दृष्टि—पर्याय—बुद्धि से हटा द्रव्य पर डाली है, उन्हें सदा सामान्य की अपेक्षा सब चेतन - अचेतन पदार्थों में एकता ही दृष्टि गोचर हुई है, क्योंकि सत्ता गुण सब

में व्याप्त है। जीव में अनन्त गुण हैं, परन्तु लक्षणात्मक गुण ज्ञान—दर्शन और सामान्य गुण अमूर्तत्वादि हैं। इस प्रकार जीव अनन्त गुणों का समूह या पिण्ड है। जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव उष्ण है, उसी प्रकार जीव का ज्ञान-दर्शन स्वभाव है। इसलिये आत्मा ज्ञान—दर्शन से और ज्ञान-दर्शन आत्मा से भिन्न नहीं है अर्थात् आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वरूप है। यह ज्ञान दर्शन जीव का परिणाम है। यद्यपि जीवों के अनन्त भेद हैं तथापि अपनी अपनी सत्ता में सब स्वतन्त्र हैं। सब अपनी—अपनी गुण—पर्याय सहित हैं। अनादि काल से कर्म और आत्मा का बीज-वृक्ष की तरह सम्बन्ध चला आ रहा है। कर्मों के उदय फल से जीवों का जन्म-मरण होता है, तथा कर्मोदय के फल से कर्म बन्ध होता है। इसी से ही इन्द्रिय, शरीर, आयु, स्वासोच्छ्वास, क्रोध, मान, माया, लोभ, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, स्वर्ग—नरक, कुगति-सुगति, पुत्र, धन-सम्पत्ति इत्यादि सम्पूर्ण रचना होती है। कर्म के उदय से ही श्रीमान, पण्डित मुनीश्वर, बुद्धिमान, लोकपूज्य, कीर्तिवान, इन्द्र, चन्द्र, महेन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र, नागेन्द्र, तीर्थंकर, बलभद्र, नारायण, चक्रवर्त्यादि होते हैं। यह सब कर्मों का ही फल है। इस आत्मा के कर्म—बन्धन के कारण ही चतुर्गति में नाना प्रकार के दुःख भोगना पड़ते हैं। प्राणी दुःख दूर करने का निरन्तर उपाय करते हैं, परन्तु सच्चे उपाय के बिना दुःख दूर नहीं होता और दुःख सहा भी नहीं जाता, जिससे अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं।

जीवों के समस्त दुःखों का मूल कारण कर्म-बन्धन है और कर्म-बन्धन का अभाव ही मोक्ष है। अतएव कर्म-बन्धन का अभाव करना ही परम कल्याणकारी उपाय है। जिस आत्माका भला होता उसके मन में सदैव यही उत्तम विचार उत्पन्न होते हैं, कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है?

मैं कहां से आकर उत्पन्न हुआ ? और मर कर कहाँ उत्पन्न होऊँगा ? यहां चारित्र कैसे बन रहा है ? मेरे निश दिन जो ऐसे भाव उत्पन्न हो रहे हैं, उनका भविष्य में क्या फल होगा ? यहां जो मैं दुखी हो रहा हूं उसके दूर करने का उद्यम करूं, जिससे मेरा हित हो ? मेरी निराकार आत्मा कथन, चिन्तवन, मनन और आंखों द्वारा देखने से पृथक है। मात्र अनुभव गम्य ही है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ या रूपातीत ध्यान भी ज्ञान-दर्शन गुण भरा हुआ है। वही मेरी आत्मा का स्वरूप है। उसे मैं आत्म-ध्यान द्वारा प्रकट करूँ।

स्वसंवेदन ज्ञान से शुद्ध, आनन्दमय, उपादेय स्वरूप स्वात्मा को मन—वचन—काय से भिन्न अनुभव करना निश्चय सम्यक् ज्ञान है। आत्मा द्रव्य, भाव और नो कर्म से रहित आनन्द स्वरूप है। मुमुक्षुओं को यही उपादेय है। इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा निश्चय सम्यक्दर्शन है। समस्त तृष्णा-वाञ्छाओं से रहित हो शुद्ध आनन्द स्वरूप अनुभूति और स्वात्मा में अन्तःकरण से तन्मय होकर स्वात्मा में स्वात्मा की स्थिरता पाना परमार्थिक-चर्या या निश्चय-चारित्र कहलाता है। संक्षेप में ऐसा भी कह सकते हैं कि अपनी आत्मा का निश्चय होना, सम्यक्—दर्शन, अपनी आत्मा को जानना, सम्यक्ज्ञान और अपनी आत्मा में स्थिर हो जाना सम्यक् चारित्र है। ये तीनों आत्म स्वरूप हैं। इनसे बन्ध नहीं हो सकता। इसलिए हे भव्यो ! व्यवहार रत्नत्रय को गौण कर अपनी आत्मा को निश्चय रत्नत्रय स्वरूप, परमोत्कृष्ट और अत्यन्त शुद्ध समझ अपनी आत्मा का अनुभव करो, तभी कल्याण होगा।

जो प्राणी श्रुत ज्ञान की भावना सहित हो, समस्त पुद्गलादि पर द्रव्यों की आकांक्षा को दूर कर स्वात्मा में देदीप्यमान आत्मा को निर्विघ्न तल्लीन करता ... द्वन्द्व की आकाँक्षा छोड़ केवल

स्वात्मा में लीन होगा तो मोक्ष का साक्षात् कारण है तप आत्मा में स्फुरायमान हो जायगा। ऐसा सम्यक् तप आराधना का स्वरूप है। जो पुरुष अपना उपयोग आराधना में लगाकर समय व्यतीत करता है वह अधिक से अधिक तीन भवों में अवश्य मुक्त हो जाता है। निर्विकल्प योगी का शुद्ध चिदानन्द मय स्वात्मा में विधि पूर्वक आत्मा का स्थापन करना निश्चय नय से सन्यास कहलाता है। समाधि रूप चूडामणि रत्न को धारण करने वाले अन्तरङ्ग और बाह्य परिग्रह से रहित जीव निर्विकल्प समाधि मे निमग्न हो परमानन्दामृत का पान करते हैं। वहां ध्याता और ध्येय का भी कोई विकल्प नहीं है। हे आराधक! महाव्रतों का पालन कर क्रोधादि कषायों का निग्रह करके विपरीत श्रद्धान रूप मिथ्यात्व मल को हटा अध्यात्म तत्व ज्ञान में तल्लीन हो जा और उसी का अवलोकन कर।

यह आत्मा सदैव अपने में ही अभिलाषा करता, अभीष्ट पदार्थों को जानता तथा अपने हित में सदैव तत्पर रहता है। जिन्होंने निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिङ्ग धारण किया है औत्सर्गिक श्रमण कहलाते हैं। जो योगी निश्चय सम्यक् रत्नत्रय के अभ्यास से अन्तिम समय में होने वाले समुच्छिन्न क्रिया प्रति पाति नामक शुक्ल ध्यान मे आरूढ हो बाह्याभ्यन्तर तप द्वारा कषाय और शरीर को कृष कर शरीर त्यागते हैं वे परम मुक्त हो जाते हैं। यह कथन श्रेणी उत्कृष्ट आराधना करने वालों की अपेक्षा मध्यम आराधना में अनागार मुनि रत्नत्रय के अभ्यास में लीन, संवर सहित निर्जरा करता हुआ प्राणों को छोड़ इन्द्रादि—पद के अभ्युदय से सुशोभित होता है। (शेष व्याख्या पहिले के समान ही है) वर्तमान काल के जघन्य आराधक ऊपर लिखे लक्षणों सहित हो, पंच नमस्कार का चिंतवन या उच्चारण करते हुये प्राणों को छोड़ते हैं; वे आठ भवों के मध्य में मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार आचार्यों ने उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार की समाधि कही है। बहुत से ऐसे आराधक

होते हैं जो काल—लब्धि पा, अष्ट कर्म—शृंखला को तोड़ केवल ज्ञान प्रकट कर उसी भव में मोक्ष चले जाते हैं। वे ही उत्कृष्ट साधक हैं। कितनेक मानव चार प्रकार की आराधना को सार रूप आराधन कर बचे हुये पुण्य से सर्वार्थ सिद्धि विमान में निवास कर दो भव में मुक्त हो जाते हैं। जो जघन्य रीति से चार प्रकार की आराधना का आराधन करते हैं, वे सात—आठ भव से मोक्ष पा लेते हैं। जो तेजोलेश्या सहित आराधनाओं का चिन्तवन करते हैं और यदि चरम शरीरी हैं तो ध्यान के उत्तम अभ्यास से मोह-कर्म को नष्ट कर उसी भव से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु यदि चरम शरीरी नहीं हैं तथा निरन्तर ध्यान का अभ्यास करते हैं उनके अशुभ कर्मों की निर्जरा होती रहती तथा प्रत्येक क्षण ऐसे पुरुष—रत्नों का आसन [illegible] रहता है जिससे सौधर्मादि स्वर्ग में कल्प वासी देव—पद पाते हैं। वहां अनेक देव-देवी उनकी सेवा करते हैं। वहां दीर्घ-काल पर्यन्त इन्द्रिय और मन को प्रसन्न करने वाले सुख भोगते हैं। फिर आयु पूर्णकर उच्च गोत्र में मानव जन्म धारण करते हैं। अन्त समय में समस्त सम्पदा को त्याग दिगम्बर मुनि हो चार प्रकार की आराधना को आराध चार प्रकार के शुक्ल ध्यानों का चिन्तवन कर समस्त कर्मों का क्षय कर अक्षय मोक्ष-पद पाते हैं।

व्यवहारी छद्मस्थ अल्प ज्ञानी जीवों का आरम्भ से प्रयास कर चैतन्य चमत्कार मात्र, पर द्रव्यों से रहित, परम पदार्थ आत्मा का अपने अन्तरङ्ग में अवलोकन करना या उसका श्रद्धान करना तथा उस स्वरूप में लीन होना निश्चय सम्यक् दर्शन है। जब तक व्यवहार नय के विषय भूत जीवादि भेद रूप तत्वों का केवल श्रद्धान मात्र रहता है, तब तक निश्चय सम्यक् दर्शन नहीं हो सकता; अतएव तत्वों की सन्तति को छोड़ शुद्ध नय का विषय भूत केवल शुद्ध एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो। शुद्ध आत्मा समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्न है। द्रव्य—दृष्टि से यह किसी से

उत्पन्न नहीं हुआ। वह एक ज्ञायक भाव और ज्ञान स्वरूप है। उसी का भली प्रकार आचरण करना चाहिये। इसी कारण निर्मल, स्वच्छन्द स्वाधीन प्रवृति रूप मुनि अत्यन्त प्रकाशवान ज्योति से अज्ञानान्धकार को दूर कर शुभाशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं। तुम भी समस्त 'पर' द्रव्यों से पराङ्मुख हो सम्यक् प्रकार एक निश्चय आत्मा का ही श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करो, जिस तरह हो सके शुद्ध, ज्ञान, दर्शन, आनन्द धन स्वरूप अपनी आत्मा में स्थिरता धारण करो। हे आत्मन्! तुम्हारा निज स्वरूप में स्थिर न होना बड़ा आश्चर्य कारक है। समस्त पर द्रव्यों से पराङ्मुख हो अपने स्वरूप में क्यों नहीं ठहरते?

निश्चय—नय से यह आत्मा आत्माश्रित ही है। इसी के द्वारा कर्मों से छूटते है। जो एकान्त और व्यवहार-नय के आश्रित प्रवर्त रहे हैं। वे कर्मों से कभी नहीं छूटते। अभव्य जीव यदि व्रत, समिति और गुप्ति रूप तेरह प्रकार चारित्र पाले तो भी निश्चय सम्यक् श्रद्धान और ज्ञान के बिना उसका चारित्र सम्यक् चारित्र नहीं कहलाता; अतएव वह अज्ञानी और मिथ्या—दृष्टि ही है। यद्यपि वह ग्यारह अङ्ग तक का पाठी हो जाता है तथापि उसका सब पढ़ना गुणकारी नहीं है। उसका धर्म-साधन तो संसार—भोग का ही कारण है। उसके हृदय में सत्यार्थ धर्म की श्रद्धा नहीं है। उसमें भेद—विज्ञान की योग्यता नहीं है। उसकी प्रतीति और रुचि अभूतार्थ धर्म में ही रहती है जिसके फल स्वरूप यद्यपि वह ग्रैवेयक तक की सुख भोग पूर्ण यात्रा कर आता है। तथापि एक सत्यार्थ धर्म के श्रद्धान के अभाव से वह कर्मों से नहीं छूटता। उसके हृदय से पुण्य रूप कर्म में ही श्रद्धा जमी रहती है। इसी से नवग्रैवेयक तक के सुख भोग कर संसार में पंच परिवर्तन करता रहता है।

अज्ञानी आत्मा संसार—चक्र में भ्रमण करता हुआ अहंकार से भरा हिंसा, असत्य, चोरी अब्रह्म और परिग्रह इन पंच पापों को मन—वचन—काय के योगों से सदैव करता रहता है। निश्चय—नय से दूसरे जीवों के प्राणों का वियोग या नुकसान दूसरों के द्वारा नहीं किया जा सकता वह तो उस जीव के कर्मों के उदय की विचित्रता से कदाचित ही होता है और नहीं भी होता। "मैं जीवों को मारता हूँ या सताता हूँ"। उसका यह अज्ञान मय अहंकार उसी के विशुद्ध चैतन्य प्राणों का घातक है। यही अहंकार—ममकार बन्ध का कारण हो भवान्तर में संग चला जाता है और वहाँ दुख पहुंचाता है। इसके विपरीत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह एक देश अथवा सर्व देश पुण्य-बन्ध कराते हैं। अपना अभिप्राय मात्र पुण्य या पाप-बन्ध का कारण है। अज्ञानता के कारण यह आत्मा अपने को भूला हुआ है। इस चतुर्गति रूप संसार में जितनी अवस्थायें और पदार्थ हैं, उन सबके स्वरूप अपने को मानता है। अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं पहिचानता। यह अध्यवसान अज्ञान रूप है। आत्मा समस्त पर द्रव्यों से भिन्न है तो भी मोह के प्रभाव से अपने को देव, मानव, नारकी, निर्यन्च सुखी—दुखी, रंक—राव, बाल—वृद्ध स्वरूप समझ रहा है। ये अज्ञान अदर्शन और अचारित्र स्वयं अज्ञान रूप और शुभाशुभ कर्म-बन्ध के निमित्त हैं। तात्पर्य यह कि सभी अध्यवसान कर्म-बन्ध निमित्त हैं। जिनके ये अध्यवसान नहीं हैं वे ही मुनियों में प्रधान हैं। ऐसी विरली ही आत्मायें हैं।

समस्त अध्यवसान रहित मुनिवर निजात्मा की समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न, ज्ञायक भाव स्वरूप, ज्ञान—मात्र सत्ता रूप, द्रव्य-दृष्टि से किसी से उत्पन्न हुआ निरीक्षण करते और उसी का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करते हैं। उन निर्मल, स्वच्छन्द, स्वाधीन प्रवृत्ति के अन्तरङ्ग रूप मुनियों

से प्रकाशमान ज्योति जगी हुई है जिससे उनका अज्ञानान्धकार दूर होकर केवलज्ञान का प्रकाश फैल जाता है। ज्ञानी जन वस्तु का जैसा स्वभाव है वैसा ही जानते हैं। इसलिये वे राग-द्वेष मोहादि विकारों से नहीं परिणमते और दूसरों द्वारा भी नहीं परिणमाए जा सकते हैं। ऐसा नियम है कि टंकोत्कीर्ण ज्ञायक भाव स्वरूप ज्ञानी, राग-द्वेष मोहादि भावों का अकर्त्ता ही है। जब यह आत्मा ज्ञानी हुआ तब वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना कि आत्मा शुद्ध है। यद्यपि द्रव्य—दृष्टि से अपरिणमन स्वरूप है तथापि पर्याय-दृष्टि से पर द्रव्य के निमित्त से राग-द्वेषादि रूप परिणमता है। ज्ञानी होने पर उन भावों का कर्त्ता—भोक्ता न हो केवल उदय में आए हुए कर्म फलों का ज्ञाता-दृष्टा रहता है।

अज्ञानी जीव अनादि काल से आज तक अपने शुद्ध स्वभाव से छूटा हुआ है और राग-द्वेष भावों को करता हुआ कर्मों से बन्धता जाता है। यहां भव्य और अभव्य का अनुभव की अपेक्षा निर्णय है। आगम से मिलान करे तो अभव्यत्व केवली गम्य है। व्यवहार वचन से शब्द-श्रुत आचारांग आदि शास्त्रों का ज्ञान है परन्तु वस्तु का स्वभाव यथार्थ नहीं जानता। औदयिक भाव को अपना समझ कर परिणमता है और उन भावों को करता हुआ बार-बार कर्म-बन्ध करता है। दही बिलोते समय मथानी की रस्सी के समान खुलता—लिपटता रहता है। निवृत्ति रूप कभी नहीं होता है। जब यह आत्मा पर द्रव्य और अपने भावों का निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध समझ लेता है, तब समस्त पर द्रव्यों को त्याग देता है जिससे रागादि रूप भावों की सन्तति टूट जाती है। उस समय पवित्र आत्मा अपना ही अनुभव करता है। फिर धीरे-धीरे कर्म बन्धन को काट आप में ही प्रकाशमान रूप प्रकट हो जाता है। हे भव्यो! यदि तुम अपना हित चाहते हो तो तुम भी उन्हीं के समान कार्य करो जिन्होंने समस्त कर्म-बन्धनों को उन्मूलन कर डाला है।

यह आत्मा समस्त पर-द्रव्यों की परिपाटी को उल्लंघ कर युगपत् एक समय में अपने बल को प्रकट कर स्वसंवेदन ज्ञान युक्त अपनी आत्मा में स्थिर हो परमात्मा हो जाता है। केवल ज्ञान होने पर रागादि भाव नष्ट हो जाते और उनके नष्ट होने से बन्ध का कार्य नहीं होता फिर आत्मा को ढाकने वाला कोई आवरण नहीं रहता, अतएव अनन्त काल पर्यन्त धारावाही प्रभा प्रकाशवान रहती है। यही स्वानुभव का प्रभाव है। निर्विकार चैतन्य आत्मा का स्वभाव और विकारी बन्धों का स्वभाव दोनों को विशेष रूप से जानने वाले हो कर्मों से छूटकर मोक्ष पाते हैं। बन्दी खाने में बन्धे हुये मनुष्य के बन्ध काटना ही छूटना या मुक्त होना है। अज्ञानियों को आत्मा और बन्ध दोनों में परस्पर भेद नहीं दिखता। अनादि काल से एक पन कायम हो रहा है। यह आत्म तो अमूर्तिक है और बन्ध सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का स्कन्ध है, अतएव छद्मस्थ- अवस्था में ये समझ में नहीं आते हैं। अनादि-अज्ञान से एक स्कन्ध ही दिखता है। ज्ञानी अपनी परम पैनी बुद्धि रूपी छैनी से दोनों (आत्मा और पुद्गल) को पृथक-पृथक कर देता है। ज्ञानी का यह स्वभाव ही है।

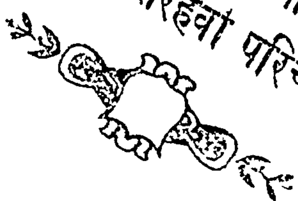
यह चेतन मात्र आत्मा का लक्षण है और राग-द्वेष मोहादि बन्ध के लक्षण हैं। ये दोनों ज्ञेय-ज्ञायक भाव की अत्यन्त निकटता से एक से दिखाई देते हैं। ज्ञानी इन दोनों की सूक्ष्म संधि को देख निष्प्रमाद हो बड़ी सावधानी से उस पर शुद्धबुद्धि रूपी तीक्ष्ण छैनी रख ज्ञान रूपी घन की चोट लगाता है, जिससे आत्मा आत्मा और पुद्गल द्रव्य अलग अलग हो जाते हैं। वह ज्ञानी इन दोनों को स्पष्ट रूप से पृथक-पृथक अनुभव करने लगता है, चैतन्य भाव मात्र अनुभव कर ज्ञान ही में लीन रहना भिन्न करना है। ऐसा करने से ही त्रिविध कर्ममल अर्थात् द्रव्य कर्म भाव-कर्म और नो कर्म दूर हो जाते और सिद्ध-पद प्राप्त हो जाता है। चैतन्य और ज्ञान स्वभावी आत्मा का महान आदर

करने से यह आत्मा समस्त कर्मों को क्षय कर जन्म—जरा —मरण रहित हो परमात्मा हो जाती है। प्रत्येक आत्मा अपने शुद्ध आत्मीय पुरुषार्थ से परमात्म-प्रद प्राप्त कर सकती है।

जो पवित्रात्मा अपकी अनुभूति में निमग्न हो मुक्ति-वधू को व्याहना चाहे उसे अर्हंत-देह में स्नान करने के लिये प्रथम परम सुगंधित भेद—विज्ञान रूपी उवटन लगा अभेद रत्नत्रय रूपी आत्म—रत्नाकर के निर्मल; सुधा सम मिष्ठ जल में खूब एकाग्रता से मल मल कर स्नान करना चाहिये। तदनन्तर स्व वीर्य रूपी गाढ़े निर्मल वस्त्र से अपना समस्त अङ्ग प्रक्षालन करे। फिर शुक्ल ध्यान रूपी निर्मल धोती पहिन वैराग्य रूही चन्दन का तिलक शरीर रूपी दर्पण ले मस्तक पर लगावे। अपने अंग को चौरासी लक्ष गुण रूपी अमूल्य आभूषणों से सुसज्जित कर रत्नत्रय की एकाग्रता रूप दैदीप्यमान मनोहर मुकुट सिर पर धारण करे। अपने कानों में समता—शान्ति रूपी कांतियुक्त कुण्डल पहिन, कंठ मे उत्तम क्षमादि दश लक्षण रूप मनोहर मोतियों की माला धारण करे। दोनों सुदृढ भुज-दण्डों में स्वदया और पर दया रूपी बाजूबन्द पहिन भाव संवर और भाव निर्जरा रूपी रत्न-जड़ित कड़े पहिने। संयम रूपी कटि मेखला या करधनी कमर में धारण कर वीतराग चारित्र रूपी जामा में स्वसंवेदन रूप नाड़ा डाल अङ्ग पर धारण करे। स्वात्मनुभव रूपी स्वप्रेम में अनुरक्त हो कमर में चारित रूपी फेंटा कसे। शुद्धोपयोग रूपी ढाल और निजानन्द रूपी कटार हाथ में ले मनोवेग रूपी तुरङ्ग पर आरूढ हो स्वभाव रूपी लगाम अपने हाथ में रक्खे। सकल संयम और रत्नत्रय रूपी बरात सजा आनन्द रूपी बादित्रों के साथ स्फटिक मणि के समान आत्मा को अन्तरङ्ग में झलकाता केवल ज्ञान रूपी प्रकाश मे अपने चौदहवें गुण—स्थान रूपी भवन से निकल शांत शुद्ध परिणाम रूपी मुक्त-वधु महल में एक समय में ही पहुंच जावेगा? उस समय आत्माराम रूपी

वर का अद्भुत शृङ्गार-बनावट देख मुक्ति-वधू उस पर मोहित हो उसे वर लेगी। वह सदा के लिये परमानन्दानुभव में मग्न हो लोक शिखर के अग्रभाग में स्थिर हो जायगा।

यही अष्ट कर्म रहित, अष्ट गुण मण्डित, निरंजन, निर्विकार, अखण्ड, अनुपत, प्रति पक्षी रहित स्वभाविक सुख उस दिव्य आत्मा ने प्राप्त कर लिया है। यह आत्मा चरम से किंचित न्यून रहती है; वह तरकस से निकले हुये बाण के समान निःसंग है। वह नित्य अविनाशी शुद्ध और सकल ज्ञेय ज्ञायक है। वही ज्ञायकाकार आत्मा सिद्ध महाराज है। ऐसी ही हम सब की आत्मा है। परन्तु उन्होंने समस्त कर्म क्षय कर दिये और पूर्ण शुद्ध हो अशरीर हो सिद्ध महाराज हो गये हैं और हम अष्ट—कर्म मल से लिप्त हुये संसार में नाना प्रकार के कष्ट भोग रहे हैं। शरीर और सम्पदा के ममत्वों में दिन रात फंसे रहते हैं। यदि हम चाहे तो स्वानुभव द्वारा पुरुषार्थ कर कर्मों का क्षय कर सिद्ध भगवान हो सकते हैं क्योंकि उनकी और हमारी आत्मा एक ही जाति की है। हम भी पुरुषार्थ कर सिद्ध—पद प्राप्त करेंगे। इस प्रकार से ही तेरहवां परिच्छेद समाप्त हुआ।



चौदहवाँ परिच्छेद

* मङ्गलाचरण *

दोहा—सत्य सुधारस ज्ञानमय, जिनवर निज गुण लीन।
बार बार वन्दन करों, देवशास्त्र गुरु तीन॥

पड़ता है, जो कि इस आत्मा के कर्म—फन्द अनादि सम्बन्ध होने से यह आत्मा विकार वान् मालूम है, लेकिन आत्म—स्वभाव में विकार नहीं है। यह आत्मा-ज्ञाता-दृष्टा नित्य अविनाशी टंकोत्कीर्ण शुद्ध स्वभाव वाला है और अपने संचित कर्मोपाधि से विभाव रूप दीखता है, उस विभाव परिणति से अपने निज स्वरूप को भुला कर मोही पागल रूप होगया है, परन्तु जिस समय अपने स्वरूप का विचार करे, तब मालूम पड़े, कि मैं आत्माराम—विज्ञानघन परमात्मा हूं। शुद्ध परमब्रह्म स्वरूपी हरि शङ्कर हूं, मैं अनन्त गुणों की अपेक्षा से अनन्त नाम वाला हूं तथापि ममता रूपी महाराणी के संग से कर्म—बन्ध के सम्बन्ध से भ्रमण शील होकर अपने आत्म—गुणों का घात कर रहा हूं मेरी भूल से पर वस्तु में ममकार, अहंकार का प्रयोग कर आत्मीक सत्ता का अभाव पा कर रहा हूं, अब मैं उसको पुरुषार्थ के द्वारा दूर कर अपने परम पवित्र स्वभाव को प्राप्त होकर पूर्ण सुखी बन जाओ, यही मेरी असली अवस्था है। जिस प्रकार कर्दम में से मिला हुआ खानि का स्वर्ण कीट कालिमा आदि मलों से युक्त हुआ रहते हैं, जब बुद्धिमान् सुवर्णकार सुनार उसे धूप—मसाला के द्वारा अग्नि में प्रवेश कर धोंकनी के द्वारा गला कर कालिमा आदि मलों से दूर कर शुद्ध स्वर्ण निकाल

लेते हैं। उसी तरह अनादि-काल से कर्म मल से लिप्त हैं। उस को पुरुषार्थ द्वारा कर्म—मल दूर कर अपने सहज स्वभाव को प्राप्त होकर पूर्ण सुखी बन जाता है। यही तो आत्मा की असली है और इस अवस्था में इस आत्मा को सच्चा सुख प्राप्त होता है।

यही सदा सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है इस उपरयुक्त रहस्य को समझ ने वाला प्रत्येक व्यक्ति नहीं जो कि आत्म–शुद्धि करने में अपनी रुचि रखता है और तत्व के स्वरूप को समझता है वह सांसारिक दुःखों से अवश्य छूट सकता है। इन छूटने का उपाय रत्नत्रय मय आत्म–प्रबोध है, विचार करे तो यह जीव अकेला ही नरक धरा में जाकर घोर दुःखों को सागरा पर्यन्त सहन करता है और यह जीव अकेला ही स्वर्ग में जाकर इन्द्र अहमिन्द्रादि देव पर्याय का सुख प्राप्त करता है तथा अकेला ही कर्म बाँधता है और आप ही विवेकी होकर सब कर्मों के आवर्णो को दूर कर केवल–ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष के सुखों को अनन्त काल भोगता है। तब वह तत्व ज्ञानी हमेशा आत्म–भावना को भाता हुआ विचारता है कि मैं एक चैतन्य स्वरूप आत्माराम हूँ। आत्मा ही एक मेरा उत्कृष्ट तत्व है वही एक परमब्रह्म–परमात्मा पर ज्योति है। नित्य आनन्द मई पद को देने वाला है। ऐसी भावना बार–बार स्मरण करने से अपने आत्मा को निरंजन चिदानन्द चैतन्य स्वरूप परम पदार्थ शान्त स्वरूप शरीर सहित सकल परमात्मा बन जाता है और आयु समाप्त होते ही यही आत्मा शरीर त्याग कर मुक्त हो जाता है। इस मुक्त आत्मा को ही निकल परमात्मा कहते हैं।

जब यह आत्मा मन रूप विषय बन में शुद्ध-भाव रूप सिंह जब तक जाग्रत रहता है, तब तक दुर्ध्यानि रूपी हिरण उस जङ्गल में नहीं प्रवेश कर सकता है। ऐसा न्याय है, बात यह है कि जितने महा पुरुष भूत–काल में सिद्ध हुये हैं और भविष्य में भी जितने भव्य सिद्ध पद को प्राप्त होंगे वह

सब इन भावों का ही महात्म्य है। इन भावों से ही अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्मा ही को अपना ध्येय बना लेता है और सर्व राग—द्वेषादि, उपाधि से रहित आत्मा के द्वारा ही जान कर उस में ही स्थिर तिष्ठता है वही आत्मा मोक्ष-मार्ग में चलने वाला है। वही निजानन्द रूपी अमृत पान पी कर तृप्त होता है और जगत का स्वामी पूजनीय परमात्मा बन जाता है। इसलिये ऐसा विचार करो कि मैं एक हूं। मेरा कोई भी जड़ चेतनादि अन्य पदार्थ मेरा नहीं है। मैं शुद्ध ज्ञान दर्शन लक्षण वाला हूं। ऐसा सन्तों को सदा स्मरण करना चाहिये। कि यह प्रत्येक जीव अकेला है, सदा निराला स्वतन्त्र स्वाधीन है। अपने स्वभाव से एक जीव में न दूसरे जीव है न कोई परमाणु या स्कन्ध है, न कोई कर्म के भेद जो पुण्य—पाप है, न राग-द्वेष मोह की संकला है, न सुख दुःखादि है, न नारक, पशु, देवता और मानव है, न अन्न विषय है, न पांचों इन्द्रिय मन है, न स्त्री—पुरुष नपुंसक है, न बाल—युवा और वृद्ध है, न ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र है, न आर्य म्लेच्छ है, न लघु दीर्घ है, न साधु गृहस्थ है, न बन्धन से जकड़ा है और न खुला है। प्रत्येक जीव से सब निराला शुद्ध-ज्ञाता-दृष्टा वीतराग अविनाशी सिद्ध परमात्मा के समान है। ऐसा सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि आत्मीक सच्चे सुख का पहिचान लेते हैं, वह मोक्ष प्राप्ति का प्रेमी बन जाता है और वह शीघ्र ही कर्म बन्धन से छूट जाता है; वह विचार करता है कि यह आत्मा जो शरीर में रहता है तथापि शरीर से भिन्न है और कर्म रहित अनन्त सुख स्थान है तथा शुद्ध पवित्र है। जो ज्ञान विवेकी महानुभाव इस संसार देह भोगों से विरक्त हो कर अपने आत्म-कल्याण करने के लिये ध्यान तपश्चरणादि पवित्र कार्यों में इस शरीर को लगाते हैं या क्षीण करते हैं वही इस शरीर धारण का यथार्थ लाभ लेते हैं और यही कार्य सब को करने योग्य है। समझिये जब संचित कर्म आज या कल अपने समय आने पर

सुख—दुखादि फल प्रदान कर खिर जाता है तब आत्मा में नवीन भाव पैदा होने लगता है और उनसे नवीन कर्म जंजाल फैल जाता है।

इस प्रकार अनादि काल से कर्म और उनके फल का क्रम बीज वृक्ष की तरह चला आ रहा है। यदि जो यह आत्मा अपने पूर्व कर्म फलों में मन—वचन—काय को हलन—चलन क्रिया नहीं करे, तो नवीन कर्म परमाणु नहीं आवेंगे पूर्व संचित कर्म भी बिना फल प्रदान दिये ही आत्मा से खिर जायेंगे। जब सर्वथा पृथक हो जायगा तब आत्मा अपने शुद्ध निजानन्द मय स्वभाव को प्राप्त होकर शरीर तज कर मुक्त हो जायगा और अनन्त सुख का भोक्ता बन जायगा। ऐसा आत्मा का स्वभाव ग्रहण करने योग्य है। यह स्वानुभव का महात्म्य है। स्वानुभव किसको कहते हैं, जो आत्मा बुद्धि विकल्पों को उलंघन कर पदार्थों के आश्रय को छोड़ कर ज्ञान का अवलंबन लेकर स्वात्म-ध्यान में रमते हैं। ऐसे स्थिर विचारात्मक भाव को स्वानुभव कहते हैं अर्थात् अपना मन ज्ञान का उपयोग अपने चैतन्य पदार्थ पर लगाता है ऐसी अवस्था में मन आत्मा में स्थिर होता है। स्वतः में संकलित शुद्ध ध्येय भाव को प्राप्त होता है। तब आत्मा अनात्मा का राग—द्वेष का ध्याता - ध्यान का सब विकल्प जाल दूर होकर आत्मा—आत्मा में रत होता है यही स्वानुभव है यही साध्य है। इनकी सहायता से ही सम्यग्दर्शन होता है।

जो सम्यग्दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम क्षयोपशम या क्षय से जिस समय आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसी समय आत्मा के कुमिति और कुश्रुति ज्ञान मिट कर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान स्वरूप हो जाता है इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान में काल भेद नहीं है। दोनों एक साथ ही होते हैं, यद्यपि ज्ञान अल्प अक्षर वाला है, किन्तु अल्प अक्षर वाले से जो पूज्य होता वही प्रधान होता है।

इसलिये दर्शन और ज्ञान में दर्शन ही पूज्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इसलिये पूज्य होने से सम्यग्दर्शन को पहले कहा है। उसके बाद सम्यग्ज्ञान को कहा है और सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता। इसी से चारित्र को अन्त में रखा है। तहाँ जो पदार्थ जिस स्वभाव वाला है उसका उसी स्वभावरूप से निश्चय होना तत्वार्थ है और तत्वार्थ का श्रद्धान न करना सम्यग्दर्शन है।

इस सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं। प्रथम सराग सम्यग्दर्शन दूसरा वीतराग सम्यग्दर्शन, जो प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य, ये भाव सराग सम्यग्दर्शन के सूचक हैं। जहाँ रागादिक भावों की तीव्रता न होने को प्रशम भाव कहते हैं, संसार शरीर भोगों से विरक्त होने को संवेग है। प्राणी मात्र को अपने मित्र समझना अनुकम्पा है, और आगम में जीवादि पदार्थों का जैसा स्वरूप कहा है जो भाव विशिष्ट भाववान् का श्रद्धान करना उसी रूप उन्हें मानना आस्तिक्य है तथा आत्मा के विशुद्धि का नाम वीतराग सम्यग्दर्शन है। जो वीतरागी प्रति बुद्ध ज्ञानी जन पर वस्तु में आसक्त या ममत्व बुद्धि नहीं धारण करते हैं, निज को निज और पर को पर मानते हैं। वही सम्यग्दर्शन है। जिनके शरीर से ममत्व छूट जाता है और अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा को शरीर पुद्गल के पिंड से भिन्न समझ लेता है तब आत्मा के निज ज्ञान–दर्शन स्वरूप में ही आत्म बुद्धि हो जाती है। तब वह जीवात्मा सम्यग्दृष्टि होकर तपश्चरण ध्यानादिक के द्वारा अपने आत्मा को शरीरादिक पर द्रव्य के बन्धन से सर्वथा पृथक कर लेता है और सदा के लिये मुक्त हो जाता है। इसलिये पर—पद को तज कर निज पद पाकर परमात्मा पद प्राप्त करने का प्रयत्न करो, क्योंकि यह जीवात्मा अनादि कालीन अज्ञानता के कारण कर्मोंध से पर्यायों में आत्म—बुद्धि धारण कर उसी को अपना आत्मा समझ

लेना है, इस तरह उसका यह अज्ञानात्मक संस्कार जन्म–जन्मांतरों से बराबर स्थिर दृढ़ होता हुआ चला आ रहा है और चला जाता है। परन्तु जो पुरुष पुरुषार्थ के द्वारा शुभ-अशुभ मन–वचन–काय को निरोध करके पीछे ज्यों आत्मा में स्थिर होता है। वह ध्याता पुरुष अपने आत्मा में स्थिर होना ही परम ध्यान है। बात यह है कि ध्यान ध्याता नित्य निरंजन क्रिया रहित निज शुद्ध आत्मा के अनुभव को रोकने वाली शुभ—अशुभ चेष्टा रूप काय की क्रिया रूप वचन को तथा शुभाशुभ अन्तरङ्ग बहिरङ्ग रूप वचन की और शुभाशुभ विकल्प समूह रूप मनतरङ्ग के व्यापार को कुछ भी मत करो। स्वाभाविक शुद्ध ज्ञानदर्शन परमात्म तत्व के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरण रूप अभेद रत्नत्रयात्मक परम ध्यान के अनुभव से उत्पन्न सर्व प्रदेशों को आनन्ददायक सुख के अनुभव रूप परिणति सहित स्वात्मा में तन्मय हो जाता है, वह निश्चय से परम उत्कृष्ट ध्यान है। उस परम ध्यान में स्थिर जीवात्मा को ही वीतराग परमानन्द सुख प्रति भाषता है वही मोक्षमार्ग का स्वरूप है।

सम्पूर्ण पदार्थों में शुद्ध नय से देखिये तो एक चैतन्य चमत्कार स्वरूपमात्र प्रकाशमान आत्मा ही है। परन्तु व्यवहारनय से देखिये तो आत्मा पाँच प्रकार करि अनेक प्रकार दीखे है, प्रथम अनादिकाल से कर्म पुद्गल के सम्बन्ध से कर्म पुद्गल में बन्धा हुआ स्पर्शरूप दीखे है। दूसरा भेद कम पुद्गलों के निमित्त से उत्पन्न भये जो नरनारकादि पर्याय तिनमें नानारूप दीखे है। तीसरा भेद शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद घटे या बधे है यह वस्तुस्वभाव है इसलिये नित्य नियत एक रूप न दीखे है। चौथा भेद दर्शन ज्ञानादि अनेक गुण सहित विशेष रूप दीखे है। पंचमा भेद कर्म के निमित्त से जो मोह, राग, द्वेषादिक परिणाम उत्पन्न होते हुये सुख दुःखादि रूप दीखे है। यह सब व्यवहार नय का विषय है। परन्तु वस्तु स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है सो स्याद्वाद वाणी से सधे है। क्योंकि यह आत्मा भी अनन्तधर्मा है इसमें

कितनेक धर्म तो स्वाभाविक हैं और कितने ही धर्म पुद्गल के सम्बन्ध या संयोग से उत्पन्न भये हैं। तहां कर्म पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुये वह संसारी जीव सुख दुःखादि भोक्ता होते हैं, इनके अनादि अज्ञानपना से पर्याय बुद्धि हो रही है। परन्तु अनादि अनन्त परद्रव्य से भिन्न सर्व पर्यायों में एकाकार हानि वृद्धि से रहित विशेषपना रहित नैमित्तिक भावों से रहित अनादि अनन्त एक आत्मा का ज्ञान से शून्य है।

इसके भेद को कहने वाला जिनागम है। उनको जानकर आत्मा को एक असाधारण चैतन्यरूप अखण्ड, नित्यनिरंजन और अनादि निधन भाव है उसे जानने से पर्याय बुद्धि का पक्षपात दूर होकर निज स्वभाव का अवलम्बन लेकर कर्मबन्ध से निवृत्ति हो जाता है और संसार देह भोगों के सुख-दुःखों से छूट जाता है। इसलिये स्व—आत्मा का अनुभव करो। यह आत्मा चेतन द्रव्य है, इसमें ज्ञानादि अनन्त गुण है इनसे पर रूप शरीरादि पुद्गल द्रव्य है जोकि अपने समय पाकर पृथक् हो जाता है और नवीन पुद्गल परमाणुरूप पिण्ड बन जाता है। क्योंकि संसार में जो वस्तु बलवान् होती है वह दूसरे द्रव्य को अपनी तरफ खींच लेती है, फिर वह अवसर पाकर कभी कर्म पुद्गल बलवान् बन जाता है और कभी जीव द्रव्य बलवान् हो जाता है। इस तरह जीव और कर्म पुद्गलों का अनादिकालीन से परस्पर विरुद्ध रूप सम्बन्ध चला आ रहा है। अतएव जिस समय कर्म बलवान् होता है उस समय वह जीव कर्मों का उपकार करता है।

इस जीव के साथ औदयिक भावों की उत्पत्ति कर नये नये कर्मों की रचना रचता हुआ अपने अंग स्वरूप कर्मों का पोषण करता है, क्योंकि इस जीव द्वारा किये गये राग, द्वेष, मोहादि विभावभावों द्वारा परिणामों के निमित्त से अन्य कर्म पुद्गल वर्गणा स्वमेव आकर कर्मरूप पिण्ड परिणत हो जाता

२

है, उसकी शृंखला नहीं टूटती है। परिणमन स्वभावी जीव के साथ स्वयं होने वाले जो राग द्वेषादि रूप परिणाम है उनमें पुद्गल कर्म निमित पड़ जाता है तथा जिस समय जीवात्मा बलवान हो जाता है उस समय वह भी कर्म कलंक धोता हुआ अनन्त सुख स्वरूप मोक्ष महल की इच्छा करता हुआ अपने ज्ञानानन्द रूप शुद्ध सुख स्वभाव में स्थिर रहता है। इसलिये हे आत्मन्! तू लोक के समान अज्ञान मूढ़ बनकर, दिखने वाले शरीरादि परम पदार्थों का उपकार कर रहा है, यह सब तेरा अजानपना है, अब तू पर के उपकार की इच्छा न कर अपने ही उपकार में सदाकाल लीन रहो परद्रव्य से क्या मतलब है।

जैसे कोई अज्ञानी प्राणी अज्ञान से अपने शत्रु को मित्र समझकर रातदिन उसकी सेवा चाकरी में लगा रहता है उसका सदा हित करता रहता है। उसका हित करते हुये समय अपने अहित या हानि हो जाने का कोई ध्यान नहीं रखता है उनहीं के हित साधन में ही अपना सर्वस्व लगा देता है। परन्तु जिस समय उसे इस बात का परिज्ञान प्राप्त हो जाता है कि यह मेरा मित्र नहीं किन्तु मेरा शत्रु है, तब ही से वह उसका उपकार करना त्याग देता है और फिर अपने ही हित मे प्रवर्तक करने में सावधान हो जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान अवस्था में इस चिदानन्द स्वभाव आत्माराम से भिन्न शरीरादि पर–पदार्थों के संयोग होने पर रात दिन उनके पालन-पोषण में सदा सावधान रहता है और उन्हें अपना समझते हुये उनके संरक्षणादि कार्यों में अनेक आपदाओं का भी ध्यान नहीं करता है जोकि ये मित्रादिक पर–पदार्थों में अपनी आत्मबुद्धि बदल दे। झूठी कल्पना बिलकुल छोड़ दे कि वह मेरे नहीं हैं और न मैं कभी उनका हो सकता हूँ। इस तरह यह आत्मा निज विवेक ज्ञान का आश्रय कर अपना हित साधन करने मे तन्मय हो जाय तब ही कल्याण होता है। जो जीव आरम्भ परिग्रह से रहित सुगुरु के उपदेश और उस उपदेश के अनुसार स्वाध्याय रूप स्वात्मानुभव से स्वपर के भेद को

जानते हुये कि यह चैतन्य स्वरूप आत्मा ही मेरा है और सर्व बाह्य पदार्थ भिन्न हैं यह सब जड़ पदार्थ हैं और पर हैं, वे मेरे कभी नहीं हुये और कभी नहीं हो सकते। जबतक इस तरह का भेद विज्ञान नहीं होता तब तक स्वपर का भेद विज्ञान नहीं हो सकता है। इस प्रकार के भेद विज्ञान में शास्त्राभ्यास प्रधान कारण है। इस शास्त्राभ्यास से स्व पर के लक्षणों की पहिचान होती है और भेदज्ञान ज्योति जागृत हो जाती है। इसलिये मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करने वाले पुरुषों को अवश्य ही स्व-पर का विवेक प्राप्त करना चाहिये। ऐसे जो नित्य आत्मा का अनुभव करता है वही ज्ञानीजन है। जो ज्ञान है वही आत्माराम है और आत्मा है सो ही ज्ञान है।

ऐसे गुणी गुण को अभेद दृष्टि में समझ जाते हैं और जब सर्व परद्रव्यों से आत्मा को भिन्न समझ लेता है तब अपने आत्मगुण पर्याय निर्विघ्न एकरूप निश्चल पर-वस्तु से भिन्न अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव हो जाता है। सो ही आवश्रुत ज्ञानरूप जिन शासन का अनुभव है। वह अनाकुल अन्तर रहित अविनाशी चैतन्य भाव कर देदीप्यमान सदा उद्‌विलास उदय रूप एक रूप दर्शाता है। वही आत्माराम है, यही स्वरूप ज्योतिर्ज्ञानानन्दमय एकाकार हमारे सदाकाल जागृत रहो ऐसे भेदाभेद के ज्ञान से ही साध्य की सिद्धि होती है सोही आत्मा है। परन्तु इस समय योगीराज चरम शरीरी नहीं है और तद्भव मोक्ष के कारण भूत, वज्र, वृषभ, नाराच से भिन्न अन्य संहनन का धारक है और सदाकाल ध्यानाध्ययन अभ्यास करते हैं। सदा आत्मचिन्तवन में उपयोग लगाते हैं। उस साधु के सभी अशुभ कर्मों की निर्जरा या संवर होता है और उस पवित्र आत्मा के पुण्य और पाप बिना फल दिये ही स्वमेव गल जाते हैं वह कर्म आत्मसमाधि की निर्मल ज्योति ज्वाला में भस्म हो जाता है तब उस ऋषिराज के शीघ्र ही स्व—स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। वह पवित्रात्मा निरंजन परमात्मा बन

जाता है। पुनः भ्रमण नहीं करना पड़ता है, जब वह अध्यात्म योगी अपने स्वभाव में लीन होता है। तब मनुष्य तिर्यन्च देव तथा ज्योतिष व्यन्तर असुरादि कृत या शील भाव और वर्षादि महान घोर उपसर्ग या कर्मोदय जन्य विविध व्याधियों आदि का कोई स्मरण नहीं रहता, क्योंकि अपने स्वरूप में निमग्न अध्यात्म योगी के समस्त कर्मों के आस्रव का निरोध करने वाली निर्जरा शीघ्र हो जाती है।

इस प्रकार इस आत्म—ध्यान की एकाग्रता से या चित्त-वृत्ति के निरोध से कर्मों की अनन्त गुणी निर्जरा होकर स्व—स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है। ऐसा आत्म-प्रबोध का महात्म्य है। जब यह आत्मा शुभाशुभ भावों की परिणति को त्याग कर अपने शुद्ध स्वरूप में विचरण करने लगता है। तब शीघ्र असंख्य भव सम्बन्धी कर्म-बन्धन शृंखला को काट कर स्वयं कर्मों से निर्मुक्त हो जाता है।

जिस प्रकारकमल की नलिनी पर बैठा हुआ तोता उस नलिनी को पकड़ कर जकड़े रहा है, किन्तु ज्यों ही उसे वह ज्ञान हो जाता है कि मुझे कमल की नाली ने नहीं पकड़ा, किन्तु मैं ही इसको स्वयं पकड़ा है और मैं मेरी पक्षी पने के उड़ाण को विस्मरण हो रहा हूं अर्थात् अपने गति स्वभाव को भूला हुआ हूं। जब चाहे उसे छोड़कर आकाश मार्ग में उड़ा सकता हूं। जब यह विवेक जाग्रत होते ही वह तोता कमलनिली के बन्धन से छूट कर आकाश मार्ग में उड़ जाता है। ऐसे ही यह प्राणी मोह रस पान कर अज्ञान असंयम के संयोग से संसार बन्धन को बढ़ाता है। इस परंपरा चक्र को चलाने वाला यह आत्मा ही है। क्योंकि स्वतन्त्र सा धनादि कठोर तपश्चरण द्वारा समता—भाव युक्त उसमें स्वयं ही मुक्ति हो सकता है। अन्य कोई उसे बांधने या छुड़ाने वाला नहीं है। इस प्रकार आत्मा का गुरु आत्मा ही है। आत्मा यदि चाहे तो अपने को संसार का स्थाणा बनावे, या मोक्ष धरा में जा धरे, दूसरा कोई आत्म स्वभाव का कर्त्ता—धर्त्ता नहीं है। वह स्वयं ही शुभाशुभ और शुद्ध भावों

का कर्त्ता है और आपही में भोक्ता है।

परन्तु जिस समय इस जीव के शुभाशुभ निमित्त वस शुभाशुभ कर्मों का बन्ध पड़ता है। उसमें कार्मांण जाति की वर्गणाओं से भरा हुआ सब संसार कारण नहीं है और न चेतन—अचेतन पदार्थों का समूह बन्ध कारण है, न अनेक इन्द्रियों के विषय कारण हैं। परन्तु जिस समय जीव का उपयोग राग-द्वेष मोहादिक के साथ एकी भाव को प्राप्त होता है। उस समय राग-द्वेष परिणाम रूप यह क्रूर भाव ही बन्ध का कारण है, ऐसे जान कर ज्ञानी जन अपने स्वरूप में लवलीन होते हैं, तब द्रव्य प्राणों का परित्याग होने पर भी मृत्यु नहीं होती, फक्त पांच इन्द्रिय तीन बल स्वासोच्छ्वास और आयु रूप दश प्राणों का वियोग होता है केवल शरीर का वियोग होता है आत्मा का नहीं; क्योंकि उसके चित्त शक्ति लक्षणात्मक ज्ञान दर्शन रूप भाव प्राणों का कदाचित्त भी अभाव नहीं होता; अतएव मरण भी नहीं होता और मरण नहीं होने से कृष्णा,सर्प, सिंहादि बन–चर जीवों से भी उस योगी को भय विदित न होता व; आत्म–ज्ञानी निर्भय रहता है।

वही ऋषिराज बलवन्त शाली साहसी सब अवस्थाओं में होने वाले दुःखों से भयभीत नहीं है और वह सदाकाल शान्ति महाराणी का राज फैलाता है वह दुर्गम और सुगम दोनों कार्यों को सहज ही सम्पन्न सहित कर सकता है। इस अभिप्राय से शुद्धोपयोग रूप आत्म–परिणामों में चिर संचित - कलि - कालिमा को दग्ध कर स्वसिद्धि को (स्वात्मोपलब्धि को) प्राप्त करा देने की सामर्थ्य रखता है। उनसे जीवों को स्वर्गादि संपत्ति के सुख की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। जैसे खेती कर ने वाला किसान समय पर जिस तरह धान उत्पन्न करने के लिये बीज बोता है। किन्तु धान के साथ उसे भूसा भाजी वगैरह अनायास ही मिल जाती है। उसी तरह आत्म-ज्ञानी, आत्म-ध्यान

या तपश्चरण के द्वारा ध्यान में अन्तर मुखलीन होता है, उस लीनता से निर्ग्रन्थ पद में इतना बल सामर्थ्य बढ़ जाता है कि उससे चिर—संचित कर्म कालिमा भी क्षण मात्र में दूर हो जाती है। इस योग की प्राप्ति में सुद्रव्य, सुक्षेत्रादि योग सामग्री का मिलना प्रबल कारण है। अतएव आत्मा को आत्म - ध्यानादि ही अनुपम योग है। इससे सर्व सिद्धि कार्य हो जाता है, ऐसा सर्वज्ञ देव की दिव्य-ध्वनी खिरी है।

यह जीव अनादि कालीन अविद्या महाराणी के संयोग से कर्मोदय जन्य पर्यायों में आत्म-बुद्धि धारण करता है। तब अपने निराकुल निजानन्द का स्वाद नहीं आता न अपनी अनन्त चतुष्टय रूप सम्पति का ज्ञान होता है, उस फल स्वरूप अपने आत्मा को संसार परिभ्रमण को बढ़ाता जाता है और अत्यन्त संकट भोगना पड़ता है, जब पर द्रव्य में भिन्न अपनी आत्मा को समझ लेता है। तब बाह्य पदार्थों से अहंकार ममकार का प्रयोग रूप बुद्धि हीन ही होती है। जब तत्वार्थ का यथार्थ श्रद्धान होने से आत्मा में परम संतुष्ट हो कर साधक भाव की पूर्णता प्राप्त कर स्वयमेव साध्य रूप बन जाता है और भेद—ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तब सब रस-विरस, गोष्ठी कथा कौतुकादि सब नष्ट होकर विषय वासना छूट कर पर—वस्तु से ममत्व छूट कर शरीर के ममत्व नहीं रहता मौन ग्रहण कर लेता है और आत्मा सदा अपने शान्त रस में भीज जाता है और मन के सब विकार या चिन्ता-ज्वर भी दूर हो जाती है तब ही आत्मा पवित्र बन जाती है।

जब यह आत्मा अपने को सिद्ध समान शुद्ध—ज्ञान रत्न का सागर, धात—विधाता, शिव—शङ्कर, वीतरागी, परमानन्द स्वरूप मानता हुआ शुद्ध चेतन स्वरूप में स्थिरता को प्राप्त होता है। तब सोऽहम् २ की दृढ़ भावना द्वारा परमात्मा—पद के साथ जीवात्मा की एक बुद्धि हो जाती है।

तभी इस जीव को अपनी निज अनन्त चतुष्टय रूप निधि का परिज्ञान प्राप्त हो जाता है और वह अपने को वीतरागी परमानन्द स्वरूप मानने लग जाता है। उस अभेद बुद्धि से परमात्म-स्वरूप का चिन्तवन करते करते आत्मा अपने आत्म—स्वरूप में स्थिर हो जाता है, इसी को आत्म-लाभ कहते हैं। जिसके फल स्वरूप आत्मा अनन्त काल तक निराकुल अनुपम स्वाधीन सुख का भोक्ता हो जाता है। अर्थात् जब यह आत्मा सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय व्यापार को यथेष्ट प्रवृत्ति करने से रोक कर अन्तःकरण के द्वारा स्थिर हुये क्षण—मात्र के लिये अनुपम करने वाले जीव के जो चिदानन्द स्वरूप प्रति-भाषित होता है वही परमात्मा का स्वरूप है। ऐसे निरीक्षण करने से जो अन्तरङ्ग व लोकन किया जायगा, उसी के फल-स्वरूप शुद्ध चैतन्य मय परमात्म—स्वरूप का अनुभव हो सकेगा और इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों में भ्रमती हुई मनोवृति को रोके बिना कुछ भी तत्व सिद्धि नहीं होती। अतः आत्मानुभव के लिये उसी रोकने का सब से पहले प्रयत्न करना चाहिये वह प्रयत्न यह है कि जो परमात्मा है वह ही मैं हूँ, जो स्वानुभव गम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है। इसलिये परमात्मा और आत्मा में अभेद है। तब मैं ही मेरे द्वारा उपासना करने योग्य हूं यही आराध्य—आराधक भाव की व्यवस्था है और सांसारिक कष्ट से छूटने का सद्य यही उत्तम उपाय है। यही कर्म पर्वत—चूर्ण करने का उत्तम वज्रपात है। यही सन्निपात रोग को साधने के लिये रामबाण औषधि है। यही षट खण्ड भूमि जीतने के लिये चक्र—रत्न है।

जो आप के परमात्म-पद प्राप्त करने की पूर्ण अभिलाषा है तो वह आत्मा शक्ति रूप से इस आत्मा में ही मौजूद है, किन्तु उसकी व्यक्ति प्राप्ति करने का उपाय यह है। कि इन्द्रिय विषय से विरक्त होकर ज्ञान और वैराग्य का सुदृढ़ अभ्यास करें इसके करने से आत्मा में एकाएक अद्भुत ज्ञान

ज्योति जागृत हो जाती है तथा उनकी साम्य छति रूप शान्त मुद्रा चैतन्य स्वरूप आत्मा की चित्रपट प्रतिबिम्ब का चिह्न अपने हृदय में अङ्कित हो कर आ जाती है। इस प्रकार आत्म—स्वभाव के साधक कारणों को उपयोग में लगाकर स्वयं ही परमात्म—पद प्राप्त कर निजानन्द रस का पान करता हुआ अनन्त काल तक अनन्त सुख में मग्न होकर हरि, हर, ब्रह्मा, बन जाती है। इसलिये जिसका मन रूपी जल राग-द्वेषादिक कल्लोल से चञ्चल नहीं होता है। वही पुरुष आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता है। वही सर्वज्ञ सकल परमात्मा बन जाता है ऐसा जिनेन्द्रदेव का वचन है। जो आत्मा रागरहित परिणति से रहित शरीर से भिन्न मिथ्या मानता से हीन निज स्वरूप में स्थिर है, वही मन श्रेष्ठ है। वही आत्मा का वास्तविक रूप है। इस रूप से भिन्न आत्मा के भेद ज्ञान से शून्य मन है। वह आत्मा का विभ्रम है। उस राग-द्वेषादिक से रहित मन को धारण करना चाहिये और राग-द्वेषादिक के लुब्धायमान मन को आश्रय नहीं देना चाहिये, जो कि वह मन सब बाह्य पदार्थों से हटाकर एक चैतन्य मय आत्मा को एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव रूप अनुभव करने में लग जाता है और उसी में तन्मय हो जाता है। जब ही दर्शन मोहादि कर्म उपशम, क्षय, या क्षयोपशम से इसके चित्त में विवेक रूपी ज्ञान ज्योति जाग्रत हो जाती है। तब स्व—पर स्वरूप का ज्ञायक होकर अपने आप ही प्रशान्त निजानन्द मय सुधा—रस का पान करने लग जाता है और उत्तम साधु बनकर अविनाशी आत्म—पद को प्राप्त कर सिद्ध भगवान बन जाता है। ऐसी आत्मा की अनुभव रचना है। जो पुरुष भेद—विज्ञान से छित होकर आत्म-स्वरूप की प्राप्ति करना चाहता है। वह दुर्द्धर तप करके भी निर्वाण पद को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है।

इसलिये कर्म-बन्धन से निवृत्ति होना चाहते हैं। तो आत्म—ज्ञान पूर्व क्रिया हुआ इच्छा

निरोध रूप तपश्चरण ही कार्य कारी है। यही कर्म-बन्धन से छूटने का श्रेष्ठ उपाय है, क्योंकि जो द्रव्य जिस प्रकार अपने द्रव्य स्वभाव में स्थिर हैं और वह अपने जिस गुण के मध्य वर्ती हैं। वह द्रव्य अन्य द्रव्य या गुण विषे संक्रमण नहीं होते हैं। पलटना रूप होकर अन्य द्रव्य विषे नहीं मिलता है। वह अपने स्वभाव में ही स्थिर रहता है। यही वस्तु की मर्यादा है। परन्तु मूढ़ मानव चेतन तार हित आत्मा को दूसरे शरीर में अपने शरीर के समान या इन्द्रिय व्यापार वचनादि करता हुआ पर का आत्मा देखकर अपना मान लेता हैं। इस अपनी और परकी मान्यता से विभ्रम हो जाता है। परसे अपने निजत्व को व्यर्थ ही बुद्धि धारण कर आकुलित होता है, परन्तु वस्तु स्वभाव तो यह है कि जिस प्रकार पक्षीगण नाना देश को दिशाओं से आकर रात्रि में एक वृक्ष पर बसेरा करता है और प्रातःकाल होते ही सब के सब अपने अपने अभीष्ट स्थानों को चले जाते हैं। उनमें निजत्व की बुद्धि नहीं धारण करते हैं ऐसे ही जो मध्यात्मा वाह्य पदार्थों से अपने चित्त की वृत्ति को हटा कर अन्तरङ्ग में अपने ही त्याग ग्रहण की प्रवृत्ति क्रिया करता है और मोह जनित रागादि कषाय भावों को छोड़ता रहता है तथा अपने चैतन्य स्वरूप को अपनाता है। अपने शुद्ध स्वरूप में सदा काल स्थिर रहता है। वह आत्मा को मन के साथ जोड कर तन्मय कर लेता है और वचन—काय के व्यापारों को छोड़कर आत्म-चित्त बन करने में तल्लीन हो जाता है। यदि कार्य वस वचन—कार्य की क्रिया करनी भी पड़े, तो उसे उदासीन भाव के साथ जैसे रोगी अरुचित पूर्वक चिरायता, कुटकी, गिलो आदि कड़वी दवाई पीने वाले की तरह अनाशक्ति से कार्य करे। परन्तु अपना लक्ष्य से च्युत न होवे, ज्यों जिन्हें आत्मा का परिज्ञान होकर अपने आत्मा में आत्म-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। वह पर वस्तु को आत्म-रूप के चोर चपल आतिदुर्गति, पन्थ सहायता समझने लगते हैं। किसी को भी अपना आत्म समर्पण नहीं

करते हैं और न किसी में आसक्त ही होते हैं। वह तो सदा शरीरादि बाह्य पदार्थ इन्द्रियों के द्वारा देखता हुआ अपना स्वरूप नहीं मानता है, किन्तु इन्द्रियों के बाह्य विषयों से रोक कर स्वाधीन करता हुआ उत्कृष्ट अतीन्द्रिय चैतन्य चमत्कार आनन्दघन-मय ज्ञान ज्योति प्रकाश को अन्तरङ्ग में सदा-काल देखता रहता है और सदा के लिये अपने उक्त स्वरूप का ही आराधन सदा किया करता है। अपनी बुद्धि का विषय बनाकर आनन्दमय आत्म—प्रबोध मय ज्ञान घन स्वरूप में लीन बना रहता है। ऐसा अनुभव का प्रताप है। वह अनुभवी आत्मा अपने आत्मा की भावना बार-बार पवित्र बनाते बनाते अभ्यास परिपक्व हो जाता है। कि सुख समुद्र मेरी आत्मा का ही स्वरूप है, वह आत्मा से बाहर दूसरे पदार्थों मे कहीं भी नहीं है। उसकी आदत या हालत पलट जाती है।

वह अपने आत्म—स्वरूप के चिन्तवन मे ही परम सुख का अनुभव करने लगता है और उसे बाह्य इन्द्रिय विषय अपकारी आत्म—विस्मृति के कारण जानने लगता है और उनसे अलग अलिप्त रहना चाहता है और आत्म—स्वरूप का कथन करता रहता है। दूसरे को भी सुनाता रहता है, उस आत्म-स्वरूप के कथन को आत्मानुभवी पुरुषों से पूछता रहता है, या इच्छा करता है सदा-सावधान हुआ, आदर पूर्वक ज्ञान स्वरूपी आत्मा को परमात्म-पद प्राप्त हो जाओ, तथा तत्वज्ञानी सोचता है। कि मैं जिस आत्म—स्वरूप को शब्दों द्वारा दूसरे को बतलाना चाहता हूं सो तो सविकल्प है। आत्म—प्रबोध का शुद्ध स्वरूप नहीं है। जो आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप है वह शब्दों द्वारा बतलाया नहीं जा सकता है। वह तो स्व-संवेदन ज्ञान के द्वारा ही अनुभव किये जाने योग्य है। जब दूसरों को उपदेश देने से क्या लाभ है।

ये ही विचार उसे शरीरों की वला—भूषणादि से अलंकृत करने में उदासीन पना आ जाता है।

वह उनकी अनावश्यक चिन्ता को अपने हृदय गर्भ में स्थान ही नहीं देता, जो मन—वचन—काय इन तीनों को जब तक आत्म बुद्धि से ग्रहण किया जाता है। तब तक संसार वास बना रहता है। जब इन त्रियोग को आत्मा से भिन्न होने रूप अभ्यास किया जाता है। तब आत्मा का कल्याण होता है, तब संसार बन्धन से छूट कर मुक्ति को प्राप्त होता है ऐसा जैन—सिद्धान्त है। जिस समय जिस ज्ञानी को आत्म—स्वरूप का चिन्तवन करते करते अपने में ऐसा निश्चिन्त स्थिर हो जाता है, कि उसे यह क्रियात्मक संसार का ख्याल भी लकड़ी, पत्थर, रजकणादि की तरह स्थिर चेष्टा रहित सा जान पड़ता है, उसकी क्रियाओं का उस पर कोई प्रकार का असर नहीं होता। तब वह वीतराग—भाव को प्राप्त होता हुआ शान्ति समता—सुधार—रस सुख का अनुभव करता है। तब उसको मुक्ति की योग्यता प्राप्त होती है, ऐसा सिद्धान्त है।

विचार कीजिये यह शरीर ऐसे पुद्गल परमाणुओं से बना हुआ है कि जो सदा स्थिर नहीं रहते, समय-समय पर पुराने परमाणु शरीर से बाहर निकलते जाते हैं और नये—नये परमाणु शरीर के भीतर प्रवेश करते रहते हैं। फिर भी आत्मा का और शरीर का एक क्षेत्रावगाह दूध पानी के मिलाप की तरह एकमेव सम्बन्ध हो रहा है, जो कि परमाणुओं के इस निकल जाने या प्रवेश पाने पर शरीर की बाह्य आकृति में किसी प्रकार का विशेष भेद नहीं पड़ता। वह प्रायः ज्यों का त्यों ही बना रहता है। इससे अज्ञानी मानवों को यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि यह शरीर ही मैं हूं और यह मेरा ही आत्मा है। उनके अभ्यन्तर आत्म—तत्व में उन की दृष्टि नहीं पहुँचती है। जिस प्रकार पत्थर में रस्सी की रगड़ से उत्पन्न हुये चिन्ह बड़ी ही कठिनता से दूर करने में आते हैं। उसी प्रकार आत्मा में जमा हुआ मिथ्यात्व संस्कारों का भी दूर करना बड़ा ही कठिन हो जाता है; क्योंकि संसार में जितने भी

दुःख देने वाले प्रपन्च उत्पन्न होते हैं वे सब के सब इस शरीर के साथ ही होते हैं।

जिस पुरुष के चित्त में आत्मस्वरूप की निश्चल धारावाही धारणा हो जाती है जब ही यह आत्मा आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाता है तब ही शुद्ध चैतन्यमय टंकोत्कीर्ण एक ज्ञाताद्रष्टा अभेद्य अनन्तानन्त शक्ति को लिये हुये शुद्ध हेम की तरह अपने चैतन्यस्वरूप से भिन्न शरीर पुद्गलों का पिण्ड समझ लिया जाता है, तब आत्मा के ज्ञानदर्शन गुणस्वरूप में ही आत्मबुद्धि हो जाती है, तब ही यह आत्मा सम्यग्दृष्टि होकर निर्ग्रन्थ रूप बनकर तपश्चरण ध्यानादि कार्य करता हुआ उस ध्यान के द्वारा अपने आत्मा को शरीर कर्मादि के बन्धन से सर्वथा पृथक कर लेता है। वह जानता है कि यह ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं तिनको चैतन्यस्वरूप आत्मा नहीं करते हैं। यह जाने है सो ही तो ज्ञानी है। जैसे गोरस में व्याप्त दही, दुग्ध, मीठा, खट्टा परिणाम है, तैसे ही ज्ञानावरणादि रूप परिणाम पुद्गल द्रव्य ते व्यापपणा कर विद्यमान होते हुये पुद्गल द्रव्य ही का परिणाम है जो गोरस के समीपस्थित मानव तिसके परिणाम को देखे और जाने है, ऐसे ही आत्मज्ञानी जन उन पुद्गलों के परिणामनिका ज्ञाताद्रष्टा है, कर्ता नहीं है, वह ज्ञानी ज्ञान ही का कर्ता है, ऐसे ही ज्ञानावरण कर्मपरमाणु को पलट कर दर्शनावर्णी कर्म या वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय सहित मोह, स्नेह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ नो कर्म, भावकर्म, मन, वचन, काय श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये सोलह समयसार के सूत्र के भेदज्ञानी अपने से पृथक समझता है यही ज्ञानी का लक्षण है। वे इस बन्धन से पृथक होता हुआ अपने आत्मस्वरूप से स्थिर होकर सदा के लिये मुक्त हो जाता है। यही ज्ञानी का लक्षण है।

ज्ञानीजनों के संसारी लोगों के संसर्ग से वचन वर्गणा की प्रवृत्ति होती है। वचन की प्रवृत्ति

से मन की व्यग्रता होती है या चित्त चलायमान होता है, चित्त की चञ्चलता से चित्त में नानाप्रकार के विकल्पजाल उठने लगते हैं और मनोवर्गणा के स्कन्ध क्षुभित हुआ थका भ्रमण रूप हो जाता है, स्थिर नहीं रहता है। इसलिये योग में संलग्न होने वाले योगी को चाहिये कि वह लौकिक जनों के संसर्ग का परित्याग कर दे। खासकर ऐसे स्थान पर योगाभ्यास करने न बैठे जहां पर लौकिक जन जमा हों या उनका आवागमन बना रहता हो क्योंकि जहां लौकिक जन जमा होते हैं वहां वे परस्पर में कुछ न कुछ वार्तालाप किया करते हैं और बोलते २ शोर तक मचा देते हैं। उनकी इस वचन की वर्गणा सुनने से चित्त चलायमान हो जाता है और उनमें नाना प्रकार के संकल्प—विकल्प उठने लगते हैं। वह वचन वर्गणा आत्मरूप के साधन में बाधक होता है। आत्मा को वह अपना अन्तिम ध्येय सिद्ध करने नहीं देते हैं। जो लोग आत्मानुभव से शून्य होते हैं उन्हीं का निवास स्थान गांव में होता है और आत्मदर्शी का स्थान निवास कानन में होता है या शून्य गृह चैतालय में होता है। वह सदा शुद्धात्मा का स्मरण किया करते हैं, जो वे वीतराग के कारण भूत चित्त की व्याकुलता को अपने पास फटकने नहीं देते हैं। इसलिये उन्हें न तो ग्रामवास से प्रेम है और न वन के निवास से प्रेम है। वे दोनों धाम के ही अपने आत्मस्वरूप से बहिर्भूत समझते हैं। वह तो शुद्धात्मस्वरूप को ही अपनी विहारभूमि बना लेते हैं और उस ही में रमे रहते हैं। इसलिये आत्मा का गुरु आत्मा ही है। जो भव्य सद्गुरुओं का हित करने वाला शुद्ध निर्मल समता रस से भरा हुआ उपदेश सुनकर अपने आत्मा को नहीं पहचानता वह जन्म, जरा, मरण के दुःखों को सदा भोगता रहता है। वह संसार रूपी कीचड़ में ही फंसा रहता है। नरभव पाय विफल खोता है तथा दर्शन मोह का उपशम या क्षयोपशम होता है तब उस समय सद्-गुरुओं के उपदेश के बिना भी यह आत्मा अपने आत्म—स्वरूप को पहचान लेता है और

आत्म-

...व ध

राग-द्वेषादि पर परिणति कषाय भावों को या विभाव-भावों को त्याग कर के स्वयं कर्म—बन्धन से छूट जाता है यह उत्तम आत्मा है। जो उत्तम आत्मा है वह अपने से भिन्न जो अर्हन्त सिद्ध परमात्मा की आराधना करके उन्हीं के समान परमात्मा हो जाते हैं।

जैसे दीपक से भिन्न तेल—बत्ती भी दीपक की आराधना करके दीपक स्वरूप हो जाती है। ऐसे ही यह आत्मा अपने चित् स्वरूप को ही आत्म-स्वरूप से आराधना करके परमात्मा हो जाता है। अथवा बाँस का वृक्ष अपने को अपने से ही रगड़ कर अग्नि रूप हो जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा आत्मा के आत्मीय गुणों की आराधना कर परमात्मा बन जाता है। क्योंकि बाँस के वृक्ष में अग्नि शक्ति रूप विद्यमान होती है और अपने ही बाँस रूप के साथ घर्षण का निमित्त पाकर अग्नि प्रकट हो जाती है। ऐसे ही आत्मा में भी पूर्ण ज्ञानादि गुण शक्ति रूप से विद्यमान होते हैं वे आत्मा का आत्मा के साथ संघर्षण होने से प्रकट हो जाते हैं। उस संघर्षण से ध्यान रूपी अग्नि प्रकट होकर कर्मरूपी ईंधन को जला देती है तब ही वह आत्मा परमात्मा बन जाता है। जिस पद से फिर लौटना नहीं होता है। पुनः जन्म लेकर संसार में भ्रमण करना नहीं पड़ता है। जो आत्मा अपने आत्मा को आत्म—स्वरूप में स्थिर करने का दृढ़ अभ्यास करता है उसको वचन अगोचर अतीन्द्रिय परमात्म-पद की प्राप्ति होती है, वह सदा के लिये अपने ज्ञानानन्द में मग्न रहता है, ऐसी अनुभव की महिमा है। यह आत्मा वास्तव में सत पदार्थ है और सत का कभी नाश नहीं होता, पर्याय जरूर पलटा करती है। आत्मा एक अखण्ड और अविनाशी पदार्थ है। उसमें खण्ड तथा विनाश की कल्पना करना ही नितान्त मिथ्या है। जो कि आत्मा अनादि काल से अपने ज्ञान दर्शन स्वभाव परिणति को तजकर विभावरूप परिणति में लग रहा है और अपने स्वभाव को मोहनीय कर्म के उदय से आपा को भूलकर

संसारी सुख-दुःखों को भोग रहा है और विपरीत मानता से एक—परिणति में अभी तक अटक रहा है। जैसे खान में सोना मिट्टी मिला रहता है। ऐसे आत्मा भी अनादि काल से पुद्गल का सम्बन्ध में अमूर्त चेतन्य स्वरूप आत्मा मूर्त रूप के समान अचेतन स्वरूप आत्मा मूर्त रूप के समान होगया है। इसलिये मतिमान अचेतन पौद्गलिक सम्बन्ध को अलग करना कर्तव्य है। जैसे स्फटिक शिला निर्मल होती है परन्तु उपाधियों के योग से मलीन दिखाती है। जो उस मलीनता को हटाने के लिये जितने भी प्रयत्न किया जाय, वह सब व्यर्थ है, ऐसे ही आत्मा भी स्वयं सिद्ध परमात्मा है।

लेकिन कर्मों—पाधि के संयोग से मलीन और कलंकित सी दिखती है। उस मलीनता को हटाने के लिये प्रयत्न किया जाय, तो भी वह सब प्रयत्न निष्फल होता है। जैसे स्फटिक-मणि के पीछे हरा या लाल डाक लग रहा है उसी से वह मणि हरा, लाल दर्शाता है। डाक दूर कर दिया जाय तो शुद्ध निर्मल दर्श जाता है। अमोल्य कीमत हो जाती है। ऐसे ही इस जीव को पुद्गल कर्म के संयोग से रूपी हो रहा है उस उपाधि युक्त आत्मा को देखने से उसका असली निज रूप मालूम नहीं पड़ता। जब कर्मोपाधि हटाकर देखे तो अपना आत्मा शुद्ध दिखता है। जीव और कर्म का बन्ध अनादि से चला आ रहा है। जैसे वृक्ष में फल-फूल-पत्र शाखा, इनका सम्बन्ध होने के कारण बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से बीज फलता है, तथा वृक्ष और छिलका ऐसे भिन्न किसी निमित्त से हुआ नहीं, अनादि—नियत सम्बन्ध है, इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि से चला आ रहा है। ये सब पुद्गलों का खेल है। लोक भर में पुद्गल परमाणु ठसा-ठस भरा हुआ है। ये परमाणु दो जाति के होते हैं एक स्व-जाति और दूसरा विजातीय है। अब पुद्गल परमाणु अपने सजातीय से पुद्गल परमाणु का बन्ध कर लेता है। उसे स्व-जातीय विकार या विभाव स्कन्ध कहते

है। जहाँ पर इस जीव के राग, क्रोध रूप भाव में पुद्गल परमाणु का कर्म रूप स्कन्ध होता है वहाँ पर विजातीय कृत पुद्गल विकार होता है। इस प्रकार की सपक्ष में स्व-जाति विभाव रूप पुद्गल विकार से शुद्धात्मा भी कभी विकार भाव पैदा नहीं होता।

इसलिये शुद्धात्मा अनन्त काल तक शुद्ध स्वभाव में रहता है। उस शुद्ध स्वभाव का अभाव कभी नहीं होता, उस शुद्ध स्वभाव को सादि अनिधन मानता है। जिसने संपूर्ण कर्मों को अलग कर अपने स्वरूप की सिद्धि करली है और संसार में कुछ भी करने को नहीं है। ऐसे कृत-कृत्य हुए को सिद्ध कहते हैं। वे सिद्ध भगवान भव दुःख की बीज भूत विभाव परिणति से रहित हैं। वे बाह्य वस्तु को छोड़कर अपने आत्म—स्वरूप में स्थित हैं, जिनका ज्ञान, संपूर्ण लोकालोक पर विस्तार को प्राप्त हो गया, वे समता के समुद्र अपने आत्मोत्थ आनन्द रस निज-सौख्य के परमेश्वर निकल परमात्मा संसार के निमित्त भूत जो कर्म हैं। उन संपूर्ण कर्मों को नाश कर अपने स्व-क्षेत्र में स्थित हैं। ऐसे सिद्ध परमात्मा को हमारे मन शुद्धि के लिये निमित्त हो, इसलिये मैं स्मरण करता हूँ। ऐसे सिद्धों को ध्यान पुरुष ध्येय बनाकर ध्यान करता है उस ध्यान करने वाले का मन शुद्ध, राग-द्वेष पर परिणति रहित होता हुआ चित्त निर्विकल्प रूप शुद्ध होता है, वही निमित्त भूत है। वे सिद्ध भगवान अपने शुद्ध भाव रूप सहज आनन्द स्वरूप, ज्ञान दर्शन रूप चैतन्य के समुद्र सुख सागर में मग्न हैं। ऐसे सिद्ध स्वरूप को अपने में स्थापना कर उसका ध्यान करते हैं और सोहं सोहं शोर करते हुए ध्वनि को उल्लंघन कर उन सिद्ध परिणति में मग्न होते हैं उस समय अपने में अनादि काल से चली आई विभाव परिणति को छोड़ कर सहज सिद्ध स्वरूप को अपने में संकल्प कर, शुद्धात्म परिणति में मग्न हो शाश्वत अव्याबाध निरञ्जन निरुपम आत्मोत्थ सुख को पावेंगे। तब ही जन्म सफल होगा। जो संच

मन–वचन–काय का योग अपने आश्रित कर आत्मा में स्थित होता है और ध्यान की एकता से कुशल है। वे अपने नित्य निरञ्जन शुद्ध स्वरूप आत्म-स्वभाव का आलंबन कर अपने मन में सिद्ध परमेष्ठी की स्थापना कर, मैं सिद्ध हूँ। इस प्रकार भावना करते करते उस ही में मग्न होकर तन्मय भाव को प्राप्त होना कल्याण कारी है।

इस प्रकार ध्यान करने वाला आत्मा स्वयं सिद्ध परमात्मा बन जाता है और तीन लोक के शिखर पर ईषत् प्राग भार भूमि पर जा विराजमान होते हैं और सिद्धात्मा बन जाते हैं। अर्थात् जो भव्य संसारी कार्यों को हटा कर अपने में सिद्ध स्वरूप को स्थापित करते हैं। जोकि करते करते इतना उस भावना में परिणत होते हैं। जो उस भावना से सिद्धात्मा का संकल्प किया था। उस संकल्प को भी भूल जाता है और उस ध्येय रूप आत्मा में तन्मय हो जाता। उस समय उसे निर्विकल्प समाधि होती है उस समय व्यवहार वा निश्चय नय का भी विकल्प टूट जाता है नहीं रहता है और ध्याता-ध्येय का भी विकल्प मट जाता है। इस प्रकार अद्वैत रूप निर्विकल्प भावना में सिद्धात्मा का अनुभव आता इसलिये उस ध्येय रूप सिद्धात्मा का सकल्प करने से सिद्धात्मा बन जाता है। सिद्धात्मा को निर्विकल्प कारण मानने में कोई दोष नहीं आता है। इसलिये सिद्ध समान सदा पद मेरो ऐसा जिन देव का वचन है।

है भव्य निकम्मा को लाहल करि कहा साध्य है तू इस वर्ताव से विरक्त हो। एक चैतन्य मात्र वस्तु से ही सम्बन्ध कर उसमें लीन होकर देख, ऐसे छह मास अभ्यास कर जो काल लब्धि आगई हो तो तेरे हृदय सरोवर विषे पुद्गल द्रव्यों से भिन्न महा तेज प्रताप प्रकाशमान आत्मा की प्राप्ति होगी, इसलिये तू अपने एक आत्मा को आत्मा में ही अनुभव करो वह आत्मा चैतन्य शक्ति कर व्याप्त है

और संपूर्ण पुद्गल परमाणु से भिन्न है। यह चैतन्य का अनुभव निराकुल है, यही आत्मस्वभाव है। परन्तु संसारी जन शुद्धज्ञानानन्द मय आत्मा को अज्ञान से व्याकुल होकर जैसे पवन का प्रेरया समुद्र कल्लोल सहित होता है या मृग माडली जल जानता है। व रस्सी को सर्प मानता है, तैसे ही अज्ञानी अनेक विकल्प रूप क्षोभ को प्राप्त कर शुद्ध ज्ञान घन आत्मा को अज्ञान से भूल कर पर-द्रव्य को अपनाता है। सत्य स्वरूप को पहिचाने तो पुद्गलों से भिन्न आत्मा को परख ले, जैसे राजहंस की चोंच के प्रभाव से जल दुग्ध मिले हुये को अलग अलग कर दुग्ध पान करता है।

ऐसे ही योगी जन अचल चैतन्य धातु आत्मा का ही सदा आश्रय करता है। यही भेद-विज्ञान है तथा अग्नि कर तप्त जल उष्ण हो जाता है, परन्तु जल का स्वभाव ठंडा है। अपना स्वभाव नहीं तजता है या लवण और व्यञ्जन का स्वाद अलग २ है। ऐसे ही चैतन्य और पुद्गलों का भेद भिन्न २ है। आत्मा तो ज्ञान स्वरूपी है और क्रोधादि पुद्गल जड़ स्वरूप है। ऐसी भेद—विज्ञानी की शुद्ध दृष्टि है। अब कर्तापना का विवेचन लिखते हैं। जब इस आत्मा के योग और उपयोग व्याप्य—व्यापक भाव रहित तादात्म्य सम्बन्ध रहित, निमित्त, नैमित्तक भाव रहित तन्मय पना से हीन है। तब मन, वचन और काय योगों के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का चलना और ज्ञानोपयोग कषायों सेसंश्लित यह दोनों अनित्य सब अवस्था में व्यापक रहित क्रोधादिक पर द्रव्य स्वरूप कर्मनि को निमित्त मात्र करते, योग आत्मा के प्रदेशनिका चलन रूप व्यापार होना तथा उपयोग जो चैतन्य आत्मा का रागादि विकार रूप परिणाम होना। इस प्रकार दोनों का कदाचित्काल अज्ञान पने से आत्मा को कर्ता मानिये, परन्तु पर—द्रव्य स्वरूप कर्म का कर्ता कदाचित भी नहीं है। आत्मा को योग और उपयोग का कर्ता संसारी अवस्था में अज्ञान से माना गया है। ज्ञानी तो ज्ञान का ही कर्ता है।

इसलिये तुम अपनी ज्ञान ज्योति को जाग्रत करो उसी से ही सब चलाचल का पता लग जायगा। जोकि अपने शुद्ध स्वरूप चिद्रूप भाव को अपने स्वरूप में कल्पित करके जो भावना करता है और उस ध्येय की भावना करते करते ध्याता—ध्यान ध्येयादिक के विकल्प को भी भूल जाता है तथा अपने स्वरूप में मग्न हो जाता है। उस समय स्वानन्द भाव से उत्पन्न हुये, जो भाव वही स्वानुभव है। वही परम सुख शान्ति देने वाला है, यह स्वानुभव भेद—विज्ञान से उत्पन्न होता है। उस समय से विचार तरंगें नहीं उत्पन्न होती हैं और द्वैतभाव का भी अभाव हो जाता है, आत्मा शुद्धा शुद्ध—विकल्प जाल से रहित होता है, राग—द्वेषादि परिणति आत्मा से छूट जाती है। पांचों इन्द्रिय के व्यापार भी बन्द हो जाता है, जब आत्मा आत्मा में स्थिर होता है। तब निष्क्रिय अवस्था हो जाती है। वही स्वानुभव कहलाता है, इसलिये इस विभाव परिणत का त्याग कर अपनी निजात्मा का अनुभव करो, अनुभव चिन्तामणि रत्न के समान है या अमृत—रस कूप के समान है येही अनुभव मोक्ष—मार्ग है वा मोक्ष स्वरूप है। जोकि निश्चय नय से देखा जाय तो अपना आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त सुखादि स्वरूप है, तो भी अनादिकाल से कर्म बन्ध युक्त है। कर्म बन्ध के तीन भेद हैं। (१) द्रव्य कर्म बन्ध, (२) भाव कर्म बन्ध, (३) और उभय बन्ध, जो कर्म परमाणु आपस में बन्ध होकर अपने में आता है। उनको द्रव्य कर्म बन्ध कहते हैं। द्रव्य—कर्म जब निमित्त पाकर उदय में आते हैं तब भाव बन्ध बन जाते हैं और जब द्रव्य कर्म को आत्मा अपने प्रदेशों में सम्मिलित करता है। उसे उभय बन्ध कहते हैं, कर्म से आत्मा बन्ध जाता है। जैसे चुम्बक पाषाण की तरह और जीव से कर्म-बन्ध जाता है, उसे उभय बन्ध कहते हैं, जब मोही मानव अपने स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण अज्ञान के बल से पर-वस्तु के ऊपर ममताभाव करते हैं। वहां पर बन्ध होता है।

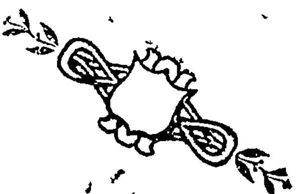
बन्ध का मूल कारण ममता ही है। इस ममता से सारे कर्म की पुष्टी होती है। वह ममता सब पापों की जननी है। इसलिये ममता को परिहार कर समता सखी से स्नेह करो इस निर्ममता से सर्व पापों का नाश हो जायगा और आत्मा शुद्ध बन जायगा, देखिये इस कर्मों के सम्बन्ध से यह आत्मा अनेक प्रकार दिखने लग जाता है परन्तु जब कर्म मल दूर हो जाता है। तब उसका वह निर्मल स्वरूप प्रत्यक्ष स्पष्ट अनुभव में आने लगता है और आत्मा से वह सर्व जटिल कर्म का सम्बन्ध छूट जाता है। तब वह शुद्ध अखण्ड चैतन्य स्वरूप आत्मा ही अनुभव में आता है। जैसे मल के सम्बन्ध से स्फटिक मणि के अनेक रूप दीखने लगता है तब उसका वह निर्मल स्वरूप स्पष्ट ही दर्शनी लग जाता है। यहां प्रश्न है कि आत्मा अमूर्तिक और कर्म मूर्तिक, तो अमूर्तिक आत्मा के मूर्तिक कर्मों से कैसे व बन्ध हुआ।

उत्तर—जब यह आत्मा मोह ममता अज्ञान अपथ्यसादि क्रियाओं में सम्मिलित होकर अपने स्वरूप से च्युत होता है। तब ही कर्म बन्ध पड जाता है, जैसे भांग नशा वर्तनों को नशा नहीं करती है, किन्तु जब जीव उसको पान करता है। तब पागल बना देती है, उस समय उसे हेयोपादेय का कुछ भी विवेक नहीं रहता है उसका ज्ञान मूर्छित हो जाता है। ऐसे ही यह आत्मा उभय बन्ध से बन्धा हुआ पुनः पुनः कर्म बन्ध करता है और जब यह आत्मा उभय मलों से मुक्ति हो जाता है। तब कभी कर्मों से नहीं बन्धता, जब संसारी जीवात्मा राग-द्वेष मोह सेना सहित होता है। तब ही कर्म-बन्ध परिभ्रमण का कारण स्वरूप हो जाता है। जब राग-द्वेष मोह के फन्दे में फंस जाता है या मद में धुन्धायमान होता हुआ परिणामों की परिणति को सम्भाल भूलने से राग-मोह मल के मद में धुन्धायमान होता हुआ परिणामों की सम्भाल भूलने से राग-द्वेषादि परिणामों की उत्पत्ति होती रहती और उसके द्वारा शुभाशुभ कर्मों का आस्रव होता रहता है। अशुभ कर्मास्रव से नरकादि कुगति तथा

शुभास्रव से स्वर्गादि सुगति प्राप्त होती है, गतियों में जाने से शरीर की प्राप्ति होती रहती है, उन शरीर में उनसे इन्द्रियों के स्पर्शादि विषय वासना जागृत हो कर ग्रहण करती है और उन विषय ग्रहण से उनमें अच्छे या बुरे पन की कल्पना जाग्रत होती है, उसी का प्रभाव से संसार में प्राणी भ्रमण करना कार्य इस जीव का शुरू हो जाता है। इसी ही फन्दे में फंसा हुआ आत्मा अनादि काल से संसार चक्र में जन्म-मरण का कार्य करता रहता है और दुःख भोगता हुआ दुखी रहता है। कभी भी इसे आत्मा के वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं होती है।

इसलिये इस आत्मा ने सर्व प्रकार सदा काल राग-द्वेष मोह को त्याग देना ही इसका कर्तव्य है। इसी में ही इस आत्मा का कल्याण है। जो राग-द्वेष मोह ममता में रमता हुआ अपने को सुखी मानता है। वह जैसे पित्त-ज्वर से पीड़ित आत्मा उस दा ज्वर को मिटाने के लिये घृत शक्कर का सेवन करता है और अपने को स्वस्थ मानता है। वास्तव में वह निरोग स्वस्थ नहीं होगा वेदना ही बढ़ेगी, दुःखी ही होगा, जिस प्रकार जीव-जन्तुओं से भरे हुए वन में वन्हि लग जाने पर वृक्ष के ऊपर बैठे हुये मानव के समान यह अज्ञानी जीव दूसरों के सुखादि अवस्थायें देखकर सुखी मानता हुआ मग्न रहता है और अपनी भूल है। वन चिता लगी हुई मुझ को भी जला देगी, यह जङ्गल के जीव मेरे देखते देखते सब के सब जल कर भस्म हो गये हैं। मैं भी इस अग्नि में प्रवेश हो जाऊंगा, यह कालाग्नि मुझ को नहीं छोड़ेगी। ऐसे आई हुई विपत्ति को नहीं देखता है, ज्यों-ज्यों सुन्दर भोग भोगे जाते हैं। त्यों-त्यों तृष्णा बलवती बढ़ती जाती है और उन भोगों को बार-बार भोगते रहने पर भी यह तृष्णा नागनी कभी भी तृप्ति नहीं होने पाती परन्तु इतनी बढ़ जाती है। फिर उन से तृप्ति सन्तोष शान्ति समता कभी भी नहीं होती, जैसे अग्नि में कितने ही तृण काष्ठ घृत तैलादि क्यों न

डाला जाय, लेकिन तृप्ति नहीं होने पाती अथवा सकड़ों नदी जल की भरी समुद्र में दाखिल हो जाओ, परन्तु वह समुद्र तृप्तता को नहीं प्राप्त होता ऐसे ही यह जीव भोगों को भोगते हुये तृप्तता को नहीं प्राप्त होता। इसलिये ज्ञानी विचार करता है कि जिस तरह अग्नि के संयोग से जल गरम होता है और तन को संतापित करता है। उसी तरह शरीर तत्सम्बन्धी इन्द्रियों के विषय भूत भोग्य पदार्थ मुझे संतापित करते हैं जिन्होंसे आत्मा दुखित होता है। जिन मोक्षार्थि मानवों ने इस तन का परित्याग कर निरा कुल सुख प्राप्त कर लिया है और उनहीं महा पुरुषों ने इन विषय भोग के त्याग का उपदेश दिया है। वही आत्मा धन्य है जो पुरुष ध्यान मे अहंआस्मि मैं हुं इस प्रकार अन्तर मुखाकार रूप से जो ज्ञान के द्वारा अनुभव होता है। उसके आत्मा की सत्ता जागृत स्वतः सिद्ध हो जाती है और जब आत्मा की सत्ता सिद्ध हो जाती है। तब वह आत्मा बाह्यभ्यन्तर जल्प का परित्याग कर एक चैतन्य परिज्ञान का साक्षात्कार कर लेता है, वही अपने को ज्ञेयपना और ज्ञातापना करता है। उसी का नाम स्वसंवेदन है, उसी को स्वानुभव प्रत्यक्ष भी कहते हैं। इस प्रकार आत्म—प्रबोध का चतुर्दश परिच्छेद पूर्ण हुआ।



पच्चीसवाँ परिच्छेद

✽ मङ्गलाचरण ✽

दोहा—जिन वाणी में वीर ने, तत्व—ज्ञान दर्शाय।
वही सार सिद्धान्त है, श्रद्धा धर शिवपाय॥

व्यवहार नय से आत्मा अनेकान्त मूर्ति तथा ज्ञान स्वरूप है। दर्शन, ज्ञानरूपी दो नेत्र हैं। जिनका स्वभावसमस्त विश्व के समस्त पदार्थों को युगपत एक समय में देखने—जानने का है। उसमें अनन्त धर्म गर्भित हैं, इसलिये वह अनेकान्त मूर्ति है। सर्व पदार्थों के समूह रूप लोकाकाश एवम् अलोकाकाश को सत्ता मात्र देखने की उसमें सर्व दर्शीत्व पूर्ण शक्ति है, परन्तु पदार्थों को उन्हें अपना करने की शक्ति आत्मा में नहीं है। उसमें मात्र केवलदर्शन रूप परिणमन होने की शक्ति है। इसलिये त्रिकाली शक्ति की प्रतीति में भी आही जाती है। जिसे लोकालोक रूप सम्पति की चाह हो, उसे आत्मा के निज गुण (केवलदर्शन और केवलज्ञान) की प्रतीति करना अनिवार्य है।

यह लोकालोक विलोक रूप महा सम्पदा आत्मा में कहीं बाहर से प्रविष्ट नहीं होती, अपितु केवलज्ञान दर्शन में समस्त लोकालोक झलक जाता है। पदार्थ जहां के तहां, जैसे को तैसे ही रहते हैं। वे अपने स्वभाव को नहीं बदलते। लोकालोक तो जहां का तहां ही है, परन्तु आत्मा में लोकालोक का

ज्ञान झलक रहा है। उसमें तीन काल और तीन लोक के सदस्य पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी ज्ञान प्रकाशी उत्तम आत्मा का निर्णय किये बिना जीवों को कभी आत्मो-पलब्धि नहीं हो सकती। इस प्राणी ने अनन्त काल से समस्त वस्तुओं से अत्यन्त अनुराग किया, परन्तु—मैं स्वयं ज्ञान स्वभावी चिदानन्द ज्योति स्वरूप, निर्विकार, ज्ञाता दृष्टा, अपनी शक्ति से परिपूर्ण हूं। इस प्रकार अपने आत्म–स्वभाव का कभी निर्णय नहीं किया। यदि निज शक्ति की ऐसी सम्हाल करता तो पराश्रय से छूट कर स्वाश्रय की लीनता से अल्प काल में ही सिद्ध - पद प्राप्ति हो जाता। अब तक जो अनन्त सिद्ध हुये और होंगे, वे सब निज शक्ति की सम्हाल के आश्रय या स्वाश्रय से ही हुये हैं।

इस लिये हे आत्मन्! तुझ में तेरी अनन्त शक्तियां एक साथ घृत—घट के समान ठसाठस भरी हुई हैं। तू ही शक्तिमान परमात्मा है। उसे व्यक्त करो। समस्त पराश्रय को त्याग निज स्वभावोन्मुख होकर शरण ग्रहण करो। इसी में तेरा कल्याण है। यह आत्मा लोकालोक में व्याप्त नहीं है किन्तु अपने समस्त भावों में ही व्याप्त है। अर्थात् अपने अनन्त गुण और आत्म–पर्याय स्वरूप सत् से भिन्न अन्तर में सर्व व्यापक ऐसा आत्मा का विभुत्व स्वभाव है। न तो शरीर आत्मा में व्याप्त है और न आत्मा शरीर में व्याप्त है। बाह्य में जो राग - द्वेष मोह उत्पन्न हो रहा है, वह आत्मा का धर्म (स्वभाव) नहीं है। आत्मा इनमें कभी व्याप्त नहीं होता।

निखिल पर्याय आत्मा में एक समय पर्यन्त मात्र व्याप्त है। किन्तु वह हमेशा व्यापक नहीं है। अस्तित्वादि गुण तो आत्मा में त्रिकाल व्यापक हैं जो कि द्रव्य हैं, गुण हैं, पर्याय हैं, रत्नत्रय हैं। इस प्रकार की समझ में त्रिकाली आत्मा ही लक्ष्य में आती है। ऐसी आत्म–शक्तियों को निरन्तर त्रिकाली तत्व के सन्मुख देखने से यथार्थ निर्णय हो जाता है कि मेरी समस्त सम्पदा मुझ में ही है। सर्वज्ञ–पद

प्रकट होने की शक्ति मुझ में ही है। इस प्रकार आत्म–स्वभाव–सामर्थ्य की पूर्ण श्रद्धा करना चाहिये। यह अपूर्ण श्रद्धावाले उच्छल-कूद को रोकती और परणामों की ओर अन्तर्मुख कर देती है। आत्म-स्वभाव सम्मुख हुये बिना सर्वज्ञ-शक्ति प्रकट नहीं होती। आत्म-शक्ति-प्रतीति से मोक्ष-मार्ग आ जाता है। यही सम्यग्दर्शन सर्वज्ञ के लघुनन्दन है।

जो आत्मायें अपने स्वरूपोन्मुख हो अनुभव कर निज ज्ञान-विभव की प्रतीति करती हैं, वे ही आत्मायें मोक्ष-मार्ग में गमन करती हैं और समय या सर्वज्ञ हो जाती हैं। सम्यग्दर्शन का ऐसा ही महात्म्य है। निजानन्द रस लीन आत्माराम की श्रद्धा प्रतीति तथा उसमें रुचि रखना ही तो सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार निज–स्वभाव का पूर्ण निश्चय होना कि मैं स्वयं स्वभाव से परमात्म शक्ति का पुञ्ज हूँ। जितने सर्वज्ञ हुये हैं वे सब एकाग्रता से ही हुये हैं। मैं भी अपने स्वभाव में एकाग्रता कर परमात्मा बनूँ। मुझ में भी ऐसी सामर्थ्य है। मैं ज्ञाता-दृष्टा चिद्रूप हूँ। परमात्म—पद प्रकट करना मेरा स्वभाव है। ऐसा दृढ़ निश्चय होना ही मिथ्यात्व नाशक सम्यग्दर्शन प्रकट होने का श्रेष्ठतम उपाय है।

इस जीव ने अनादि काल से शुद्ध, निर्विकार, चैतन्य आत्मा का अनुभव न कर, मिथ्यात्व सन्तान द्वारा सतत कर्म—बन्ध किया है वे मूर्तिक कर्म जीव की सत्ता तिष्ठे हुये हैं। ये ही मूर्तिक, स्पर्शादिकवान कर्म नवागत मूर्तीक, स्पर्शादिकवान कर्मों को संयोगरूप स्पर्श करते हुए, अमूर्तीक अतीन्द्रिय निर्मल आत्मानुभव के विपरीत मिथ्यादर्शन या राग-द्वेषादि युक्त परणामों का निमित्त पा, ये अपनी ही स्निग्ध-रुक्ष परणति के उपादान कारण से एकमेक होने रूप बन्ध को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार परस्पर मूर्तिक कर्मों के बन्ध की अवस्था होता है। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा

जीव अमूर्तीक है तथापि व्यवहार नय अनादि कर्म—बन्ध की सन्तान चली आ रही है जिससे आत्मा मूर्तिक हो रहा है। अमूर्तीक सदा आनन्द मयी, एक चेतना लक्षणधारी; निर्विकार और स्वरस-स्वाद से विपरीत करता हुआ कर्म—बन्ध सहित आत्मा कर्म—वर्गणा योग्य पुद्गलों को अपने प्रदेशों में अवकाश देता है। अर्थात उन कर्मों को बांधता है। भाव यह कि निश्चय-नय से आत्मा अमूर्तीक है, परन्तु व्यवहार नय से मूर्तीक है। इसी से जीव के कर्म-बन्ध सम्भव है।

कर्म—बन्ध की अपेक्षा से आत्मा के साथ पुद्गलों का एकमेकपन सम्बन्ध हो रहा है, परन्तु लक्षण की अपेक्षा दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इसलिये एकान्त से जीव के साथ अमूर्तीक भाव नहीं है। उन पुद्गल—द्रव्यों में ऐसी आकर्षण शक्ति है कि (उनके स्पर्श रूक्ष, चिकने गुणों के कारण) पुद्गल द्रव्य का पुद्गल-द्रव्य के साथ अपने आप बन्ध हो जाता है। इस प्रकार पूर्व-बद्ध कर्म—पुद्गलों के साथ नवीन कर्म-पुद्गल बँधते जाते हैं। जीव के असंख्यात प्रदेशों में इन कर्म-पुद्गलों का अवगाहन होत रहता है। आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनन्त पुद्गल कर्म—वर्गणायें स्थित हो जाती हैं। आत्म—प्रदेशों एवम् कर्म-पुद्गलों का एक क्षेत्रावगाह रूप ही बन्ध है। जैसा स्निग्ध, रूक्ष आदि गुणों के कारण पुद्गलों का पुद्गलों के साथ स्कन्ध रूप बन्ध होता है, ऐसा बन्ध नहीं होता। इस जीव के साथ इन कर्म—पुद्गलों की अवगाहना अनादि काल से बड़ी विलक्षणता से हो रही है, जिसके फल-स्वरूप पिण्ड-रूप एक कार्माण शरीर ही निर्माण हो रहा है। जोकि आत्म—प्रदेशों को नहीं त्यागता। अत्यन्त सूक्ष्म कार्माण और तैजस शरीर आत्मा के साथ सदैव बने रहते हैं।

जब यह आत्मा जिस स्थूल शरीर में जाता है तब उसके प्रमाणानुकूल सिकुड़ जाता है और उसी के साथ कार्माण तथा तैजस शरीर भी सिकुड़-फैल जाते हैं। इस प्रकार तैजस तथा कार्माण

शरीर की की रचना बनी रहती है। हां इतना अवश्य है कि पुराने कर्म—पुद्गल अपनी स्थिति पूर्ण कर झड़ते जाते तथा नवीन कर्म-परमाणु मिलते रहते हैं। इस प्रकार कर्मों का सम्बन्ध आत्म—प्रदेशों के साथ अनादि काल से प्रवाह रूप चला आ रहा है। जब जीव की मुक्ति होगी, तभी यह अनादि सम्बन्ध छूटेगा। आत्म—प्रदेशों से तैजस और कार्माण शरीरों का पृथक होना ही तो मुक्ति है। यदि संसारी आत्माओं के साथ यह अनादि कार्माण—शरीर—सम्बन्ध न होता तो नवीन कर्म-वर्गणाओं का कभी बन्ध न होता। सिद्ध—क्षेत्र में अनन्त कर्म—वर्गणाओं के होते हुये भी सिद्ध भगवान को कभी भी कर्म—बन्ध नहीं होता। जीवों के सब प्रदेश कार्माण वर्गणाओं से ठसा-ठस भरे हैं, अतएव जीवों को व्यवहार नय से मूर्तिक कहा है और यह बतलाया है कि मूर्तिक जीव और में ही मूर्तिक पुद्गलों से बन्ध होना सम्भव है। इसी कारण ज्ञानी जीव बन्ध के यथार्थ स्वरूप को निश्चय कर अपनी आत्मा के निश्चय-स्वभाव की ओर ध्यान देते हैं। जिससे बन्ध के जाल से मुक्ति हो जाते हैं और निज स्वभाव का स्वाद लेते हुये उसी में मग्न हो जाते हैं।

जिस प्रकार तीन पदों के भीतर बैठा महान सम्राट तीनों पदों से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार औदारिक, तैजस और कार्माण रूप तीन शरीरों के भीतर बैठा आत्माराम सम्राट इन तीनों शरीरों से से भिन्न है, अतएव अपने को देह रहित अनन्य अनुभव करना ही बन्ध रहित होने का उपाय है।

यह आत्मा सम्पूर्ण पदार्थों को ग्रहण करने वाली, अखण्ड, एक रूप प्रकाशमान, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहित, प्रकट, शब्द पर्याय रहित, चैतन्य, अलिङ्ग, शुद्ध, केवल ज्ञान स्वरूप निराकार है, परन्तु किसी अपेक्षा से अनादि काल से कर्म—बन्ध युक्त होने के कारण व्यवहार नय से अपने ही अनुभव गोचर अशुद्ध भावों की करने वाली है। ये अशुद्ध भाव अनन्त ज्ञानादि गुणमयी आत्म—स्वभाव

को ज्ञानावरणादि रूप हो ढांक लेते हैं। तब यह अशुद्ध आत्मा अशुद्ध भाव उत्पन्न करता है, और अशुद्ध आत्मा बन कर कर्मों का निरन्तर कर्म-बन्ध करता रहता है। जिसके फल-स्वरूप उन कर्मों के उदय से चतुर्गति रूप संसार में किसी एक गति को ग्रहण करता है। उस गति के अनुकूल स्थूल शरीर पाता है। उस शरीर के सम्बन्ध से इन्द्रियां होतीं और उन्हीं इन्द्रियों से उनके योग्य स्पर्शनादि विषयों का ग्रहण होता है। उन विषयों के ग्रहण से राग–द्वेष भाव उत्पन्न होते हैं और जन्म-जरा-मरण चक्र के भ्रमण में आत्मा की अनेक अवस्थायें होती रहती हैं। ये अवस्थायें अभव्य की अपेक्षा अनादि से अनन्तकाल पर्यन्त रहती हैं तथा भव्य की अपेक्षा अनादि होकर भी अन्त रहित हैं।

आत्मा में जब तक अनुभव जागृत नहीं होता, तब तक आत्मा की यही अवस्थायें होती रहती हैं। अतएव आत्मा की सुप्रतीति होना सब से प्रधान है। इसी सुप्रतीति से अनुभव की जागृति होती है। इस जागृति से कर्म—बन्ध क्षय होकर मुक्ति दशा प्रकट होती है। यदि सब प्रकार मोह राज की राजधानी हट जाय तो आत्मा मोक्ष प्राप्त होजाय। बन्ध छुटा और मुक्ति हुई। राग—द्वेष मोह नष्ट होते ही आत्मा में केवलज्ञान—ज्योति प्रकाशमान हो जाती है। आत्मा का स्वभाविक निज गुण देखना—जानना है। उस गुण का प्रकट होना ही केवल-ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकट होना है। यह केवलज्ञान एक सूर्य समस्त अन्य भावों के संसर्ग से रहित, एक शुद्ध ज्ञान समस्त द्रव्य, क्षेत्र—काल, भाव को सर्व प्रकार से एक समय मात्र में देख—जान लेता है। यह ज्ञान निज स्वभावरूप, स्वतत्वभूत, निरावरण, भेद रहित निर्विकल्प, समस्त भावों का सर्वोत्कृष्ट प्रकाशक है। ऐसी ही मेरी आत्मा है।

इसलिये सब प्रकार से इन्द्रिय, मन को संयम कर निज स्वरूप को समस्त पर-द्रव्यों से भिन्न समझ, योग को अचल कर, उपयोग से उपयोग की एकता करो। जिससे केवल ज्ञान सूर्य प्रकट हो जाय।

आत्मा का बार—बार स्मरण करो, ध्यान करो। ध्यान मे ही सर्व तप गर्भित है। विचार करो कि मैं अजर—अमर और अजन्मा हूं। सदा काल शास्वता, स्वसमयात्मक, शुद्ध, चैतन्य, निर्विकार, निर्विकल्प ज्ञाता-द्दष्टा परमात्मा हूं। तात्पर्य यह है कि स्व–स्वरूप निरखने से शुद्ध, चिदानन्द आत्मा की प्राप्ति होती है। अतएव हे भव्यो! अन्तर्मुख होकर अपनी आत्मा मे ही स्थिर रहो और उसी का अनुभव करो।

संसारी जीव संसार की कुछ न कुछ सम्पदा पाकर उससे सुख पाने की इच्छा रखते हैं। यहां तक कि सम्राट—पद भी पाकर ऐसे तृप्त नहीं होते, परन्तु ज्ञानी जन सच्चे सुख का मार्ग निर्णय करने में हीसुख समझते हैं। जो जीव इन्द्रिय—विषय जन्य सुख में आर्त हैं। उन्हें शीतल आत्म-सुख कहां से प्रतीति मे आ सकता है? निजानन्द पूर्ण आत्मा तो अनन्त गुणा सुख का भण्डार है। योगी जन जिस आत्मोत्पन्न अनन्त सुख स्वरूप की सदैव इच्छा करते हैं। वह शुद्ध आत्म—द्रव्य संयोगी निज स्वरूप है। वह आत्म–स्वभाव अगम्य है तथा निजालम्बन का आधार है। उस स्वरूप के पद को जिनवर पद से बताया गया है। जिन—पद और निज—पद एक है। इनमें कोई भेद नहीं है। उस पद की प्राप्ति हेतु ही शास्त्र रचना, द्वादशङ्ग की रचना की गई है। वह जिन वचन अत्यन्त दुर्गम है। उसे प्राप्त करने मे बड़े-बड़े बुद्धिशाली भी थक जाते हैं। मुनि जन उसमे ही सदा विश्राम करते तथा निशि-दिन लीन रहते हैं।

समस्त भव्य जीवों को सर्व प्रथम निज तत्व-निर्णय रूप कार्य करना योग्य है। जो शास्त्राभ्यास द्वारा भी वचन-निर्णय नहीं करते तथा सदैव विषय-कषाय, राग-द्वेष-मोह-मिथ्यात्व के फन्दे में फँसे रह कर सांसारिक कार्यों मे कुशलता दिखलाते हैं। वे अशुभोपयोगी मिथ्या—दृष्टि हैं।

क फन्दे मे फँसे रह कर सांसारिक काय म . . .

आत्म-प्रबोध

जो जीव सम्यग्दर्शन हीन तप, संयमशील, दान, दया, पूजा में तल्लीन, जैसे अन्न रहित तुष की चाह में लीन हैं वे शुभोपयोगी साधु हैं। अशुभोपयोग से शुभोपयोग तब शुभ अच्छा है। कभी पुरुषार्थ से शुद्धोपयोग की प्राप्ति भी हो जायगी। महान् पुण्योदय से यह मनुष्य-पर्याय पाई है। इस पर्याय में सर्व श्रेष्ठ शुद्ध सम्यक् दर्शन प्राप्त करना ही उत्तम कार्य है। उसकी प्राप्ति आत्मोन्मुख होकर निजतत्व निर्णय, पर-पदार्थ से भिन्नता, आत्म-तत्व में रुचि और तल्लीन होने से ही होती है। जब मन हटने लगे, तब विनय पूर्वक शास्त्र—स्वाध्याय करना चाहिये। शास्त्र-स्वाध्याय ही मन को स्थिर करने वाला महा सुरत्न है। उसे कर्म-क्षय कर मोक्ष-स्थान में पहुंचाने का वायु-यान (हवाई जहाज) ही समझना चाहिये।

अर्हद्भक्ति, आगम-सेवन, गुरु—भक्ति, जिनागम—आज्ञा, देव—दर्शन, मूल—उत्तर गुणों का पालन, व्रत, शील, सन्तोष, दया, दान, क्षमा, वैयावृत्त, समता-सुधा-रस-पान, आत्म-शान्ति और सौजन्यता धारण कर निजानन्द में रमण करना इत्यादि अनेक कार्य शुभोपयोग के हैं। इन्हें करना चाहिये। फिर संसार समुद्र से पार होने के हेतु परम पवित्र रत्नत्रय रूपी श्रेष्ठ जहाज है। जिसका सम्यग्दर्शन रूपी चतुर केवट है जो जहाज को कुशलता पूर्वक खेकर मोक्ष-नगर में पहुँचा देता है। हे भव्यो! यदि सच्चा सुख चाहते हो तो प्रथम सम्यक् दर्शन रूपी खेवटिया से भेंट करो। उससे अत्यन्त विनय पूर्वक स्नेह करो। वह परम मित्र मोक्ष—नगर में ले जाकर अनन्त काल पर्यन्त तुम्हारे ही पास रहेगा। यह रत्नत्रय रूप श्रेष्ठ जहाज समस्त विभावों से रहित हो आत्मा का आत्मा में ही रमण करना है।

जिस प्रकार लुहार कड़े लोहे को अग्नि में तपा उस पर तीक्ष्ण छेनी रख घन की चोट से

प्रबोध

उस लोहे के दो खण्डकर देता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी आत्मा और बन्धभाव के बीच में अनुभव रूपी पैनी छैनी रख बीच की सूक्ष्म संधि—शोध कर सावधानी से ज्ञान रूपी घन की चोटों से आत्मा और बन्ध—भाव अलग-अलग कर देता है। यह प्रज्ञा रूपी तीक्ष्ण छैनी उदय की सन्धि की छेदक होती है। तात्पर्य यह कि आत्मा की प्रज्ञा रूपी छैनी से बन्ध-भावों की समस्त संधियों का छेदक कर लेना ही सम्यग्दर्शन है। विकार और स्वभाव को भिन्न भिन्न जानने से ही मोक्ष-मार्ग की सिद्धि होती है। आत्मा के विभाव भाव अवस्था से ही बन्ध होता है। निश्चय द्रव्य-दृष्टि से देखने पर बन्ध और आत्मा भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं। यदि बन्ध और आत्मा को भिन्न भिन्न जान ले तो ज्ञान की एकाग्रता के द्वारा बन्ध को छेद कर शुद्ध आत्मा को देख लेता है, क्योंकि आत्मा और बन्ध में चेतक—चेत्य सम्बन्ध है। तो भी निश्चय से आत्मा और बन्ध के लक्षण भिन्न भिन्न हैं। तादात्म सम्बन्ध न होकर संयोग सम्बन्ध है।

अनादि काल से जितने सिद्ध हुये और आगे होंगे वे सब इसी भेद—विज्ञान के प्रताप से ही हुये हैं और होंगे। भेद—विज्ञान के अभाव से संसारी जीव कर्म-बन्ध से निरन्तर बँध रहे हैं। अतएव बन्ध का अभाव कर निज स्वभाव में रमण करो, तभी कर्म-बन्ध छूट जायगा। रागद्वेष मोह—पैना चिदानन्द आत्मा का धर्म नहीं है। अपने शुद्ध स्वरूप को कर्म-बन्ध रहित जाने बिना भेद—विज्ञान पैदा नहीं होता। पुण्य पाप की लहरों में ही लटका रहता है। जो ज्ञानी आत्मा पर विश्वास कर ज्ञान पर भार रखता है, वही राग-द्वेष-मोह मल्लोंको सर्वथा नष्ट कर केवलज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश फैलाता है। जिससे मुक्ति मिलती है। जो ज्ञानी वह ज्ञान-शक्ति धारण करता है, वह स्वयं शुद्ध चारित्र को साथ ...ता है, क्योंकि वह ज्ञान ज्ञप्ति से स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ है इसी से उसे सम्यक् चारित्र प्रकट

होता है। ज्ञान और वृत्ति अलग अलग हैं। ज्ञान-राज अबन्ध है और वृत्ति बन्धभाव है। "मैं ज्ञायक हूँ।" इस प्रकार ज्ञायक भाव की पूर्ण दृढ़ता के बल से वह वृत्ति को तोड़कर अपने स्वभाव ज्ञान-राज में लीन हो जाता है। वह ज्ञानी क्षपक श्रेणी माँड के बल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष अवस्था को प्राप्त करता है अतएव प्रज्ञा रूपी तीक्ष्ण छैनी मोक्ष का साधन है।

जो वृत्ति उठती है उसे चेतना स्वरूप ज्ञान राज ज्ञान द्वारा पकड़ तत्काल छिन्न भिन्न कर देता है। जैसे अग्नि के संयोग से दुग्ध में ऊपर को उफान उठता है, परन्तु शीतल जल के स्पर्श से वह पीछे का पीछा अपना स्थान ले लेता है। मोक्ष का मूल भेद—विज्ञान है। राग को जान कर, राग से पृथक रहने वाला ज्ञानी मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

यह मानव संसार अवस्था मे नए नए आविष्कार करने, मशीने बनाने, विद्युत सम्बन्धी कार्य करने, बड़े-बड़े बांध बांधने, मोटर, हवाई जहाज, रेडियो आदि कार्यों मे अपना बुद्धि-कौशल दिखलाता है। अपनी आत्मा के साधन में बुद्धि नहीं लगाता। उसे अपनी आत्मा की कोई खबर ही नहीं है। यह बड़े आश्चर्य की बात है। बिना आत्मज्ञान के अन्य कोई मोक्ष—मार्ग नहीं है। इस जीव ने अनादि काल से आज तक किसी भी क्षण किसी जीव का कुछ भी भला-बुरा नहीं किया। मात्र निज का लक्ष्य चूक 'पर' की चिन्ता में व्यस्त रह निज-तत्व की कोई परवाह न करेगा, तो चिन्ताओं का बोझ वृक्ष पर ही बढ़ता जायगा। स्मरण रख 'कि' 'पर' की चिन्ता से 'पर' का कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, अपितु तेरी ही हानि होती है। 'पर' की चिन्ता तेरा स्वरूप नहीं है। अपने को पहिचानने से 'पर' की चिन्ता छूट जाती है। एक क्षण-मात्र का आत्मानुभव अनन्त भावों का नाशक है। आत्मतत्व को भली प्रकार समझने से वैराग्य की उत्पत्ति कषायों की मन्दता या क्षय अवश्य

होता है और स्वरूप को पुनः पुनः समझने की बुद्धि जागृत रहती है। शरीर छूटने का भय नहीं होता। यदि इस जीवन में शरीर स्थित रहने पर स्वभाव में रुचि नहीं की, तो समय पाकर शरीर त्याग कर जाने वाले जीव के साथ क्या किया? ममत्व में ही जीवन बिताया। वे सांसारिक वस्तुयें आत्मा के साथ न कभी गई और न कभी जायेंगी। आत्मा का श्रद्धा सदा आत्मा से ही होता है। उसी को निरखो और परखो। यही उत्तम सार श्रुत तत्त्व है। त्रैलोक्य के स्वामित्व लाभ से आत्मज्ञान लाभ श्रेष्ठ है। क्योंकि आत्मज्ञान लाभ होने पर आत्मा मोक्ष का अक्षय सुख पाता है। सम्यक् दृष्टि जीव कर्म बन्ध को अपना स्वरूप नहीं मानता और न स्वयं रागद्वेष का कर्त्ता होता है। वह तो स्वभाव दृष्टि का बल रखता है जोकि कर्मों की निर्जरा का कारण है।

सम्यग्दृष्टि के भोग भी कर्म—निर्जरा का कारण कहा है। सो यहां पर सच्ची दृष्टि की महिमा बताई है। सच्ची श्रद्धा होने पर जो राग-भाव होता है वह केवल चारित्ररत्न की हानि पहुंचाता है। सच्ची श्रद्धा को कोई हानि नहीं पहुँचाता। सम्यक् चारित्र रत्न की अपेक्षा से छठे गुण स्थानवर्ती मुनि की शुभ वृत्ति को भी न्यून कहा है, तो फिर सम्यग्दृष्टि के अशुभ भाव की तो बात ही क्या है? यहां स्वभाव के बल से वह शुभ वृत्तियों को छटका कर पूर्ण शुद्धता प्रकट करेगा तथा अशुभ भाव को तो कदापि आदर न देगा। चारित्र रत्न की अपेक्षा से पूर्ण पर्याय होने से तृण तुल्य मानता है। ज्ञान की अपेक्षा से जितना राग है उसका वह ज्ञाता है, परन्तु उस राग को निर्जरा अथवा मोक्ष का कारण नहीं मानता। जैसे—जैसे पर्याय की विशुद्धता बढ़ती जाती है तैसे—तैसे राग दूर होता जाता है। जो निर्मल आत्मा रत्नत्रय में अपनी बुद्धि निश्चल रखता है, वह मोक्ष—मार्गी है। इससे विपरीत जो रत्नत्रय से बाह्य विचरते हैं और मिथ्या—मार्ग में स्थित हैं, वे सर्वथा निन्द्य हैं। इसलिये

जो रत्नत्रय से बाह्य विचरते हैं और मिथ्या—मार्ग में स्थित हैं, वे सर्वथा निन्द्य हैं। इसलिए हे भव्य ! इस अमूल्य रत्नत्रय को प्रयत्न पूर्वक धारण करो। निजानन्द पूर्ण आत्मा रुचि और विश्वास करो। इस आत्म—स्वभाव में ही पूर्ण सुख है। निश्चय से तो यह आत्मा ही कल्याण स्वरूप है। गुणी जन इस आत्म—तत्व को कल्याण-मूर्ति कहते हैं। इसलिये हे भव्यो ! सर्व प्रथम आत्मा का निज गुण सम्यक् दर्शन प्रकट करने का अभ्यास करो।

देखो मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम गुण स्थान में मन्द कषाय के बल से द्रव्यलिंग धारण कर रुचि सहित शुभ भावों के अवलम्बन से नव ग्रैवेयक तक जाता है। सागर पर्यन्त रुचि पूर्वक भोग वहाँ से निकलकर मनुष्य-पर्याय या भोग-रुचि सहित मरण कर निगोद-राशि में चला जाता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि के शुभभाव भी पाप का मूल है। उसका शुभ भाव भी मोह के जाल में फँसकर भव-कानन में परिभ्रमण कराता। वह शुभ क्रियाओं को ही धर्म समझकर अज्ञानी हो जाता है। धर्म का मूल तो सम्यक्दर्शन है तथा सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है और इन दोनों सहित चारित्र सम्यक् चारित्र है। इन तीनों की एकता ही मोक्ष-मार्ग है।

सम्यक् दर्शन रूपी जमीन पर दुःख के बीज गिर भी जायें तो भी वे उस पवित्र भूमि से शीघ्र अङ्कुरित नहीं होते। उस पवित्र भूमि का ताप उसे जला देता है। उस भूमि में आनन्द के बीज सदैव स्वभावतः उत्पन्न होते रहते हैं। वही निर्मल पर्यायें हैं। जैसे—वर्षा का कर्दम युक्त जल समय पाकर अपने आप निर्मल हो जाता है। यद्यपि यह आत्मा का निज गुण नहीं है बल्कि पर्याय है। इसलिये उसे औपशमिक भावादिक की अपेक्षा लगाई जाती है। जिन-वाणी में कहीं कहीं अभेद नयों की अपेक्षा से आत्मा कहा गया है। इसका कारण यह है कि कहीं द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के लक्ष्य का विकल्प छुड़ाकर, अभेद द्रव्य का लक्ष्य कराने का प्रयोजन है। द्रव्यदृष्टि रूप से द्रव्य गुण - पर्याय

में भेद नहीं है। इसलिये इस नय से द्रव्य गुण - पर्याय तीनों द्रव्य ही हैं। जब पर्याय—नय से द्रव्य गुण—पर्याय भिन्न भिन्न स्वरूप का विचार करना हो तो जो द्रव्य है, वह गुण नहीं और जो गुण है वह पर्याय नहीं होती। क्योंकि वे लक्ष्य भिन्न भिन्न हैं। जिससे वस्तु का ऐसा स्वरूप जान लिया, वह अभेद आत्म—स्वभावोन्मुख हो, समस्त भेदों के विकल्पों से दूर हो अभेद द्रव्य ही अनुभव में लाता है। क्योंकि यह सम्यग्दर्शन श्रद्धा - गुण की निर्मल पर्याय है। सम्यक्त्व—गुण की निर्मल - पर्याय सम्यक् दर्शन है।

शास्त्रों में कहीं कहीं सम्यक् दर्शन पर्याय को भी सम्यक्त्व कहा गया है। द्रव्य—गुण—पर्याय की भेद दृष्टि से देखने पर सम्यक्त्वादि आठ गुण नहीं बल्कि पर्यायें हैं इस प्रकार सम्यक् दर्शन श्रद्धा गुण की एक ही समय मात्र की निर्मल पर्याय है। द्रव्य—दृष्टि होने के उपरान्त यदि आत्मा में अस्थिरता शेष भी रहे तथा दो—चार भव भी होजायं तो भी वे भव बिगड़ते नहीं हैं। जैसे—युद्ध में शत्रुओं पर बाण-वर्षा कर चक्र—रत्न चला रहे हैं, नील, का पोत लेश्याओं वाले परिणाम (भाव) हो रहे हैं; तो भी उस समय नवीन भव की आयु का बन्ध नहीं होता। क्योंकि अन्तः करण में द्रव्य - दृष्टि की शक्ति अपरिमेय बढ़ रही है। इस दृष्टि से संसार - वृद्धि नहीं होती। एक समय मात्र का सम्यक् दर्शन अनन्त भव का क्षय करने वाला है। त्रैलोक्य और तीन काल में इसके समान महोपकारी अन्य कोई नहीं है। आत्म—कल्याणार्थियों को यह परम पवित्र सम्यक् दर्शन अवश्य प्रकट करना चाहिये। मानव—पर्याय का एक मात्र सार्थक कर्तव्य यही है।

सामान्यतः सम्यक्त्व हीन पुण्यात्मा से पुण्य—पाप रहित निज स्वरूप की सावधानी में स्थित आत्मा को उत्तम कहा गया है। सम्यक्त्व सहित जीव का नरक—निवास भला, परन्तु सम्यक्त्व रहित

...पम कहा गया है । सम्यक्त्व सहित जीव का नरक—निवास अच्छा, परन्तु सम्यक्त्व

जीव का देव लोक का निवास भी भला नहीं है । अतएव मानवों को सम्यक् दर्शन पूर्वक दान, पूजा, जप, तप आदि पुण्य कार्य करना चाहिये जिससे स्वतः ही साता वेदनी का उदय-काल आजाय और इन्द्र—नरेन्द्र—पद प्राप्त कर मोक्ष—लाभ हो । अनादि से स्व—स्वरूप समझने का अभ्यास न होने से सम्यक् दर्शन प्रकट करना कठिन प्रतीत होता है परन्तु यथार्थ में आत्मा का निजी स्वाभाविक गुण प्रकट करना कोई कठिन बात नहीं है । चतुर से चतुर कारीगर भी एक मुहूर्त में नवीन भवन निर्माण नहीं कर सकता, परन्तु आत्म—स्वरूप की पहिचान एक मुहूर्त मात्र में हो सकती है । आठ वर्ष का बालक एक मन का बोझ नहीं उठा सकता, परन्तु यथार्थ समझ के द्वारा अज्ञान का नाश कर स्व-द्रव्य में पुरुषार्थ कर केवल ज्ञान प्राप्त कर सकता है, क्योंकि 'स्व' में परिवर्तन करने के लिये आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र है । 'पर' में परिवर्तन करने के लिये आत्मा में कोई सामर्थ्य नहीं है । आत्मा में सदैव इतना स्वाधीन पुरुषार्थ बल विद्यमान रहता है कि यदि अनुकूल बने तो मोक्ष—धाम में पहुँच जाय और यदि प्रतिकूल चले तो दो घड़ी में सातवें नरक में जा निवास करे ।

इस ज्ञान—स्वरूप आत्मा का स्मरण करने में, क्लेश, अर्थ व्यय, दूर देशान्तर गमन, अधिकारियों से प्रार्थना आदि कुछ नहीं करना पड़ता । इस आत्माराधना से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तथा असंख्यात कर्मों की गुण - श्रेणी निर्जरा होती है । फिर अनुक्रम से मुनि - अवस्था प्राप्त कर शुक्ल—ध्यान के बल से समस्त कर्मों का क्षय कर सिद्ध - पद प्राप्त हो जाता है । ज्ञान और चारित्र का बीज भूत यह सम्यक् दर्शन ही है । इसके बिना क्रिया जप, तप, कलङ्क रहित शून्य सदृश व्यर्थ है । चार आराधनाओं में प्रथम दर्शन आराधना ही है । यम, प्रशम भाव, तप, स्वाध्याय, स्तुति पाठ-पठन, जप, तप, होम, दान, पूजा आदि सब का आधार यही सम्यक् दर्शन है । बिना सम्यक् दर्शन के ये सब

व्यर्थ बोझ सदृश है। व्यञ्जन में फेरने के चमचे के समान है। आत्मा का कोई हित नहीं होता। खाली पुण्य-बन्ध ही होता है सम्यक्त्व पूर्वक स्वरूप प्रक्रिया भी आत्म-हितकारी है। वह पुण्य का अखण्डार भी जीव के साथ भवान्तर जाता है। इसकी उत्कृष्ट मर्यादा अर्द्ध पुद्गल परावर्तन तथा जघन्य मर्यादा अन्तर मुहूर्त है, फिर मोक्ष ही हो जाता है।

द्वादशाङ्ग वाणी के अनुसार सिद्धान्त समय सार सब प्रमाण वचनों में सार है। समय शब्द के तीन भेद हैं (१) शब्द समय, (२) ज्ञान समय (३) अर्थ समय रागद्वेष रहित यथार्थ अक्षर, पद, वाक्य रचना द्रव्य श्रुत रूप शब्द समय है। इसी शब्द श्रुत का (मिथ्यात्वभावों के नष्ट होने से) यथार्थ ज्ञान होना श्रुत रूप ज्ञान समय है तथा सम्यक् ज्ञान के द्वारा जो पदार्थ जाने जाते हैं। उसका नाम अर्थ समय है। अर्थ समय लोक—अलोक के भेद से दो प्रकार का है। जहाँ जीवादिक द्रव्यों का समूह है वह तो लोक है और जहाँ अकेला आकाश ही है उसका नाम अलोक है। ज्ञान, समय के भी ज्ञान और अज्ञान अनन्त है। किसी जीव के ज्ञान (शान्त) अन्त सहित है, किसी के अज्ञान शान्त अन्त रहित है। शुद्ध जीव द्रव्य में केवल ज्ञान की अपेक्षा अनन्त ज्ञान है। सम्यक् दृष्टि जीव के क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा शान्त (अन्त सहित) ज्ञान है। अभव्य मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अनन्त अज्ञान है तथा भव्य मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा शान्त (अन्त सहित) अज्ञान है।

ज्ञान का जानना आठ भावों से होता है। (१) ध्रौव्य भाव, (२) व्यय भाव, (३) भव्य भाव, (४) अभव्य भाव, (५) शून्य भाव, (६) अशून्य भाव, (७) ज्ञान भाव, (८) अज्ञान भाव। सिद्ध अवस्था में टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक एक रूप, शाश्वत स्वरूप, स्थिर भाव है और पर्याय रूप अगुरु, लघुगुण षट्स्थान गुण हानि-वृद्धि अपेक्षा उत्पाद है। निर्विकार, चिदानन्द, एक स्वभाव परिणामों से भव्य भाव

...हानि-वृद्धि अपेक्षा उत्पा... । न व्यकार, चिदानन्द, एक स्वभाव परिणामों से अन्य भाव

है और अतीत मिथ्यात्वादि रागादि विभाव परिणामों से अमन्यत्व भाव है शुद्ध आत्म—भाव अपेक्षा पर द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव अपेक्षा शून्य भाव है स्व चतुष्टय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, से अशून्य भाव, है। समस्त द्रव्य गुण—पर्याय समय प्रकाशक, समर्थ, सकल, विमल, केवल ज्ञान गुण विराजमान ज्ञानभाव हैं। विनिष्ट मतिज्ञानादि सद्गुण छद्मस्थ ज्ञान अज्ञान भाव है। ऐसा समझने से मोक्ष-अवस्था सिद्ध हो जाती है। इन भावों से सिद्धों को समझ कर श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन है। संसारी जीव अनादि—अविद्या के कारण 'पर' भावों को आत्म-स्वरूप जानता है तथा अज्ञानी हो रागद्वेष भाव रूप परिणमता है। काल—लब्धि या सर्वज्ञ वीतराग के वचनों को अवधारण कर मिथ्यात्व को नाश भेद—विज्ञान रूप सम्यक् ज्ञान-ज्योति प्रकट करता है। तत्पश्चात् चारित्र मोहनी का नाश कर शुद्धात्म से जान उसी में तल्लीन हो समस्त संकल्प-विकल्पों के अभाव से निज स्वरूप की एकाग्रता में तल्लीन हो जाता है, जिससे आगामी बन्ध का निरोध हो जाता और पिछला कर्म-बन्ध अपना रस देकर खिर जाता है। इस प्रकार अबन्ध अवस्था धारण कर मुक्त हो अनन्त सुख भोक्ता हो जाता है। इसलिए पदार्थों में रागद्वेष रहित (साम्य-भाव) सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों का जब एक बार परिणमन होता है तब मोक्ष—मार्ग होता है।

सकल कर्म-क्षय लक्षण मोक्ष स्वरूप है। जो निकट संसारी जीवों को होता है। जिनकी कषायें मूल सत्ता से क्षीण हो गई हैं उन्हीं को होता है। व्यवहार नय से षट्-द्रव्य, पञ्चास्ति काय, सप्त तत्व, नव पदार्थ सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की प्रतीति और दृढ़ता पूर्वक श्रद्धान व्यवहार सम्यक् दर्शन है उन्हीं पदार्थों का यथार्थ अनुभव सम्यक्ज्ञान है पंचेन्द्रिय के विषयों में हठ, क्षति नहीं, रागद्वेष रहित भेद-विज्ञानी, शान्त स्वभाव, समताभाव युक्त जीवों का जो परिणाम है वही सम्यक् चारित्र है।

मिथ्यात्व के उदय से पदार्थों का संशय, विमोह, विभ्रम रूप ज्ञान होता है। जैसे–रेल अथवा जहाज पर बैठे मानव को तटवर्ती स्थिर पदार्थ वृक्षादि चलते प्रतीत होते हैं यही विपरीत ज्ञान है। मिथ्यात्व के अभाव होने पर यथार्थ पदार्थ का ग्रहण होता है। उसी यथार्थ ज्ञान का नाम सम्यक् ज्ञान है। यही सम्यक् ज्ञान आत्म तत्व अनुभव की प्राप्ति का मूल कारण हैं। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान की प्रवृत्ति के प्रभाव से निर्विकार आत्म-स्वरूप में लीन होना सम्यक् चारित्र है। इन तीनों भावों की एकता ही मोक्ष-मार्ग है। जिस प्रकार रोगी मानव को औषधि का दृढ़ श्रद्धान, ज्ञान और उपचार हो तो वह रोग से मुक्त हो जाय। ऐसा ही त्रिलक्षणी मोक्ष-मार्ग है। जब रत्नत्रय रूप आत्मिक स्वरूप में विचरण करना निश्चय मोक्ष-मार्ग है।

जब आत्मा अत्यन्त निश्चल विशेष शुद्धात्म-तत्व में स्वरूप गुप्त होती है तब स्वरूप का आचरण करती है। स्वाभाविक और निश्चल दर्शन, ज्ञान और चारित्र होने से ग्रहणत्यजन की बुद्धि मिट जाती और विकल्प रहित हो जाता है। तभी यह जीव मोक्ष-मार्गी कहलाता है। इसी के निश्चय और व्यवहार रूप मोक्ष-मार्ग की साध्य-साधन भाव की सिद्धि होती है। निश्चय से जो पुरुष आपके द्वारा अभेद रूप आचरण करता है तथा अन्य कारणों के बिना आप ही आप को स्व-पर प्रकाशक चैतन्य शक्ति को जानता, आप ही के द्वारा यथार्थ देवता और अनुभव करता है। आत्मनिष्ठ वेद विज्ञानी आत्मा आप हीदर्शन, आप ही ज्ञान और आप ही चारित्र है। इस प्रकार गुण–गुणी के भेद से आत्म कर्ता, ज्ञानादि कर्म और शक्ति करण है, नियम से अभेद है। इस प्रकार रत्नत्रय स्वरूप आत्मा है। यदि आत्मा निज स्वभाव में निश्चल हो आत्मीक भावों का आचरण करे, तो सर्वथा निश्चय मोक्ष-मार्ग सिद्ध हो जाय।

...मार्ग सिद्ध हो जाय ।

होता है। रत्नत्रय सराग और वीतराग के भेद से दो प्रकार का है। जो दर्शन ज्ञान, चारित्र राग लिये होता है। उन्हें सराग रत्नत्रय और जो वीतरागता लिये होता है वह वीतराग रत्नत्रय कहा जाता है। जैसे—अग्नि के संयोग से घृत स्वभावतः शीतल होने पर भी दाह का कारण होकर विरुद्ध कार्य करता है। उसी प्रकार राग के संयोग से रत्नत्रय बन्ध का कारण बन जाता है। जब पर समय की प्रवृत्ति छूट कर स्व- समय रूप स्वरूप में प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार रत्नत्रय सरागता के अभाव से साक्षात् मोक्ष का कारण हो जाता है। अतएव हे भव्यो! निज स्वाभाविक भावों का आचरण करो। जिससे स्वसमय मोक्ष—मार्ग की सिद्धि हो।

तप संयुक्त साधु बहिरङ्ग इन्द्रिय, प्राण संयम के द्वारा रागादि उपाधि रहित, ख्याति पूजा लाभ अनेक मनोरथ रूप विकल्प जाल ज्वाला रहित हो मन को निर्विकल्प करते हैं तथा संयम को स्थित करने के अथवा अनशनादि अनेक विधि बाह्य तप तथा समस्त 'पर' द्रव्य इच्छा निरोध लक्षण के द्वारा अभ्यन्तर तप करते हैं। एक आत्मस्वभाव से ही तल्लीन रहते हैं। कर्मपुञ्ज दाहक विशिष्ट संहनन आदि शक्ति के अभाव से निरन्तर ध्यान में लीन न रह सकने के कारण कभी शुद्धात्म भावना, कभी अनुकूल जीवादि पदार्थ प्रतिपादक आगम का अध्ययन करते हैं। कभी निर्दोष अरिहन्त, परमात्मा, परम देव तीर्थङ्कर, राम, भरत, सगर पाण्डवादि त्रेसठ शलाका पुरुषों का चारित्र पढ़ते सुनते हैं जिससे अशुभ राग दूर होकर शुभ धर्मानुराग प्राप्त होता है। कभी भेदाभेद रत्नत्रय भावनाओं का चिन्तवन करते हैं।

गृहस्थावस्था में दान, पूजादि करने से अनन्त संसार असार भावों की कमी होती। यद्यपि तद्भव कर्म—क्षय नहीं होते। पुण्यास्रव परिणाम सहित निर्वाण नहीं होता तथापि भवान्तर में इन्द्रादि—पद

पाता और वहां की समस्त विभूति को तृणवत् समझता है। कभी पंच महाविदेह क्षेत्रों में जन्म ले सर्वज्ञ वीतराग जिनदेव को देखता और धर्म में दृढ़ श्रद्धान करता है। चतुर्थ गुण स्थानवर्ती होता हुआ आत्म भावना में लीन हो देव लोक में सागरोपम पर्यन्त सुख भोगता फिर देवायु पूर्ण कर मनुष्य, भव, उत्तम कुल, निरोग शरीर, पूर्ण आयु, चक्रवर्त्यादि—विभूति पाता है परन्तु पूर्व भव—भावित शुद्धात्मा के बल से मोह, मान, माया, ममकार लोभादि नहीं करता और समस्त परिग्रह त्याग जिन दीक्षा ग्रहण करता है। जिन परिणामों से स्वर्गादिक सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं अर्थात् राग परिणामों को त्याग, निर्विकल्प समाधि—विधान पूर्वक विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव से निजशुद्धात्मा में स्थित हो संसार सागर पार हो जाता है और अनन्त ज्ञानादि गुण लक्षण युक्त मोक्ष सुख भोगता है।

शुद्धात्मा अनुभूति लक्षण निश्चय मोक्ष मार्ग है। निश्चय मोक्ष मार्ग अनुष्ठान अशक्य हो तो भावना निश्चय साधक शुभ अनुष्ठान करो जिससे सराग सम्यक् दृष्टि होकर परम्पराय मोक्ष पाओ। इस प्रकार व्यवहार एकान्त निराकरण किया। निश्चय नय आलम्बन के बिना जो तपोधन आचरण युक्त षडावश्यकादि अनुष्ठान रत श्रावकाचरण योग्य दान, पूजादि करते हैं। वे दूषित और उभय भ्रष्ट हैं। निश्चय व्यवहार अनुष्ठान योग्य अवस्था न जान पाप ही बांधते हैं। जब शुद्धात्मानुष्ठान रूप मोक्ष मार्ग मानते हैं। तब चारित्र मोह के उदय और शक्ति के अभाव से शुभाशुभ अनुष्ठान रहित हैं और शुद्धात्म भावना संयुक्त शुभ अनुष्ठान रत पुरुष सदृश नहीं होता है। दान, पूजादि सराग सम्यक्त्व से व्यवहार सम्यक् दृष्टि होता है और परम्पराय मोक्ष जाता है। जो मोक्ष निमित्त सदैव उद्यमी हैं, संयम युक्त हो वैराग्य शिखर पर चढ़ने की जिसमें शक्ति है। जो घोर उपसर्ग रूप तप से संयुक्त हैं। वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत सिद्धान्त का श्रद्धानी, निश्चय और व्यवहार नय पूर्वक अनेकान्ती है। शुद्ध

चैतन्य स्वरूप आत्मा में स्थिर सावधान है। जिन आज्ञा प्रमाण जिसका माध्यस्थ भाव है। प्रमाद प्रवृत्ति को दूर करने हेतु सिद्धान्त के अनुसार क्रिया—काण्ड परणति रूपमायारि चन्त करने तत्पर रहता है। यथाशक्ति अपने द्वारा आपको जान आप में ही रमता है। ऐसा अनेकान्त वादी साधक निज–तत्व की स्थिरता के अनुसार क्रम–क्रम से कर्मों का नाश करता है। वह अप्रमादी हो अडोल अवस्था धारण कर कर्म–चेतना-शक्ति को खण्डित करता है। कर्म–फल चेतना का अनुभव दूर कर मात्र ज्ञान चेतना की अनुभूति से आत्मीक-सुख का अनुभवन करता है वह महापुरुष शीघ्र ही संसार समुद्र से पार हो समस्त सिद्धान्तों के मूल-भूत शास्वत पद का भोक्ता होता है। इस प्रकार अनेकान्त मय यह पन्द्रहवां परिच्छेद समाप्त हुआ।



सोलहवाँ परिच्छेद

❁ मङ्गलाचरण ❁

दोहा—ज्ञाता–दृष्टा आत्मा, निजानन्द निज–रूप।
श्रद्धा धर सुमरन करो, होय जगत के भूप॥

यह प्राणी साता–असाता वेदनी कर्म के निमित्त से चतुर्गति रूप संसार–चक्र में फँस कर परिभ्रमण कर रहा है। संसार रूपी महा वन में भटकता जन्म-मरण कर रहा है। महारम्भ माँस-भक्षण

मदिरा-पान अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, कृष्ण, नील- कापोत लेश्या भय परिमाण तथा आर्त–रौद्र ध्यान आदि कार्यों से अधोगति में गिरते हैं। जहाँ शान्ति - विश्राम लेश-मात्र भी नहीं है। निरन्तर महा अन्धकार ही अन्धकार रहता है। वहाँ अङ्ग-छेदन, अग्नि–जलन, असि-प्रहारादि अनन्त दुःख हैं। जिन्हें इस जीव ने अनन्त बार भोगे हैं। यह नरक-गति का दुःख केवलज्ञान ही गम्य है।

तिर्यञ्च-गति में जाने का कारण हिंसा, झूठ, चोरी, अन्याय कपट, प्रपञ्च, मायाचार आदि हैं। इनसे यह जीव, सिंह, व्याघ्र, रीछ, रोज, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गधा आदि तिर्यञ्च-तन को धारण करता है। इस गति मे भूख-प्यास, शीत उष्ण, वर्षा, वध बन्धन, ताड़न-मारन, भार–वहन, अङ्ग छेदन इत्यादि दुख सहना पड़ते हैं। जिसे सभी प्रत्यक्ष देखते हैं।

मनुष्य गति में यह जीव विवेक हीन हो खाद्या-खाद्य का कोई विचार नहीं करता। काम के वश हो लज्जा को छोड़ माता, बहिन, पुत्री आदि को भी नहीं गिनता। अनेकों अनर्थ करता है। जो समस्त कार्य अनार्यों सदृश करता है। फल-स्वरूप आर्य खण्ड में ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, आदि कुलों में, मति-हीन, अज्ञानी, दरिद्री, रोगी, मानापमान सूचक कठोर वचन, सुनने वाला महा दुखी उत्पन्न होता है। नव मास पर्यन्त मल–मूत्र, युक्त गर्भाशय में दिन-रात मूर्च्छागत स्थित वेदना निरन्तर भोगता है, फिर जन्म [illegible]ल की वेदना तो गर्भ-वास–वेदना से भी अनन्त गुणी है। जिस प्रकार स्वर्णकार जंती में से तार पकड़ कर खींचता है, उसी प्रकार बालक का जन्म होता है। तत्पश्चात बाल्यावस्था में मल - मूत्र, धूल मिट्टी में लिप्त रह भक्ष्याभक्ष्य भक्षण करता है। यह अज्ञानता एक दुःख ही तो है। युवावस्था में विषय विकारों में फँस जाते, प्रमाद, अभिमान; इष्टानिष्ट संयोग-वियोग आदि घट माला सी चलती रहती है। वृद्धावस्था आने पर समस्त इन्द्रियां अशक्त हो जाती, शरीर

माला सी चलती रहती है । वृद्धावस्था आने पर समस्त इन्द्रियाँ

आत्म-प्रबोध

कांपता, मुख से लार टपकती, शारीरिक शक्ति मन्द पड़जाती। बाल सफेद हो जाते हैं। नेत्र और कान कमजोर पड़जाते हैं। श्वास दमा आदि रोग घेरे लेते हैं। स्वल्प काल में ही मृत्यु से भेंट हो जाती है। मृत्यु - काल की वेदना को सर्वज्ञ ही जानते हैं। ऐसे शरीर का होना तो न होने के ही समान है। अतएव मनुष्य भव मे आत्म-कल्याण कारिणी चार आराधनाओं को सम्यक् दर्शन पूर्वक धारण कर पुरुषार्थ करके भव-सागर को पार करो। यही आत्मा का सर्वोपरि एवम् सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।

देवगति में पारस्परिक हीना धक सम्पदा को देख अन्तरङ्ग ईर्षाभाव, मानसिक क्लेश होता है। पुण्य फल भोग एकेन्द्री पर्याय तक प्राप्त होती है। इस प्रकार देवायु भी व्यतीत हो जाती। इस प्रकार चारों गतियों में दुःख भोगना तथा त्रिविध–ताप सहन करना पड़ता है। सिर्फ पंचम–गति में ही शाश्वत सुख की प्राप्ति है किसी ने कहा भी है—"पञ्चम गति सुख मिले शुभाशुभ को मेटो लेखा।" इस निविड़ अन्धकार में प्राणी इधर उधर भटकते हैं। काच कञ्चन का बोध नहीं होता। विवेक के बिना यथार्थ वस्तु का ज्ञान नहीं होता। नेत्र होने पर भी अन्धकार में अन्धे सदृश भटकते हैं। लोभ, तृष्णा, माया उपद्रव बढ़ते जाते। इस प्रकार संसार-शकट-शक्र घूमा करता है। हे भव्यो! श्री जिनेन्द्र ने ज्ञानरूपी जो निर्विघ्न उत्तम मार्ग बतलाया है, उसी का अनुसरण करो। सकल सिद्धान्त का सार, सर्वमान्य समस्त प्राणियों का हितकारी और आत्मोद्धारक मार्ग पर चलो। जिस प्रकार अग्नि—ज्वाला समस्त पुद्गलों को भस्म कर देती है, परन्तु पानी से बुझ जाती है। वैसे ही निज स्वरूप को सम्हाल वैराग्य रूपी जल सींचने से भव-आताप बुझ जाती जाती है। अथवा जैसे—अन्धकार में दीपक के ले जाने से उसके प्रकाश में समस्त पदार्थ प्रतिभाष जाते हैं। वैसे ही तत्त्वज्ञान रूपी विमल प्रकाश से मोहान्धकार पूर्ण संसार में सत्य वस्तु झलक जाती है। यह आत्मज्ञान ही परम दीपक है।

जिस प्रकार शकट—चक्र बिना दो बैलों के नहीं चलते, उसी प्रकार 'संसार शकट—चक्र भी बिना राग-द्वेष के नहीं चलते। यथार्थ में तो ये राग-द्वेष मोह ही संसार निवास का कारण है। यह आत्मा अनादि काल से संसार रूपी मैल से मलीन है। वह मलीनता इस जीव के प्रत्येक प्रदेश में व्याप्त हो रही है यदि प्राणी इस मलीनता को विषय—वासनाओं से दूर करना चाहे तो कदापि नहीं कर सकता। इस जीव को तो संसार में राग-द्वेष और दुःख-आराम का ही उपदेश मिलता है। ब्रह्म चिदानन्द चेतन स्वरूप आत्मा को सत् शान्त नहीं मिलती। गृहस्थों का घर पंच पापों से परिपूर्ण है। राग—द्वेष, विषयभोग, निद्रा कलह का स्थान है। यदि इस स्थान को धर्म स्थान कहें तो फिर अधर्म स्थान किसे कहेंगे?

इस सांसारिक मलीनता को दूर करने में विशुद्ध भावों की उत्तरोत्तर वृद्धि ही समर्थ है। इस आत्म वस्त्र को अरिहन्त वचन रूप साबुन और वैराग्य रूपी जल न हो तो अन्य सामग्रियाँ कुछ न कर सकेंगी। समता, जप,तप, परोपकार, अल्प राग, पंच अणुव्रत, शास्त्र स्वाध्याय, उदासीन वृत्ति, अल्पारम्भ आदि सद्गुण संयुक्त पुरुष पवित्रता पूर्वक निजानन्द में रमण करते हुए काल व्यतीत करते हैं, व विचारते हैं—

आत्म—यह सब संसार जल रहा है। इसमें लेश मात्र भी सार और सुख नहीं है। सुख तो निर्ग्रन्थ ज्ञानी, आधि व्याधि रहित, वीतरागी को है। वह शाश्वत मोक्ष का हेतु, केवल लक्ष्मी का उपार्जन करता है। संसारी जीव तो केवल धन के उपार्जन के लिये छल, कपट, लोभ लालच और मायाचार में संलग्न रहते हैं। सच पूछो तो न उसका पूरा, कथा अशुभ उपयोग भी नहीं करते। मात्र उपाधियों को ही भोगते हैं। पापोपार्जन करते हुए अचानक काल के गाल में समा अधोगति

...यों को ही भोगते हैं। पापों पार्जन करते हुए अचानक काल के गाल में सदा अयोगति...

चले जाते हैं और वहां अनन्त संसार की वृद्धि करते हैं। मिला हुआ मानव भव निर्माल्य कर देते हैं। जिससे निरन्तर दुखी रहते और भव भ्रमण करते हैं।

जो सर्व प्रकार आरम्भ, परिग्रह से विरक्त हो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से अप्रतिबन्ध रूप से विचरते हैं। शत्रु, मित्र, काँच, कञ्चन, महल, मसान, शीत, उष्ण, निन्दा, स्तुति, जीवन, मरण, सुख, दुख, शहर, वनखण्ड आदि के प्रति समान दृष्टि रखते हैं। जिनका समय शुद्धात्म–ध्यान में व्यतीत होता है। जिनका मन स्वाध्याय तथा तत्व–चिन्तन में संलग्न रहता है। ऐसे कषाय कर्दम रहित जितेन्द्रिय निर्ग्रन्थ ही परम सुखी है। जिन्होंने घातिया कर्मों को क्षय कर अघातिया कर्मों को क्षपकर डाला है, जो अनन्त दर्शी-ज्ञानी हैं वे ही सम्पूर्ण सुखी हैं तथा वे ही समस्त कर्मों से भिन्न हो पंचमगति (मोक्ष) प्राप्त करेंगे। जो विवेकी इस परमसुख के विषय में विचार करेंगे एवम् तदनुकूल आचरण करेंगे, वे मुक्तात्माओं के अनन्त चतुष्टय स्वरूप शाश्वत सुख का आस्वादन करेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं है। भैया हो? महान् पुण्योदय से यह मानव पर्याय प्राप्त हुई है। भयङ्कर भावों में मत लगे रहो। इन भावों में रमण करते रहना मनुष्य पर्याय रूप रत्न का हारना है। तुम एक मुहूर्त भी चिन्तवन नहीं करते। यह तुम्हारी बड़ी भारी भूल है।

इस आनन्द घन आत्मा में जिस प्रकार से सच्चा सुख प्रकट हो सके उसे प्रकट करो। विचार करो कि मैं कौन हूं? कहां से आया हूं? और अब कहां जाऊँगा? मेरा सच्चा स्वरूप क्या है? यह संसारी सम्बन्ध किस कारण हुआ? शान्त परणामों से विचारने पर निश्चय हो जायगा कि आपनी आत्मा ही नन्दन-वन सदृश शीतल, सुखदायक सुख का स्थान है। यह आत्मा ही कर्मों को दूर करने वाला है। अपनी आत्मा ही निर्मल शिव स्वरूप है। अब मैं इस महाभाग्य आत्मा को दुर्नय

में न जाने दूंगा। भोग सामग्री का तिरस्कार कर सज्जिनदेव, सद्धर्म और सद्गुरु का शरण लिया है। वह जिन देव कैसा है? कि पूर्व-भव में चक्रवर्ती, राजाधिराज, महामण्डलेश्वर होने पर भी संसार का यथार्थ स्वरूप समझ समस्त पुण्य-सम्पदा को त्याग देता है। आत्म तत्व की शोध कर वीतराग विज्ञानता के बल से घाति या कर्मों को चकचूर कर केवल दर्शन सहित निज स्वरूप में विहार करते हैं। शेष चार कर्म जली रस्सी सदृश रहते हैं। यथाख्यात चारित्र रूप उत्तम संयम का सेवन करते हैं। अन्य जीवों को कर्म-शान्ति के लिये निवारण मेघ धरवत दिव्य-ध्वनि से महोपदेश देते हैं। जिनका अनन्त संसार नष्ट हो गया है ऐसे श्री मन्दर स्वामी पूर्व विदेह क्षेत्र में विराजमान हैं। वे ही सच्चे देव हैं।

जो आत्मा को अधोगति से रोक सद्गति को प्राप्त करा देता है, वही सद्धर्म है। श्री जिनेन्द्र भगवान ने इस सच्चे धर्म के मुख्य दो भेद बतलाये हैं अर्थात् पहला व्यवहार धर्म और दूसरा निश्चय धर्म। व्यवहार धर्म में दया प्रधान है। सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य तथा निर्ग्रन्थत्व ये चार महाव्रत दया की रक्षा के लिये हैं। दया के आठ भेद हैं (१) द्रव्य दया (२) भव दया (३) स्वदया (४) पर-दया (५) स्वरूप-दया (६) अनुबन्ध दया (७) व्यवहार दया (८) निश्चय दया।

प्रत्येक कार्य यत्नाचार पूर्वक कर जीवों की रक्षा करना द्रव्य दया है। अन्य जीवों को दुर्गति में जाते हुये देख अनुकम्पा बुद्धि से उपदेश देना भाव-दया है। यह आत्मा अनादि से मिथ्यात्व और मोह में फँसी है, जिससे निज तत्व की उपलब्धि नहीं होने पाती तथा जिनाज्ञा का परि-पालन नहीं होने पाता। ऐसा मन में विचार कर धर्म में प्रवेश करना स्वदया कहलाती है। षट्-कायिक जीवों की रक्षा करना पर दया है। सूक्ष्म विवेक से अपने स्वरूप का विचार करना स्वरूप-दया है। जिस प्रकार

गुरु-शिष्य को कठोर और कड़वे वचन कहकर उसे सन्मार्ग पर लगाता है; यही पर दया है। यद्यपि देखने में अयोग्य जान पड़ती है, परन्तु परणामों में करुणा ओत-प्रोत है इसी का नाम अनुबन्ध दया है। उपयोग और विधि पूर्वक दया पालन का नाम व्यवहार दया है। शुद्ध साध्य उपयोग में एकता-भाव उपयोग का होना निश्चय दया का लक्षण है। इस व्यवहार धर्म से जीवों को सुख-सन्तोष और अभय आदि सब विचार पूर्वक देखने से आजाता है।

दूसरा निश्चय धर्म है जो अपने स्वरूप की अज्ञानता को दूर कर आत्मा को आत्मा से पहिचानता है। विचारता है कि संसार असार है। मेरा इसमें कोई नहीं है। मैं इससे भिन्न हूं। मैं परम ब्रह्म, असंग, अखण्ड, सिद्ध स्वरूप, अविनाशी आत्मा हूं। इस प्रकार आत्म-स्वभाव में प्रवृत्ति करना निश्चय धर्म है। ऐसा यह ध ं तत्व है।

गुरु का स्वरूप है। जो स्वयं तरते और अन्यों को भी भव समुद्र से पार कर देते हैं। बिना उत्तम गुरु के तत्व ज्ञान स्व-स्वरूप, संसार स्वरूप, लोकालोक का ज्ञान आदि प्राप्त नहीं होता। सद्गुरु अर्हन्त भगवान की दिव्य ध्वनि के समान सदुपदेश देते हैं। वे सदैव कंचन और कामनी के सर्वथा त्यागी हैं। नवधा भक्ति पूर्वक विशुद्ध आहार जल लेते तथा बाईस परीषहों को सहन करते हैं। दान्त, दान्त, निरारम्भी और जितेन्द्रिय होकर सिद्धान्त ज्ञान धन में सदैव निमग्न रहते हैं। धर्म साधन हेतु ही शरीर की रक्षा करते, निर्ग्रन्थ पंथ का पालन करते हुये कायर नहीं अपितु आसिंह होते हैं। वे रात्रि भोजन त्यागी, मौनी सर्व साधु समभावी, क्षमावान् ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, स्वाध्याय में रत, वस्तु-स्वरूप के वेत्ता, वीतरागी होते हैं ऐसे देवशास्त्र गुरु, सप्ततत्व, नव पदार्थ, षट् द्रव्य, पंचास्तिकाय आदि का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

जिस आत्मा में निर्मल बुद्धि, माध्यस्थता सरलता और विशालता है, वही आत्म तत्व पाने का उत्तम पात्र है। उसे ही आत्मा के प्रति करुणा उत्पन्न होती है। वही पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को समझ मोक्ष पुरुषार्थ में लग जाता है। जितनी भी आत्मायें मुक्त हुई हैं वे सब सर्वज्ञ के वचनों पर विश्वास कर उनके उपदेशानुसार मोक्ष मार्ग पर प्रबल आलम्बन से हुई हैं। जिसमें रागद्वेष व मोह भाव नहीं है, वही समस्त दोषों से रहित मोक्ष मार्ग का उपदेश कर सकता है।

यह जीव अनादि से ही रागद्वेष व मोह के प्रबल फन्दे में फँसे अपने सम्बन्ध में किञ्चित भी विचार नहीं करने पाया। आर्य खण्ड, मानव पर्याय सम्पति युक्त उत्तम कुल निरोग शरीर और जैन धर्म पाकर, सन्देह रहित हो, सर्वज्ञ वचनानुसार मोक्ष मार्ग का आचरण करो। यही सच्चा मोक्ष मार्ग का उपदेश है। त्रिदोष रहित, अतिशय सहित तीर्थङ्कर देव के उपदेश से आत्म-स्वभाव को स्वीकार करने में ही कल्याण है। जब तक सप्त प्रकृतियों का क्षयोपशम, उपशम या क्षय नहीं होता, तब तक सम्यक्दृष्टि होना असम्भव है। ये सप्त प्रत्यय जैसे जैसे मन्द होते जाते हैं। तैसे तैसे सम्यक्त्व का उदय हो जाता है। जीव की सप्त प्रकृतियों की ग्रन्थी छूट जाती है, उसे आत्म रत्न प्राप्त हो जाता है। इसीलिये तत्व ज्ञानियों ने इस ग्रन्थी को भेदन करने का बार बार उपदेश दिया है। जो आत्मा प्रमाद तज ग्रन्थी छेदन करेगा, वह अवश्य आत्म प्रबोध को प्राप्त करेगा। संसार ताप से अत्यन्त तपायमान आत्मा को शीतल करना ही कृत कृत्यता है।

यह आत्म रत्न अन्तरङ्ग शोधन से ही प्राप्त होता है। अतएव जैसे बने तैसे निरन्तर लगे रहकर उदास वृत्ति से रहो। यथा शक्ति उत्तम सत्य व्यवहार सहित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को करो। मोह के माहात्म्य से ही यह जीवन प्रमाद में व्यतीत हो रहा है। इसके प्रभाव से

…की करो मोह के माहात्म्य से ही यह जीवन प्रमाद में व्यतीत हो रहा है। इसके प्रभाव से

मित्र द्रोही हो जाता है। विश्वासघात, सप्त व्यसन सेवन, मिथ्यादोषारोपण, हिंसा युक्त व्यापार, धोखा-धड़ी, चोरी आदि जितने भी संसार में प्रचलित कुकृत्य हैं यह मानव उन सब को बड़ी चतुराई से करता है। एक मात्र सम्यक्त्व ही आत्मा को इस अशुद्ध व्यवहार से रोकने में समर्थ है। वह आत्मस्थिति को सम्हाल उदय में आए पूर्व कर्मों को भोगता हुआ नूतन कर्म बन्ध नहीं होने देता। यही उत्तम आत्महित है। इसे प्राप्त किए बिना किसी ने न मुक्ति पाई है, न पा रहा है और न भविष्य में पायगा। इस एक मात्र मोक्ष पंथ को बताने के लिये श्री अरिहन्त देव ने असंख्य उपदेश और क्रियाकाण्ड बनाये हैं। हे भाईयो! तुम उन्हें ग्रहण करो। समस्त भेदों को दूर कर अन्तरङ्ग वृत्ति से निजात्मा पर गम्भीरता पूर्वक विचार करो।

जो आत्मा इन जड़ कर्मों में जितनी अधिक आत्म-बुद्धि करता है, अज्ञानता उतनी ही अधिक वृद्धि पाती है। आश्चर्य तो यह है कि कर्म स्वयं जड़ होने पर भी चेतन को अचेतन बना रहा है। यह चेतन, चेतना भाव को भूल उसी को निज स्वरूप मान रहा है। जो निर्मल आत्मायें कर्म-संयोग को या उसके उदय से उत्पन्न हुई पर्याय को निज स्वरूप नहीं मानतीं और पूर्व सत्ता में रहने वाले कर्मों के फल को बन्ध रहित परिणामों से भोगती हैं। वे आत्मायें उत्तरोत्तर ऊर्ध्व श्रेणी पर एक समय एक मात्र शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लेती हैं। जो आत्मायें विनयी, सरल, लघुत्व भाव को पाकर सदैव सत्पुरुषों के चरण-कमलों में रहती हैं वे भी उन महात्माओं जैसी ऋद्धियां प्राप्त कर लेती हैं। इस आत्मा को केवली, श्रुत केवली या सद्गुरु का कभी संयोग नहीं मिला; नहीं तो निश्चय ही दिगम्बर पद ग्रहण कर रत्नत्रय आराध कर मोक्ष पा जाती। मोक्ष तो हथेली में है। अब भी अपने परिणामों की सम्हाल करो। जीवों से निर्वैर बुद्धि कर, मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भाव रक्खो।

गुणीजनों को देख हर्षित होओ। संसार ताप से संतप्त आत्माओं पर अनुकम्पा करो। सब जीवों से मैत्री भाव रखो। विपरीत श्रद्धा रखने वालों पर माध्यस्थ भाव रखो। जगत के प्रतिबन्ध को भूल आत्म-हित में लग जाओ। आत्म-दर्शन में स्थिर हो समाधि भाव में रमण करो। यह परमार्थ आठ अन्तर्मुहूर्त मात्र का है।

जो साधु चैतन्य स्वरूप आत्मा को जान, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि तत्वों को भली प्रकार समझता है। वह कर्मों का संवर कर मिथ्यादर्शन से उत्पन्न होने वाली कर्म-रज को हटा, रत्नत्रय युक्त वीतराग पद पर आरूढ़ हो 'कैवल्य' प्रकट कर लेता है। फिर मन, वचन, काय के योगों को रोक समस्त कर्मों का क्षय कर निरञ्जनपद प्राप्त कर लेता है। परमात्मा का ध्यान कर परमात्मा बन जाना कोई कठिन नहीं है क्योंकि यह तो निज स्वभाव की ही बात है; परन्तु आवश्यकता है सच्ची समझ की, सच्ची समझ से ही शुद्धोपयोग की प्राप्त होती है। अखण्ड सिद्धान्त तो यह है कि संयोग, वियोग; सुख, दुख, हर्ष, विषाद, राग, विराग आदि द्वन्द्व योग किसी व्यवस्थित कारण को लेकर होते हैं। एकान्त पक्ष ही न मान बैठना। अनेकान्त दृष्टि रखना। नियम पूर्वक किये हुये अभीष्ट की सिद्धि शीघ्र होती है।

पठन की अपेक्षा मनन अधिक करो। जगत को देखने की अपेक्षा अनेक अन्त:करण को देखो। आहार-विहार में अलुब्ध रहो। उपकार बुद्धि रख ऊँचा लक्ष्य रखो। वर्ताव में बालक, में युवा और ज्ञान में वृद्ध बनो। सदैव बारह भावनाओं का चिन्तवन करो। प्रथम अनित्य भावना के स्वरूप का विचार करो। जिस प्रकार स्वप्न में देखी हुई एक भी वस्तु सत्य नहीं है, उसी प्रकार संसार की एक भी वस्तु सत्य नहीं है। सभी चञ्चल—चपल हैं। सब क्षणिक और विना शक्ति हैं। मात्र

आप अखण्ड अविनाशी है; अतएव शाश्वत नित्य वस्तु प्राप्त करो। हाथी, घोड़ा, विभूति वैभव, इन्द्रिय-सुख, बल-प्रताप, कुटुम्बादि सब अनित्य हैं। जैसे बिजली की चमक उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती है। अधिकार थोड़े दिन रहकर विनष्ट हो जाता है। आयु पानी के बुल-बुले के समान है। संसार का समस्त वैभव इन्द्र धनुष के समान है। जो देखते-देखते क्षण भर में लय होजाता है। मतलब यह है कि संसार की एक भी वस्तु नित्य नहीं है। सब विनाशीक ठाठ है।

दूसरी अशरण भावना है। संसार में प्राणियों को इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, औषधि, ऋद्धि आदि विद्यायें, कुटुम्बी जन आदि कोई भी मरने से नहीं बचा सकता। केवल एक उत्तम जैनधर्म ही शरण देने वाला है। उसी का महोपदेश श्रवण कर अनाथ से सनाथ हो। जैनधर्म के बिना भव वनी में भ्रमण करते हुए तेरी बांह पकड़ने वाला संसार में कोई दूसरा नहीं है। अनन्त अशरणता को त्याग, चैतन्य स्वरूप निजात्मा की सत्य शरण स्वीकार करो। तत्व-ज्ञान रूप आत्मस्वभाव का ही सेवन करो। अन्त में यही मुक्ति का मूल होगा। पुरुषार्थ करके कषायों को निर्मूल करो। परम दिगम्बर अवस्था धारण कर शुल्क ध्यान में स्थित हो शुक्ल लेश्या उत्पन्न कर अनिवृत्ति गुण स्थान में स्थिर रहो। सुमेरु जैसा अचल और अकम्प भाव वाला उत्तम ध्यान का ध्याता मुनि समस्त कर्मों को क्षय कर अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करता है। उसे श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, दिगम्बर, भदन्त, दान्त, यति, तपस्वी, पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक आदि अनेक नामों से सम्बोधित करते हैं। ये समस्त आपकी आप ही शरण हैं, अन्य की शरण नहीं। जो मिथ्यादर्शनी की शरण रूप मानता है वह अधोगति का पात्र होता है। इसलिये निश्चय में तो आपको आपही शरण है और न व्यवहार से पंच परमेष्ठी शरण हैं।

तीसरा संसार भावना का चिन्तवन है। संसार के समस्त प्राणी मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से आवृत्त हैं, अतएव जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग नहीं देख पाते तथा भयानक संसाररूपी विषमवन में भ्रमण करते फिरते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पंच परावर्तन रूप संसार में अनादिकाल से भटक रहे हैं। संसार क्या है? कहाँ संसार है? किस भाव से संसार है? किस के संसार है? कितने काल तक संसार है? संसार के कितने भेद हैं? इन छह प्रश्नों पर कभी विचार नहीं करते। इस संसार में जन्म-जरा-मरण और मन, वचन, काय का भयङ्कर कष्ट है। इष्टानिष्ट का वियोग, योग, जन्य विकराल दुःख है। भयानक रोगों से उत्पन्न हुई पीड़ा सहन करना पड़ती है। भव-भ्रमण सम्बन्धी समस्त भावों को चतुर्गति में भोगा है। चारों गतियों में दुःख का ही अनुभव किया कहीं भी सुख प्राप्त न हुआ। अब मैं संसार से कब छुटकारा पाऊँगा? यथार्थ में संसार मेरा नहीं और न मैं संसार का हूँ। मैं तो मोक्षमयी हूँ। केंचुली के त्याग से सर्प का विनाश नहीं होता इसी प्रकार संसार वास छूटने से आत्मा का विनाश नहीं होता। आत्मा तो अभङ्ग और असङ्ग है। ऐसा विचार निरन्तर आत्म-चिन्तन करो कर्म-क्षय कारिणी ध्यानाग्नि को घट में निरन्तर जगाओ। आत्म-दर्शन के द्वारा भौतिक पदार्थों को निज स्वरूप से भिन्न समझो। आत्मा को रागद्वेष मोहादि कलंकों से निर्मल करने हेतु जो प्रयत्न किया जाता है वही आत्मा का संयम रूप सदाचार है। बिना इसके मुक्ति मार्ग नहीं होता।

शुद्ध आत्मस्वभाव की प्रतीति अनुभव में है, उसे पहिचान अपने ही अज्ञान से परपदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि कर चतुर्गति रूप संसार में दुःख ही दुःख पाया और यथार्थ सुख की अनुभूति से वंचित रहा। इस लिये आत्म स्वभाव की श्रद्धाज्ञान शुभाशुभ इच्छाओं को रोक आत्मा में एकाग्र होना

परमार्थ दृष्टि से उत्तम आत्म धर्म है। हे भव्यो ! इस आत्म धर्म को धारण करो। स्वल्पाहार, पद्मासन वीरासन सिद्धासन, कमलासन, पर्यङ्कासन, खड्गासन, आदि आसनों में से किसी एक आसन की दृढ़ता (जिससे मन इधर-उधर न जाय) धारण कर निद्रा को त्याग एकाग्रचित्त ध्यान करने से प्रमाद निवास छूट जाता है। जब ऐसी वीतराग दशा में उपयोग स्थिर न रहे तब सम्यक् श्रद्धा ज्ञान पूर्वक शुभराग में प्रवृत्ति करो जिससे परम्परा मोक्ष लाभ हो। मन्दराग के उदय से यह शुभोपयोग होता है। जिसमें षट्कायिक जीवों की रक्षा का भाव आजाता है परन्तु इस राग भाव को हेय समझो क्योंकि यह सब व्यवहार धर्म है। निश्चय तो शुद्धोपयोग ही है और वही उपादेय है।

चौथी एकत्व भावना है। संसार में माता–पिता, भाई-भतीजे, सुत-दारा, स्वजन-परिजन, दास-दासी आदि जितने नाते हैं उनके मध्य में रोगी-दुखी हुआ मृत्यु के वश में पड़ा तड़फता अकेला ही परलोक को गमन करता है। मित्र, कुटुम्बी, लक्ष्मी कोई भी साथ नहीं जाता। यह जीव अकेला ही शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और उनका फल भोगता है। अकेला ही आया और अकेला ही जायगा। कहा भी है। "जन्मे मरे अकेला चेतन, सुख-दुःख का भोगी और किसी का क्या ? इक दिन यह देह जुदी होगी।" इस प्रकार विवेकी जन एकत्व भावना का निरन्तर चिन्तवन करते हैं।

पांचवीं अन्यत्व भावना है। इसका यथार्थ स्वरूप अपनी आत्मा को माता-पिता परिजन आदि को आत्मा से भिन्न समझता है। ये तो इसी लोक के सहायक हैं। संसार से प्राणी दुःखों के मरण का तो प्रयत्न सोच करते हैं। परन्तु संसार समुद्र में डूबती अपनी आत्मा का किञ्चित सोच नहीं करते। वह बड़ा आश्चर्य है। जब यह शरीर भी अन्य है तब स्त्री, पुत्र, मित्र, कुटुम्बी, तात-मात, धन-धान्य, बाग, बगीचे, हाथी, घोड़ा, रूप, लावण्य तो प्रत्यक्ष ही अन्य (जुदे) दिखते हैं। मैंने अपनी अज्ञानता

ऐसे ही इन्हें अपना मान रखा है। अतः अन्यत्व को सिद्ध कर एकत्व में रमण करो।

छठवीं अशुचि भावना का चिन्तवन करना है। नरक में निरन्तर दुख ही दुख है। तिर्यन्चों को बध-बन्धन, मारन-ताडन, अतिभारारोपण, भूख-प्यास की विषम वेदना है। मनुष्य गति में अनेकों रोग-शोक, तृष्णा चिन्तायें हैं। देव गति में दूसरे की आज्ञा में रहने का मानसिक दुख है। द्रव्योपार्जन में बैर, भय, शोक, कलह, असंयत, व्यवहार आदि करना पड़ता है। संसार में समस्त अनर्थों का एक धन है। जो भी अशुभ की प्राप्ति होती है, वह सब इस धन की सन्तान है। कठिनाई से प्राप्त होने वाले सांसारिक इष्ट पदार्थ मारण, बन्धनादि भय सहित हैं। सार हीन और स्वल्प काल ठहरने वाले हैं। सेवन किए विषय भोग भी दुख देने वाले हैं। यह जीव मल-मूत्र युक्त माता के गर्भ में जरायु से लिपटा माता के भक्षण से उत्पन्न तीव्र दुर्गन्ध युक्त रस को पान करता है। माता-पिता के रज वीर्य से उत्पन्न हुआ हाड़, मांस, मज्जा, रुधिर, चमड़ा आदि महा अशुचिमय शरीर अशुचि ही जानो। यह शरीर मल-मूत्र की खान, रोग-जरा का स्थान और रक्त, पित्त, श्लेष्म का भंडार है। अत्यन्त स्वादिष्ट एवम् सुगन्धित मनोहर द्रव्य भी इसके सम्पर्क से अपवित्र और मलीन हो जाते हैं। स्नान से व्रत भंग होकर आत्मा भी मलीन होजाती है। आत्मा की मलीनता ही अशुचि है। इसलिए शौचाशौच का स्वरूप समझना परमावश्यक है। यह आत्मा ही पवित्र दर्शन तथा यथार्थ पवित्रता की बोधक है। ऐसा जान वैराग्य धारण कर ऐसा ध्यान करो जिससे इस अपवित्र शरीर का संग छूट जाय।

इस शरीर को अपवित्र मानने वाले धीर वीर साधु जन शरीर से अनुराग न कर ग्रीष्म-शीत वर्षादि की कठिन परीषह सहन करते हैं। धर्म-साधन हेतु शरीर स्थिति निमित्त दिन में एक बार

कठिन परीषह सहन करते हैं।

रुक्ष शुष्क भोजन एवम् गरम जल ग्रहण करते हैं। अपने पास कपर्दिका मात्र नहीं रखते। न वाहन और न अयोग्य वचन बोलते हैं। पंच समिति और त्रिगुप्ति इस प्रकार तेरह प्रकार का चारित्र पालते हैं। वे बाह्याभ्यन्तर द्वादश तप का आचरण करते हैं। निर्ममत्व और निरहंकारी हो सब प्राणियों के प्रति सम-भाव रखते हैं। सुख-दुख, जीवन-मरण, निन्दा-स्तुति तथा मानापमान आदि द्वन्दों में समान भाव रखते हैं। ऋद्धि, रस, सुख में अहंपद से विरक्त मन दण्ड, वचन दण्ड और काय-दण्ड से निवृत्त रहते हैं। कषाय चतुष्क, माया, मिथ्या और निदान त्रिशल्यों एवम् सप्त भयों से रहित हो आत्म-ध्यान में लीन रहते हैं। चाहे चन्दन से चर्चित कर अथवा उतारो अथवा तलवार का प्रहार करो; दोनों अवस्थाओं में सदा समभाव रखते हैं। ऐसे साधु शुद्धात्माचरण चारित्र के बल से परमानन्द पद को प्राप्त करते हैं।

सप्त आस्रव भावना है। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद, योग, रागद्वेष मोह; पांच इन्द्रियां, आहारादि संज्ञा, ऋद्धि-गौरव आदि की समस्त क्रियायें आस्रव हैं। इनके द्वारा कर्मों का आगमन होता है। इन्हीं आस्रवों के कारण ही प्राणी संसार सागर में गोते खा रहा है। ये ही त्याज्य और घिनावनी वस्तुयें अनुराग उत्पन्न कराते हैं। इन्हीं से स्व-स्वभाव में अप्रीति होती है। मोह, जीव के स्वरूप को भुला देता है। इन्द्रियों के विषय रोकने के लिये मन को वश में करना अत्यन्त आवश्यक है। यह जीव छिद्र युक्त नौका के सदृश कर्मास्रवों से भव समुद्र में डूब जाता है। यह कर्मास्रव ही महान दुख का देने वाला है। बारह अविरत, पच्चीस कषायें, पांच मिथ्यात्व और पन्द्रह योग—ये सब ५७ कर्मास्रव प्रनालिकायें हैं। इन्हीं के द्वारा कर्मों का प्रवेश होता है। प्राणी इन आस्रवों सहित दुर्ध्यान से मरण कर सप्तम नरक में तेतीस सागर पर्यन्त महान दुख भोगता है।

अब संवर भावना का स्वरूप करते हैं। सत्तावन भेद रूप कर्मास्रव की प्रनालिकाओं को सब प्रकार से रोकना अर्थात् कर्मों का प्रवेश न होने देना ही संवर कहलाता है। इन ५७ आस्रव द्वारों को बन्द करने हेतु तप, परीषह, जय, अनुप्रेक्षादि ५७ भेद रूप डाट हैं। जिससे आस्रव रूपी छिद्र बन्द किये जाते हैं। सार यह कि ज्ञान, ध्यान, तप, वैराग्य में लीन आत्मायें नवीन कर्म बन्ध नहीं करतीं हैं। जैसे छिद्र रहित नाव में पानी प्रवेश करता तथा नौका निःसन्देह तट पर लग जाती है। डूबती नहीं है। जैसे तेज तुरङ्ग लगाम द्वारा रोक लिया जाता है वैसे ही हृषादि इन्द्रिय कषायें भी तप और ज्ञान द्वारा रोकी जा सकती हैं। जो मुनि मन-वचन-काय पूर्वक इन्द्रिय विषय रोक, पंच समितियों को पाल प्रमाद रहित होते हैं वे नवीन कर्मों का आस्रव नहीं करते। साधुजन वन में एकाकी रह रत्नत्रय, दश लक्षण धर्म पालन कर अपने चित को किंचित भी चलायमान नहीं होने देते। लोहे और पत्थर का पिघलाना तो सरल और सुलभ है परन्तु साधु चित चलायमान करना अत्यन्त दुस्तर कार्य है। इस प्रकार संवर भावना का सदैव आदर करो।

इसके अनन्तर रत्नत्रय पूर्वक सम्यक तपश्चरण करने वाले साधुओं के कर्मों की निर्जरा होती है। यह निर्जरा एक देश और सर्व देश के भेद से दो प्रकार की है। संसार-भ्रमण करते सभी प्राणियों के क्षयोपशमनुसार जो निर्जरा होती है वह एक निर्जरा है तथा जो तप सहित मुनि के निर्जरा होती है वह सकल निर्जरा है। एक अकाम और दूसरी सकाम निर्जरा है। जो उद्यम पूर्वक निर्जरा होता है वही सार्थक निर्जरा है। द्वादश प्रकार के तपाचरण से अनादि कालीन संचित कर्म-पुञ्ज नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार काल-किट्टिमा मय स्वर्ण ताप से शुद्ध सौटंच का हो जाता है। कर्म-कालिमा रहित होने पर आत्मा निज स्वभाव में सु-स्थिर होकर सिद्धालय परमानन्दानुभव करता है। अतएव

...ते हैं। जिस प्रकार का...
रहित होने पर आत्मा निज स्वभाव में सु-स्थिर होकर सद...

हे भव्यो। सतत निर्जरा भावना का चिन्तवन करो। संवर भावना की सार्थकता तभी होगी।

अब संक्षेप में लोकानुभावना का स्वरूप वर्णन करते हैं। लोक के स्वरूप की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के स्वरूप का विचारना लोक भावना है। यह लोक अनादिनिधन, अकृत्रिम अपने स्वभाव में स्थित, नित्य, षट् द्रव्यों से सम्पन्न, ताड़ वृक्षाकार है। धर्म अधर्म, लोकाकाश तथा जितने में जीव और पुद्गलों का गमना गमन होता है। उतना ही यह लोक है। इसके अनन्तर द्रव्य विश्राम रहित केवल आकाश है; जिसे अलोकाकाश कहते हैं। सामान्यतः यह लोक इसके मध्य में एक ही है परन्तु ऊर्ध्व, अधो एवम् तिर्यङ्ग के भेद से तीन हैं। गति, अस्तिकाय, द्रव्य, तत्व कर्म, पदार्थ इनकी गिनती चार, पाँच, छह, सात, आठ और नौ भेद वाला भी है।

यह लोक अधो, मध्य और ऊर्ध्व प्रदेश में क्रमशः वेत्रासन, झालर और मृदंग के आकार हैं। पूरा लोक एक राजू विस्तार से चौदह गुणा ऊँचा है। इस लोक में यह जीव अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार सुख–दुःख भोगता है। इस अनन्त भव-सागर में जन्म–मरण का बार–बार अनुभव करता है। संसार की दशा बड़ी ही विचित्र है। माता मर कर पुत्री तथा पुत्री, माता, पति, पत्नी और पत्नी मर कर पति हो जाती है। इस प्रकार इस जीव ने संसार के समस्त प्राणियों से अनेक बार अनेक नाते किये हैं। किस किस से अनुराग और बैर नहीं किया? महान् ऋद्धिधारी इन्द्र अनुपम सुख सामग्री का भोग करता हुआ आयु पूर्ण कर कष्ट दायक गति में चला जाता है। स्वर्गादि पुण्य फल भोग ने का ही स्थान है। वहां की अवधि पूर्णकर एकेन्द्री तक हो जाते हैं। पं० भंगतराय जी ने भी कहा है कि—
भोग पुण्य–फल हो एकेन्द्री, क्या इसमें लाली। कुतवाली दिन चार वही फिर, खुरपा अरु जाली॥

हे भव्यो! इस प्रकार ऐसे केल-स्तम्भ वत निस्सार, महाकष्टदायी लोक को धिक्कार है।

लोकानुप्रेक्षा का चिन्तवन कर वैराग्य को दृढ़ करो और आत्म-ध्यान कर लोक शिखर पर जा अनन्त काल पर्यन्त शास्वत सुख का अनुभव करो। मानव पर्याय की सार्थकता इसी में है। यही सार है।

अब यहां बोधि-दुर्लभ भावना के स्वरूप का वर्णन करते हैं। इस अनन्त संसार में एक तो मनुष्य जन्म पाना ऐसा दुर्लभ है, जैसे समुद्र में एक ओर पड़े जुड़े के छिद्र में दूसरी ओर पड़ी सामिला का प्रवेश होना दुर्लभ है। यों तो निगोद से स्थावर और त्रस पर्याय पाना ही कठिन है। इस मनुष्य पर्याय को सुर पति भी तरसते हैं। यदि मनुष्य जन्म भी मिल गया तो उत्तम देश श्रावक कुल, सुसंगति, सर्वाङ्ग-पूर्णता और निरोगता शरीर, सामर्थ्यता, विनय आचार्य, उपाध्याय साधुओं का महोपदेश श्रवण कर उसे धारण करना आदि बातें इस लोक में क्रम से मिलना महान दुर्लभ हैं। यदि ये सब बातें सुलभ भी हो जायँ तो सम्यक् दर्शन की विशुद्धि पाना अत्यन्त ही दुर्लभ है। क्योंकि यह संसार मिथ्या मार्ग की आकुलता से आकुलित है। रागद्वेष और मोह ये महा बलवान् हैं इन्हीं का परिणाम यह संसार है। यदि समस्त सद्गुणों की आधार भूत यह बोधि-हाथ से संसार में छूट गई तो निश्चय पूर्वक पुन: प्राप्त होना कठिन है? अतएव हमें बोधि प्राप्त करने में किञ्चित प्रमाद नहीं करना चाहिए। इस उपशम, क्षयोपम, क्षायक और सम्यक्त्व रूप महान दुर्लभ बोधि को भव्य जीव ही पांचवीं करण लब्धि के अन्तर प्राप्त करते हैं। ऐसी निराकुल और शास्वत सुख-दायिनी बोधि का निरन्तर चिन्तवन और आदर करो।

अब यहां अन्तिम धर्म भावना के स्वरूप का विवेचन करते हैं। तीर्थङ्कर द्वारा उपदिष्ट उत्तम क्षमादि रूप दश-लक्षण धर्म समस्त जीवों का परम हितकारी है जिसमें सप्त तत्वों का विवेचना पूर्ण वर्णन है। वह एकान्त एवम् मिथ्यात्व से सर्वथा रहित मोक्ष का दाता है। जो मनुष्य इस धर्म को

शुद्ध भाव पूर्वक धारणा करते हैं वे महा भाग्यवान् और पुण्यवान् हैं। जिस जीव को परम्पराय परम सुख की प्राप्ति होना है वही रत्नत्रय स्वरूप शुद्धात्म-धर्म को सेवन करता है। जैसे जैसे शान्ति, दया, क्षमा और वैराग्य भाव बढ़ता जाता है वैसे वैसे अविनाशी मोक्ष सुख के समीप पहुंचते जाते हैं। एक दिन ऐसा आता है कि सम्पूर्ण अक्षय सुख की प्राप्ति हो जाती है। सार यह है कि इस पंच परावर्तन रूप भव वन में अनादिकाल से भ्रमण करते हुये बहुत समय व्यतीत कर दिया। अब बड़ी कठिनाई से वीतराग अरिहन्तदेव द्वारा उपदिष्ट रत्नत्रय युक्त दश लक्षण स्वरूप धर्म पाया है। इस अवसर को प्रमाद में नहीं खोना चाहिये। आत्मोत्कर्ष का यह सुनहरा अवसर है। यदि अब चूके तो न जाने कितने काल में ऐसा अवसर मिलेगा। इस प्रकार निरन्तर धर्म-भावना का चिन्तवन करो। इसी में आत्म-कल्याण है। संक्षेप में यही वैराग्य जननी बारह भावनाओं का स्वरूप है, जिसका प्राणियों को निरन्तर चिन्तवन करना चाहिये।

जो पुरुष संहनन शक्ति के आधार पर पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के आश्रित जिस क्षेत्र में दर्शन, ज्ञान, चारित्र युक्त हो द्वादश तपों का आचरण करता है, वह उस क्षेत्र में सिद्धि को प्राप्त करता है। जिसे शरीर और भोगों से वैराग्य हो गया है। तथा उपसर्ग सहने की सामर्थ्य है, वह थोड़ा भी श्रुत पढ़ा हो, तो भी कर्म क्षय कर सकता है। रागी समस्त शास्त्रों का पाठी हो जाय, तो भी रंचमात्र कर्म क्षय नहीं कर सकता। आदि तुम संयम युक्त चारित्र पालते हो, तो भिक्षा-भोजन कर वन में रहो। अधिक मत बोलो। दुःखों को सहो। निद्रा को जीतो। समस्त प्राणियों में मैत्री भाव रखो। वैराग्य रूप परिणाम रख शील, सन्तोष, दया, क्षमा विज्ञानता धारण करो। आरम्भ, कषाय और परिग्रह को परित्याग करो। सदैव ज्ञान, ध्यान और तप में ही लीन रहो। स्वल्प काल में ही मोक्ष-लाभ

हो जायगा। बिना चारित्र पाले कर्म क्षय नहीं होते। अन्य जीव ज्ञान, ध्यान और चारित्र तीनों के मेल से संसार-सागर पार होते हैं। ज्ञान तो द्रव्य स्वरूप का प्रकाशक है, तप कर्मों का विनाशक और चारित्र रक्षक है। जिन मत में इन तीनों के संयोग से नियम से मोक्ष होता है।

सम्यक्त्व होने से यह वर्तमान ज्ञान ही सम्यक्ज्ञान हो जाता है। जिससे समस्त पदार्थों के स्वरूप की पहिचान हो जाती है। जिससे पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को अच्छी तरह जान लिया, वह पुण्य-पाप और हिता हित को भी जान लेता है। पुण्य पाप का ज्ञाता हो जाने से कुशील दूर कर शीलवान् बन जाता है। हे साधु! जिस क्षेत्र में कषायों की अधिक उत्पत्ति, आदर का अभाव, अधिक मूर्खता इन्द्रिय विषयोंका आधिक्य, विपरीत, शृंगारादि भावों युक्त अधिक स्त्रियां, क्लेश की अधिकता और उपसर्गों का बाहुल्य हो, तू वहां बिलकुल निवास मत कर, क्योंकि वहां तेरा चारित्र रत्न चुरा लिया जायगा। तू तो शैल शिखर या कंदरा, स्मशान भूमि, सूना घर, एकान्त स्थान या वृक्ष की कोटर में निवास कर। इसी में तेरा कल्याण है। मुनियों को, आचरण रहित देश, दुष्ट राजा का देश, जहां भिक्षा भी न मिले, रुचिवान श्रावक न हो, संयम का घात हो, ऐसे देश प्रान्त या स्थान को शीघ्र छोड़ देना चाहिये। सुसंगति-कुसंगति से सम्यक् दर्शन की विशुद्धि बढ़ती और नष्ट होती है। जैसे-सरोवर का शीतल जल, कमल-पुष्प के संयोग से सुगन्धित हो जाता और अग्नि के संयोग से उष्ण और विरस हो जाता है।

रागद्वेष रहित मुनि कर्मों से नहीं बँधता। यह आत्मा जिस शुभाशुभ भाव को करता है, उसी भाव का करने वाला हो जाता है। जहां वस्तु से ममत्व है वहाँ बन्ध और जहां ममत्व नहीं वहीं मोक्ष है। यह न्याय है। संसार में चतुर्गति सम्बन्धी जीवों के शरीर के जो सुन्दर-असुन्दर, स्थूल-दुर्बल,

आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के आकार दिखाई देते हैं, वे समस्त आकार पुद्गलों के रचे हुए हैं जो कि जीव स्वभाव से सर्वथा सदैव भिन्न हैं। वे सब औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण शरीर के स्कन्ध हैं और उनकी रचना पुद्गलों से हुई है। अतएव आत्म-स्वभाव से भिन्न हैं। आत्मा तो असंख्यात प्रदेशी, अमूर्तिक, शुद्ध, चैतन्य मयी, परमानन्द स्वरूप है। वह इस पुद्गल मयी शरीर में तिल, बांस में अग्नि, ईख में रस के समान व्याप्त है। जिस तरह चतुर मनुष्य तिल से तेल, बांस से अग्नि और ईख से रस पृथक निकाल लेते हैं। उसी प्रकार सत्पुरुष आत्म-तत्व को शरीर से अलग निकाल लेते हैं।

भरत क्षेत्र के इस अवसर्पिणी के पंचम दुखमा काल मे सम्यक् ज्ञानी का धर्म-ध्यान हो सकता है। वह आत्म-स्वभाव के ज्ञाता को ही होता है। इस समय में भी मन, वचन, काय को शुद्ध रखने वाले आत्म-ध्यानी मुनि हैं और इन्द्रादिक पद तथा लौकान्तिक देवत्व प्राप्त कर सकते हैं। फिर वहां से आकर मोक्ष लाभ कर सकते हैं। यदि इस काल में यथाख्यान निश्चय चारित्र नहीं हो सकता तो सराग चारित्र नाम के अपहत संयम को पालन कर परम्पराय मोक्ष पा सकते हैं।

जो अपनी आत्मा को अपनी ही आत्मा में अपनी ही आत्मा द्वारा एक अन्तर्मुहूर्त मात्र प्रत्यक्ष रूप से देख लेता, अनुभव कर लेता है। वह स्वयं सर्वज्ञ हो जाता है। अर्थात सिद्ध आत्मायें समस्त कर्मों के अलग होने पर एक समय मात्र में लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हो जाती हैं। पूर्व के प्रयोग से घुमाये हुये कुम्हार के चाक की तरह या लेप रहित तूँबी सदृश कर्मों की संगति छूटने से, अथवा एरण्ड के बीज की तरह बन्ध के छूटने से या अग्नि शिखावत ऊर्ध्व गमन में कारणभूत धर्मास्तिकाय के न होने से नहीं जाते। लोकाग्र में तिष्ठे हुये इन्द्रिय-विषयों से अतीत, अविनाशी,

परम सुख को अनन्त काल भोगते हैं। आत्मा की स्वाभाविक अवस्था का रह जाना ही तो मोक्ष है। उस समय आत्मा के प्रदेशों में किसी भी जाति की पुद्गल-वर्गणा का सम्बन्ध नहीं रहता। शुद्ध स्फटिक या निर्मल जल अथवा शुद्ध रुई के वस्त्र के समान पूर्ण स्वच्छ होजाती है। सिद्ध आत्मा पूर्ण शरीर के आकार तनुवात वलय में ठहर जाती है। वे अपनी सत्ता को अन्य सिद्धों से जैसे वे अनादि से अन्य आत्माओं से भिन्न थे वैसी ही भिन्न रखते हैं। समस्त आकुलताओं का अन्त हो जाता है— अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति हो जाती है। उत्कृष्ट आठ गुण युक्त हो निराबाध सुख में तिष्ठते हैं। ऐसे सिद्ध महाराज को हमारा बारम्बार नमस्कार है।

सिद्ध भगवान बिना किसी सहायता तथा बिना कर्म के समस्त लोकालोक को अर्थात् मूर्तिक अमूर्तिक द्रव्यों की त्रैकालिक अनन्त गुण–पर्यायों को युगपत देख–जान लेते हैं। यथार्थ में यह द्रव्यमोक्ष आत्मा के निज स्वरूप का विकास है। जो निर्विकल्प परम समाधि स्वरूप सामायिक नाम संयम में स्थित होने समर्थ होने पर भी उसको छोड़कर, एकान्त पक्ष से सराग-चारित्र आचरण करने को मोक्ष का कारण मानते हैं। वह स्थूल पर–समय कहलाता है। तथा जो उस समाधि रूप सामायिक संयम में तिष्ठना चाह कर भी योग्य सामग्री को न पाकर शुभोपयोग का आश्रय करते हैं, वह सूक्ष्म पर-समय कहलाता है। जैसे केवल दर्शन, केवल ज्ञान जीव का स्वभाव है, वैसे ही निज रूप में स्थिर स्थिति रूप वीतराग चारित्र भी जीव का निज स्वभाव है। यथार्थ में ये दोनों ही जीव-स्वभाव हैं। इसलिये स्वभाव में निश्चल स्थितिरूप चारित्र की ही भावना करना योग्य है।

इस जीव का अनन्तकाल संसार के कारण रूप भावों में ही व्यतीत हो गया। मोक्ष के कारणों के साधनों को कभी न जाना। इसलिये चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण किया। अब आत्मन्! समस्त

...से जीव का अनन्तकाल ससर
...भावनों को कभी न जाना। इसलिये चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण किया। अब आत्मन्! समस्त पर-भावों को छोड़ कर अपने शुद्ध ज्ञानदर्शन रूप स्वभाव में स्थिर हो स्वानुभव जागृत कर, ताकि अभेद रत्नत्रय मयी निश्चल स्वभाव प्राप्त हो जाय। जैसा साध्य होता है वैसा ही उसका साधन होता है। जैसा आत्म-स्वभाव प्राप्त करना है वैसा ही आत्म-स्वभाव अनुभव करना साधन है। जो महापुरुष आदि मध्य और अन्त रहित स्वभावतः प्रकाशवान् शुद्ध ज्ञान का पुञ्ज ग्रहण-त्याग के विकल्पों से भिन्न, अन्य पदार्थों से भिन्न, अपनी सत्ता को भिन्न रखता हुआ निश्चल रूप से धारण करता है वही स्वानुभव में रमण करने वाला मोक्ष का साधक होता है। यथार्थ में तो आत्मा की उपासना शक्ति से ही कर्मों का क्षय होता है। इसलिये आत्मा के स्वभाव में आचरण करना ही मोक्ष-मार्ग है।

निश्चय नय से तो यह आत्मा विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावधारी है, परन्तु व्यवहार नय से अनादि कालीन मोह कर्म के उदय से मति ज्ञानादि विभाव गुण या नर-नारकादि विभाव-पर्यायों में परिणमन करने से पर-समय रूप परणति हो रही है। जब यह आत्मा निर्मल विवेक ज्योति से प्रकट परमात्मा की अनुभूति रूप अनुभव करता है, तब स्व-समय रूप आत्मा के स्वभाव चारित्र में चलने वाला हो जाता है। इस प्रकार स्व-समय और पर-समय का स्वरूप समझना चाहिये। जब यह आत्मा निर्विकार स्व-संवेदन रूप स्व-समय में लीन होता है, तब कर्म बन्ध से छूट जाता है। यही स्व-समय आत्मा का स्वभाव (निश्चल चारित्र रूप) मोक्ष मार्ग है। असंयमी, अणुव्रती या महाव्रती सम्यक्दृष्टि आत्मानुभव के काल के अतिरिक्त या धार्मिक व्यवहार में भी अपना उपयोग लगाता है। यद्यपि चारित्र की अपेक्षा स्व-समय रत नहीं है परन्तु श्रद्धान ज्ञान की अपेक्षा पर समय रत भी नहीं है। वह भली प्रकार श्रद्धान रखता और जानता है कि आत्मा का हित स्वभाव में रमण करना ही है। उपयोग का आत्मा की भूमिका को छोड़ अन्य में जाना कषायोदय का कार्य है। सार यह है कि वह

इस भेद विज्ञान को भली भांति जानता है। जब वह निष्कषाय हो क्षीण–मोह गुण स्थान में शुद्धोपयोगी होजाता है, तब तत्काल घातिया कर्मों को नाश भाव मोक्ष रूप अरिहन्त परमात्मा हो जाता है। यह सब रत्नत्रय का ही माहात्म्य है। इसके विपरीत भेद विज्ञान विहीन मिथ्यादृष्टि आत्मीक आनन्द के स्वाद कोन जानता हुआ मिथ्या श्रद्धान, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रत रहता है, वह पर-समय रत है। उसका सम्पूर्ण परिवर्तन अनात्मभूमि में हो रहा है।

जिस प्रकार जल का स्वभाव शीतल और निर्मल है, परन्तु उसमें मिश्री की डली डाल देने से उसका स्वभाव मीठा और कुछ गँदला हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव तो रत्नत्रय रूप है, परन्तु दान, पूजा, परमेष्ठी की भक्ति आदि शुभ कार्मों के करने से अर्थात् शुभोपयोग से साता वेदनीय आदि पुण्य कर्म का बन्ध हो जाता है। तथा स्वभावतः शुद्ध जल में गँदले नमक की डली डाल देने से वही जल खारा और मैला हो जाता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व भावों (कषायों) से श्रद्धानादि भाव अशुभपयोगी होकर पाप बन्ध के कारण हो जाते हैं। जो आत्मा निजानन्द मयी निज स्वभाव से च्युत होकर माया, मिथ्या और निदान रूप त्रिशल्यों में फँस जाता है। उसके कर्मों की संवर और निर्जरा नहीं होती। यद्यपि पंच परमेष्ठी के भक्ति रूप पर-समय से आचरण करने वाले को साक्षात मोक्ष के कारण का अभाव है; तो भी वह भक्ति परम्पराय मोक्ष को देवे है।

जिसकी शुद्धात्मा की भावना से पूर्ण रुचि है, वह उसकी या अन्य किसी भव में अवश्य निर्वाण लाभ कर लेता है। यदि कोई सम्यक् दृष्टि जीव तपश्चरण करते हुये अपनी शुद्धात्मा में वीतरागता सहित स्थिरता प्राप्त नहीं करता। अरिहन्त, सिद्ध, शास्त्र, गुरु आदि के राग में अनुरक्त रहे, वह उस भव मे मोक्ष लाभ नहीं कर सकता, क्योंकि राग का अंश मात्र अभेद रत्नत्रय रूप मोक्ष

मार्ग में बाधक है। हां, इतना अवश्य है कि पुण्य-बन्ध कर स्वर्गादिक में चला जायगा। अतएव मुमुक्षुओं को स्वसमय में ही तल्लीन रहना चाहिये। जब योगी अपने निर्मल ज्ञान-नेत्र से अपने आपको कर्मों से भिन्न अनुभव करते हैं तब वे सम-भावों के आधार सुखी रहते हैं और वीतराग भाव को पाकर संसार सागर पार करके अजर—अमर पद प्राप्त कर लेते हैं।

यह संसार सागर जन्म, जरा, मरण आदि भयानक आपदाओं रूपी जलचरों से भरा हुआ है। वह वीतराग, परमानन्द मयी परम सुख को रोकने वाला है। उसमें शुभाशुभ विकल्प जाल रूपी उत्ताल तरंगें उठ रही हैं। आकुलता उत्पन्न करने वाली नाना प्रकार के मानसिक दुःख रूप बड़वानल उसमें जल रही है। ऐसे विषय भवोदधि का निश्चय और व्यवहार परस्पर साध्य साधक रूप से मानकर पार करना ही मोक्ष पुरुषार्थ का पूर करना है। यद्यपि निश्चय नय से रत्नत्रय रूप शुद्धात्मानुभव ही मोक्ष–मार्ग है, तथापि उसका लाभ व्यवहार रत्नत्रय की सहायता से ही होता है। इसलिये निश्चय रत्नत्रय साध्य और व्यवहार रत्नत्रय उसका साधक है। साधक का निर्विकल्प समाधि में तिष्ठना थोड़े समय ही सम्भव है। यदि अन्तर्मुहूर्त ठहर जाय तो उसे केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाय। जिसमें इतनी सामर्थ्य नहीं है वे व्यवहार धर्म को धारण करते हैं। शास्त्र-पाठ, तत्व–विचार, सामयिक जिनेन्द्र-स्तुति, गुरु–जनों की वैयाव्रत, सभाओं में धर्मोपदेश आदि शुभोपयोगी कार्य करके पुण्य बन्ध करते हैं। जब इन कार्यों में उपयोग नहीं रहता तब पाप–बन्ध ही होता है। अतएव व्यवहार धर्म अधर्म से बचाने तथा शुद्ध में पहुंचाने के लिए एक आलम्बन स्वरूप है।

पुनः पुनः अभ्यास की दृढ़ता से अवश्य आत्म-लाभ होता है। जैसे—अच्छे अनुभवी रत्न परीक्षक रत्न को देखते ही जैसा का तैसा सच्चा झूठा जान लेते हैं। ऐसे ही योगी को लगातार

भेद-विज्ञान के अभ्यास से शुद्धात्मा का अनुभव हो जाता है और वह प्रकाशमान आत्मा के स्वरूप में पहुँच, कर पदार्थ की परणति करने से शुद्ध-स्वभाव को लेता है। अतएव—

हे आत्मन्! इन्द्रि-विषयों को त्याग, मन वचन, काय को शुद्धकर एक शुद्ध रूप को या अपने से ही अपनी आत्मा को मनन कर। जिससे मोक्ष की सिद्धि प्राप्त हो। यह एक मात्र तुम्हारे ही हाथ की बात है। इसमें अन्य का आश्रय नहीं है।

आत्मा के मुख्य तीन भेद हैं। (१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा। बहिरात्मा तो देह और जीव को एक मानता है। उसे भिन्न वस्तु का कोई पता नहीं रहता। उसकी यह मान्यता अनादि कालीन अविद्या के गाढ़ संस्कार से बहुत ही दृढ़ होगई है। जब वह किसी भी शरीर को पाता है तब वह अपने को उसी रूप को मान लेता है। अपने को ब्राह्मण-क्षत्री, मुसलमान, निर्बल, बलवान्, धनी, निर्धनी, पुरुष, स्त्री, पंडित, मूर्ख, दाता, भिक्षुक, राजा साधु इत्यादि रूप माना करता है। इसी भाँति देवगति में अपने को व्यन्तर, ज्योतिष, भवन-वासी, कल्पवासी आदि देव रूप मानता है। यह सब अनादि कालीन अविद्या का ही माहात्म्य है। इस अविद्या का इतना प्रबल संस्कार जम गया है कि जिस शरीर में जाता है उसी में आत्म-बुद्धि कर लेता है। इसलिये यह जीव बहिरात्मा हो रहा है। यदि अनादि की भूल का त्याग अपने ज्ञानानन्दमयी स्वरूप को पहचानने तो बहिरात्मपना छूट जाय और निजानन्द ही का अनुभव करे।

जो अन्तरात्मा हैं वे आपको कर्म-बन्ध से छुड़ाते हैं। यह नियम है कि जो जिससे राग करता है, वह उससे अवश्य बँधता है। इसके जो जिससे विरागी होगा उसका उससे अवश्य संग छूटेगा। इसी नियम से सम्यग्दृष्टी बन्ध और देह से छूटता है और मिथ्यादृष्टि रागद्वेष मोह रूप प्रवृत्ति

से कर्म-बन्ध से बँध कर अपना मानव-जीवन नष्ट कर दुर्गति में चला जाता है। अन्तरात्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो समाधि लगाते हैं। उस समय मन, वचन, काय की क्रियायें बन्द हो जाती हैं किसी से वचनालाप भी नहीं होता यहां तक कि धर्म - चर्चा भी रुक जाती है। भीतर ही भीतर मन्द-मन्द जाप और पाठ-पठन बन्द हो जाता है। मैं ऐसा हूं। ऐसा था। ऐसा होऊँगा। मैं ज्ञान दर्शन चारित्र स्वरूप हूं इत्यादि विडम्बनायें (मानसिक विकल्प-जाल) बन्द होजाती हैं। जब सम्पूर्ण प्रवृत्तियां बन्द हो जाती हैं, तब आत्मा का उपयोग आत्मा मे ही लग जाता है और उसी में तन्मय हो जाता है। व्यवहार रत्नत्रय भी इसी मे गर्भित हैं। यही रत्नत्रय धारण करने का लाभ है। देखा जाय तो वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है।

साधक विचारता है कि—आत्मा का स्वभाव अनुभव गम्य है। जो अपने स्वरूप के भीतर अपने ही आप स्वसंवेदन द्वारा स्व-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और उसमें पूर्ण प्रतीति करता वह अवश्य केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह जानता है कि जीव राशि की अपेक्षा अरिहन्त देव की आत्मा और मेरी आत्मा समान है। श्री अरिहन्त देव की आत्मा तत्तायमान स्वर्ण सदृश पूर्णरूप से शुद्ध है इसलिये उन्हें सर्व आत्माओं का ज्ञान हो जाता है। मेरी आत्मा का द्रव्यगुण तो सदा शुद्ध है परन्तु पर्याय शुद्ध नहीं है, इसलिये पर्याय को शुद्ध करूँ। अर्थात् क्षायक सम्यक्त्व सम्पन्न हो प्रमत्त और अप्रमत्त दशा धारण कर श्रेणी आरोहण करके केवलज्ञान प्राप्त करूँ। सार यह है कि इस आत्मा का पूर्ण शुद्ध स्वभाव (अरिहन्त के समान) स्थापन कर अरिहन्त बन जाओ। यहाँ ज्ञान और पुरुषार्थ दोनों साथ ही है। जैसे अपना मुख देखने को सामने स्वच्छ दर्पण रखा जाता है। वैसे ही आत्म स्वरूप के अवलोकनार्थ श्री अरिहन्त देव रूपी स्वच्छ दर्पण आदर्श रूप रखा है।

जो प्राणी अभेद अनुभव के द्वारा चिन्मात्र भाव को प्राप्त कर लेता है। उसका मोह स्वतः ही नाश हो जाता है अर्थात् चिन्मात्र भाव की प्राप्ति और मोह का क्षय ये दोनों कार्य एक ही समय में होते हैं। जैसे सूर्य का उदय और अन्धकार का नाश एक ही समय में होता है। जिस प्राणी में सम्यक्त्व रत्न की प्रधानता है वही ज्ञाता हुआ, त्रैलोक्य प्रधान और पवित्र तीर्थ है। इस रत्न के होने स्वरस का अपूर्व आनन्द अनुभव में आता है। यह अनुपम सुख का दाता, अमृत स्वरूप और संसार समुद्र पार उतरने के लिये उत्तम जहाज है। श्री रामचन्द्र जी ने भी इस पवित्र रत्नत्रय का आराधन किया था—

एक दिन श्री रामचन्द्र अपने भाई लक्ष्मण के शरीर को त्याग कर विचारने लगे कि—यह संसार असार है। यह अनादि काल की रीति है कि जो जन्म लेगा, वह अवश्य मरेगा। संसार के चतुर्गति रूप समस्त प्राणी दुःखी हैं। संसार में लेशमात्र सुख नहीं है। यह स्त्री, पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ पानी के बुलबुले के समान शरीर समय पाकर अवश्य नष्ट हो जायगा। अहमेन्द्र, सुरेन्द्र, लौकान्ति आदि देवों को आयु के अन्त होने पर जन्म लेना पड़ता है। हर समय काल चक्र सिर पर मँडराता रहता है। जैसे सिंह तो सिर पर खड़ा है और हरिण हरित तृण चर रहा है। सभी जीवों की यही दशा हो रही है। प्राणी संसार में मृत्यु को साथ लिए जन्म लेता है। यह सब जानते हुए भी सावधान नहीं होता। यह बड़ा आश्चर्य है।

ऐसा विचार पुरुषोत्तम श्रीराम प्रति-बोध को प्राप्त हुये। वे सम्पूर्ण शोक को छोड़ इस प्रकार सुखी हुये जैसे बन्दीगृह में फँसा मानव बन्धन के दूर होने पर हर्षित होता है। उन्होंने अपने नए जन्म पाने का सार अनुभव किया व विचारने लगे कि—

...र अनुभव किया वे विचारने लगे कि—

मनुष्य जीवन डाभ (तृण) की अणी पर ओस-बूँद के सदृश्य क्षण-मात्र में क्षय हो जायगा। मैंने मानव तन पाकर संसार के विषय-भोगों में व्यर्थ खोया। कौन किसका तात, मात, पुत्र, भाई, मित्र, कुटुम्बी है? किसकी यह धन-सम्पदा है? संसार की समस्त वस्तुयें अनन्त बार पाईं। प्राणियों से अनेकों नाते किये चक्रवर्त्यादि के पद पाये, परन्तु महा दुर्लभ ज्ञान-रत्न कभी नहीं पाया। मन में ऐसा विचार श्री गुरु के चरणों में जा बड़ी विनय पूर्वक श्री जैनेन्द्र दीक्षा ग्रहण की। पद्मासन स्थिर हो, सिद्ध-भक्ति पूर्वक केश-लौंच किये। वे तेरह प्रकार का चारित्र धारण कर मनो दण्ड, वचन दण्ड और काय-दण्ड को त्याग षट्कायिक जीवों की रक्षा और समस्त जीवों से मैत्री भाव की भावना में संलग्न हुये। दश लक्षण धर्म के धारक, श्री वत्स लक्षण से सुशोभित, तत्व ज्ञानी सकलगुण-भूषण सप्तभय और सकल दूषण रहित श्रीराम निज स्वरूप निरखते हुये आत्म-ध्यान में तल्लीन हुए। आचारांग की आज्ञानुसार श्रेष्ठ आचरण को धारण कर पंच उपवास के पश्चात पारणा करते थे। षष्ठम और सप्तम गुण स्थानोंमें अनेक बार आकर धर्म-ध्यान मे तल्लीन हुये।

निरभिमानी, अट्ठाईस मूल गुण चौरासी लक्ष उत्तर गुण और अष्टादश सहस्र शील धारक, साढ़े सैंतीस हजार प्रमाद दोष रहित परम तपोनिधि श्रीराम परीषह-जय करते हुये घोर तप करने लगे। वे समता रस पान करते हुये अचल पर्यन्कासन धारण कर शुक्ल लेश्या युक्त हो मोह क्षय करने लगे। वे ज्ञान-दर्शन भाव को अभेद मानते हुये शरीरादि पर पदार्थों को कर्म संयोगी समझते थे। इस प्रकार नायक सम्यक्दृष्टि श्रीराम ने अध्यात्म योग में स्थिर हो क्षपक श्रेणी में प्रवेश किया और जो पूर्व में कभी प्राप्त नहीं हुआ ऐसा अपूर्व करण नामक अष्टम गुण स्थान प्राप्त किया। अन्तर्मुहूर्त में उसे भी तजकर अनिवृत्त करन नामक गुण स्थान में प्रवेश किया। इस गुण स्थान के छह भागों में कुल मिलाकर

छत्तीस कर्म प्रकृतियों को क्षय किया। यथा—प्रथम भाग में (१) निद्रा निद्रा, (२) प्रचला प्रचला; (३) स्त्यान गृद्धि निद्रा, (४) नरक गति, (५) नरक गत्यानुपूर्वी, (६) स्थावर, (७) सूक्ष्म, (८) साधारण, (९) आताप, (१० उद्योत (११) तिर्यगत्यानुपूर्वि, (१२) एकेन्द्रिय जाती, (१३) द्विन्द्रिय जाती, (१४) तेहन्द्रिय जाती, (१५) चौइन्द्रिय जाती; (१६) तिर्यग्गति। इस प्रकार सोलह प्रकृतियों का क्षय किया। द्वितीय भाग में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान माया, लोभ और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। इस प्रकार आठ प्रकृतियों का क्षय किया। तदनन्तर तृतीय भाग में नपुंसक वेद चतुर्थ में स्त्री वेद, पंचम भाग में छह नौ कषायों का क्षय कर छठवें भाग में अनुक्रम से पुरुष वेद और संज्वलन क्रोध, मान, माया। इस प्रकार छत्तीस प्रकृतियों का नाश कर बादर लोभ को सूक्ष्म लोभ किया। तदनन्तर सूक्ष्म लोभ को क्षय कर सूक्ष्म साम्पराय नामक शुद्ध संयम को प्राप्त कर सूक्ष्म साम्पराय गुण स्थान पाया फिर मोहनीय को क्षय करने से क्षीण कषाय नामक गुण स्थान प्राप्त हुआ और एकत्व वितर्क अविचार नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान के बल से आत्मा में यथाख्यात संयम प्राप्त कर पांच ज्ञानावरण की, चार दर्शनावरण की तथा पांच अन्तराय कर्मों की प्रकृतियों को एक समय मे नष्ट किया। इस क्षीण कषाय गुण स्थान के द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला को क्षय करके त्रिकाल गोचर समस्त द्रव्य पर्याय का ज्ञाता, समस्त दोष रहित शुद्ध केवलज्ञान और केवल दर्शन प्रकट कर संयोग गुण स्थान पाया जिससे सम्पूर्ण लोकालोक की त्रिकालवर्ती समस्त गुण पर्यायों को युगपत एक समय मे अवलोकन किया। उसी समय अन्तराय रहित अनन्तवीर्य प्रकट हुआ। इस प्रकार पुरुषोत्तम श्रीराम ने अरिहन्त पद प्राप्त किया।

तत्काल इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। उसने अवधिज्ञान से जान लिया कि श्रीराम को

त्काल इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ । उस... ज्ञान ...

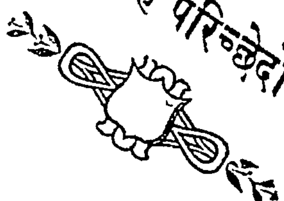
केवल ज्ञान आ है । तब कुबेर को केवली की शोभा संयुक्त गन्ध कुटी रचने की आज्ञा दी । कुबेर ने तत्क्षण आकर शृङ्गार, ताल, कलश, ध्वजा, चमर, श्वेत छत्र, दर्पण, स्तम्भ, गोपुर, निधि, मार्ग, वृक्ष, लता, उद्यान, धूप-घट आदि शोभा युक्त गन्ध कुटी की रचना की । उसमें अत्यन्त सुन्दर चार तोरण द्वार रचे । कल्प वृक्षों से उसकी शोभा और भी बढ़ गई । यथा स्थान नाट्य शाला, द्वादश सभा स्थल तथा गोपुरों से रमणीय समवसरण निर्माण किया । उस गन्ध कुटी में इन्द्रादिक समस्त देव विद्याधर चक्रवर्ती, मनुष्य, मुनि, आर्यिकायें, श्रावक, श्राविकायें, किन्नर, गन्धर्व, दिक्पति, चन्द्रमा, सूर्य, यक्ष, धरणेन्द्रादि आकर अपने योग्य स्थान पर बैठे ।

परम शान्तिस्वरूप, समस्त तत्वों के ज्ञाता, अनन्त शक्तिशाली, वीतरागी, परम दिगम्बर, संसारोद्धारक, ज्ञानकल्याणालंकृत, आताम्र नेत्र, कमलपाणि, पाप-मल रहित, परम तपोनिधि, अष्टादश दोष विमुक्त, भामण्डल सहित तीन छत्र सुशोभित, देवेन्द्र, मुनीन्द्र और नरेन्द्रों द्वारा वन्दनीय, निर्विकार सर्वज्ञ श्रीराम गन्धकुटी में सिंहासन से चार अंगुल अन्तरीक्ष विराजमान थे । इन्द्रादिक देव उच्च स्वर से स्तुति पाठ कर रहे थे । कोई मनोहर नृत्य कर रहे थे । अनेकों देव भेरी, मृदङ्ग, नगारे, झालर, घण्टा आदि वादित्रों से आकाश गुञ्जित कर रहे थे । अनेकों चन्द्रवदनी श्री ह्री, कीर्ति, सिद्धि, बुद्धि, तुष्टि, पुष्टि, स्वात्मोपलब्धि, शान्ति, कान्ति, क्षान्ति, अनुकम्पा, निःशंका, धृति, मति, मेधा, नामक देवियाँ अनुपम शृङ्गार किये हाव-भाव पूर्वक आनन्द में मग्न हो श्री जिनराज का यश-मङ्गलगान करती थीं । चतुर्निकाय के देव-देवाङ्गनाओं द्वारा वन्दित श्री जिनराज गन्धकुटी के मध्य में विराजमान थे । समस्त देव सोलह प्रकार के आभूषणों से विभूषित थे । उनके मुकटों की कान्ति से समस्त दिशायें देदीप्यमान हो रही थीं । उनके किरीटों में मयूर आदि अनेक प्रकार के चिन्ह थे ।

हे भगवान की वन्दना के लिए सपरिवार विविध वाहनों अर्थात् सिंह, गरुड़, सारस, हंस, हाथी, घोटक, वृषभादि पर आसीन होकर आए थे। सभी हर्ष से जय-जयकार शब्द कर रहे थे। जिससे समस्त दिशायें ध्वनि-पूर्ण हो रही थीं।

सीता का जीव जो स्वर्ग में प्रत्येन्द्र हुआ था, कहने लगा कि हे प्रभो! आपतो कृत्य-कृत्य होकर मोक्ष पधार रहे हो। आपके अभाव में हम लोगों की रक्षा कौन करेगा? आप संयम श्री और तप श्री युक्त हैं। आपकी अनाक्षरी दिव्य-ध्वनि श्रवण कर प्राणीमात्र अपना कल्याण करते हैं। यथार्थ ही आप तारण-तरण हैं। श्रीराम भगवान की दिव्य-ध्वनि श्रवण करने के लिए इन्द्रादिक समस्त देव, विद्याधर, मनुष्य गन्धकुटी में उपस्थित थे। भगवान राम समस्त मुनियों के नायक, समस्त कर्मों के विनाशक अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी के स्वामी हुए। ज्ञान प्रकाशक श्रीराम भव्य जीवों को धर्म का महोपदेश दे, तुङ्गी-गिरि से मोक्ष पधारे। ऐसे जगदोद्धारक भगवान को हमारा मन, वचन, काय पूर्वक बारम्बार नमस्कार है।

इस प्रकार आत्म-प्रबोध ग्रन्थ इन सोलह परिच्छेदों में पूर्ण हुआ।



सत्रहवाँ परिच्छेद

* मङ्गलाचरण *

दोहा—सिद्ध शुद्ध सर्वज्ञ शिव, धर्मराज जिनराज ।
वीतराग वन्दों सदा, तारणतरण जहाज ॥

जोकि चैतन्यस्वरूप चिदानन्दमय, ज्ञानदर्शन, निज लक्षण, निरावर्ण, ज्योतियुक्त, ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग से मंडित, चैतन्यप्रकाश से परिपूर्ण, शुद्ध स्वाभाविक आत्मीक सुख स्वरूपी समीचीन रत्नत्रय स्वरूप, समयसार शुद्ध आत्मा की अनुभूतिमय सम्यक्त्व रत्न जोकि मुक्ति का कारण है और संसार समुद्र को सोख न करने वाला है । यही एक अकेला सम्यक्त्व सच्चे आत्मीक सुख का मुख्य कारण है । उस सम्यक्त्व को निर्मल करने के लिये हमेशा समता शान्ति नामा श्रद्धा भक्ति, आत्मानुराग, पर से भिन्न, निज स्वभाव का अनुभव, रागद्वेष क्रोधादि कषाय का अभाव; उपशम करने में तन्मय होकर विशुद्ध निर्मल बनाना चाहिये । क्योंकि जिस समय दर्शन मोहनीय और अनन्तानु बन्धी का उपशम हो जाता है । जिस समय दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम होता है । उसी समय आत्मा से विभ्रम जो अज्ञान मिथ्यात्व दूर हो जाता है, और आत्मा में से इस अज्ञान का नाश होने से भेद-विज्ञान प्राप्त हो जाता है । इस भेद-विज्ञान से स्वानुभूति प्राप्त होती है, यही स्वानुभूति स्वर्ग मोक्ष

का कारण है अर्थात स्वानुभूति का फल मोक्ष है। यदि पूर्व संचित कर्म बिलकुल क्षय न होने पाये। उसी भव में मोक्ष न मिले तो स्वर्गादिक अवश्य ही अपने आप उसे प्राप्त होते हैं। विशुद्ध आत्मा की अनुभूति होना ही सम्यक्त्व है, सम्यक्त्व और स्वानुभूति में परस्पर समव्याप्ति है। जहां सम्यक्त्व होता है। वहां स्वानुभूति अवश्य होती है, जब आत्मा के स्वानुभव रोकने वाले दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उपशम होता है। तब ही उनके लब्धि रूप सम्यक्त्व सुख हो जाता है तथा जिस समय आत्मा में आत्मगुण का अनुभव न किया जाता है। वही सम्यक्त्व की उपयोग दशा है। उस दशा में आत्मा अपने में स्थित रहती है और बाह्य पर द्रव्य से पराङ्मुख होती हुई अपना अनुभव करती है तथा सम्यक्त्व की उपयोग अवस्था का काल भी अन्तर्मुहूर्त ही रहता है। इसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

यह भी निर्मल होती है और आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने वाली है, परन्तु अधःकरणादि तीन कारण हुये बिना दर्शन मोहनी कर्म का उपशम क्षय-क्षयोपशम नहीं होता है। यही दर्शन मोहनीय का नाश ही संसार के दुःख का नाश करने वाला है। स्वानुभूति ही सम्यक्त्व है, यही सम्यक्त्व मोक्ष का प्रधान कारण है। इसके प्रभाव से ही आत्म-स्वरूप प्रकट होता है और कर्म जाल कट जाता है। जो वीतराग परमशुद्ध निर्विकल्प परिणति है। वही निश्चय सम्यग्दर्शन है, वही एक आत्मा की शुद्ध एकत्व परिणति है। उसमें साध्य साधन का भेद भी नहीं है, व लक्ष्य-लक्षण भेद भी नहीं है। जहां आत्मा से सम्यक्त्व की अभिन्नता है, वहां कोई भिन्न कार्य कारण पना या सहकारी-पना नहीं होता, सम्यक्त्व ही कारण है सम्यक्त्व ही कार्य है। वह तो परम सूक्ष्म विकल्पातीत है। आत्मा का सम्यक्त्व नाम का एक गुण है जो नित्य, वचनातीत है, केवलज्ञान द्वारा ही

...त्मा का सम्यक्त्व नाम का एक गुण है जो नित्य , वचनातीत है, केवलज्ञान ग...

जाना जा सकता है। वह अल्पज्ञानियों के ज्ञान का विषय सम्यग्दर्शन नहीं होता है क्योंकि आत्मा अमूर्तिक है, उसके गुण अमूर्तिक है, अमूर्तिक का ज्ञान केवल ज्ञानी को है, वह सम्यग्दर्शन मोहनी कर्म के उपशम होने के साथ ही आत्मा में स्पष्ट प्रकट होता है। वह होने पर सब गुणों का अपने रूप से शुद्ध परिमन होने लगता है, जैसे इन्द्रनीलमणि को दूद में डालने से सारा दूद नीला ही प्रतीत होता है, उस ही प्रकार सम्यक्त्व के प्रभाव से आत्मा में सारे गुण निर्मल अनुभव होता है अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शन के साथ जितने भी आत्मा में गुण है। वे सब के सब परम निर्मल हो जाते हैं, यह उस सम्यग्दर्शन का विचित्र स्वभाव है। सम्यक्त्व ही एक मूल गुण हैं आत्म स्वभाव है। वही भव्य पुरुषों के द्वारा इस मनुष्य जन्म में आदर पाने योग्य है। सपूर्ण गुण शाली विवेकी भव्य पुरुषों के विकार नाश करने के लिये एक सम्यक्त्व ही समर्थ है। इसलिये इसे सदा हृदय में धारण करना चाहिये।

जैसे जल के बिना सरोर, कमल के बिना जल, सुगंध के बिना फूल, दांतों के बिना दन्ती, हँस के बिना नदी, जीव के बिना मृतक शरीर, नमक के बिना व्यञ्जन शोभा नहीं देता है। ऐसे ही द्रव्य क्षेत्रकाल भव भावरूप पंच परावर्तन शील इस संसार में सम्यत्व के बिना सब जीव अनादिभव भ्रमण से दुखी होकर घूम रहे हैं। जिस आत्मा के पास सर्व गुणों में श्रेष्ठ सम्यक्त्व गुण नहीं है उनका तीर्थ जाना जप करना, तप करना धर्म करना, दान देना, शील पालना, सुख भोगना, योग करना, भोग भोगना, ध्यान करना, विद्या पढ़ना सब निष्फल हैं। सम्यक्त्व के बिना देव, मानव, विद्याधर, पण्डित कोई भी श्रेष्ठ नित्य सुख पाने वाले नहीं हो सकते। सम्यक्त्व मंगल मूर्ति पाप, प्रणासक, कर्म रूपी वन को जड़ामूल से जलाने वाले एक संसार में सार पदार्थ है। जोकि अल्पज्ञानियों के उनका ज्ञान अमूर्ति सम्यक्त्वादि गुण नहीं ग्रहण कर सकते। सम्यग्दर्शन परम सूक्ष्म अतीन्द्रिय है अतः वह

केवलज्ञान द्वारा ही जान सकता है।

जब लक्ष्य का दर्शन ज्ञान हो जाता है। तब लक्षण का ज्ञान होता है लक्ष्य दर्शन बिना संसार मे लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता है, सम्यक्त्व जब मूर्तज्ञान द्वारा जाना ही नहीं जाता तो उसका लक्षण कैसे किया जाय, जिससे वस्तु पहिचानी जाय उसे लक्षण कहते हैं। वे लक्षण दो प्रकार के हैं। एक आत्मभूत, दूसरा अनात्मभूत। आत्मभूत लक्षण उसे कहते हैं। जो वस्तु को बतावे जैसे जीव का चेतनादि। अनात्मभूत लक्ष उसे कहते हैं। जो वस्तु में भिन्न होकर भी वस्तु स्वरूप बतावे, जैसे—लाठी वाले मानव को लावो, यहां अनेक बिना लाठी वाले पुरुषों से पुरुष विशेष को लाठी जुदी करती है, परन्तु लाठी पुरुष से भिन्न है। इस प्रकार भिन्न होकर जो वस्तु का बोध करावे वह अनात्मभूत लक्षण है। यह स्वात्मभूत लक्ष्य और लक्षण एक अभिन्न प्रदेश है और अनात्मभूत लक्षण एक अभिन्न प्रदेश है और अवात्मभूत लक्षण—लक्ष्य से भिन्न प्रदेशी हैं। इसलिये उस सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण नहीं किया जा सकता, उस का लक्षण ही होना कठिन है क्योंकि विकल्प में लक्षण होने से वह निर्विकल्प नहीं रहता, आत्मा के समस्त गुण निर्विल्प हैं, स्वयं सिद्ध हैं उसके गुण भी अमूर्तिक निर्विकल्प है, तो उनमें भेद कर लक्षण कैसे किया जा सकता है, आत्मा के अनन्त गुण हैं वे सब गुण आत्मा से अभिन्न होने पर भी अर्थ लक्षण प्रयोजन से आत्मा भिन्न हैं, आत्मा के ज्ञान-गुण से भिन्न और भी सामान्य गुण हैं वे सब गुण सामान्य और विशेष आदि सब विकल्पों से रहित हैं अर्थात् आत्मा में विशेष गुण तो दर्शन ज्ञान हैं और सामान्य असंख्यात या अनन्त गुण वे सब विख्यातीत हैं। ऐसे अनिर्वचनीय आत्म-तत्व होने पर भी व्यवहारियों के समझाने के लिये उसका वर्णन ज्ञान के द्वारा किया जा सकता है।

...द्वारा किया जा सकता है।

क्योंकि जिसको सम्यक्त्व या स्वानुभव हो गया है। वही उसका ज्ञान द्वारा कथन करने का अधिकारी है, सर्व सामान्य नहीं क्योंकि सम्यक् श्रद्धान हुये बिना यथार्थ में ज्ञान सम्यक् ज्ञान नाम नहीं पाता, मिथ्यात्व सहित ज्ञान होता है, वह केवल बाह्य पदार्थों की ओर अयथार्थ रूप से होता है। इसलिये ज्ञान में सम्यक्त्व पना सम्यग्दर्शन से ही आता है। जब जीव के मिथ्यात्व कर्म का उदय रहता है तब उसको ज्ञान का उपयोग आत्मा की ओर न लगकर पर-वस्तु की ओर ही जाता है। उस समय समीचीन श्रद्धान नहीं होता उस समय की श्रद्धा तो श्रद्धाभास कहलाती है। जो कि कभी काल लब्धि आदि कारण के मिलने पर जब दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम हो जाता है। तब निर्मल भावना हो जाती है। निर्मल भावना होने से श्रद्धा ही सत् श्रद्धा हो जाती है, श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, यद्यपि इन तीनों का होना कालक्रम से है। पहिले किसी वस्तु में श्रद्धा होती है, श्रद्धा होने के बाद रुचि जो कि आत्मीयपणा होती है, रुचि होने के बाद प्रतीति विश्वास होता है, इस तरह यह क्रम से होती है। फिर ये सब ज्ञान की पर्याय है, ज्यों ही आत्मा में सम्यग्दर्शन पैदा होता ह। उसी समय स्वानुभूति ज्ञान चेतना शुद्ध ज्ञान परिणति स्वरूप पाचरण, समता शान्ति, क्षमा, शुद्ध चारित्र परिणति ये सब की सब साथी होती है और शुद्ध स्वानुभूति या ज्ञान चेतना का होना प्रारंभ हो जाता है। इसी तरह मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी कषाय का नाश होने पर स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट हो जाता है तथा परम समता भाव आत्मा में जागृत हो जाता है इन तीनों की सहकाल होने से एकत्व अवस्था कहने में आती है, जैसे दुहली सहर में दशहजार बिजली फोन है। एक बीट के दबाने से सब के सब एक मिनट में ज्योति जाग जाती है।

जिस समय आत्मा में स्वानुभूति जागृत होती है। उसी समय आत्मा से भिन्न पर वस्तुओं का

पर रूप अनुभव हो जाता है, यही भेद विज्ञान है, इसी भेद-विज्ञान रूपी पैनी छैनी द्वारा अपने पराये भेद होता है। यह स्वानुभूति तत्वार्थ श्रद्धान पूर्वक होती है, इसलिये तत्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, यह कारण अपेक्षा से कहते हैं परन्तु स्वात्मानुभूति सम्यक्त्व का लक्षण है। इन दोनों लक्षणों में कार्य कारण भेद है। तत्वार्थ श्रद्धान और आत्म-श्रद्धान एक ही बात है, सच्चे देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वस्तुको या आप्त आगम गुरु का यथार्थ श्रद्धान सम्यक्त्व का बाह्य लक्षण है। व्यवहार कथन है। यथार्थ में निश्चय नय से अपनी शुद्ध आत्मा को निर्मल अनुभव ही सम्यक्त्व होता है। इसलिये व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का साधक है क्योंकि व्यवहार में सात तत्व नौ पदार्थ सच्चे आप्तागम गुरुओं का श्रद्धान सत् स्वरूप आत्म अनुभव करते हुये निश्चय सम्यग्दर्शन भी होने की संभावना रहती है परन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन सब प्रकार के विकल्पों से रहित और निज स्वरूप है। इसमें व्यवहार सम्यक्त्व कारण है। निश्चय सम्यक्त्व कार्य है। इस तरह जब आत्मा में सुख देने रूप सम्यक्त्व पैदा होता है। वह सम्यक्त्व श्रद्धान पूर्वक ही होता है, क्योंकि बाह्य पदार्थ का भेद-विज्ञान व्यवहार चिन्तन करते करते इसरीति से आत्मा स्व-पदार्थ में तन्मय हो जाता है, तहां पूर्ण ज्ञानी के सम्यक्त्व उपयोग रूप ही रहता है किन्तु पर अल्पज्ञानियों के ज्ञान में व्यवहार से निश्चय परिणति हीन रूप संक्रमण भी होता है।

जब अपने का निज रूप से पर का पर रूप से श्रद्धान होता है। वही स्व-पर भेद-विज्ञानी स्वानुभूति का साधक है और जीवा-जीव के ठीक २ श्रद्धान से भेद-विज्ञान होता है और भेद-विज्ञान से शुद्धो पयोग की या आत्मा कीशुद्ध एकत्व परिणति प्राप्त होती है। उन से ही मोक्ष मिलता है। यह शुद्धोपयोग ही शुद्ध नय का विषय है। यही हमारे सदावर्तों, अर्थात संसार के समस्त प्राणी मात्र से

...ना की या आत्मा की शुद्ध एकत्व परिणति प्राप्त होती है। उन से ही मात्र ...
...उपयोग ही शुद्ध नय का विषय है। यही हमारे मनोवर्ती, अर्थात् संसार के समस्त प्राणी ...

हमारा समताभाव (व्यवहार से दुःख उन्मोचन पना तथा निश्चय से आत्म-व्रत सब को देखना होता है) यही शुद्ध निश्चय नय का विषय है। वही शुद्ध स्वरूप दृष्टि है वही कल्याण का बीज है। जिसका लक्षण स्वानुभूति है, समता और शान्ति आत्म-क्षमा से संयुक्त है चिन्मय आनन्द को देने वाला है ऐसा जो सम्यक्त्व है उसको भक्ति भाव से हृदय में विराजमान करता हूँ।

इति सप्तदश परिच्छेद पूर्ण हुआ, आगे अष्टादश परिच्छेद प्रारम्भः।

अठारहवाँ परिच्छेद

* मङ्गलाचरण *

बन्दौं श्री अर्हन्तको बन्दौं गुरु जिन बैन।
रत्नत्रय व्यवहार को लिखौं सकल सुख दैन॥

जो मुनि पाप क्रियाओं का त्याग करके आमरण तक मन-वचन और काय योग से तथा कृत कारित और अनुमोदना से जीव समुदायों का वध करना त्याग देता है। उनके अहिंसा महाव्रत पूर्ण निर्दोष पालन होता है। क्योंकि सब ही जीवों को दुःख प्रिय नहीं है ऐसा ही अपने को भी दुःख प्रिय नहीं है। ऐसा समझकर सर्व जीवों पर दुःख देने में निवृत्ति हो, व आत्मोपम हो—दुःख के समय आगम के वचनों का स्मरण करो, आगे कहा हुआ विचार मन में मत लाओ।

कपूर का चूर्ण डालकर सुगंधित किया हुआ वर्फ के समान शीतल जल में पीऊँ, या कमल रजों से व्याप्त ऐसे अगाधि सरोवर में मत्त हाथी के समान प्रवेश कर निमज्जन करके स्नान करूँ, या ललाट मस्तक हृदय ऊपर ओस का समुदाय पड़ेगा तो बहुत ही आल्हाद हो, कमल शीत नाल का कोमल कोपल इनका किया हुआ बिछौना यदि मेरे को सोने के लिए मिलेगा तो मैं जीऊँगा अन्यथा मेरे प्राण चले जायेंगे, रात-दिन मेरे को त्रास सताती है। इस वास्ते यहां से सूर्य किरणों को दूर करो वर्षा वृष्टि होनी वायु बहनी हो, मैं घृत संयुक्त मोदक खाऊँगा और शङ्कर मिश्रत सुखोष्णा दूध में पीऊँगा या अग्नि में तपूँगा, ऐसा विचार तापक को योग्य नहीं मेरे ऊपर असाता वेदनी का बड़ा कोप हुआ है। पंचभरत, पंचऐरावत, और पंचविदेह, ऐसे १५ कर्म भूमि है। संसार में मनुष्य जन्म प्राप्त होना उत्तम जाति शुद्धि मुनिपना रत्नत्रय प्राप्त होना जहां संयम का पालन १५ कर्मभूमि में ही है कर्मभूमिज भोगभूमिज अन्तर्द्वीपज और संमूर्छिन ऐसे ४ है।

वहां तप करने में तत्पर होना जीवघात करना महान दोष है संपूर्ण जीवों का जीवन त्रैलोक्य के कीमत बराबरी का है जीवित का घात करना त्रैलोक्य घात के समान है, इस जगत में अणु से छोटी कोई वस्तु नहीं है और आकाश से भी बड़ी कोई चीज नहीं है, इसी प्रकार अहिंसा व्रत से दूसरा कोई बड़ा व्रत नहीं है। जैसे त्रैलोक्य का आधार आकाश द्रव्य है, वैसे ही व्रत गुण और शील व सब अहिंसा के आश्रय से रहते हैं। अहिंसा के बिना शील जप तप नहीं टिक सकते अर्थात्—व्रत, शील, गुण, ज्ञान निःस्पृहता विषय सुखत्याग सर्व आचार सत्यभाषण व है, अहिंसा के बिना निष्फल है। और संवर निर्जरा का उदय भी व्यर्थ होते हैं। जो असत्य भाषण

...री, श ल, गुर ... बिना निष्फल है। और संवर निर्जरा का उदय भी व्यर्थ होते हैं। जो असत्य

से, न दी हुई वस्तु लेने से मैथुनसेवने से और परिग्रह से पर को दुःख उत्पन्न होता है। परन्तु अहिंसा के पालने से इन सब दोषों का त्याग होता है इसलिये अहिंसा व्रत पालन करो सत्यवचनादिक अहिंसा के ही गुण हैं।

वस्तु उठालेना, रखना, छोड़ना, खड़ेहोना बैठना, शयन करना इत्यादि समस्त का करते समय जिन्होंने प्रमाद का त्याग किया है, जिसने आरंभ परिग्रह का त्याग किया है जो प्रासुक अहार लेता है, ज्ञानाभ्यास करने में जिसने अपने चित्त को स्थिर किया है तीन गुप्तिओं का धारक निष्कषायपरिणामी प्रमादरहीतसंयमी साधु मे यह अहिंसा पूर्णता को प्राप्त होती है। आगे सत्य महाव्रतालि० विद्यमान वस्तु को नहीं कहना प्रथम असत्य वचन है, जो नहीं है उसको कहना यह असत्य वचन का दूसरा भेद है, जैसे देवों की अकाल मृत्यु नहीं है ऐसा आगम कहता है, परन्तु देवों की अकाल मृत्यु है; २ एक जाती के सत्य पदार्थ को अन्य जाती के सत्य पदार्थ कहना यह असत्य का तीसरा भेद है। जैसे बैल है इसका विचार न कर यहां घोड़ा है ऐसा कहना, जो निंद्य वचन बोलना वा पाप युक्त वचन बोलना यह सब चतुर्थ प्रकार का असत्य वचन है। गर्भयुक्त भाषण को कर्कश वचन कहते हैं, दूसरे के दोष दिखाने वाला वचन निष्ठुर भाषण है।

लौकिक मे गो-हत्या, ब्राहमण–हत्या त्रिविध इनसे निवृत्ति होना यदि, उत्कृष्ट धर्म समझा जाता है, तो सर्व जीवों पर दया करना यह उत्कृष्ट धर्म क्यों नहीं माना जायगा, विचार कीजिये, सर्व जीवों का सर्व जीवों के साथ पिता, पुत्र, माता, बहन पुत्री रूप संबन्ध अनेक भावों में हुआ है फिर मारने को उद्यत हुआ पुरुष अपने सम्बन्धी को ही मारता है तब जगत में सम्बन्धिओं

का ध्यान करना अतिशय महानिंद्य माना जाता है। अर्थात हिंसा विरक्त होना; हिंसा करने में परिणाम होना ऐसा विचार रखना ही हिंसा है। प्राणी के प्राणों का घातकरूंगा आदि हिंसा में सामिल है; प्रमाद परिणत आत्मा ही स्वयं हिंसा है और अप्रमत्त आत्मा ही अहिंसा है, आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है, ऐसा जिनागम में निश्चय किया है। जो रागद्वेष मूढ बन कर आत्मा जो कार्य करता है उससे हिंसा होती है, कुछ भी बड़ बड़ कहना उप हास्य वचन है। अर्थात वाचाल होकर चाहे जैसा बोलना यह सब संक्षेप से गर्हित वचन है।

जिस वचन से प्राणी के प्राण पीड़े जाय उसको सावद्य वचन कहते हैं, जैसे इस जमीन को खोदो, इस भैंस ने पानी पीया है अब इस को पानी से धो डालो, फल, पुष्प, पत्ते तोड़ो अथवा मेरा बोलना योग्य है या अयोग्य है इसका विचार न करके वास दोष है या निर्दोष है कुछ विचार न करके परीक्षा के विना ही कह देना यह सब सावद्य वचन है। जैसे चोर को यह चोर है ऐसा कहना, मर्मच्छेद करने वाला पुरुष वचन तू अनेक दोषों से दुष्ट है। मनको उद्विग्न करने वाली भाषा को कुटक वचन कहते हैं। जैसे तू निंद्यजाती में पैदा हुआ है। तू धर्म रहित पापी है, जो बैर उत्पन्न करने वाला वचन जैसे तू गधा है तेरे को कुछ भी ज्ञान नहीं है। तेरे समान मूरख इस संसार में कोई नहीं है जिस वचन के बोलने से कलह हो जाता है वह कलह कारी वचन कहते हैं; जो मन को बोलना यह हीलन वचन त्रास पहुंचाने वाला क्लेश पैदा करने वाला बचन उत्रासन भाषा है, दूसरों की अवज्ञा करने वाले शब्द हैं। जैसे तुमको धिक्कार हो इस तरह अप्रिय वचन संक्षेप से लिखा तथा हास्य, भीति, लोभ क्रोध द्वेषादि से असत्य भाषण किया जाता है उनों को प्रयत्न पूर्वक से विशेष त्याग करके सत्य बचन का भाषण करो जोकि रत्नत्रय का उपदेश देने वाला असंयम से पराङ्मुख करने वाला

...ता, लोभ क्रोध हँसादि से असत्य भाषण किया जाता है उना ...
सत्य वचन का भाषण करो जोकि रत्नत्रय का उपदेश देने वाला असंयम से पराङ्मुख करने वाला

आत्म-प्रबोध

अन्य साधु को सद्धर्म में स्थिर करने वाला तुम बोलो, सामायिक, प्रतिक्रमण, वंदना, स्तुति वगैरह आवश्यक के काल के सिवाय अन्य समय को यही काल समझना चाहिये, और भक्त कथा राजकथा, चोर कथा और स्त्रीकथा तू मत बोल, क्योंकि दूसरे के असत भाषण सुनने पर भी मनमें अशुभ संकल्प उत्पन्न होकर महान कर्म बंध होता है। पानी, चन्दन, चन्द्र, मोती, वर्फ गुलाबपुष्प कमलपुष्प और चन्द्र कान्तिमणि ये पदार्थ लोगों को उतना आनन्द उत्पन्न करने में असमर्थ है, जितना आनन्द हितकर मधुर भाषण सत्य वचन जीवों को अधिक आनन्द देता है। सत्यवादी को अग्नि जलाता नहीं, पानी उसको डुबाने में असमर्थ होता है, सत्य वादी को शैल से गिरने वाली नदी भी नहीं बहा सकती है। सत्य के प्रभाव से स्वमेव सर्व देवता वंदना करता है, और उनके सब सिद्धियां स्वमेव आकर प्राप्त हो जाती हैं, तथा सत्य के प्रभाव से व्यन्तर पिशाच भाग जाता है, सत्यवादी के संकट आये हुये दूर भाग जाते हैं। सत्यवादी के उपर लोक पूरण माता के समान विश्वास रखते हैं, सत्यवादी लोक गुरु के समान समझे जाते हैं। सत्यवादी मनुष्य स्वजन के समान लोकों को प्रिय होता है। और जगत में उसका यश प्रसिद्ध हो जाता है। सत्य आश्रय से जप, तप, शील, संयमव्रत की वृद्धि होती है और शान्ति महारानी का राज फैल जाता है, सत्य का आधार पाकर सर्व गुण अपनी वृद्धि कर सकते हैं, देखिये जो मनुष्य शिखा रखने वाले हों, जटा धारण करने वाला हो, मुंडन करने वाला नग्न चीवर धारी हो यदि वह असत्य वचन बोलने से तृण के समान तुच्छ हो जाता है, और उसका चलन विटंबना आप ही समझनी चाहिये। जैसे उत्कृष्ट अमृतोपम अन्न को विषनष्ट कर देता है, अथवा वृद्धावस्था तारुण्य को नष्ट करती है

सत्य-
अचौर्य

ऐसे असत्य भाषण अहिंसादि गुणों का नष्ट करती है, तथा झूठ बोलने वाले मनुष्य की ममता भी विश्वास नहीं करती है तब अन्य मानव असत्य भाषण दोष से शत्रु समान क्यों नहीं गिनेंगे यह असत्य भाषण पापास्त्रव का कारण है इस असत्य के प्रभाव से वसु राजा नरक में चला गया। तुमारी कहावत;

२ जो साधु दूसरे के द्वारा नहीं दी गई छोटी या मोटी वस्तु को नहीं ग्रहण करते हैं उनके यह तृतीय व्रत होते हैं, अर्थात बिना दी हुई अणशला का दंतमल दूर करने को भी नहीं ग्रह कर सकते हैं तो अन्य वस्तु की कहा बात चौर लोभ बस हुआ जो जो वस्तु देखता है, वह प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ अकार्य को भी कर बैठता है और लोभ बस सर्व त्रैलोक की संपदा प्राप्त होने पर भी तृप्तता को प्राप्त नहीं होता जैसे

राजा रावन लोभ वश नर्क में गया, अविश्वास, अपकीर्ति, संक्लेश परिणाम तिरस्कार कलह, वैर, भय, शोक, वध, बन्धन, स्वजन से फूट, मित्र से फूट, और धन का नाश ऐसे पाप असत्य भाषण से उत्पन्न होते हैं। असत्य भाषण पाप कर्म के आगमन आस्त्रव दरवाजे के समान है। असत्य बोलने वाले को राजदंड देता है और देश में अपकीर्ति का ढोल बज जाता है इसलिये भव्य जीवों को असत्य भाषण का त्याग करके सत्य वचन बोलना चाहिये। आगे तृतिय व्रत को लिखे हैं।

लोभ के वश मानव न करने योग्य कार्य को कर बैठता है, श्री मंतके घरका, ताला तोडकर अन्दर प्रवेश करता है, और चोरी करता है उस चोरी करने से कारागृह में दुःख भोगता है और मृत्यु का कष्टतर भय उपस्थिति होने पर भी कुछ परवाह नहीं करता है। चोरी करने से चोर को ही उपद्रव होता है ऐसे नहीं, अन्य लोगों के ऊपर भी बडी विपत्ति आती है, धन का चोर के

...ा कष्टतर
...उपद्रव होता है ऐसे नहीं, अन्य लोगों के ऊपर भी वहां ...

आत्म-प्रबोध

द्वारा हरण होने पर उनको मरण तुल्य दुःख होता है हृदय पर शक्ति नामक शस्त्र की चोट लगने पर जैसा दुःख होता है वैसा धन हरण होने से दुःख होता है। दूसरे के द्वारा अपना धन हरण होने पर मनुष्य पागल बन जाता है, ज्ञान रहित होता है और मरघन मरघन ऐसा शब्द बार बार कहता हुआ प्राणों का भी त्याग कर देता है, इसलिये धन मनुष्य का ग्यारहवां प्राण है। धन के लोभ से मनुष्य जंगल पर्वत समुद्र, युद्ध, राज सेवादि में प्राणों का भी त्याग कर देता है। चोर अपना बांधव को भी मार डालता है, क्योंकि प्राणों से भी धन मनुष्यों को अत्यन्त प्रिय है। चोर महादुष्कर्मी होता है चोर के हृदय में दया, लज्जा, दगा, विश्वास और गुणों का निवास नहीं होता है चोर अत्यन्त निर्दय और क्रूर कर्म भी धन के लिए कर देता है। धन से इन्द्रिय सुख की प्राप्ति पत्नी पुत्र संबंधीजनों के साथ जो सकता है यदि उसका धन चोरों ने हरण किया तो उसने उसका और उसके पत्नी पुत्रादिकों का जीवित हरण किया, हिंसादिक अन्य अपराध करने वाले के पक्ष में रहते हैं परन्तु वस्तु भी चोरी करने वाले के पक्ष में रहना नहीं चाहते हैं चोरी करने वाले की माता भी आश्रय नहीं देती है पर द्रव्य हरण करना यह पाप आने के द्वार है जीवों को घात करने वाला हरिया पकड़ ने वाला और पर स्त्री गमन करने वाला इनसे भी चोर अधिक पापी गिना जाता है चोर के जो स्वजन मित्र, और आश्रय में रहने वाले अन्य लोगों को भी यह चोरी बड़े संकट में गिरा देती है, उनका धन छीन लेते है, वही अपकीर्ति है, और दुःख में गिराते है चोरी करके चोर पकड़ा जाता है तब लोक जन उनका अंग भंग तोड़ डालता है, सब बांधना अनेक प्रकार से पीड़ा देना पराभव करना आदि चोरों को तकलीफ देते है शोक, उसको भय के हरण इन दुःखों को चोर प्राप्त होता है, चोर के मन में दिन रात भय रहता है

मारे निद्रा भी नहीं आती, वह हमेशा चारों तरफ भय युक्त हरिण के समान देखता रहता है आगते चूहे की ध्वनी सुन कर चोर भीतर से थर थर कांप ने लगता है, और डर कर दौड़ते समय गड़बड़ी से भूमी में गिर जाता है, चोर का पैर कच्चा होता है जो बिना दिया हुआ तृण मात्र भी ग्रहण करता है वह अविश्वासी बन जाता है और तृण के समान हलका हो जाता है चोरी के पाप से मरकर चोर नरक को जाता है। और नरक वेदना को दीर्घ काल तक तीव्र वेदनाओं का अनुभव करता है।

तथा पाप कर्म से चोर पशुगति में जन्म लेकर तीव्र दुःखों को दीर्घकाल तक अनुभव लेता हुआ भ्रमण करता है, अर्थात कुत्ता, सुवर, बिल्ली, गधा, काक, पक्षी गीध बिकल त्रयादिक योनिओं में भ्रमण करता है, मनुष्य भव में दरिद्री होता है, अन्तराय कर्म के उपार्जन से वह धन को नही भोग सकता, चोर कर्म से श्रीभूति राजा को पुरोहित दीर्घ कालतक संसार में भ्रमण किया। इसलिये योग्य दी हुई वस्तु का ग्रहण करना अर्थात देवेन्द्र, राजा, गृहस्थ, राजाधिकारी और साधर्मिकसाधु इन्होंने योग्य विधि से दिया हुआ मुनिपना की सिद्धि करने वाला ज्ञान ध्यान संयम तप की सिद्धि करने वाला पदार्थ ग्रहण करे अचौर्य महाव्रत का वर्णन पूर्ण हुआ।

आगे ब्रह्मचर्य महाव्रत लि० ज्ञान दर्शन से वृद्धिंगत होता है उसे ब्रह्मचर्य कहते है इस जीव का स्वरूप अनन्त पर्यायात्मक है ऐसा समझकर उसके स्वरूप में रमन होने की क्रिया करना उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं मुनि अपने आत्मा के स्वरूप का उनके ज्ञान दर्शन चरित्र वगैरह शुद्ध गुणों का विचार कर उसमें ही तृप्ति होता है इसलिए ऐसे मुनि का ब्रह्मचर्य विशुद्ध होता है। और इन दश दोषों से अब्रहमचर्य होता है क्योंकि स्त्रियों का सत्कार करना उनके सत्कार शरीर पर

प्रेम रखकर वस्त्र, माला, वगैरह पदार्थों से उनका सत्कार करना, उनको अलंकारादि पदार्थ अर्पण करना, अतीत स्मरण भूतकाल में किये हुए रति क्रीडाओं का स्मरण करना, अनागताभिलाष भविष्य काल मे उनके साथ ऐसी २ रतीक्रीडा करूंगा, ऐसी अभिलाषा मनमे उत्पन्न करना, इष्टविषय सेवा मनो वांछित उद्यान वगैरह का उपयोग करना आदि दश प्रकार का अब्रहम विषे और अग्नि के समान हैं, यह अब्रहम प्रारम्भ मे बडा मिष्ठ मालुम होता है परन्तु अन्त मे अत्यन्त कट्टक है। काम दोष, स्त्रीकृतदोष, शरीर की अपवित्रता, वृद्ध पुरुषों की सेवा, और संसर्गदोष इन पाँच कारणों से वैराग्य उत्पन्न होता है। इसलोक मे और परलोक मे जितने हिंसादिक दोष उत्पन्न होते हैं, वह सब मैथुन की इच्छा से उत्पन्न होते हैं।

काम से पीडित मनुष्य शोक करता हैं रोता हैं, पश्चाताप करता है, खिन्न होता है, उसको दिन रात निद्रा भी नही आती। हमेशा स्त्री रत्न का ही चिन्तवन करता रहता हैं और कल्याण कारक धर्म को भूल जाता हैं। जो मनुष्य अपने सम्बन्धीजनों में तिष्ठता हुआ हमेशा काम रूपी पिशाच सताता रहता हैं, कामातुर मनुष्य कामबाण कर पीडित हुआ हैं उसको एक क्षण भी वर्ष के समान भासने लगता हैं और उनके संपूर्ण अंग कृश होजाता हैं और अपना गाल हाथ के ऊपर रखकर दीन मुख से अतिशय चिन्तायुक्त हो जाता हैं शरीर कांपने लगता हैं उन्मत्त होकर चिन्ता ज्वर से दुःखी हुआ काम चिन्ता से अरतिरूप अग्नि में हमेशा जला करता हैं और पर्वत से गिरकर या रेलगाडी के तले या समुद्र में प्रवेश कर अथवा झाड की शाखा में फांसी लगाकर मरने की इच्छा करता है। इसकामेच्छा से जब मनुष्य व्याकुल होता हैं तब आपकी जाती और कुल का विचार नहीं करता हैं महत पुरुषों का भी बचन नहीं मानता हैं। अर्थात वह निर्लज्ज

होई और आताज कार्य कर बैठता है बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है सज्जनो ने किये हुए उपकार को भूल जाताहै जाता है वह कामी मनुष्य को शोक समान गिनता है काम दोषों से व्याप्त हुआ पुरुष-आचार्य, उपाध्याय, गुरू और शिष्य वर्ग चतुर्वर्णसंघ के प्रति कूल हो जाता है और त्रैलोक्यमें सार भूत श्रुत ज्ञान के लाभ को भी छोड़ बैठ ता है और अपनी सब पदस्थ खो देता है और विषयों में पस कर रत्नत्रय को तिनके के समान त्याग देता है और वह सदा पंच पर मेष्ठी की निन्दा करता है लिये ऐसे जो कि पर लोकमें अशु भगति और अनन्त संसार की वृद्धि करता है, वह विषय से बने के हीन वस उच्च कुलीन और वृद्धी मान होकर भी विषयों में लुब्ध होकर ज्ञान, ज्ञान और कुलादि से हीन ऐसा नीच पुरुषों की सेवा करता है और धनिकों से किये गये अपमानोंको सहता है ऐसा विषयों के हो कर दुःख पाता है मानी मानव विषये बास नासे निर्लज्ज हो कर निंद्य कार्य करने लगते हैं काम देव का महात्म्य है जो विषय वासना से खेदित हुआ मनुष्य में राग द्वेष मोह, अज्ञान, कषाय, परदोष का कथन करना, संक्लेश परिणाम, इर्षा, स्पर्द्धा, हिंसा असत्य भाषण, चोरी, कलह, परोक्ष परीक्षा में निन्दा करना, रोक, शोक, धन नाश वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं, ये सब दोष कामी मनुष्य मे सुलभतय उत्पन्न होते हैं और दूसरे को भी पीडित करते हैं जैसे तिलकी पल्ली में अग्नि से तपी हुई सलाई प्रविष्ट होने से सब तिल जलकर खाक होते हैं वैसे मैथुन से बन करते समय योनी मे उत्पन्न हुए जीवों का नाश होता है। कामी मनुष्य ठंडी गर्मी, भूख, प्यास खराब आहार खराब सय्या और मार्गश्रम, इनसब को सहता है, अथवा स्वच्छन्द प्रवृति करने वाली स्त्रियां निरपराधि पती को अच्छे ज्ञान का या अपने ससुर का और पिता का भी घात करती है जो अपने स्वच्छन्द प्रवृत्ति में बाधक होगा उनका घात करदेती है, अर्थात आदर सत्कार उपकार गुण

...व पर क
...न स्वच्छन्द प्रवृत्ति मे बाधक होगा, उनका घात करदेती है, अर्थात आदर सत्कार उपकार गुणा...

आत्म-प्रबोध

तारुण्य और सौंदर्य इत्यादिगुणों से पति युक्त होने पर भी यदि स्त्री जब पर पुरुष पर अनुरक्त आसक्त हो जाती है तब पती के इतने गुणों का कुछ विचार नहीं करती है जैसे राजा यशोधर की राणी समझना अथवा सिंहबल नामक मनुष्य गोपवती नामक दुष्ट ईर्षालु स्त्री थी उसने अपने सौत का मस्तक तोडकर अपने पती को भी भाले से मार डाला, जो पुरुष स्त्रियों पर विश्वास करता है वह व्याघ, चोर, आग, जलप्रवाह मदोन्मत हाथी, कृष्ण सर्प और शत्रु इनके ऊपर विश्वास करता है, ऐसा समझना चाहिये। कुटिल स्त्रीयों का चित राग द्वेष, मोह ईर्षा, असूया, कपट झपट, लपट, इत्यादिक दुष्ट भावों से मलीन होता है। इसलिये व्याघ्रादिकों में विश्वास करना कथंचित अच्छा माना जायगा परन्तु कुटिला स्त्री पर विश्वास करने से सर्वथा अपना घात कर लेना है, वह स्त्री मधुर बचन बोलकर रति क्रीडा में अनुकूलता दिखाकर पुरुष का मन हरण या द्रव्य हरण करने में रत रहती है, अपने कार्य में हमेशा तत्पर रहती है। जैसा जैसा पुरुष स्त्री का आदर करता है वैसा २ वह उसका अनादर करती है। फिरतो तिरस्कार ही कर देती है। जैसे संध्या काल की लाली क्षणमात्र टिकती है ऐसे ही स्त्री मात्र की प्रीति क्षण मात्र रहती है अर्थात अल्पकाल प्रेम करके यह दोष स्त्रियों में रहता है। स्त्रियों का हृदय हमेशा पवन संचार के समान अतिशय चंचल रहता है। जगत में जितना तृण है जितनी समुद्र की लहरें हैं जितना बालु का समुदाय और प्राणिओं का केश समूह है उनसे भी अधिक तरुण स्त्रियों के विचार समुदाय उत्पन्न होता है, जोकि आकाश, जमीन, समुद्र, पानी, मेरु और वायु इन पदार्थों का तो कुछ परिमाण है, परन्तु स्त्री के मन में निरन्तर उत्पन्न होने वाले संकल्प विकल्पों का परिमाण जानना अशक्य है। जैसे बिजली पानी का बबूला और उल्कापात ये पदार्थ शिघ्र नष्ट होते हैं

वैसे ही स्त्रियों की पुरुष पर प्रीति दीर्घ काल तक नहीं रहती है अतिशय विकराल क्रुद्ध हुआ काला सर्प, दुष्टसिंह, और उन्मत्त हाथी को भी मनुष्य पकड़ने में समर्थ है परन्तु दुष्ट स्त्री का मन पकड़ने में वे समर्थ नहीं है स्त्री कपट युक्तियों से पुरुष का मन हरण करती है अर्थात पुरुष का चित्त मधुर वचन से चोरती है। और पापयुक्त हृदय से उसका घात करती है। स्त्रियों के वचनों में मधुरता और हृदय में विष रहता है कदाचित पानी में शिला तैरने लगेगी, अग्नि अपना दाहक स्वभाव छोड़कर ठंडी होगी तो भी स्त्रियों का मन कभी भी कपट छोड़कर सरलता नहीं धारण करेगा। सामर्थ्यवान पुरुष समुद्र का दूसरा किनारा प्राप्त कर सकता है परन्तु स्त्री का चित्त नहीं वस कर सकता है। क्योंकि स्त्री मधुर और सुन्दर होने पर भी कपट भय और दोषों से भरी हुई होने से अहित करने वाली ही है! स्त्री धन नाश का कारण है, देह में क्षय रोग उत्पन्न करती है सुगति की अर्गल होकर दुर्गति का मार्ग है, और अनर्थों का निवास है तथा दोष उत्पन्न करने का स्थान है। धर्माचरण में विघ्न समान है। सुखों का नाश करने वाली मोक्ष मार्ग में अर्गला के समान है। पुरुष को बंधने केलिये जंजीर के समान है। पुरुष के चित्त को छेदने में बाण के समान है और भव समुद्र के मध्य डुबाने केलिये कीचड़ के समान है। जो चतुर पुरुष बालपन की व्यवस्था को विचार करेगा तब उसको मालुम होगा कि यह शरीर दुर्गन्ध पदार्थों से भरा हुआ है और इसमें दुर्गन्धस्वेद मूत्रादि पदार्थ निकलते रहते हैं मल की झोपड़ी के समान दुर्गन्धित है।

जो पुरुष स्त्री चरित्र संसर्ग विष के समान समझ कर उसका नित्य त्याग करता हैं वही महात्मा या वह जीव ब्रह्मचर्य में दृढ रह सकता है, संपूर्ण स्त्रीवर्ग में जो पुरुष सावधान रहता है

वही ब्रह्मचर्य का पालन करता है, यह ब्रह्मचर्य व्रत चारित्र रत्न का मूल और सार है। जो व्रती यह विचारता है कि लोक मेरे विषय मे क्या बोलते हैं, लोक मेरे तरफ किस निगाह से देखते हैं और मेरी प्रवृत्ति कैसी है ऐसा जो प्रतिदिन बार बार विचार करता है वही दृढ़ ब्रह्मचारी बन सकता है। जो स्त्री के तन रूप लावण्य से अपनी दृष्टि को जल्दी हटाता है वही ब्रह्मचर्य का रक्षण कर सकता है। जो मुनि स्त्री का गंध, शब्द रूप, रस, स्पर्श इनमे अपने मन को लगाता नही है वही ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। घर में रहने वाला ब्रह्मचारी विषय समुद्र के बीच मे अवगाहन करता हुआ भी विषय जल से चित्त अलिप्त रहना आश्चर्य कारक है। जैसे जल में उत्पन्न होकर वहां ही वृद्धिंगत हुआ ऐसा कमल पानी से अलिप्त ही रहता है वैसे त्यागीजन विषयों मे रहकर भी विषयों से अलीप्त रहता है यह कामाग्नि विषयरूपी वृक्षों का आश्रय लेकर प्रज्जवलित हुआ है परन्तु तारुण्य रूपी तृण पर संथर करने वाले महात्माओं को यह जलाने मे असमर्थ है वह ब्रह्मचारी महात्मा धन्य है। यह विषय रूपी समुद्र यौवन रूपी जल से भरा हुआ है। जिसमे स्त्रियों का मंद हास्य गमन कटाक्ष फेंक कर देखना यही इसमे तरंगे हैं, जो महात्मा स्त्री रूपी मगरों से ग्रसित न होकर इस विषय समुद्र को तीर जाते है वही साधु स्तुति के पात्र होते हैं। वही धन्य है। चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत का वर्णन पूर्ण हुआ –

पंचम महाव्रत निरुपण– जो साधु संपूर्ण अन्तरंग और वही रंग परिग्रहों का मन, वचन काय, कृत कारित अनुमोदन से त्याग करते हैं उनके पांचवे परिग्रह त्याग महाव्रत प्राप्त होते है। तहां प्रथम अन्तरंग परिग्रह का वर्णन ऐसे है कि जीवादि सप्ततत्व नो पदार्थों के स्वरूप पर श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुसकवेद ऐसे वेद कर्म के तीन भेद है। स्त्री

वेद कर्म का उदय होने से जीवको पुरुष में अभिलाषा होती है, पुरुष वेदका उदय होने से स्त्री में अभिलाषा होती है। व नपुंसक वेद के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों में अभिलाषा उत्पन्न होती है हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ऐसे छः प्रकार के दोष हैं। और क्रोध, मान, माया, और लोभ ऐसा चार कषाय हैं, सर्व मिलकर अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद होते हैं। बाह्य परिग्रह दश प्रकार है, तहा धान्य उत्पन्न होता है वह क्षेत्र, वास्तुघर धन सुवर्णादि धातु धान्य चावल गेहूं, चना; मूग मटर वगैरह कुप्य वस्त्र भाड हिंग धणाया जीरा मिरच वगैरह द्विपद दासी दास नोकर वगैरह चउपद हाथी घोडा गाय उंट वगैरह यानि पालकी विमान इत्यादि शयन बिछोना आसन पलंग वगैरह ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रहरूप मल जब तक दूर न किया जायगा तब तक ज्ञान दर्शन सम्यक्त्व चारित्र वीर्य और अव्याबाधत्व वगैरह आत्मगुणों को ढकने वाला अंतरंग मल दूर करना एक प्रकार से असक्य ही है। जैसे ऊपर का छिलका निकाले बिना चावल का अन्तरंग मल नष्ट नही होता है वैसे ही बाह्यपरिग्रहरूप मल जिसके आत्मा में उत्पन्न हुआ ऐसे आत्मा का कर्म मल नष्ट होना एक प्रकार से अशक्य ही है, जब यह आत्मा लोभादि परिणामों से युक्त होता है तब बाह्य परि ग्रह का ग्रहण होता है, इस लिये जो मनुष्य बाह्य परि ग्रहण कर ता तबही लोभा दि विकार स्वत ही आत्मा से उत्पन्न होते हुए वह परि ग्रह का स्वीकार संग्रह करता है, अर्थात जब राग भाव लोभ, मोह, ममत्व उत्पन्न होते हैं तब इस आत्मा में बाह्य परि ग्रह ग्रहण करने की एक शक्ति बुद्धि उत्पन्न होती है अन्यथा नहीं, यह मेरा है, और यह तेरा है, ऐसा भाव मनमें उत्पन्न होना मोह राग द्वेश कहा जाता है ये पदार्थ मेरे है, और अच्छे हैं ऐसा अभिप्राय: रहना संज्ञा है, परिग्रहों में तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होना गौरव कहलाता है, ये परिणाम जब आत्मा

...संज्ञा है, परिग्रहों में तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होना ग...

आत्म-

प्रबोध

पना और व्यापकता होना उद्योत शुद्धि है। उपयोग शुद्धि पांव उठाकर जिस स्थान पर रखना है। उस स्थान पर जीव जन्तु है या नहीं इसका विचार कर पाव रखना उपयोग शुद्धि है, आलंबनशुद्धि गुरुवंदना तीर्थवन्दना चैत्यवन्दना और यतिवन्दनादिकों काकारण तथा अपूर्व शास्त्रार्थ का गृहण संयमी के योग्य क्षेत्र को ढूढना वैयावृत्य करना अनियत स्थान में रहना स्वास्थ्य का संपादन करना मुनि के श्रम को दूर करना अनेक देशों की भाषाओं का अध्ययन करना भव्य जीवों को उपदेश देना इत्यादि कार्यों की अपेक्षा से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना इसको आलंबन शुद्धि कहते हैं। साधु ने वेग से गमन नहीं करना चाहिये मंद मंद भी गमन नहीं करना चाहिये, आगे चार हाथ जूड़ा प्रमाण जमीन देखकर गमन करना चाहिये, दूर अंतर पांव ही रखना, भय विस्मय का त्याग कर चलना योग्य है, इधर उधर न देखकर कूदना भागना ये क्रिया त्याग कर निर्विलंपता रहित चपलता रहित बाहु नीचे छोडकर चलना चाहिये। तृण, पल्लवा दिकसे एक हाथ दूर रहकर गमन करना तथा पशु पक्षी मृगों को या वनचर जीवों को तकलीफ न देकर चलना योग्य है। विरुद्ध उत्पन्न तिरस्थानो में प्रवेश करते समय वहांके त्रसजीवों को अपने शरीर बाधान हो इसे लिये बार बार पिंछि कापे शरीर स्वच्छ करके दूसरे शरीरों का धक्का नहीं लगे इस तरह चलना चाहिये। गो, बैल, कुत्ता आदि प्राणि ओं को परिहार करके गमन करो, तथाधान्य का भूसा गन्ना का भूसा शालि धान्य के छिलके, कज्जल भस्म गीला गोबर तृण ढेर पानी पत्थर फलक इन का परिहार करके गमन करना मुनाशिब है। चार कलह तमासा नाटक चेटक इन्द्रजाल व्यापार मंडी इत्या दिक से दूर रहकर गमन करना यह मुनी की इर्या सम्मति है। सत्य वचन भषा समिति दश प्रकार हैं तहां जन पद सत्य, सम्मति सत्य, स्थापना सत्य, नाम सत्य,

रूप सत्य, भाव सत्य, और उपमा सत्य, अनेक देशों में प्रसिद्ध संकेत का अनुकरण करने वाला जो वचन उसको जन पद सत्य कहते हैं। जो जाते हैं उसको गो कहते हैं जो गर्जना करता है उसको गर्ज कहते हैं। सम्मति सत्य गजेन्द्र नरेन्द्र सुरेन्द्र महेन्द्र खगेन्द्र, इत्यादिक शब्द गुणलक्षण के द्योतक हैं। ऐसे शब्दों को सम्मति सत्य कहते हैं। स्थापना सत्य, अर्हम्, इन्द्र, चन्द्र, स्कंद, वगैरह शब्द सद्भाव असद्भाव स्थापना के विषय हैं। इनको स्थापना सत्य कहते हैं, अरि हनन मोह नी कर्म का नाश होना, रजो हनन, ज्ञानवर्ण दर्शना वर्ण और अन्त राय नाश होना यह क्रिया अर्हन्त में पाई जाती है। उस अर्हन्त के समान प्रतिमा का आकार रहता है इसलिये अर्हन्त की उसमें स्थापना करते हैं। ऐसा आकार रखकर मूलपदार्थोंकी उसमें स्थापना करना कि यह वही वस्तु है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है यह स्थापना सत्य समझना, नामसत्य जाति, द्रव्य गुण क्रिया इनकी अपेक्षा के बिना ही शब्द पदार्थ के साथ संबंध करदेना वह नाम सत्य है, जैसे जीवन क्रिया अचेतन पदार्थों में न रहते हुए भी उसको जीव कहना, तथा इन्द्र की देवत्व जाति पर ऐश्वर्य संपन्नता वगैरह गुणों का विचार न करके, व्यहार के लिये इन्द्रजीत कहदेना नाम सत्य है। रूप सत्य रूप शब्द प्रवृत्ति निमित्त का उपलक्षण है, जैसे कमल में नील गुणका प्रकर्ष देखकर उसको नील कमल कहना तथा चन्द्रमें सफेद पनाकी आधिक्यता देखकर उसको धवल कहना यह रूप सत्य है। प्रतीत सत्य किसी अन्य संबंधी पदार्थों की अपेक्षा से वस्तु स्वरूप का निर्णय करके वैसा कहना जैसे दीर्घ वस्तु देखकर दूसरी वस्तु ह्रस्व कहना प्रतीति सत्य है। संभावना सत्य वस्तु का वैसी वृत्ति नहीं होते हुए भी वैसी प्रवृत्ति करने की उस पदार्थ में योग्यता है वह जान कर वैसी कल्पना करना जैसे यह आदमी अपनी दो भुजाओं समुद्र को तीर सकेगा ऐसा कहना वह संभावना सत्य है। व्यवहार सत्य वर्तमान काल

में उत्पन्न नहीं होते हैं तब परि ग्रह का ग्रहण करने में वह उद्यत नहीं होता है तब कर्म बंध भी नहीं होता है, जो आत्मा— कर्म बन्ध से भय भीत है वह परि ग्रह का त्याग करे, स्वेच्छा चार प्रवृत्ति योग्य नहीं है, इस लिये निश्चयसे परि ग्रहका त्याग करना चाहिये यहां आचार्योंने आ चेलक्य कल्प, दश कल्पों में प्रथम गिना है, परि ग्रह ग्रहण करने से इह लोक संबंधी और पर लोक संबंधी दोष उत्पन्न होता है, जिस वस्तु में संकल्प मेरा मेरा होता है उसका संरक्षण करना संस्कार करना आदि कार्य करना पड़ता है और रक्षादि करते समय हिंसा होती है, उसके लिये झूंट कहना, बोलता है, निगहसी चुराता है चोरी भी करता है, मैथुन संज्ञा के कार्योंमें प्रवृत्ति करता है, इस परि ग्रह से अशुभ परिणाम होते हैं, फिर उन परिणामों से नर्कादि दुर्गति का बंध होता है, और दुख रूप फल भोगन पड़ता है, इसलिये सुख चाह है तों संपूर्ण परि ग्रह का त्याग करो, यहां पर वस्त्र के साथ संपूर्ण परिग्रह का त्याग जिसने किया वही मुनि माना जाता है इस लिये संपूर्ण परिग्रह का त्याग करना ही अचेलक्य शब्द का अर्थ है सर्व संग त्याग है ऐसा सिद्ध होता है

यदि वस्त्र शस्त्र अस्त्र त्याग करने से अहिंसाकि व्रत समुदाय मुनियों नहीं बन सकेगा, परिग्रह ग्रहण के निमित से यह जीव असि मषि कृषि आदि छहों कर्म करता है, जिससे जीवों की हिंसा होती है, असत्य भाषण होता है चोरी करना पड़ता है मनमें अमर्यादा इच्छा धारण करता है मैथुन प्रवृत्ति मे रत होता है, इसलिए जब परिग्रह का त्याग होता है तब ही अहिंसादिक व्रत निश्चल होजाता है जो परिग्रहवान से कोई मनुष्य धन करजा लेता है उस समय धन देते क्रोध आता है, परिग्रह पास होने से मान्यहूं मैं धन्य हूं ऐसा अभिमान उत्पन्न होता है, और धन को तजोरी या जमीन में छुपाता है, यह माया दोष है, एक पैसा का लोभ होते ही लाखों करोड़ों में मनसा

दौड जाती है, अतः द्रव्य का लाभ होना लाभका हेतु है। जो में सारी सादरिद्र को देखकर लोक हंसते हैं अतः यह धन हास्य का हेतु है। अपने धन संपदा को देखकर परिग्रहवान उसमें रति आसक्ति करता है, और उस संपत्ति का विनाश होने पर दुःखी होता है। यह मनुष्य धनार्थी गाता है, नाचता है, इधर उधर दौडता है खेत हाल से ना गरता है, और उसमें बीज बोता है, धान पकने पर उसको काटता है इतना कार्य परिग्रह के संग्रह केलिए करता है, परिग्रह संचय केलिए कपड़े धोते हैं या कपड़े सीते हैं या कपड़े बेचते हैं या कपड़े बुनते हैं और धन केलिए याचना करते हैं, सेवा चाकरी नोकरी जमादारी बिलादारी करते हैं, तथा गौ, महिष, बकरी भैंसा बैल हाथी, घोडा वगैरह प्राणियों का रक्षण करता है, व्यापार करता है ठेका लेता है, शिल्पकार्य करता है रात दिन गाडी मोटर चलाने का काम करता है निद्रा का भी या खाना पाना भी भूल जाता है परिग्रह के लोभ से यह मनुष्य संग्राम में शस्त्रों की वृष्टि सहलेता है, मृत्यु को नहीं देखता है। धनार्थी जिसमे मगरमच्छ जल जन्तु विचरते हैं ऐसे भयानक समुद्र में भी यह प्रवेश कर जाता है। यदि यह प्राणी रण में काल के गाल मे चला गया तो सब परिग्रह और भोग पदार्थ किसके होंगे यदि युद्ध में वह नहीं मरा और हाथ पाव वगैरह अंग टूटने पर ऐसे मनुष्य की सब निन्दा करते हैं। इस परिग्रह के मध्य लुब्ध होकर उसके लिये भयंकर गुहाओं में प्रवेश करता है, और परिग्रह केलिये अकर्तव्यभी कर उठता है, शूरवीर पंडित जन सब मनुष्य धनवान के बस होता है, अभिमानी मानव भी इस धन के लिये घोर अपमान सहते हैं जो पूर्ण परिग्रह का संग्रह हुआ तथापि आसा पासी की प्राप्ति से तृप्त होता नहीं क्योंकि सदा लाभ होने पर परिग्रहों से लोभ बढता ही रहता है जैसे लकडियों से अग्नि की तृप्ति होती नहीं है, हजारों नदियों के जल मिलने पर भी समुद्र तृप्त नहीं

...तृप्त होता नहीं क्योंकि सदा लाभ हो पर ... बढ़ता है
...या से अग्नि की तृप्ति होती नहीं है, हजारों नदियों के जल मिलने पर भी समुद्र तृप्त होता, ऐसे ही त्रैलोक्य की सब राज संपदा प्राप्ति होने पर भी इस परिग्रहों के द्वारा जीवनत्री तृप्त होता नहीं है, परिग्रह को डाकू लूटने में जोर से रोने लगता है मन से खिन्न होता है। चिन्ता करने लगता है। अर्थात् वस्त्रों में जूं समूर्छन जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार परिग्रह जीन्तुओं का उत्पत्ति स्थान होता है। तथा पदार्थ ग्रहण करना जमीन पर रखना उसको शोधना बाहर लेजाना बाहर सुलाना, बांधना खोलना, फोड़ना, सटकना इत्यादि क्रिया करते समय प्राणियों को बाधा पहुंचती है। तथा छेदन करना बांधना वेष्टन करना, सुखाना, धोना, से जीवों को मर्दन संतापन और घात उत्पन्न होता है परिग्रह की सम्हाल मे स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्ध नहीं होती है, स्वाध्याय और ध्यान के बिना कर्मों की अवश्य निर्जरा के अभाव से पूर्ण कर्मों का अभाव कैसे होगा,। यह परिग्रह की जालमे फसे हुए प्राणी को धर्म ध्यानमें प्रवृत्ति चित्तकी एकाग्रहता से विमुख ही रहता है और परभव में दरिद्रि होता है। जो साधु परिग्रहका त्याग करता है उसके उद्धारता निस्पृहा वगैरह गुणों की प्राप्ति होती है। और रागद्वेष नष्ट होजाते हैं ताकि विपाका अभाव होजाता है इन्द्रिया वसमें होजाती है स्वाध्याय और ध्यानमें मन एकाग्रता हो जाता है। ज्ञायक सम्यग्दर्शन, केवल ज्ञान, यथाख्यातचारित्र आत्मा रमण होजाता है इसलिये निग्रन्थ मुनि राग द्वेष दिग्ध पीसे भरे हुए पंचेन्द्रिय विषय रूपी वनमे सावधान रहते हैं और परिग्रहों से डरते हैं, और शीत उष्ण द्विवाधा परिषह सपने से कर्म की निर्जरा होती। और शरीर से ममत्व छूट जाता है, जो परिग्रह का त्यागी है वह अपने विषय कषाय गुणों को क्षीण करता है और चिन्तारहित होजाता है तथा वह विश्वास का पात्र है होजाता है निस्परिग्र ही मनुष्य नगर मे वनमे सर्व स्थानो मे अपने स्वाधीन रहता है। उसको कहीँभी भय नही है। उसको खेती उद्योग धन्दा करने की चिन्ता नही रहती। परिग्रहों का

त्याग करने से मनुष्य सुखी होता है, जैसे अन्न खाने से क्षुधा मिटती है और स्वास्थ्य प्राप्त होता है, इस लोक उसको सुखी कहते हैं । परिग्रह त्याग करनेसे सुख मिलता है और परिग्रह ग्रहण करने से भव में दोष उत्पन्न होते हैं । इस लिये दिगंबर मुनी को भविष्य कालीन वर्तमानकाल संबंधी और भूतकाल संबंधी संपूर्ण परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये । क्योंकि त्रिकाल संबंधी परिग्रह रत्नत्रय विनाशक है, इनका मन वचन काम से विरक्त होकर शरीर का त्याग करे, यह उत्तम उपदेश है निर्ग्रंथ अवस्था में जो मुनि के सुख प्राप्त होता है, वैसा सुख चक्रवर्ती को भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि चक्रवर्ती का सुख राग भाव उत्पन्न करने वाला है । तृष्णा ज्वाला को बढाने वाला है । इसलिये मुनि के सुख प्राप्त होता है चक्रवर्ती का सुख उसके अनन्त भाग की बरोबरी नहीं कर सकता है ।

इस तरह पांचों महाव्रतों का वर्णन हुआ, जो आमरण मैं हिंसा नहीं करूंगा, असत्य भाषण नहीं करूंगा, दूसरे की दी हुई वस्तु में ग्रहण नहीं करूंगा, मैथुन सेवन नहीं करूंगा और परिग्रह स्वीकार इस प्रकार जो आत्मा में परिणाम उत्पन्न होता है उसको व्रत कहते हैं । रात्रि में आहार प्रसंग होने पर हिंसादिक पांच पापों की उत्पत्ति होती है । तथा यती धर्म नाश भी होता है आगे पंच सिमितियों का वर्णन प्रथम ईर्या समिति का निरूपण करते हैं । मार्ग शुद्धि, उद्योत शुद्धि, उपयोग शुद्धि और आलंबन शुद्धि ऐसी चार शुद्धिओं का आश्रय करके गमन करने वाले साधु के सूत्रानुसार ईर्या समिति पाली जाती है ऐसा आगम में कहा है । मार्ग की शुद्धि, चींटा चींटी वगैरह त्रस जीव तथा बीज अंकुर तृण हरे पत्र और कीचड वगैरह से रहित जो मार्ग है वह शुद्ध मार्ग माना जाता है । उद्योत शुद्धि सूर्य के प्रकाश में अधिक स्वच्छ

...चाँदी वगैरह अस ... व तथा ... ज अकुश तथा हुए पत्र ...
...ओ मार्ग है वह शुद्ध मार्ग माना जाता है। उद्योत शुद्धि सूर्य के प्रकाश में अधिक

हित करने वाला वचन सत्य वचन है। जो सत्य ही नहीं असत्य भी नहीं ऐसे वचन को सत्य वचन कहते हैं। यति गण उपर्युक्त दो प्रकार के वचन बोलते हैं। इन दो प्रकार के वचनों में असत्य व्यर्थपना कठोरता निन्दा वगैरह दोषों का अभाव रहता है। ऐसे वचनों से पाप कर्मों का आगमन होता नहीं है मुनी गण सूत्रानुसार निर्दोष भाषण करते हैं इसको भाषा समिति कहते हैं। उपर्युक्त सत्य भाषण के विरुद्ध जो भाषण उसको असत्य भाषण कहते हैं। प्रमाद से प्राणी को पीड़ा होगी ऐसा भाषण बोलना वह असत्य भाषण, जिस भाषण से मिथ्या ज्ञान मिथ्या दृष्टि और असंयम की उत्पत्ती में पदार्थ का वह परिणाम नहीं है तथापि भूतकाल में वह परिणाम न था अथवा भविष्य काल में वह उत्पन्न होगा तथापि वही यह पदार्थ है ऐसा समझकर जो वचन प्रवृत्ति होती है उनको व्यवहार सत्य कहते हैं जैसे भात पकाओ, चटाई बनाओ और भावसत्य अहिंसा लक्षण रूप परिणाम का जिस वचन से रक्षण होता है उसको भावसत्य कहते हैं जैसे जीवों को देखकर यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करो ऐसा उपदेश देना; या पल्योपम है सागरोपम है यह उपमा सत्य है। वचन वर्गणा चार प्रकार है सत्य वचन, मृषा वचन, सत्या सत्य वचन, और असत्या सत्य वचन, तहां सत्य पुरुषों का होगी वह भी असत्य भाषण है, जो भाषण अप्रशस्त है जिसकी सज्जनों ने प्रशंसा नहीं की वह असत्य भाषण समझना चाहिये। जिस भाषण में सत्यपन और असत्य दोनों है उसको सत्य मृषा भाषण कहते हैं। सत्य असत्य और मिश्र भाषण से जो भिन्न है वह असत्य मृषा भाषण। जिसका सत्य भी नहीं कह सकते और असत्य भी नहीं मानी जाती है और मिश्र भी नहीं कहा जाता है ऐसी भाषा को असत्य मृषा कहना चाहिये जैसे घी और खांड से मिश्रित गाय का दूध शोभन है ऐसा कहना, दूध कोया इत्यादि गुणों अपना से सत्य कह सकते हैं, और ज्वर बढ़ाने में वह कारण होगा इसकी अपना

से वह असत्य है । तथा अनत्तर वचन चुटकी बजाना अंगुलि से इशारा करना जिसको संकेत का मालुम है वह प्रतिति का निमित है । जिसको संकेत का मालुम नहीं है वह अप्रतीत रूप है, इस तरह उभयात्म क भाषा समझना । आगे एषणा समितिलिखे हैं । उद्गम दोष उत्पादन दोष और एषणा दोष इन दोषों से रहित जोमुनी उपकरण आहार और वसति का स्वीकार करते हैं वे मुनी एषणा समिति को निरती चार पालते हैं । आगे आदा निक्षेपणा समिति लिखे हैं । बिना देखे और बिना भूमि वस्त्र कर के पदार्थ जमीन पर रखना, देखकर के भूमि स्वच्छ किये बिना पदार्थ उठा लेना अथवा रखना ये तीसरा भंग है, थोड़ा सा डाल लेना ये चोथा भंग है, इन चार दोषों का त्याग कर पदार्थों को उठा लेना या रखना आदा निक्षेपणा है । प्रतिष्ठा पना त्यागने योग्य मूत्र पुरीषा दिक मलको निर्जन्तुक और निश्छिद्र जमीन में करने वाले मुनि प्रतिष्ठा पन समिति का पालन करते हैं । इन पांच समिति आंका पालन करने वाला मुनि जीव समुदाय से भरेहुए जगत में हिंसा दिक पाप कों से अलिप्त रहता है जैसे कमल जलमे रहता हुआ जलसे लिप्त नहीं होता है ऐसे ही यह जानना । अब मनोगुप्ती और वाग गुप्ति का लक्षण लिखते हैं । जोकि राग द्वेष से मन प्रवृत होना यह मनोगुप्ति का लक्षण है तथा असत्य भाषणादिक से निवृत्त होना अथवा मौन धारण करना यह वचन गुप्ति का लक्षण है जो नो इन्द्रिय मति ज्ञाना वर्णकर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसको हम मन कहते हैं अर्थात जो ज्ञान राग द्वेष से रहित होकर ज्ञान परिणत होता है तब मनो गुप्ति होती है रागादि कार्यों को योग कारण है उसका निरोध करने से मनोगुप्ति होती है । इस मनो–योग से जीवमें रागा दि परिणाम उत्पन्न होते हैं, उनसे कीर्ति लोकादर, स्वर्गादि सुखादि इच्छा धारण न करते हुए मनो योग को केवल आत्म कल्याण की भावना मे रोकना रागद्वेषा दि कार्यों की मनो

योग से उत्पत्ती न होने देना इस को मनो गुप्ति कहते हैं। वचन गुप्ति ज्यो विपरीत अर्थ का कार करने में हेतु होगा या दूसरों के दुःख उत्पन्न करने में निमित्त होगा जिससे अधर्म की वृद्धि होगी ऐसे भाषण से परान्मुख होना यह वचन गुप्ती है। तथा व्यलीक असत्य, कठोर, आत्म प्रशंसा युक्त परनिंदा करने वाला पर प्राणि यों के उपद्रव योग्य ऐसे भाषण से आत्मा निवृत्त होना वाक् गुप्ती है तथा संपूर्ण वचनो का त्याग करना मौन धारण करना वाक गुप्ति है। काय गुप्ति का स्वरूप औदारिकादि शरीर की क्रिया से परान्मुख होना काय गुप्ति है। अथवा हिन्सा झूट चोरी मैथुन आदि पाप क्रिया से दूर होना काय गुप्ति है। जो कि शरीर अपवित्र है असार है आपत्ति का कारण है मल मूत्र का स्थान है, ऐसा विचार कर उस शरीर से ममत का त्याग करना कायोत्सर्ग करना काय गुप्ति है। शरीर से ममत्व भाव को हटाना काय गुप्ति है। अर्थात्, कायोत्सर्ग ग्रहण में जो शरीर की निश्चलता होती है उसको गुप्ति कहते हैं। खुलासा यह है कि कर्म ग्रहण जिस क्रिया से होता है ऐसे सम्पूर्ण शरीर क्रियायों का त्याग करना तथा शरीर विषय वासना का ममता का त्याग काय गुप्ति है। तथा प्राणि ओं के प्राणों का वध न करना न दी हुई वस्तु लेना चोरी करना मैथुन क्रिया करना शरीर से परिग्रहों का ग्रहण न करना कायिक क्रियाओं से आत्मा का संरक्षण करना काय गुप्ति है। जैसे खेत के संरक्षण के लिये उसके कंटक, बाड़, झाड़, लगाये जाते हैं, अथवा शहर के संरक्षण के लिये कोट, खाई, पर कोटा किया जाता है, ऐसे ही संवर करने के उपाय साधुजन तीन गुप्तियाँ पाप फंद से रक्षण करती है। ये मोक्षमार्ग के साधन है। जो साधू हमेशा ध्यान और स्वाध्याय में तत्पर रहते है उनके गुप्ति ओं का संरक्षण होता है। जो ध्यान और स्वाध्याय में अपने निज में न नही लगाता है उसके गुप्तियां स्थिर नहीं रह सकेगी यह निश्चय है। इस प्रकार त्रयोदश व्यवहार चारित्रका

धारण करने वाला साधु इन व्रत समिति गुप्ति की संरक्षण करने के लिये भावनाओं का अभ्यास करते अतिचार युक्त नही होता है उसके व्रत हमेशा निरतिचार रहकर उत्तरोत्तर उन्नता वस्था की प्राप्ति होजाती है यह भावना तत्वार्थ सूत्र सप्तम अध्यामे कथन हैबडने से यहां न लिखा है इस व्यवहार रत्नत्रय को पालन करता हुआ साधु माया, मिथ्या निदान तीन शल्य का त्याग करदे निदान करने वाला मुनि भोग लिये अपनी धर्म रूपी संपत्ति को खोदेता है इस लिये तीन शल्य का त्याग कर, तपश्चरण में लगना चाहिये तप से ही संपूर्ण कर्मों की एक देश निर्जरा होती है जैसे सुवर्ण सम्मिलित पाषाण को अग्नी में तपाया धमाया हुआ कीट कालिमा मल रहित होकर शुद्ध सुवर्ण हो जाता है उसी तरह यह जीव भी तप रूपी अग्नि से तपाया गया कर्मों से रहित होकर शुद्ध हो जाता है। ज्ञान रूपी प्रचंड पवन कर शील समाधि संयम इन कर प्रज्वलित जो तप वह संसार के कारण भूत कर्मों को भस्म कर देता है, जैसे अग्नि, तृण पल्लव काठ आदि को भस्म कर डालती है, बहुत कालका संचय किया हुआ कर्म तप से नष्ट होजा ता है, जब सब कर्मों कर रहित हो जाता है तब अतुल सुख पाता है, ऐसा तपस्या का महा त्म्य है जो तप कर भोग का निदान करता है वह साधु अपना तपस्या रूपी खजाने को लुटा देता है। और संसारी वन जाता है चार गतियों में सदाई जन्म मरण किया करता है, संसार समुद्र की औपमा है इसमें जन्य मरण रूपी अगाध पानी भरा है और द्वेषा दि जलचर भयंकर समुद्र के सम्यग्दर्शन सम्यक ज्ञान, सम्यक, चरित्र और सम्यक तप इन चार अव यवों से बनी हुई सम्यक आराधना रूपी श्रेष्ट जहाज पर आरूढ़ होकर वह सत्पुरुष इस संसार रूपी समुद्र से उत्तीर्ण होजाते है अर्थात मुनि महाराज, सामायक, स्तवन, बन्दना तक्रमण, प्रत्या ख्यान आलोचना, विनय वैया व्रत, स्वाध्याय, का योत्सर्ग, अनु प्रेक्षा

चिन्त वन और एकाग्र चित्त को निरोध कर ध्यान मे लीन होते है तब ही व्यवहार चारित्र से निश्चय चारित्र का आलंबन से कर्मों की निर्जरा करने को उद्यमी होजाता है। जैसे गज, रथ,तुरंग, पियादे सामन्त, चतुरंग सेना से रण में राजा जीत पाजाता है ऐसे ही योगी राज, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप, ये चार आरधना के बल से, ज्ञाना वरणादर्शना वर्ण मोहनी अन्त राय कर्म इन चार घातियां कर्मों का नाश करके सर्व पदार्थों को प्रकाश ने वाला केवल ज्ञान प्रगट कर लेता है। भावार्थ जब समयग्द्रष्टि चौथे गुण स्थान प्राप्त करता है तब एक सौं शतरा प्रकृत्तियों में से तेतालीस प्रकृतियों को छोड देता हैं, ऊपेन को छोड कर श्रावक, पचपन को छोड कर प्रमत्त संयमी होता है आगे का अनुक्रम आगम से जानना, जो केवल ज्ञान आत्मा का निज गुण जागृत होता है तब किसी कारणों से यह ज्ञान अवात्म आती हैं। निश्चया त्मक होने से संसय रहित है, और सर्व ज्ञानो में श्रेष्ट हैं जोकि स्वयं आत्मा मे प्रवृत्त होता है अविनाशी अखंड अन्या वाद आत्मा का संपूर्ण स्वरूप है इसमें विचित्र द्रव्यो की सपूर्ण पर्याय भाषित होता है इस लिये अनेक रंगो से रंगा हुआ वस्त्र के समान यह केवल ज्ञान है, ऐसा केवल ज्ञान प्रगट होता है। जब आयु कर्म की समाप्ति होने पर योग निरोध करके अयोग केवली होने वाद वे अयोग केवली भगवान औदारिक शरीर सहित, नाम, कर्म, गोत्र कर्म, आयु कर्म, और वेदनीय कर्म इनचार अघा तिया कर्मों का क्षयकर कर्म रूपी रज रहित निर्मल सिद्ध भगवान बन जाता है। भावार्थ अयोगयि केवल अपने काल के दूसरे अंत समय में तेरह, प्रकृतियों का नाश कर शरीर छोड निर्मल सब संसार उपाधियों से रहित अनन्त गुण मयी सिद्ध परमात्मा हुए मोक्ष स्थान मे सदा विराजते हैं। वहं मोक्ष स्थान वाधा रहित परमअ तिशय विशाल सर्वोत्म प्रदेश व्यापी वृद्धि हास रति, विस्तीर्ण, शाश्वत स्थान है, उसके ऊपर,

दृढ़ दिव्यमान निरा कार, अमूर्त, विविध आपत्ति हित स्व स्वरूप चम नन विराज मान है ऐसे सिद्धों को हमारा नमस्कार है । स्तीत्र कवित छन्द जिन जीवों ने जड़कर्मों को जड़ा मूल से जला दिया संयम तप चारित्र सुबल से चेतन चिन्मय चीन लिया बाधा रहित विशाल अनुपम शाश्वत सुख का स्वाद लिया, ज्ञानादिक गुण चेतन लक्षण जिनका साधन साध्य किया ज्ञानानन्द सुधारस पीकर काल अनन्ता नन्तर है, । शुद्ध स्वरूप रत्न की राशी जगम गज्योति जागर है । महिमा अनुपम अचल अनादि ज्ञान स्वरूपी राज्य करे ऐसे जिनवर सिद्ध सिला पर हात जोर हम पांय परे नहीं अभाव भया भगवान का नहिं निज गुण उच्छेद किया, स्व स्वरूपी अजअविनाशी परम तेज परकाश दिया । स्वपर प्रकाशक ज्योति जगाकर निजानन्द में लीन रहै । एक अखण्डित सब गुण मंडित सिद्ध शिला पर सिद्ध रहै ज्ञाता द्रष्टा आत्म-ध्यानी तनु निज परिमित आकार धरे निराकार बाधा नहीं जिन के नित्य निरंजन निकलव रे, । अव्याबाध अमल अजरा मर शान्ति सुधारस पान करे, निर्मल दर्श न ज्ञान चराचर चरण रत्नत्रय भाव भरे निजानन्द निज लब्धि पाकर गुण पत लखते लोकजना, वीत राग सर्वज्ञ जिनेश्वर सत्य स्वयं भूषण शुद्ध पना । परमेश्वर परमातम ध्यानी प्राति ज्ञाण ध्याता आत्म गुना, निर्विकार निजातम दर्शि आवा गमन विकार विना गमना गमन विमुक्त जिनेश्वर शुद्धातम शिव अचल खरे शाश्वत स्थान विराजित मही मा वर्ण न गण धर कोन करे । जन्म मरण जरा नही जिन के भव आताप निवार गये अजरा मर जिन अमय जिनेश्वर तीन लोक शिरताज थये । सिद्ध बुद्ध जिन हरि हर ब्रह्मा शंकर स्वामी बुद्ध भजे चक्री सुर नर मुनी विद्याधर इन्द्र चन्द्र शुद्ध धरणीन्द्र जजे । वन्द्य विदारण भव दधि तारण मुज कारज के कारण है ज्ञानानन्द चिदा नद चिन्मय शप्रदेश स्वभावी सौख्य लहै त्रैलो केश्वर जगतीशेश्वर सिद्ध चक्र भगवान भजे धर्म द्रव्य के अन्त विराजे लोक का सजे पावन परम महा गुण सा गर सुख सागर में मगन रहैं, ऐसे सिद्ध समहनो को हम हाथ जोड़ कर पाँय परे हैं

स्वभावी सौख्य लहै त्रैलो केश्वर जगतीश्वर सिद्ध चक्र भगव ॥
सजै पावन परम महा गुण सागर सुख सागर मे मगन रहै, ऐसे सिद्ध समहनो को हम हाथ जोड़ करपांय परे हैं ॥